स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

॥ भाग्यन्ती नः सुधणा यमस्कृत् ॥

उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

MAPS-01
पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास

प्रथम खण्ड	: यूनानी राजनीतिक दर्शन
द्वितीय खण्ड	: रोमन एवं मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन
तृतीय खण्ड	: आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भ
चतुर्थ खण्ड	: सामाजिक संविदावादियों का राजनीतिक चिन्तन
पंचम खण्ड	: बुद्धिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, इलाहाबाद-211013
www.uprtouallahabad.org.in

उत्तर प्रदेश

राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

MAPS – 01

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का इतिहास

खण्ड

1

यूनानी राजनीतिक दर्शन

इकाई 1

प्लेटो 5

इकाई 2

अरस्तू 33

इकाई 3

उत्तर अरस्तू कालीन विचारधाराएं 58

विशेषज्ञ समिति

प्रो. देवेन्द्र प्रताप सिंह — अध्यक्ष
कुलपति
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

डॉ. आर.के. मणि त्रिपाठी — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

डॉ. एल.डी. ठाकुर — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रो. एस.एम. सईद — विषय विशेषज्ञ
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव — दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
रीडर, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. आर.के. बसलस — सचिव
कुलसचिव
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

कार्यक्रम संयोजक : डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, परामर्शदाता, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सम्पादन : प्रो. एस. के. द्विवेदी, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

PGPS-01 :– *पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का इतिहास*

लेखक मण्डल

खण्ड एकः प्रो. बी.के. तिवारी, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई

खण्ड दोः प्रो. राकेश कुमार मिश्र, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई

खण्ड तीनः डॉ. आशुतोष मिश्र, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई

खण्ड चारः प्रो. आलोक पंत, अध्यक्ष राजनीतिशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद 3 इकाई

खण्ड पाँचः डॉ. मुकुल अस्थाना, रीडर,राजनीतिशास्त्र विभाग, सेन्ट एन्ड्रूज पी.जी. कालेज, गोरखपुर 3 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।

दूरस्थ शिक्षा परिषद, नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से Mk-vkj-d-ik.M;
कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, 2017
end ¼pUndyk ik-fy-] 42@7 tokgjyky ug: jkM] bykgkckn

खण्ड - 1 का परिचय : यूनानी राजनीतिक दर्शन

पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन के इतिहास में यूनान का विशेष महत्त्व है। वस्तुतः पाश्चात्य जगत में राजनीतिक चिन्तन का प्रारंभ यूनान से ही होता है। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में यूनान में चिंतन की परंपरा प्रारंभ होती है। प्रारंभ में यह चिन्तन राजनीतिक न होकर, प्रकृति तथा ब्रह्माण्ड की वास्तविकता को जानने का प्रयास था। थेलीज से प्रारंभ होकर यह परंपरा क्रमशः एनाक्सीमीण्डर, एनाक्सीमीण्ड्स, पाइथागोरस, हेराक्लाईटीज, परामिनाइडीज तथा डैमोक्राईटस सदृश विद्वानों द्वारा प्रकृति तथा ब्रह्माण्ड को अपने-अपने नजरिये से विवेचित करने की रही। यूनान तथा विशेषकर एथेंस में साफिस्टों का प्रभाव ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी में विशेष रूप से रहा। साफिस्ट जो मूलतः विदेशी थे, यूनान तथा एथेंस की सांस्कृतिक उत्कृष्टता से प्रभावित होकर शिक्षक व्यवसायियों के रूप में एथेंस आये थे। साफिस्टों द्वारा उक्त प्रकृति की वास्तविकता को जानने की परंपरा के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप मनुष्य को सभी वस्तुओं के केन्द्र में रखकर अध्ययन करने की वकालत की गई तथा ज्ञान, दर्शन तथा चिन्तन के लिए एक नया मार्ग प्रशस्त किया गया। साफिस्ट शिक्षा में एक नई नैतिकता का विचार आया और इसके विरुद्ध एक और प्रतिक्रिया हुई जिसका सूत्रधार सुकरात था, वस्तुतः यूनान में दर्शन और राजनीतिक दर्शन का प्रारंभ सुकरात से ही होता है। सुकरात को पाश्चात्य दर्शन के पितामह के रूप में जाना जाता है। वह चिंतनात्मक नैतिकता का संस्थापक भी था। वह दर्शन में सदैव विद्यमान उस भावना का प्रतिनिधि था जिन्हें संदेहात्मक अथवा जाँच-पड़ताल की भावना कहा जाता है और जो किसी वस्तु को मान्यता पर स्वीकार न कर विवेक या बुद्धि से जानने पर बल देती है, इस तरह वह विवेकवाद का सूत्रपात करता है। उसके मत से दर्शन का प्रारंभ ही वहाँ होता है जब व्यक्ति संदेह करने लगता है। वास्तविक दर्शन तो मस्तिष्क द्वारा परीक्षण करके ही जन्म लेता है। इसीलिए वह 'स्वयं को जानो' की गुहार लगता है, एक वास्तविक मानव के लिए एक ऐसा जीवन जिसका परीक्षण नहीं कर लिया गया है जीने योग्य नहीं है। उसकी मान्यता थी कि सभी खोजबीनों में सर्वश्रेष्ठ यह है कि मनुष्य को कैसा होना चाहिए तथा क्या करना चाहिए? इसीलिए वह मानव आत्मा को तलाशने का प्रयास करता है। क्योंकि उसकी पद्धति द्वन्दात्मक या संवाद की पद्धति है, इसलिए वह उससे पूछे गये प्रश्नों का उत्तर न देकर पुनः प्रश्न करता है और प्रश्नकर्ता से उत्तर चाहता है। यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है और अंत में प्रश्नकर्ता स्वयं ही अपने मूल प्रश्न का उत्तर दे देता है। वस्तुतः वह नैतिक एवम् मनोवैज्ञानिक प्रश्नों से जूझना पसंद करता था। उसके प्रश्न पूछने से बहुत से लोग त्रस्त थे। यद्यपि वे लोग मानते थे कि वह उचित परिभाषाएं चाहता है, स्पष्ट विचार व विश्लेषण चाहता है तथापि इस बात पर उन्हें आपत्ति थी कि वह प्रश्न अधिक करता है और उत्तर कम देता है, इस प्रकार मानव मस्तिष्क को भ्रमित करता है। परन्तु दर्शन के क्षेत्र में वह दो मुश्किल समस्याओं के दो निश्चित उत्तर देता है– सद्गुण का क्या अर्थ है ? तथा सर्वश्रेष्ठ राज्य क्या है? ऐसे प्रश्नों की जाँच पड़ताल हेतु ही वह विवेक के युग का जन्मदाता है। वह कहता था कि विवेक के युग को एक तार्किक शिक्षा व्यवस्था को विकसित करना चाहिए तभी यह मानवों को सुख की प्राप्ति करा सकती है एवम् कष्टों से उबार सकती है, इस नई शिक्षा की वह दर्शन के रूप में कल्पना करता है जिसे वह बुद्धि की खोज मानता है। एथेंस को यह शिक्षा दी जानी चाहिए कि वह परंपरागत नैतिकता को अस्वीकार करे तथा आचरण के विवेकपूर्ण सिद्धान्तों को खोजे और इन्हीं पर अपना सामाजिक जीवन आधारित करे। इस तरह उसके अनुसार दर्शन का अर्थ विवेक का अनुशासन होना चाहिए और इसके दो महत्वपूर्ण कार्य होने चाहिए– (i) ऐसे मतों का परीक्षण तथा उनकी अस्वीकृति जिन्हें यह गलत समझे और (2) इन गलत मतों के स्थान पर विवेक को स्वीकार्य नये सिद्धान्तों की खोज। इस तरह

दर्शन का सही काम शब्दों की परिभाषा करना नहीं है वरन् वास्तविकता की खोज करना है। वस्तुतः जो कार्य वैज्ञानिक व गणितज्ञ प्रकृति के लिए करते हैं उसे दर्शन को मानव समाज के बारे में करना चाहिए। इसलिए सुकरात 'स्वयं को जानो' की गुहार लगाता है, जिसका हिन्दू दर्शन में समानार्थी विचार 'तत् स्वामासि' का है, स्वश्रद्धा, स्वज्ञान, स्वनियंत्रण यही तीन बातें मनुष्य को संप्रभु शक्ति की ओर ले जाती है। ऐसा ही दर्शन भगवद्गीता में भी देखा जा सकता हैं। सुकरात, एथेंस की तत्कालीन प्रजातांत्रिक व्यवस्था पर आक्रमण करता है। वह अविशेषज्ञों (प्रजातंत्र) द्वारा शासन के संचालन का विरोधी है, तथा बुद्धिमत्ता के कुलीनतंत्र का समर्थन करता है। यही विचार प्लेटो, सुकरात से लेकर अपने दर्शन के शासन के रूप में विकसित करता है। कतिपय मूलभूत सिद्धान्तों– आत्मा की अमरता, नैतिक मापदण्डों की वस्तुनिष्ठता तथा इन्द्रियजगत के पीछे एक अपरिवर्तनीय जगत की वास्तविकता, में उसकी दृढ़ आस्था थी। वह ज्ञान की संप्रभुता की शिक्षा देता है, जिसका व्यावहारिक प्रयोग प्रबुद्ध स्वेच्छाचारिता में होता है और इसे प्लेटो स्वीकार कर लेता है। वह राज्य को एक प्राकृतिक एवम् आवश्यक समुदाय मानता है, वह नगर-राज्यों के कानूनों के प्रति सम्मान का भाव रखता है लेकिन इन्हें वह दैवी आदेश से कम पवित्र बताता है। उसकी सबसे बड़ी सीख यह है कि अंतरात्मा की आवाज के लिए किसी व्यक्ति को सम्राट् से भी टक्कर ले लेनी चाहिए। इस तरह सुकरात प्राचीन यूनानी राजनीतिक चिन्तकों की त्रयी में सर्वप्रथम आता है इस त्रयी के अन्य दो विचारक प्लेटो तथा अरस्तू हैं, जिनके विचारों का अध्ययन हम इस खण्ड की प्रथम तथा द्वितीय इकाईयों के अंतर्गत करेंगे। इस खण्ड की तीसरी इकाई के अंतर्गत उत्तर अरस्तू कालीन विचारधाराओं का अध्ययन किया जायेगा।

इकाई - 1 : प्लेटो

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना व प्लेटो परिचयात्मक

1.2 रिपब्लिक में प्लेटो के विचार

1.3 प्लेटो की शाश्वत स्वरूप की अवधारणा

1.4 आदर्श राज्य का सिद्धान्त

1.5 प्लेटो का न्याय सिद्धान्त

1.6 प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त

1.7 साम्यवाद की योजना

1.8 दर्शन का शासन अथवा दार्शनिक राजा के शासन का सिद्धान्त

1.9 स्टेट्समैन तथा लॉज में प्लेटो के राजनीतिक विचार

1.10 लॉज में वर्णित विचार

1.11 सारांश/पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन को प्लेटो का अनुदाय

1.12 उपयोगी पुस्तकें

1.13 सम्बन्धित प्रश्न

1.14 प्रश्नोत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

- प्लेटो की परिचयात्मक व्याख्या कर सकेंगे।
- रिपब्लिक पर प्लेटो के विचारों का विवरण कर सकेंगे।
- प्लेटो के शासन के स्वरूप की अवधारणा की विवेचना कर सकेंगे।
- आदर्श राज्य, न्याय, शिक्षा सिद्धान्तों की व्याख्या कर सकेंगे।
- साम्यवाद की योजना का विश्लेषण कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

प्लेटो का जन्म यूनान के नगर राज्य एथेंस के एक संभ्रान्त परिवार में हुआ था। ऐसी भी मान्यता है कि यह परिवार यूनान के विधिदाता सोलोन के परिवार से संबंधित था तथा एथेंस के राजघरानों का उत्तराधिकारी और इस परिवार के सदस्य एथेंस के तीस तानाशाहों में से थे। प्लेटो के युवावस्था काल में एथेंस पोलोपोनेशियन युद्ध में उलझा था और युद्धोपरान्त एथेंस के नगर राज्य की प्रतिष्ठा में कमी आ गई थी। प्लेटो के जीवन की सबसे बड़ी निधि सुकरात के साथ उसका संपर्क था। यद्यपि यह ज्ञात नहीं कि प्लेटो सुकरात के संपर्क में कब आया होगा, परन्तु सुकरात की मृत्यु की घटना का प्लेटो के जीवन तथा दर्शन पर

विशिष्ट प्रभाव स्पष्ट है। प्लेटो ने स्वयं अपने भाग्य को सराहते हुए लिखा है कि वह एक स्वतंत्र यूनानी पुरुष सुकरात के युग में जन्मा। 399 ई0पू0 सुकरात को मृत्युदण्ड का भागी होना पड़ा। सुकरात के ऊपर यह आरोप था कि वह एथेंस के युवा वर्ग को गुमराह कर रहा था तथा एथेंस के परंपरागत देवताओं के स्थान पर दूसरे देवताओं को स्थापित करने का प्रयास कर रहा था। प्लेटो ने सुकरात की संवाद शैली को अपनी रचनाओं में अपनाया है। कुछ संवाद प्लेटो ने सुकरात के जीवन काल में ही लिखे थे। सुकरात की मृत्यु के उपरान्त प्लेटो ने एथेंस छोड़ दिया। उसे एथेंस की लोकतंत्रीय व्यवस्था से घृणा हो गई थी। प्लेटो देशाटन पर निकल गया तथा लगभग 387 ई0पू0 में एथेंस लौटा और उसने एक अकादमी (Acadamy) की स्थापना की जिसे संभवतः पहले विश्वविद्यालय की संज्ञा दी जा सकती है। प्लेटो जीवन पर्यन्त (347 ई0पू0) तक इस अकादमी का संचालन करता रहा। इन्हीं लगभग 40 वर्षों के काल में प्लेटो द्वारा अनेकों रचनाएं की गईं। जैसा कि कहा जा चुका है उसकी रचनाएं संवाद अर्थात् वार्तालाप शैली में लिखी गई हैं और अधिकांश रचनाओं में वार्तालाप का प्रमुख पात्र सुकरात है। इसीलिए कहा गया है कि प्लेटो की रचनाओं के माध्यम से सुकरात पुनर्जीवित हुआ। उसकी रचनाओं में अपोलोजी, क्रिटो, लैकिस, लैसिस, यूथीफ्रो, कारनाइड्स, प्रोटागोरस, जार्जियास, आमोन, मेनो, फिडो, सिम्पोसियम, यूफीडेमस, क्रेडलिस, परमनाईड्स, थ्येरेरस, टाईमेकस, क्रिटियास आदि सम्मिलित हैं। परन्तु राजनीतिक चिन्तन से संबंधित रचनाओं में रिपब्लिक, स्टेट्समैन तथा लाज को रखा जाता है। अतः आगे की विवेचना में इन्हीं के माध्यम से प्लेटो के राजनीतिक दर्शन को समझने का प्रयास किया जायेगा।

इससे पूर्व कि हम प्लेटो के राजनीतिक विचारों का ज्ञान उपर्युक्त रचनाओं के माध्यम से करें यह उचित होगा कि प्लेटो के दार्शनिक विचारों के आधारभूत तत्वों को समझ लिया जाय। इन्हें निम्नांकित बिंदुओं में देखा जा सकता है :

(1) सद्गुण ही ज्ञान है (Virtue is Knowledge) : सुकरात का यह कथन प्लेटो के दार्शनिक विचारों का केन्द्रीय तत्व है। प्लेटो की व्याख्या में सद्गुण तथा ज्ञान एक ही वस्तु है अतः मानव को सद्गुण युक्त जीवन की प्राप्ति ज्ञान के द्वारा हो सकती है। ज्ञान, नैतिकता है जो मानव को उत्तम बनाती है अतः यह सद्गुण है। मानव जीवन की उत्तमता के लिए उसमें विवेक, उत्साह, आत्मसंयम तथा न्याय के सद्गुणों का विकास ज्ञान द्वारा ही हो सकता है। प्लेटो मस्तिष्क में कुछ तथ्यों के संग्रहीत कर लेने को ज्ञान नहीं कहता। उसके दर्शन का सार 'वास्तविकता' है जिसका अर्थ है उन वस्तुओं का विचार जो पूर्ण तथा स्थायी हैं, जिनका अपना अस्तित्व है। सुकरात से प्रभावित प्लेटो विश्वास को खोखला ज्ञान कहता है। वास्तविक ज्ञान तो बुद्धि या विवेक द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इसकी विधि गणितीय व रेखागणितीय होनी चाहिए तभी वास्तविक सत्य अर्थात् ज्ञान प्राप्त होता है। दार्शनिकों का कार्य ऐसी ही विधि का सृजन करना है। इसी विधि से कानूनों की वास्तविकता का भी परीक्षण कर लिया जाना चाहिए।

(2) वास्तविकता का सिद्धान्त (Theory of Reality) : यह प्लेटो के विचारों का दूसरा तत्व है। इसे भी वह सुकरात से ही ग्रहण करता है। इस सिद्धान्त द्वारा प्लेटो यह बताने का प्रयास करता है कि वास्तविकता विचार या प्रत्यय (Idea) में निहित है। यही वास्तविक ज्ञान की निदेशक शक्ति है। इसका सामान्य भाषा में अर्थ यह हुआ कि कोई एक काला घोड़ा या सफेद घोड़ा वास्तविक घोड़ा नहीं है। वास्तविक घोड़ा तो इसका विचार है, विचार शाश्वत (eternal) है जबकि काला या सफेद घोड़ा आज है पर कल नहीं होगा जबकि घोड़े का विचार कल भी था, आज भी है और कल भी रहेगा। इसी तरह वह राज्य व्यवस्था के विचार को भी दर्शाता है। वह सुन्दरता को सुन्दर पदार्थ की अनुपस्थिति में भी

सौंदर्य के विचार में विद्यमान मानता है।

(3) दर्शन तथा चिन्तन का उद्देश्य सत्य की खोज करना है : राजनीतिक धारणाओं के संबंध में प्लेटो अपने आदर्श, सत्य की खोज का अनुगमन करते हुए राज्य के आदर्श की खोज करता है। इसलिए उस आदर्श राज्य का विवेचन करता है जो एक सार्वभौम सत्य है।

(4) व्यक्ति तथा राज्य के मध्य घनिष्ठ संबंध है : वह राज्य को व्यक्ति का बृहद् रूप बताता है। राज्य तथा व्यक्ति दोनों को वह विश्वात्मा के अंग के रूप में देखता है। राज्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक वास्तविक है तथा व्यक्ति राज्य में ही पूर्णत्व को प्राप्त कर सकता है। आदर्श राज्य की उपलब्धि व्यक्तियों के उच्च चरित्रों से ही संभव है। राज्य में उन्हीं गुणों को देखना जो व्यक्ति में हैं उसके सावयव सिद्धान्त के विचार को दर्शाता है।

(5) ज्ञानवानों द्वारा शासित राज्य ही आदर्श राज्य है : इस विचार की अभिव्यक्ति में भी प्लेटो के ऊपर सुकरात का स्पष्ट प्रभाव है। दोनों ही शासन को कला मानते हैं। अतः इस कला में निपुण व्यक्तियों के द्वारा शासन संचालन के दायित्व का निर्वहन करवाना चाहते हैं। दोनों ने ही एथेंस के पतन के कारणों में एथेंस का शासन अनभिज्ञों द्वारा चलाये जाने को माना है। प्लेटो का आदर्श राज्य तो सौंदर्य का राज्य है जहाँ शासक सत्य एवम् शिव दोनों का ही वरण करते हैं।

1.2 रिपब्लिक में प्लेटो के विचार

रिपब्लिक राज्य के दर्शन की सर्वोत्कृष्ट कृति है। यह सार्वकालिक है। इसे अंग्रेजी भाषा के शब्द के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए तब इसका हिन्दी अनुवाद गणतंत्र हो जाता है, जो रिपब्लिक की भावना से बिल्कुल ही भिन्न है। वस्तुतः रिपब्लिक को एक सामान्य राजनीतिक संविधान के रूप में देखा जाना चाहिए। रिपब्लिक का प्रतिपाद्य विषय न्याय के विचार का विवेचन है इसीलिए इसका दूसरा नाम 'न्याय से संबंधित' है। परन्तु रिपब्लिक में विभिन्न युगों के प्राचीन व नवीन विचार देखे जा सकते हैं। सैबाइन ने उचित ही लिखा है कि "रिपब्लिक किसी निश्चित प्रकार की रचना नहीं है। यह न तो राजनीति की रचना है न नीतिशास्त्र की, न अर्थशास्त्र की और न ही मनोविज्ञान की, यद्यपि यह इन सबको समाविष्ट करती है, अथवा और अधिक विषयों को भी, क्योंकि इसमें कला, विज्ञान, साहित्य तथा दर्शन को भी नहीं छोड़ा गया है।"

'रिपब्लिक' मानव जीवन का मनोवैज्ञानिक एवम् दार्शनिक विवेचन है। प्लेटो के अनुसार विभिन्न सामाजिक संस्थाएं, धर्म, कला, कानून आदि सब मानव विवेक की उपज हैं। प्लेटो 'रिपब्लिक' में मानव के नैतिक तथा नागरिक जीवन का विवेचन करते हुए यह दर्शाने का प्रयास करता है कि वह किस प्रकार अपने सच्चे रूप को समझ सकता है तथा एक उत्तम जीवन की प्राप्ति कर सकता है। सत् का ज्ञान (Idea of Good) मानव आत्मा के विकास की अंतिम मंजिल है। राज्य में रहकर ही मनुष्य अपनी आत्मा का विकास कर सकता है इसीलिए प्लेटो राज्य के एक ऐसे आदर्श को प्रस्तुत करता है जिसमें व्यक्ति को अपने जीवन उद्देश्य की प्राप्ति के अवसर मिल सकें। क्योंकि ज्ञान रूपी सद्गुण इस उद्देश्य की प्राप्ति करा सकता है इसलिए राज्य का संचालन ज्ञान द्वारा होना चाहिए तथा ज्ञान के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निराकरण होना चाहिए। रिपब्लिक में राज्य संगठन तथा राज्य संचालन हेतु स्थापित विभिन्न आदर्श-ज्ञान, सद्गुण तथा न्याय की धारणाओं पर आधारित हैं।

रिपब्लिक नैतिक-राजनीतिक व्यवस्था का एकाकी ग्रन्थ है जिसमें व्यक्ति का अध्ययन राज्य के अभिन्न सदस्य के रूप में तथा राज्य का अध्ययन नैतिक समाज के रूप में किया गया है।

असल में प्लेटो राजनीति को नीतिशास्त्र का बृहद् रूप मानता है नैतिक नियमों को वह व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए समान मानता है इसीलिए उसकी धारणा में नैतिकता का संबंध व्यक्तिगत जीवन से ही नहीं बल्कि सामाजिक जीवन से भी है। प्लेटो ने मानव आत्मा तथा राज्य में समान गुणों (तत्वों) को स्वीकार किया है और राज्य को व्यक्ति का विशाल रूप कहा है। इस क्रम में मनोवैज्ञानिक व सामाजिक प्रश्न तथा नैतिक व राजनीतिक समस्याएं रिपब्लिक में प्लेटो द्वारा विवेचित की गई हैं।

राजनीति का आधार आर्थिक होता है। इसे प्लेटो अपने रिपब्लिक में दर्शाता है। वह कहता है कि राज्य की उत्पत्ति मानव आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप होती है क्योंकि अपने आप में कोई व्यक्ति पूर्णतः आत्म निर्भर नहीं हो सकता अतः परस्पर एक दूसरे पर निर्भर व्यक्ति आपस में मिलकर राज्य का निर्माण करते हैं। आर्थिक दृष्टि से आत्म निर्भर राज्य में ही व्यक्ति उत्तम जीवन की प्राप्ति कर सकता है। रिपब्लिक में प्लेटो ने तत्कालीन नगर राज्यों के पतन का कारण आर्थिक अव्यवस्था को दर्शाया है। सम्पत्तिशालियों और सम्पत्तिहीनों के मध्य हितों का संघर्ष, दलबंदी, स्वार्थ आदि का कारण बनता है, परिणामतः राज्य कमजोर होता है। वह कहता है 'प्रत्येक राज्य में दो राज्य होते हैं। उनमें से किसी एक को राज्य नहीं कहा जा सकता, बल्कि उन्हें कई राज्य कहना चाहिए, क्योंकि राज्य चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो, वास्तव में दो राज्यों में विभक्त रहता है– एक निर्धनों का राज्य तथा दूसरा धनिकों का राज्य और वे एक दूसरे के साथ युद्धरत रहते हैं।' इस कथन को कई तरह से समझा जा सकता है, पर सबसे उपयुक्त विचार यह प्रतीत होता है कि राज्य की एकता प्लेटो के लिए एक बड़ा उद्देश्य था तथा आदर्श राज्य की प्राप्ति हेतु राज्य में यह परिस्थितियां बहुत बड़ी बाधाएं हैं। अतः वह साम्यवाद की योजना को बताता है साथ ही वह श्रम विभाजन तथा कार्य विशेषीकरण की भी चर्चा करता है।

प्लेटो का रिपब्लिक शिक्षा शास्त्र की भी एक अनुपम रचना है। **रूसो** ने इसे शिक्षा शास्त्र की महानतम रचना कहा है। शिक्षा ज्ञान प्राप्ति का साधन है और क्योंकि शासन ज्ञानवानों द्वारा संचालित होना चाहिए, इसलिए वह एक अनिवार्य, राज्य नियंत्रित और निदेशित शिक्षा योजना को बताता है। **फ्रांसिस कोकर** के मत से 'इस संवाद में विशेषकर राज्य की अवधारणा को एक सामान्य दार्शनिक, नैतिक तथा सामाजिक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्लेटो यह वर्णन करता है कि यदि मनुष्य को अपनी सर्वोच्च क्षमताओं को प्राप्त करना है तो एक समुदाय को कैसा होना चाहिए।' इस तरह 'रिपब्लिक' समाज की आदर्श परिस्थितियों को प्रस्तुत करता है। भले ही इसे एक 'काल्पनिक राज्य' की तरह सूचीबद्ध किया जाता है परन्तु यह तो समाज की वास्तविक परिस्थितियों की आलोचना से भी संबंधित है। इस तरह यह ग्रन्थ एक महान राजनीतिक अंतर्दृष्टि से रचा गया है। **बार्कर** के अनुसार 'रिपब्लिक मनुष्य के सम्पूर्ण दर्शन पर किया गया एक प्रयास है, पर मनुष्य संपूर्ण होता है इसलिए उसकी क्रियाओं को उसकी सोच से अलग करके नहीं देखा जा सकता इसलिए 'रिपब्लिक' मनुष्य के विचारों तथा उसके विचारों के नियमों में मनुष्य का दर्शन है।' **सैबाइन** ने लिखा है कि 'राजनीति पर लिखी थोड़ी सी टीकाऐं जिनका कि ऐसा दावा हो सकता है, शायद ही इतनी विवेकपूर्ण और संयोजित हों जितना कि रिपब्लिक, किसी में भी विचारों की इतनी स्पष्टवादिता, मौलिकता तथा उत्तेजकता नहीं है। रिपब्लिक की इसी विशेषता ने इसे कालातीत बना दिया है और बाद की पीढ़ियों ने इससे विविध प्रेरणाएं ग्रहण की हैं। इसीलिए रिपब्लिक की विषयवस्तु मात्र राजनीतिक दर्शन न होकर जीवन दर्शन है, जिसके आदर्श मानव प्रकृति के लिए

1.3 प्लेटो की शाश्वत स्वरूप की अवधारणा (Plato's Conception of the Idea of Good)

प्लेटो के विचारों में 'शाश्वत स्वरूप' की अवधारणा को जानना प्लेटो तथा सामान्य रूप से यूनानी दर्शन को जानने हेतु आवश्यक है। वस्तुतः यह विचार प्लेटो के विचारों के सिद्धांत से प्रारंभ होता है और उसकी विचारधारा में तथा उसके दर्शन में केन्द्रीय स्थान रखता है। यह बात तो सर्वमान्य है कि संपूर्ण यूनानी दर्शन में ब्रह्माण्ड के शाश्वत सत्य को जानना एक आधारभूत प्रश्न बना रहा। थेलीज़ से लेकर अरस्तू तक सभी दार्शनिकों ने इस प्रश्न का उत्तर अपने-अपने तरीके से देने का प्रयास किया। परन्तु प्लेटो जो कि एक महान दार्शनिक अंतर्दृष्टि एवं काव्यात्मक दृष्टि का स्वामी है, अपनी पूर्ववर्ती मान्यताओं से भिन्न अपने विचार प्रस्तुत करता है। 'रूप का विचार' उसका विचार सिद्धांत कहलाता है क्योंकि उसके लिए विचार शाश्वत वास्तविकता है। वह किसी भी वस्तु की स्थायी विशेषता को विचार कहता है पर विचार मस्तिष्क में विद्यमान समझ नहीं है क्योंकि ऐसी समझ अस्थायी व परिवर्तनशील है। उसके लिए विचार समय एवं काल का अंश नहीं है। यह तो शाश्वत, अन्तिम एवं स्वतंत्र सत्य है। शाश्वत होने के कारण यह अन्य वस्तुओं से भिन्न है जिनमें कि यह दिखायी देता है। इस तरह एक घोड़े का विंचार एक विशेष घोड़े से भिन्न है; एक आदर्श राज्य का विचार किसी विशेष राज्य से भिन्न है। परन्तु यह विचार इन वस्तुओं के बिना अस्तित्व भी नहीं रखता अर्थात् यदि घोड़ा रूपी वस्तु न होती तो घोड़े का विचार न होता या राज्य रूपी वस्तु न होती तो राज्य का विचार न होता। पर ये विचार इन वस्तुओं में सर्वव्याप्त या अंतर्भूत होते हैं। इस तरह विचार को, वस्तुओं से अलग न होते हुए भी, वस्तुओं से भिन्न कर अपने शाश्वत रूप में देखा जा सकता है। विचार उसके लिए वस्तुओं का गुण है और वस्तुओं का यह सामान्य गुण वस्तुओं का सारतत्त्व है और सभी वस्तुओं का सारतत्त्व विचारों के विश्व को जन्म देता है। ये विचार शाश्वत, निरपेक्ष तथा वास्तविकता की दैवी व्यवस्था को दर्शाते हैं। वे ऐसे रूप हैं जिनमें शाश्वत विचार ब्रह्माण्ड में अभिव्यक्त होते हैं।' पुनः ये वे रूप हैं 'जो किसी विशेष सुंदर वस्तु की सुंदरता को निर्मित करते हैं। इस तरह विचार वस्तुओं का निर्माता है। उसके शाश्वत स्वरूप की इस विशिष्टता को संक्षेप में निम्नवत् रूप में देखा जा सकता है :

(1) शाश्वत स्वरूप ज्ञान का लक्ष्य है। प्लेटो ज्ञान एवं विश्वास में अन्तर करता है।

(2) शाश्वत स्वरूप ही वास्तविकता है, जो वास्तविकता के शाश्वत स्वरूप में विद्यमान रहता है। वह विशिष्टता में यथार्थता को नहीं देखता।

(3) शाश्वत स्वरूप के विचार में शाश्वत स्वरूप को ही आधार तत्त्व कहा जाएगा।

(4) शाश्वत स्वरूप ही सार्वभौम अर्थात् सर्वव्याप्त है जो कालातीत है। अतः किसी समय अथवा किसी स्थान से आबद्ध नहीं है।

(5) शाश्वत स्वरूप कोई वस्तु न होकर विचार है और विचार को देखा नहीं जा सकता। विचार बुद्धि हो सकती है या विचार तर्क हो सकता है।

(6) शाश्वत स्वरूप की अवधारणा इसकी बहुलता का सूत्ररूप में अभिव्यंजन करती है इसलिए किसी वस्तु के शाश्वत स्वरूप को उस वस्तु के समस्त विशिष्ट पदार्थ के कुल वर्ग में देखा जा सकता है।

(7) प्लेटो राज्य में इस शाश्वत स्वरूप को न्याय के रूप में देखता है। यह स्वाभाविक

है कि प्लेटो का शाश्वत स्वरूप का सिद्धान्त एक अमूर्त अवधारणा है न कि किसी विशिष्ट विद्यमान वस्तु की समानार्थी। यह तो अपने आप को हर उस वस्तु में अभिव्यक्त करता है जिसमें यह वास्तव में विद्यमान रहता है। यह समस्त सत्य, समस्त ज्ञान, समस्त सुंदरता और समस्त नैतिक सदाचार का स्रोत है। यह आत्मा में ज्ञान है एवं सद्‌गुण है।

1.4 आदर्श राज्य का सिद्धांत

प्लेटो के संपूर्ण दर्शन में उसके आदर्श राज्य की झलक दिखायी पड़ती है। वह समस्त आदर्शवादियों के लिए पितृतुल्य है। उसका आदर्श राज्य एक कल्पना है, जो संभवतः स्वर्ग का राज्य है। वह जो कुछ दर्शाता है वह सर्वोत्तम राज्य का एक प्रतिरूप है। यह सर्वोत्तम को एक प्रकार के रूप में बताता है। वह अपने आदर्श राज्य में एक शाश्वत स्वरूप को प्राप्त करना चाहता है। वह यह विचार करता है कि एक राज्य को आदर्श होने के लिए कैसा होना चाहिए। इसीलिए उसके रिपब्लिक की विषयवस्तु राज्य के स्वरूप को एक प्रकार के रूप में दर्शाने से संबंधित है। उसके लिए यह एक द्वितीयक प्रश्न है कि क्या वास्तविक राज्य ऐसे आदर्श के अनुरूप है या नहीं। वह यह दर्शाने की कोशिश कर रहा था कि सिद्धांत रूप में एक राज्य को कैसा होना चाहिए और यदि तथ्य सिद्धांत रूप में नहीं है तो यह तथ्यों के लिए शोचनीय है। यही कारण है कि प्लेटो को इस बात की चिंता नहीं है कि जिन संस्थाओं को वह अपने आदर्श राज्य हेतु प्रस्तावित करता है वे व्यावहारिक होंगी या नहीं। वह तो एक तर्क का अनुसरण करता है इसलिए वह बुद्धि के स्वतन्त्र रोमांस को अपने रिपब्लिक में प्रस्तुत करता है। वह एक पूर्ण कलाकार है जो एक आदर्श चित्र को बनाने में संलग्न है। यद्यपि यह एक सामान्य मान्यता है प्लेटो में सिर्फ काल्पनिकता ही विद्यमान है तथापि उसका आदर्श राज्य कम से कम इस अर्थ में तो व्यावहारिक है कि उसने तत्कालीन यूनानी नगर राज्यों के पतन के संदर्भ में ऐसे आदर्श राज्य की कल्पना की थी। वह आदर्श राज्य को सुकरात के सिद्धांतों पर निर्मित करने की कोशिश करता है और एक विचार के रूप में प्रस्तुत करता है। उसके आदर्श राज्य की प्रमुख विशेषताओं को निम्नलिखित रूपों में दर्शाया जा सकता है :

(1) आदर्श राज्य का शासन दार्शनिक शासकों द्वारा संचालित होगा जो कि पूर्ण ज्ञान की प्रतिमूर्ति हैं अथवा जो विवेक की अभिव्यक्ति हैं। ऐसे दार्शनिक शासक समस्त वासनाओं एवं पूर्वाग्रहों से ऊपर हैं। ये निरंकुश रूप से शासन चलाते हैं क्योंकि ये किसी कानून, प्रथा अथवा जनमत द्वारा प्रतिबंधित नहीं हैं। इस अर्थ में ज्ञानवानों के शासन के अधिकार को उसके आदर्श राज्य की एक विशेषता कहा जाएगा।

(2) आदर्श राज्य में शिक्षा शासकों के नियंत्रण एवं निदेशन में होगी। उसका आदर्श राज्य स्वयं उसकी शिक्षा-व्यवस्था की उत्पत्ति है, क्योंकि शिक्षा व्यवस्था ही दार्शनिक शासकों को तैयार एवं प्रशिक्षित करती है।

(3) आदर्श राज्य का आधार-स्तंभ उसकी न्याय की अवधारणा है। राज्य में न्याय से उसका अभिप्राय प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा अपने कार्यों का समुचित निष्पादन करना है और यह प्रत्येक व्यक्ति में प्रकृति प्रदत्त तत्त्व तथा प्रशिक्षण से निर्धारित होता है। न्याय का यह भी आशय है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना निर्दिष्ट कार्य करेगा एवं दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

(4) न्याय के इस सिद्धांत की विवेचना से एक आदर्श राज्य में समाज तीन वर्गों में विभक्त हो जाता है। ये हैं– शासक, सैनिक तथा कृषक/उत्पादक; जो सभी कर्त्तव्य

परायणता से अपने कार्यों का निष्पादन करते हैं। उत्पादक वर्ग में कई तरह के भाग जैसे– कृषक, शिल्पी आदि होंगे जो कि उपभोग के साधनों के उत्पादन से संबंधित हैं। सैनिक, संरक्षण का और शासक, शासन-संचालन का कार्य करते हैं।

(5) आदर्श राज्य में कार्यात्मक-विशेषीकरण के सिद्धान्त का अनुपालन किया जाता है। जिसका अभिप्राय यह है कि लोग जिन कार्यों में दक्ष एवं जिसके लिए प्रशिक्षण प्राप्त हैं उन्हीं कार्यों को संपन्न करेंगे।

(6) आदर्श राज्य की एक विशेषता शासक एवं सैनिक वर्गों के लिए प्रस्तावित संपत्ति एवं स्त्रियों के साम्यवाद की व्यवस्था है।

(7) आदर्श राज्य में महिलाओं, विशेषकर शासक एवं सैनिक वर्ग की महिलाओं को पुरुषों के समान दर्जा प्राप्त है। उन्हें पुरुषों के समान ही प्रशिक्षण दिया जाता है और सार्वजनिक पदों को वे पुरुषों की ही तरह धारण करती हैं।

(8) आदर्श राज्य में स्त्रियों के साम्यवाद की व्यवस्था में शासक एवं सैनिक वर्गों के पुरुष एवं स्त्रियों के मध्य स्थायी वैवाहिक संबंध के स्थान पर राज्य निर्देशित अस्थायी विवाहों की योजना है। जिसका उद्देश्य राज्य के लिए सर्वोत्तम नस्ल के बच्चों को पैदा करना है परन्तु ये बच्चे किसी एक माता-पिता की संतान नहीं कहलाते वरन् राज्य के बच्चे होते हैं। जिनका पालन-पोषण एवं शिक्षा व्यवस्था उन्हें राज्य के भविष्य के संरक्षक वर्गों के रूप में तैयार करने हेतु, राज्य का दायित्व है। ताकि वे अंततः राज्य की सेवा हेतु कार्य कर सकें।

(9) यही प्लेटो के आदर्श राज्य का वह विचार है जो व्यवहार में कभी लागू नहीं किया जा सका। पर यह प्लेटो के विचारों के आदर्श की प्रतिमूर्ति है।

1.5 प्लेटो का न्याय सिद्धांत

प्लेटो के लिए सामाजिक जीवन का सच्चा सिद्धांत' न्याय है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है 'रिपब्लिक' का दूसरा नाम ही 'न्याय से संबंधित' है इसलिए न्याय का विवेचन रिपब्लिक में प्लेटो के विचारों का आधारभूत तत्त्व है। अपने समय में प्लेटो ने यह अनुभव किया कि सर्वत्र अन्याय तथा असद्गुण विद्यमान है। नगर राज्य के नागरिक परस्पर विभक्त थे और नगर राज्यों में अज्ञान, ज्ञान से श्रेष्ठ था। एथेंस की तत्कालीन प्रजातांत्रिक व्यवस्था को प्रमुखतः विचारते हुए उसे इस व्यवस्था के अंतर्गत दो बुराइयाँ दिखाई पड़ीं– प्रथम : अनभिज्ञता और द्वितीय : राजनीतिक स्वार्थवादिता। इनके निवारण हेतु वह क्रमशः योग्यता तथा एकरूपता को स्थापित करने का उद्देश्य रखता है और इसीलिए वह क्रमशः विशेषीकरण तथा एकीकरण के लक्ष्य रिपब्लिक में निरूपित करता है। प्लेटो की दूरदर्शी दृष्टि न्याय के सिद्धांत में नगर-राज्यों की पूर्णता का आधार देखती है। न्याय ही वह आधार है जिस पर वह अपने आदर्श राज्य की नींव रखता है।

प्लेटो के न्याय के विवेचन से पूर्व कुछ बातें अवश्य ध्यान में रखी जानी चाहिए और ये हैं–

(1) एक निगमनात्मक विचारक होने के कारण वह अपने दर्शन को कतिपय मूलभूत मान्यताओं पर आधारित करता है। संयोगवश प्लेटो के विचारों में जितनी सुसंगतता दिखायी पड़ती है वही उसकी योजना में भी देखी जा सकती है। इसलिए उसकी परिकल्पनाओं को स्वीकार कर उसके निष्कर्षों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

(2) उसकी एक मूलभूत मान्यता मानव मस्तिष्क का त्रिवर्गीय विभाजन है जिन्हें वह विवेक,

उत्साह तथा तृष्णा कहता है और इन्हीं के सादृश्य में वह समाज को तीन वर्गों शासक, सैनिक एवं उत्पादकों में विभक्त करता है।

(3) राजनीतिक चिंतन के आदर्शवादी विचार का जनक होने के कारण वह 'सौन्दर्य' को बिना किसी 'सुंदर वस्तु' के भी देख सकता है। उसके लिए 'सार्वभौम' सदैव 'विशेष' से अधिक महत्वपूर्ण होता है।

(4) प्लेटो अपने गुरु सुकरात के विचार– "सद्गुण ही ज्ञान है" से सर्वाधिक प्रभावित है। इस वाक्यांश का साधारण अर्थ यह हुआ कि ज्ञान के बिना सद्गुण की प्राप्ति संभव नहीं है।

(5) न्याय की खोज के प्रयास में प्लेटो नकारात्मक पद्धति को अपनाता है अर्थात् वह 'न्याय क्या नहीं है यहाँ से प्रारंभ करता है और तब न्याय को कैसे देखा जाए यह बताता है।

क्योंकि रिपब्लिक एक संवाद है जिसके अंतर्गत प्लेटो सुकरात के माध्यम से उन प्रश्नों का उत्तर दिलवाता है जो इस संवाद में भाग ले रहे पात्र सुकरात से करते हैं। 'रिपब्लिक' की पहली पुस्तक का प्रारंभ ही इस रूप में होता है और न्याय के विषय पर विचार एक संवाद के रूप में विकसित होता है। न्याय के बारे में प्रचलित विविध मान्यताएं क्रमशः सुकरात द्वारा अस्वीकार कर दी जाती हैं और तब 'न्याय क्या है'" यह विचार जन्म लेता है। इस विवेचन में हम संक्षेप में इस संवाद के संदर्भ को लेते हुए प्लेटो के न्याय सिद्धांत का विवेचन करेंगे।

पहला सिद्धांत परंपरागत नैतिकता का है जो न्याय को "सच बोलना तथा अपने ऋणों को चुका देना" एवं "प्रत्येक व्यक्ति को उसका प्राप्य मिल जाना" के रूप में देखता है। यही विचार आगे चलकर न्याय को "मित्रों के साथ भला एवं शत्रुओं के साथ बुरा" के रूप में दर्शाता है। सुकरात इन मान्यताओं को निम्न आधारों पर न्याय के रूप में परिभाषित करने से इन्कार करता है–

(i) न्याय की कला के साथ तुलना करना उचित नहीं है। कला, भला और बुरा दोनों कर सकती है। एक डॉक्टर अपनी दवा से जहाँ बीमारी ठीक कर सकता है वहीं बीमारी पैदा भी कर सकता है। न्याय तो किसी का कुछ बुरा कर ही नहीं सकता क्योंकि यह तो आत्मा का गुण तथा मस्तिष्क की आदत है।

(ii) मित्र और शत्रु की पहचान कर पाना मुश्किल है क्योंकि जो दिखाई पड़ता है वह सत्य हो यह आवश्यक नहीं।

(iii) किसी व्यक्ति को उसका प्राप्य दे देना सदैव सार्वभौम रूप से उचित नहीं। यह अधिकार की भावना के विपरीत है। उदाहरण के लिए किसी पागल व्यक्ति को उसका हथियार जो कि उसका प्राप्य है नहीं दिया जा सकता।

(iv) शत्रुओं के साथ बुराई नैतिकता की आधारभूत अवधारणा के विरुद्ध है।

(v) मित्र तथा शत्रु के साथ अच्छा अथवा बुरा करना व्यक्तिगत संबंधों को सिर्फ वैयक्तिकता के आधार पर देखना है। यह सामाजिक संपूर्णता को नकारना है।

न्याय का दूसरा सिद्धान्त क्रांतिकारी नैतिकता का है। जिसका प्रतिपादन सोफिस्ट थ्रेसीमेकस करता है। यह सिद्धान्त न्याय के अपरंपरागत मत को व्यक्त करता है। क्योंकि यह नैतिक दायित्व को अमान्य करता है। इस मत के अनुसार 'न्याय शक्तिशाली का हित है।' क्योंकि सर्वोच्च सत्ता राज्य में निहित होती है इसलिए राज्य जो भी करता है न्यायोचित है। इस प्रस्ताव के दो सिद्धांत बनते हैं–

पहला कि न्याय की पहचान सामर्थ्यशक्ति से है। सर्वशक्तिमान निश्चित रूप से वह प्राप्त कर लेता है, जो वह चाहता है। अतः अधिकार शक्ति का पर्याय बन जाता है। राज्य में सरकार के शक्तिशाली होने के कारण वह जो कुछ भी करे वह न्याययुक्त है। इस तरह किसी समुदाय में रहने वाले व्यक्ति के कार्यों का मापदण्ड शासक की इच्छा एवं हितों को चाहना है अर्थात् शासितों के लिए अपना हित चाहना अन्याय होगा।

दूसरा कि अन्याय न्याय से श्रेयस्कर है। इस तरह न्याय सत्ता के अनुपालन में निहित है।

इस मान्यता को प्लेटो सुकरात के माध्यम से अस्वीकार करवाता है। जहाँ यह बात व्यक्त होती है कि यदि शासन कला है तो शासन रूपी कला कलाकार के लिए नहीं बल्कि उन वस्तुओं के लिए है जिन्हें वह बनाता है। शासक शासन रूपी कला का प्रयोग अपने हित में नहीं करता बल्कि शासितों के सुधार हेतु करता है। साथ ही इस सिद्धांत को यह तर्क देकर भी प्लेटो अस्वीकार करवाता है कि न्याय सदैव अन्याय से श्रेष्ठ है क्योंकि एक न्यायशील व्यक्ति एक अन्यायी की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान, शक्तिशाली और सुखी होता है क्योंकि वह अपनी सीमाओं को जानता है।

न्याय का तीसरा सिद्धांत व्यवहारवादी अथवा परिणामवादी है जिसकी मान्यता यह है कि 'न्याय एक कृत्रिम वस्तु है जो किसी सामाजिक संविदा से उत्पन्न होता है।' यह मान्यता सामाजिक समझौता सिद्धान्तकर्त्ताओं की पूर्ववर्ती है और यह मानती है कि प्राकृतिक स्थिति में न कोई राज्य था, न कोई न्याय। यह मान्यता न्याय को 'भय का शिशु' मानती है। क्योंकि यह कमजोर की आवश्यकता पर आधारित है अतः यह राज्य को शक्तिशाली का हित नहीं मान सकती।

उपर्युक्त सभी सिद्धांत प्लेटो के मत से एक ही तरह की सामान्य भूल करते हैं। और वह यह कि वे न्याय को एक बाह्य वस्तु, एक आयातित वस्तु या एक संविदा मानते हैं। प्लेटो के लिए न्याय मानव मस्तिष्क में निहित है और एक सद्गुण है, जो कि एक आंतरिक वस्तु है इसलिए न्याय अपनी उत्पत्ति के लिए किसी आकस्मिक संविदा पर निर्भर नहीं है।

प्लेटो एक कलाकार की तरह न्याय की सीधे एक परिभाषा नहीं करता। पहले वह "बड़े अक्षरों के सिद्धांत" (Theory of Large Letters) को अपनाता है। वह इसका प्रयोग समान तरह के रहस्यों को आसानी से गंभीर रहस्यों को जानने हेतु करता है। अतः न्याय को आदर्श राज्य के माध्यम से परिभाषित करता है। वह न्याय को राज्य तथा व्यक्ति दोनों में विद्यमान मानता है। क्योंकि वह राज्य को व्यक्ति का विशाल रूप कहता है। अतः पहले राज्य में न्याय को विचारने की सलाह देता है जहाँ यह सर्वाधिक विस्तृत रूप में विद्यमान होता है।

प्लेटो के अनुसार राज्य की उत्पत्ति को मनुष्यों की आवश्यकताओं में देखा जाना चाहिए जिनकी पूर्ति तभी संभव है जब वे परस्पर एक दूसरे की आवश्यकताओं को पूरा करें। क्योंकि मनुष्यों की कई आवश्यकताएं होती हैं अतः एकाकी रूप में कोई मनुष्य आत्मनिर्भर नहीं हो सकता। समाज का ऐसा विश्लेषण समाज को पारस्परिक सेवाओं की एक ऐसी व्यवस्था के रूप में दर्शाता है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को कुछ प्रदान भी करता है और उससे कुछ लेता भी है। सेवाओं की यह अदला-बदली एक दूसरे सिद्धांत को जन्म देती है जो 'श्रम विभाजन' और 'कार्य-विशेषीकरण' का है। एक समाज में प्लेटो के त्रिवर्गीय विभाजन के अनुरूप शासक, सैनिक एवं उत्पादक परस्पर एक दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अपनी सेवाएं अर्पित करते हैं और ऐसा करते हुए वे संपूर्ण के लिए कार्यरत रहते हैं।

इस तरह आदर्श राज्य की संरचना न्याय की इस अवधारणा पर आधारित है कि "न्याय एक ऐसा बंधन है जो समाज को एक सूत्र में बांधता है। यह व्यक्तियों की ऐसी समरसता

है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन-कार्य को अपनी प्राकृतिक क्षमता एवं प्रशिक्षण से प्राप्त करता है। सामाजिक न्याय समाज का वह सिद्धांत है जिसके अन्तर्गत समाज में शासक, सैनिक एवं उत्पादक वर्ग एक दूसरे के हित में अपनी आवश्यकतापूर्ति की भावना से संयुक्त हों और एक ही समाज में अपने इस सम्मिश्रण के द्वारा तथा अपने-अपने निर्दिष्ट कार्य में अपने को केन्द्रीभूत करते हुए एक संपूर्ण की रचना करें जो कि हर प्रकार से पूर्ण हो, क्योंकि वह संपूर्ण समाज तथा समूचे मानव मस्तिष्क की उपज तथा प्रतिबिम्ब है।''

इस तरह प्लेटो के सामाजिक न्याय की परिभाषा समाज के ऐसे सिद्धांत के रूप में की जा सकती है जहाँ विभिन्न प्रकार के व्यक्ति हैं, जो एक दूसरे के प्रति पारस्परिक आवश्यकताओं की भावना से संयुक्त हैं तथा एक समाज के रूप में उनके सम्मिलन और अपने-अपने पृथक कार्यों के निर्वहन से वे एक संपूर्ण का निर्माण करते हैं जो कि इसलिए पूर्ण होता है क्योंकि वह मानव मस्तिष्क की उत्पत्ति एवं प्रतिबिम्ब है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्लेटो का न्याय समाज के निम्नलिखित सिद्धांतों पर आधारित है–

(1) प्रथम, अहस्तक्षेप का सिद्धान्त : जिसका अर्थ है प्रत्येक वर्ग दूसरे वर्ग के कार्यों में हस्तक्षेप न करे बल्कि अपने ही दायित्व-क्षेत्र तक सीमित रहे तभी समाज की एकता बनी रहेगी और संपूर्ण समाज व्यक्तियों के कार्यों से लाभान्वित हो सकेगा।

(2) द्वितीय, यह सिद्धान्त कार्य-विशेषीकरण का है। जिसका अभिप्राय प्रत्येक व्यक्ति एवं वर्ग द्वारा अपनी स्वाभाविक क्षमता एवं प्रशिक्षण के आधार पर अपने दायित्वों का निर्वहन करना है।

(3) तृतीय सिद्धान्त एकरूपता का है। प्लेटो मानव सद्‌गुणों को विवेक, उत्साह, तृष्णा तथा न्याय में विभाजित करता है। प्रथम तीन सद्‌गुण वह तीन वर्गों में निर्दिष्ट करता है।

(4) चतुर्थ सद्‌गुण वह है, जिसका कार्य अन्य सद्‌गुणों में एकरूपता स्थापित करना है। न्याय की प्रकृति एक ऐसे वास्तुविद् की है जो इन सभी सद्‌गुणों के मध्य सामंजस्य स्थापित करता है।

निष्कर्षतः प्लेटो के अनुसार न्याय से अभिप्राय प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने निर्दिष्ट कार्यों का उचित निष्पादन करना है। क्योंकि यही सामाजिक जीवन का सच्चा सिद्धांत है। राज्य में न्याय नागरिकों की कर्तव्यनिष्ठा की भावना है और यह अवधारणा व्यक्ति को एक एकाकी प्राणी न मानकर एक सम्पूर्ण के अंश के रूप में मानती है।

प्लेटो के न्याय सिद्धांत की उपादेयता

(1) प्लेटो का न्याय सिद्धांत सॉफिस्टों के व्यक्तिवादी विचार का उत्तर है। यह समाज एवं सामाजिक व्यवस्था को व्यक्ति एवं वैयक्तिक हितों से ऊपर देखने की एक सोच है।

(2) प्लेटो का न्याय सार्वभौम प्रकृति का है इसे मानवमात्र के संपूर्ण कर्त्तव्यों के रूप में देखा जा सकता है। वह कानूनी न्याय के सीमित विचार से कहीं अधिक विस्तृत एक नैतिक जीवन के संदर्भ में न्याय को दर्शाता है।

(3) प्रो० डनिंग का मानना है कि राजनीतिक क्षेत्र में प्लेटो की न्याय की अवधारणा शीर्षस्थ राहत पहुँचाने की योजना है क्योंकि यह सामाजिक जीवन में सावयव एकता की आवश्यकता पर बल देता है, व्यवस्थापन के स्थान पर क्रमबद्ध शिक्षा को महत्त्व देता है जिससे सामूहिक हित का संचालन होता है तथा यह शासन में कुलीनतंत्र के तार्किक आधार को दर्शाता है।

(4) प्लेटो की न्याय की अवधारणा राज्य के एक व्यक्तित्व तथा इच्छा के विचार को दर्शाती है जो राज्य के अस्तित्व को व्यक्तियों से स्वतंत्र मानती है।

(5) न्याय की अवधारणा से प्लेटो राजनीतिक स्वार्थवादिता एवं अज्ञानता, जो कि तत्कालीन एथेंस के समाज की विशेषताएं थीं, के विरुद्ध एक क्रांति का सूत्रपात करता है।

(6) प्लेटो के लिए न्याय जहाँ एक मानवीय सद्गुण है वहीं राज्य का सूत्र-बंधन भी। यह मानवों को एक सामाजिक सूत्र में पिरोने का बंधन है। यह मनुष्य को उत्तम तथा सामाजिक बनाने की योग्यता का नाम है।

(7) न्याय के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए प्लेटो राज्य के सावयव सिद्धांत का प्रतिपादक बन जाता है और वह समस्त सावयव सिद्धांतकर्त्ताओं का प्रेरणास्रोत भी बन जाता है। यह सिद्धांत (सावयव सिद्धान्त) संपूर्ण को अपने अंश से कहीं अधिक मूल्यवान मानने का सिद्धांत है क्योंकि अंश का मूल्य तथा उपयोगिता संपूर्ण के अंग के रूप में ही है।

(8) न्याय के सिद्धांत की एक उपयोगिता उस मूलभूत समस्या का समाधान करने में भी है जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता और राज्यशक्ति के मध्य सामंजस्य की है। प्लेटो की मान्यता यह है कि राज्य का जीवन उसके निर्माणकारी सदस्यों का ही जीवन है। यह बात हमेशा ध्यान में रखी जानी चाहिए कि प्लेटो व्यक्तियों के बिना राज्य की कल्पना नहीं कर रहा।

(9) राजनीतिक सिद्धान्त के अंतर्गत प्लेटो अपने न्याय सिद्धांत के माध्यम से श्रम-विभाजन तथा कार्य-विशेषीकरकण के दो महत्वपूर्ण सिद्धांतों को आयातित करा देता है। यह सिद्धांत, सामाजिक सहयोग की परिस्थितियों और शासक द्वारा इनकी व्यवस्था सर्वाधिक लाभप्रद रूप में कैसे की जानी चाहिए, के उद्देश्य को दर्शाता है। अतः मानवों के मध्य पूर्ण समायोजन को दर्शाता है।

(10) अंततः न्याय के सिद्धांत के माध्यम से प्लेटो राज्य के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को भी दर्शाता है। वह स्वयं लिखता है कि "राज्यों की उत्पत्ति पेड़ों अथवा चट्टानों से नहीं होती बल्कि इनमें निवास करने वाले नागरिकों के चरित्रों से होती है।"

आलोचना

प्लेटो का न्याय सिद्धान्त उसके 'रिपब्लिक' का आधार है तथा व्यक्तिगत एवं सामाजिक नैतिकता का परिचायक भी। प्लेटो के आदर्श राज्य की काल्पनिक व्यवस्था बिना न्याय के प्राप्त नहीं की जा सकती। साथ ही 'सत्' का ज्ञान उसके आदर्श राज्य की अनिवार्यता है। यह सत्य है कि उसकी न्याय की अवधारणा एक अति उपयोगी धारणा है परन्तु प्लेटो का यह विचार उसके आलोचकों द्वारा विविध आधारों पर आलोचना का कारण बना है। ये आलोचनाओं निम्नवत् रखा जा सकता है।

(1) प्लेटो न्याय की नैतिक अवधारणा को दर्शाता है न कि कानून की। न्याय वर्गीय हितों के आपसी संघर्षों का समाधान नहीं कर सकता अतः न्याय के माध्यम से समाज में शांति एवं व्यवस्था की स्थापना नहीं की जा सकती। यह परिभाषा किसी भी अर्थ में एक न्यायशास्त्रीय परिभाषा नहीं है। न्याय को प्रायः उस व्यवस्था के रूप में देखा जाता है जहाँ व्यक्ति को कानूनी संरक्षण प्राप्त हो और इसे राज्य-सत्ता का समर्थन भी प्राप्त हो।

(2) प्लेटो के न्याय का विचार अत्यधिक विषय परक है। यह भावमूलक है और व्यक्ति

से अपने निर्दिष्ट कार्यक्षेत्र तक सीमित रहने की अपेक्षा करता है। प्लेटो जिस आत्मसंयम के द्वारा हितों के संघर्षों के समाधान को सुझाता है वह व्यक्ति की अंतरात्मा का विषय है। ऐसे में व्यक्ति के नैतिक कर्त्तव्यों तथा कानूनी दायित्वों के मध्य कोई भेद नहीं किया जा सकता।

(3) न्याय के सिद्धांत द्वारा प्लेटो व्यक्तियों से राज्य के हित में अत्यधिक व्यक्तिगत हितों के बलिदान की अपेक्षा करता है। वह व्यक्तियों के राजनीतिक अधिकार जैसे किसी अधिकार को मान्य नहीं करता। वह व्यक्तियों से अपने अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं का बलिदान करवा देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी सामाजिक नैतिकता, जिसका नियमन विवेक तत्त्व द्वारा किया जाएगा, दार्शनिक शासकों के सर्वसत्तावाद से निर्धारित हांगी। इस तरह यह धारणा राज्य में स्वेच्छाचारीतंत्र की स्थापना करेगी। प्लेटो प्रजातंत्र से सहानुभूति नहीं रखता। न्याय के माध्यम से वह सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में व्यक्ति को साधन मात्र बना देता है। अतः उसके लिए व्यक्ति का अस्तित्व राज्य के लिए है न कि राज्य का व्यक्ति के लिए। यह धारणा फासीवादी विचार जैसी धारणा है।

(4) प्लेटो न्याय के सिद्धांत में राज्य के अंतर्गत सभी के सुख के उन्नयन को देखता है परन्तु न्याय के माध्यम से इस उद्देश्य की पूर्ति संभव नहीं है। अरस्तू तो इसी आधार पर उसकी आलोचना करता है कि यह सिद्धांत संरक्षकों को सुख से विहीन कर देता है जबकि संरक्षकों से ही सबको सुखी रखने की कामना की गयी है। जब संरक्षक ही खुश न होंगे तो क्या कृषक अथवा सामान्य जन सुखी रह सकते हैं ?

(5) न्याय की अवधारणा'' एक व्यक्ति-एक काम'' के सिद्धांत पर आधारित है। यह सिद्धांत मानवीय व्यक्तित्व के संपूर्ण विकास की अनदेखी करता है। व्यक्ति को एक ही कार्यक्षेत्र तक सीमित कर देना उसके विकास तथा जीवन में सामाजिक मान्यता के अवसरों की मनाही कर देना जैसा है।

(6) न्याय का सिद्धांत दार्शनिक शासकों के शक्ति के एकाधिकार को भी जन्म देगा।

(7) प्लेटो द्वारा समाज में व्यक्तियों को तीन श्रेणियों में विभाजित कर दिया गया है जो क्रमशः स्वर्ण, रजत और लौह तत्त्व के हैं और यह मानव-आत्मा के तीन तत्त्वों– विवेक, उत्साह और तृष्णा से निर्धारित हैं। ऐसा विभाजन मनमाना है क्योंकि एक औसत व्यक्ति में ये तीनों ही तत्त्व मौजूद हो सकते हैं ? और वह इनकी अभिव्यक्ति तथा संतुष्टिकरण की मांग कर सकता है।

(8) प्लेटो की धारणा में राज्य के अंतर्गत शासक तथा शासितों के मध्य वर्ग-संघर्ष की संभावना हो सकती है। यद्यपि वह एक राज्य के अंतर्गत दो राज्यों के अस्तित्व की पहचान करता है, जो दो आर्थिक वर्गों के सदृश्य थी, साथ ही उनके मध्य राजनीतिक संघर्ष की भी परिचायक है। राज्य की एकता के नाम पर न्याय सिद्धान्त के कार्य-विशेषीकरण द्वारा वह विविध वर्गों को निर्मित कर देता है। ये वर्ग भी एक तरह के आर्थिक वर्ग हैं। अतः इनके मध्य संघर्ष वर्ग-संघर्ष को जन्म देंगे।

(9) प्लेटो द्वारा न्याय सिद्धांत को लागू करने के लिए जिन साधनों को दर्शाया गया है वे भी स्वप्नलोकीय हैं। प्लेटो शिक्षा को एक सकारात्मक साधन बताता है परन्तु शिक्षा के लाभ से समाज के एक बड़े वर्ग को वंचित रखता है। साम्यवाद के रूप में जिस नकारात्मक साधन का सुझाव वह देता है वह भले ही प्लेटो का मौलिक विचार हो पर पूर्णतः काल्पनिक है और इसकी व्यावहारिकता सदैव संदिग्ध है।

1.6 प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त

प्लेटो के लिए आदर्श राज्य का उद्देश्य न्याय की प्राप्ति है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह दो साधन बताता है जिन्हें उसके न्याय सिद्धांत के उपसिद्धांतों के रूप में देखा जा सकता है और ये हैं क्रमशः शिक्षा एवं साम्यवाद। शिक्षा एक आध्यात्मिक पद्धति है। अतः सकारात्मक साधन है जबकि साम्यवाद एक लौकिक पद्धति है अतः नकारात्मक साधन है। प्लेटो द्वारा शिक्षा पर अधिक जोर दिया गया है।

प्लेटो का आदर्श राज्य उसके शिक्षा सिद्धांत का प्रतिफल है और अपने ग्रंथ 'रिपब्लिक' में वह शिक्षा पर अत्यधिक विस्तार से लिखता है। रूसो ने प्लेटो के 'रिपब्लिक' के बारे में कहा था कि यह 'शिक्षाशास्त्र पर लिखा गया एक सर्वोत्तम प्रबंध है।' उसके शिक्षा सिद्धांत के दो पक्ष हैं। पहला-वैयक्तिक, जिससे उसका अभिप्राय 'शाश्वत स्वरूप' (Idea of good) की प्राप्ति से है। वह ज्ञान को सद्‌गुण का पर्यायवाची मानता है क्योंकि इसी के द्वारा व्यक्ति अपनी आत्मा की दृष्टि से आंतरिक वास्तविकता और सत्य तक पहुँचता है और यह निरपेक्ष सत्य की दृष्टि बन जाती है। दूसरा सामाजिक पक्ष, जिससे उसका अभिप्राय उस व्यवस्था से है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को राज्य में उसका निर्धारित स्थान दिया जाता है ताकि वह राज्य के सदस्य के रूप में अपने दायित्वों का निर्वहन कर सके।

प्लेटो का शिक्षा सिद्धांत एथेंस एवं स्पार्टा में प्रचलित शिक्षा व्यवस्थाओं का सम्मिश्रण है। वह एथेंस के शिक्षा पाठ्यक्रम को स्पार्टा के शिक्षा संगठन के साथ सुमेलित कराता है। एथेंस में शिक्षा वैयक्तिक नियन्त्रण में थी और महिलाओं को नहीं दी जाती थी जबकि स्पार्टा में शिक्षा राजकीय नियंत्रण में थी तथा पुरुषों एवं महिलाओं को समान रूप से दी जाती थी।

प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएं हैं–

(i) शिक्षा राज्य नियंत्रित होगी।

(ii) शिक्षा पुरुष एवं महिलाओं दोनों के लिए होगी।

(iii) संभवतः उसकी शिक्षा कृषकों के लिए भी थी (यद्यपि इसके बारे में वह बहुत स्पष्ट रूप से नहीं लिखता है)।

(iv) शिक्षा पाठ्यक्रम में कला एवं साहित्य के उस पक्ष पर प्रतिबंध लगाया गया है जो युवा मस्तिष्क पर दुष्प्रभाव छोड़ते हैं।

(v) आदर्श राज्य एवं दर्शन के शासन की उत्पत्ति शिक्षा से ही होती है।

प्लेटो शिक्षा व्यवस्था के पाठ्यक्रम को क्रमशः दो चरणों प्रारंभिक एवं उच्च में विभक्त करता है।

प्रारभिक शिक्षा के तीन उपचरण दर्शाये गए हैं–

(i) पहला उपचरण बच्चे के जन्म से छह वर्ष तक का है जबकि बच्चों को नैतिकता का ज्ञान प्रमुखतः कहानियों के माध्यम से तथा अन्य बाल सुलभ क्रियाएं सिखायी जानी चाहिए।

(ii) दूसरा उपचरण छह वर्ष से अठारह वर्ष तक की आयु वर्ग के लिए है, जहाँ संगीत, शारीरिक विज्ञान तथा गणित की शिक्षा पर बल दिया गया है।

(iii) तीसरा उपचरण अठारह से बीस वर्ष तक अनिवार्य सैन्य शिक्षा की योजना का है। बीस वर्ष के उपरान्त उच्च शिक्षा प्रारंभ होती है। यहाँ पर एक प्रतियोगी परीक्षा द्वारा

अभ्यर्थियों का चयन किया जाता है। परीक्षा में अनुत्तीर्ण अभ्यर्थियों को राज्य के कार्यों में नियुक्त किया जाता है और उत्तीर्ण अभ्यर्थी उच्च शिक्षा प्राप्त करते हैं। उच्च शिक्षा के भी दो उप चरण हैं–

पहला उप चरण बीस से तीस वर्ष की आयु वर्ग के लिए है, जब दर्शन एवं गणित की शिक्षा प्रमुख रूप से दी जाती है। तीस से पैंतीस वर्ष तक 'द्वन्द्ववाद' की शिक्षा का प्रावधान है। पैंतीस वर्ष की आयु में पुनः उच्चतर शिक्षा हेतु चयन की प्रक्रिया को सुझाया गया है। यहाँ पर भी अनुत्तीर्ण अभ्यर्थी राज्य के उच्चतर पदों पर नियुक्त हो जाते हैं और उत्तीर्ण अभ्यर्थी पुनः उच्चतर शिक्षा प्राप्त करते हैं। यह उच्चतर शिक्षा प्लेटो के सिद्धांत की सर्वाधिक मौलिक योजना है। इसे उच्च शिक्षा के दूसरे उपचरण के रूप में बताया जा सकता है। जहाँ पर दार्शनिकों के शासन की स्थापना हेतु शासकों को दर्शन की शिक्षा में दक्ष किया जाता है। इसी काल में वे दार्शनिक शासकों की तरह कार्यरत भी रहते हैं। औपचारिक रूप में पचास वर्ष की आयु में शिक्षा समाप्त हो जाती है पर अनौपचारिक रूप में इसके उपरान्त भी दार्शनिक शिक्षा प्राप्त करते रहते हैं। अब उन्हें सांसारिक जगत से ऊपर, उच्च दर्शन, अध्यात्म आदि का अध्ययन करना होता है।

स्पष्ट है कि प्लेटो की शिक्षा योजना उसके न्याय सिद्धांत की प्राप्ति का साधन है। प्लेटो शिक्षा एवं न्याय के मध्य एक सावयव संबंध को दर्शाता है। वह मानता है कि 'शिक्षा एवं पालन-पोषण एक महान वस्तु है क्योंकि यदि नागरिक सुशिक्षित होंगे तो वे अन्य साधनों से अपने लिए मार्ग ढूँढ़ सकते हैं।' प्लेटो के संदर्भ में शिक्षा की व्यवस्था का उद्देश्य बुराई को उसके स्रोत-स्थल पर ही समाप्त कर देना है, साथ ही शिक्षा के माध्यम से वह जीवन दृष्टि के गलत मार्गों को सुधारना चाहता था, इसलिए शिक्षा को 'मानसिक रोग की मानसिक दवा' कहा जा सकता है। प्लेटो की शिक्षा का कुल कार्य ज्ञान को आत्मा में प्रविष्ट कराना नहीं बल्कि आत्मा में प्रच्छन्न सर्वश्रेष्ठ वस्तुओं को बाहर लाना है और इन्हें सर्वोच्च उद्देश्यों हेतु निदेशित करना है, इसीलिए शिक्षा की समस्या शिक्षा को समुचित परिवेश दिलाना है।

प्लेटो की शिक्षा योजना की कतिपय आलोचनाएं निम्नलिखित आधारों पर की गयी हैं–

(i) प्लेटो की शिक्षा आजीवन शिक्षा की योजना है।

(ii) शिक्षा योजना के परिणामस्वरूप सिद्धान्तकारों का जन्म होगा न कि शासकों का।

(iii) प्लेटो शिक्षा पाठ्यक्रम में स्पार्टा से ज्यादा प्रभावित है जबकि संयोगवश स्पार्टा के मुकाबले एथेन्स की शिक्षा योजना से महान बुद्धिजीवी जन्मे थे और स्वयं प्लेटो और अरस्तू भी।

(iv) कला एवं साहित्य की शिक्षा का प्रतिबंधन आपत्तिजनक हो सकता है।

(v) प्लेटो एक विशाल वर्ग, जो कि उसके सिद्धांत में तृष्णातत्व का प्रतिनिधित्व करने वाले उत्पादक वर्ग के लोगों का है, की अनदेखी करता है।

परन्तु उसकी शिक्षा योजना एक ही साथ तार्किक एव व्यावहारिक दिखाई पड़ती है। यदि सद्गुण ही ज्ञान है तो इसे सिखाया जा सकता है या संचारित किया जा सकता है। अतः किसी न किसी तरह की शिक्षा व्यवस्था की आवश्यकता होगी। शिक्षा योजना उसके न्याय सिद्धांत का तार्किक फल है क्योंकि राज्य के सभी वर्गों के द्वारा अपने कार्यों का निर्वहन आवश्यक है। प्लेटो की शिक्षा योजना इस अर्थ में व्यावहारिक है कि उस समय एथेन्स का शासन अज्ञानियों के हाथों में था और प्लेटो अज्ञानियों के शासन को अभिशाप मानता था अतः इसका उपचार शिक्षा योजना से ही संभव था।

प्लेटो शिक्षा में ही राज्य के स्थायित्व को खोजता है। शिक्षा नागरिकों को सामुदायिक जीवन

व्यवस्था में ढालने का सर्वोच्च उपाय है। यह कार्य कोई व्यवस्थापन नहीं कर सकता। उसकी मान्यता थी कि यदि नागरिकों का चरित्र उच्च होगा तो कानून अनावश्यक हो जाएंगे और यदि चरित्र ही नहीं है तो कानून अनुपयोगी।

प्लेटो शिक्षा में पर्यावरण के महत्व को भी जोर देकर दर्शाता है। वह मानव आत्मा को सजीव सावयव के रूप में लेता है और कहता है कि जिस तरह कोई पौधा जिस धरती पर लगाया जाता है उसी के अनुरूप विकसित होता है यही बात आत्मा के संबध में भी लागू होती है।

1.7 साम्यवाद की योजना

प्लेटो के राजनीतिक दर्शन की संरचना कतिपय निर्धारित मान्यताओं पर आधारित है और यह लगभग असंभव सा है कि उसकी मान्यताओं को स्वीकार किया जाए तथा निष्कर्षों को न स्वीकारा जाए। उसके साम्यवाद की योजना भी उसकी मूलभूत मान्यताओं का ही परिणाम है। क्योंकि वह आदर्श राज्य हेतु क्रमशः तीन वर्गों– दार्शनिक, सैनिक एवं उत्पादकों, जो कि मानव मस्तिष्क के तीन तत्वों– विवेक, उत्साह एवं तृष्णा का प्रतिनिधित्व करते हैं, को स्वीकार करता है। उसके लिए न्याय का अभिप्राय प्रत्येक वर्ग द्वारा अपने दायित्वों का पूर्णतः निर्वहन करना है। इस क्रम में यदि दार्शनिकों एवं सैनिकों को न्याययुक्त होकर अपना कर्त्तव्य निर्वहन करना है तो उन्हें संपत्ति से कोई लेन देन नहीं रखना चाहिए। संपत्ति शासकों को भ्रष्ट करने का कारण हो सकती है। शासकों के पास संपत्ति का होना उन्हें राजनीतिक एवं आर्थिक दोनों ही शक्तियों से युक्त कर सकता है, जबकि प्लेटो की योजना इन दो शक्तियों को अलग-अलग रखने की है। शासक को संपत्ति अपने परिवार हेतु आवश्यक होती है इसलिए प्लेटो शासकों (जिनमें वह सैनिकों का भी सम्मिलित कर लेता है और इस तरह इन दोनों के योग से संरक्षक वर्ग बनता है।) के लिए संपत्ति एवं परिवार दोनों ही की स्वीकृति नहीं देता। यह योजना उसके साम्यवाद की योजना है। इसे उसके न्याय के उद्देश्य की प्राप्ति का एक नकारात्मक साधन कहा जा सकता है। यह एक ऐसी व्यावहारिक दृष्टि है जो उसके साम्यवाद को आदर्शवादी बना देती है। परन्तु यह उसके आदर्श राज्य की एक सर्वाधिक व्यवहारिक विशेषता भी है। प्लेटो इस योजना में व्यावहारवादी भी है, क्योंकि वह स्पार्टा के उदाहरण से यह दर्शाता है कि वहाँ नागरिकों को व्यापार में संपत्ति के प्रयोग एवं विशेषाधिकारों से वंचित किया जाता था। वे सभी वस्तुओं का सामूहिक उपभोग करते थे। ऐसा प्रयोग राज्य में पूर्ण एकता को लाने में पर्याप्त सफल साबित हुआ।

उसके साम्यवाद की व्यवस्था के उद्देश्यों में राज्य की अधिकतम एकता को स्थापित करना सम्मिलित था। वह ऐसी योजना को राज्य में संपत्ति संबंधी असमानता को दूर करने हेतु नहीं बतलाता। यह बात अवश्य ध्यान में रखी जानी चाहिए कि साम्यवाद की व्यवस्था को प्लेटो द्वितीयक योजना के रूप में बताता है, प्राथमिक योजना तो शिक्षा की व्यवस्था है। साम्यवाद की योजना को वह एक नकारात्मक लौकिक एवं भौतिक पद्धति के रूप में दर्शाता है। इस तरह वह साम्यवाद के द्विवर्गीय स्वरूप का विवेचन करता है–

प्रथम– शासकों एवं सैनिकों के लिए वैयक्तिक सम्पत्ति की मनाही, तथा

द्वितीय– इन दोनों वर्ग के लिए वैयक्तिक परिवारों को रखने की भी मनाही।

इसीलिए उसकी साम्यवादी योजना के दो पक्ष हैं– प्रथम, संपत्ति का साम्यवाद और द्वितीय, परिवार का साम्यवाद। संपत्ति के साम्यवाद की प्लेटो की योजना जैसा कि स्पष्ट है, यह दर्शाती है कि शासकों एवं सैनिकों के पास व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होगी। इन वर्गों को

उपभोग के साधनों की आपूर्ति उत्पादक वर्ग द्वारा निश्चित मात्रा में कराई जाएगी। जिसका उपभोग वे सामूहिक रूप में ही करेंगे।

संपत्ति के साम्यवाद की ऐसी योजना का व्यावहारिक पक्ष यह है कि संरक्षक वर्ग सामूहिक रूप से समस्त संपत्तिजनित विलासिताओं का त्याग कर दें। इस अर्थ में यह संन्यासवाद जैसी व्यवस्था है। क्योंकि यह योजना उन वर्गों के लिए है जो संख्या में कम पर गुणों में श्रेष्ठ हैं अर्थात् कुलीन वर्गीय हैं अतः साम्यवादी योजना कुलीनवर्गी है। कभी-कभी उसके साम्यवाद को 'अर्द्ध-साम्यवाद' की भी संज्ञा दी जाती है।

संपत्ति के साम्यवाद की प्लेटो की इस योजना की अरस्तू ने निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की है–

(1) मानवों में संपत्ति के स्वामित्व हेतु एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है।

(2) प्लेटो की योजना एक विशाल वर्ग, जो उत्पादकों का है, की अवहेलना करती है।

(3) यह अपने ही उद्देश्य में असफल होती है, क्योंकि इसका उद्देश्य समानता स्थापित करना है जबकि यह असमानता का पोषण करती है।

(4) यह योजना व्यक्तिगत संपत्ति की एक सुस्थापित संस्था को नष्ट करने जैसी है।

(5) इस योजना के माध्यम से प्लेटो द्वारा अत्यधिक एकता को स्थापित करने का प्रयास किया गया है जो घातक हो सकता है।

(6) यह योजना यदि लागू की जाए तो इससे समाज की प्रगति बाधित होगी। अरस्तू इसे इसलिए अमान्य करता है कि उसकी मान्यता है कि "वास्तविक एकता का सिद्धांत विविधता में एकता है।" अरस्तू ने शिक्षा को राज्य में एकता लाने हेतु महत्त्वपूर्ण माना है। यहाँ पर अरस्तू संभवतः यह भूल करता है कि प्लेटो शिक्षा को प्राथमिक साधन के रूप में पहले ही दर्शा चुका है। अरस्तू एक और स्थान पर भूल करता है जब वह यह कहता है कि जीवन का अनुभव संपत्ति के साम्यवाद के विपरीत है जबकि प्लेटो दर्शाता है कि स्पार्टा में ऐसा उदाहरण मौजूद था।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि संपत्ति के साम्यवाद की प्लेटो की योजना अत्यधिक तार्किक एवं व्यावहारिक योजना है।

परिवार अथवा पत्नियों का साम्यवाद

यह योजना उसके सम्पत्ति के साम्यवाद का तार्किक उपप्रमेय है। प्लेटो की राज्य की सर्वोच्च एकता को स्थापित करने की अभिलाषा तब तक पूर्ण नहीं हो सकती जब तक कि वह संपत्ति के प्रयोजन हेतु आवश्यक संस्था परिवार को समाप्त नहीं करता। प्लेटो परिवार को इस उद्देश्य में बाधक मानता है। अतः वह परिवार के साम्यवाद की योजना को भी दर्शाता है।

इससे पूर्व कि हम प्लेटो के परिवार के साम्यवाद की व्यवस्था के उद्देश्यों का विवेचन करें कुछ तथ्यों को अवश्य एवम् स्पष्टतः ध्यान में रखा जाना चाहिए। प्रथमतः संपत्ति के साम्यवाद की ही तरह यह योजना भी केवल संरक्षक वर्गों अर्थात् शासक एवम् सैनिकों पर लागू होगी। द्वितीयतः प्लेटो परिवार के साम्यवाद की योजना को कहीं अधिक विस्तार से बताता है साथ ही ऐसी व्यवस्था की आलोचना का प्रत्युत्तर भी सशक्त रूप में देता है। तृतीयतः जैसा कि फोस्टर का मानना है 'पत्नियों के साम्यवाद की योजना प्लेटो द्वारा दर्शायी गई सर्वाधिक विलक्षण संस्था है, और यह बिल्कुल वैसे ही है जैसे कि दर्शन का शासन उसके द्वारा दर्शायी गई सर्वाधिक मौलिक संस्था है।' अरस्तू ने भी इस बात की ओर इशारा

किया था कि ऐसे अनूठेपन का प्रवर्तन अन्य किसी व्यक्ति द्वारा नहीं किया गया था। चौथे, निःसंदेह एथेंस में ऐसी किसी व्यवस्था के पूर्वोदाहरण नहीं मिलते परन्तु स्पार्टा में महिलाऐं पुरुषों के समान ही सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करती थीं, वहाँ पर महिलाओं का दायित्व राज्य के लिए सन्तानोत्पत्ति माना जाता था। अतः महिलाऐं भी राज्य की सेवा हेतु पुरुषों के समान ही अपनी भूमिका निर्वहित करती थीं, पाँचवें एथेंस में महिलाओं की स्थिति को संतोषप्रद नहीं कहा जा सकता था। उनकी भूमिका बच्चों के पालन पोषण तथा घर के दैनिक कार्यों तक सीमित थी, सार्वजनिक मामलों में उनकी कोई भूमिका नहीं थी। महिलाओं को ऐसी स्थिति प्लेटो को स्वीकार्य नहीं थी। वह इस स्थिति में सर्वप्रथम कुछ सुधारों को सुझाता है। प्लेटो द्वारा पत्नियों के साम्यवाद (परिवार के साम्यवाद) की योजना को बताने के पीछे तीन मुख्य उद्देश्यों को देखा जा सकता है :

(1) **राजनीतिक उद्देश्य** : परिवार की समाप्ति के पीछे प्लेटो का एक प्रमुख लक्ष्य राज्य की सर्वाधिक एकता को स्थापित करना था। इसी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु वह संरक्षक वर्ग के वैयक्तिक संपत्ति रखने के अधिकार को समाप्त करता है क्योंकि वह संपत्ति को एकता के मार्ग की बड़ी बाधा समझता है। प्लेटो परिवार को राज्य की एकता का शत्रु मानता है। अतः वह संरक्षक वर्ग के लिए वैयक्तिक परिवार की अनुमति नहीं देता। प्लेटो के अनुसार परिवार प्रेम राज्य-स्वामिभक्ति एवम् राज्य की एकता हेतु एक प्रबल प्रतिद्वंद्वी के रूप में उपस्थित हो जाता है। अनुभव भी ऐसा ही दर्शाता है कि परिवार बनाम राज्य के संघर्ष में व्यक्ति की प्रथम प्राथमिकता परिवार ही होता है। इसलिए प्लेटो परिवार को स्वार्थ का केन्द्र मानकर इसकी भर्त्सना करता है। पारिवारिक स्वार्थ विकृत होकर पारिवारिक संघर्ष, अव्यवस्था एवम् राजद्रोह में परिणत हो सकते हैं। अतः प्लेटो नागरिकों में राज्य के प्रति स्वामिभक्ति के स्थान पर पारिवारिक स्वामिभक्ति न जन्म ले सके इस उद्देश्य से परिवार की समाप्ति की वकालत करता है। संभवतः वह वैयक्तिक स्तर पर परिवार के स्थान पर सार्वजनिक स्तर पर परिवार को स्थापित करता है, जैसा कि बार्कर का कथन भी है 'वह परिवार को राज्य में आयातित कर देता है। वह राज्य को परिवार और परिवार को राज्य बनाना चाहता था।'

(2) **नैतिक उद्देश्य** : जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है प्लेटो एथेंस में महिलाओं की दयनीय स्थिति को अनुभव करता था। अतः वह महिलाओं को पारिवारिक बंधन के दासत्व से मुक्ति दिलाना चाहता था। उसकी मान्यता थी कि महिलाओं के कार्यक्षेत्र को प्रजनन तथा बच्चों के लालन पोषण तक सीमित कर देने से उनकी प्रतिभा का राज्य की सेवा हेतु समुचित उपयोग नहीं हो रहा था, साथ ही महिलाएं अपने व्यक्तित्व के विकास से भी वंचित की जा रही थी। प्लेटो का तर्क था कि पुरुष व स्त्री में लिंग भेद के अतिरिक्त प्रतिभा संबंधी कोई भेद नहीं है। समान प्रशिक्षण देकर महिलाओं से पुरुषों जैसी ही प्रतिभा तथा सेवाएं प्राप्त की जा सकती हैं। यहाँ पर प्लेटो राज्य के संरक्षकों की तुलना प्रहरी कुत्तों से करता है और तर्क देता है कि यह भूमिका किसी भी लिंग के कुत्ते से ली जा सकती है तब महिला संरक्षक भी पुरुषों के समान ही राज्य की सेवा कर सकती हैं। प्लेटो द्वारा दर्शाए न्याय के सिद्धान्त की भावना भी ऐसी ही है कि महिलाएं राज्य के प्रति कार्यों व दायित्वों के निर्वहन में अपनी प्राकृतिक क्षमता एवम् प्रशिक्षण के आधार पर पुरुषों के समान समझी जाएं। प्लेटो यह भी स्पष्ट कर देता है कि वह अपनी योजना की वकालत मात्र महिलाओं के उद्धार के उद्देश्य से नहीं कर रहा बल्कि यह तो एक उद्देश्य का साधन है और उद्देश्य राज्य की सेवा का है। अतः प्लेटो महिलाओं के अधिकारों से कहीं अधिक महिलाओं के कर्त्तव्यों की शिक्षा दे रहा है।

(3) **सृजननिकी**– यह उद्देश्य नस्ल-सुधार की प्लेटो की योजना है। यहाँ पर वह स्थायी विवाहों की व्यवस्था के स्थान पर अस्थायी विवाहों को सुझाता है ताकि पुरुष एवं महिलाओं के युगलों में से सर्वोत्तम का चयन करके अस्थायी रूप में उनके मध्य राज्य नियंत्रित पद्धति से सर्वोत्तम संतति प्राप्त की जा सके।

परिवार के साम्यवाद की योजना

यह योजना निम्नवत् है :

(i) संरक्षक वर्ग की सभी महिलाएं व पुरुष एक दूसरे के लिए सामूहिक हैं।

(ii) सभी संरक्षक पुरुष एवं महिलाएं सामूहिक बैरकों में निवास करेंगे।

(iii) राज्य इन पुरुषों एवं महिलाओं के मध्य अस्थायी रूप से संगम की व्यवस्था करवाएगा। प्लेटो इस हेतु पुरुषों के पच्चीस से पचास वर्ष के आयु वर्ग तथा महिलाओं के बीस से चालीस वर्ष के आयु वर्ग के लिए सुझाव देता है।

(iv) बच्चे का जन्म होने के उपरान्त इन युग्मों को अलग-अलग कर दिया जाएगा और नए युग्म बनाए जाएंगे।

(v) सभी उत्पन्न बच्चे सभी संरक्षकों के सामूहिक बच्चे कहलाएंगे।

(vi) सभी बच्चों का पालन-पोषण राज्य द्वारा किया जाएगा।

(vi) प्लेटो कमजोर बच्चों को समाप्त कर देने की भी सलाह देता है।

संपत्ति के साम्यवाद और परिवार के साम्यवाद के मध्य एक अंतर यह दिखायी पड़ता है कि जहाँ संपत्ति के साम्यवाद की योजना संपत्ति के सामूहिक त्याग की योजना है वहीं परिवार के साम्यवाद अर्थात् पत्नियों के साम्यवाद में यह योजना पत्नियों/स्त्रियों के सामूहिक स्वामित्व की है।

आलोचना

साम्यवाद की योजना की आलोचना इस आधार पर की जा सकती है कि प्लेटो के उद्देश्य के उचित रहते हुए भी इसके लिए अपनाए गए साधन अनुचित हैं; विशेषकर परिवार के साम्यवाद की योजना कभी भी किसी भी समाज को स्वीकार्य नहीं हो सकती। पुनः कुछ आलोचनाएं निम्न बिन्दुओं में दर्शायी जा सकती हैं –

(1) पुरुष एवं स्त्रियों के मध्य मात्रा का नहीं रूप का अंतर है।

(2) पुरुष व महिलाओं के मध्य संबंध विशेषकर जब वे पति-पत्नियों के रूप में बँधे हों तो वे विवाह से ऊपर आध्यात्मिक भी होते हैं।

(3) एक माता एवं उसके बच्चों का संबंध आंगिक एवं आजीवन संबंध है।

(4) प्लेटो इस योजना द्वारा एक सम्मानजनक नैतिक संस्था (परिवार) को समाप्त करने की वकालत करता है।

(5) प्लेटो अपनी योजना के समर्थन में व्यक्तियों से अत्यधिक आत्मनियंत्रण की मांग करता है जो मुश्किल है। साथ ही वह व्यक्ति को एक साधन बना देता है।

(6) प्लेटो कितना ही तार्किक क्यों न हो, मानव जीवन मात्र तर्क से नहीं चल सकता।

अरस्तू प्लेटो की इस योजना का बहुत बड़ा आलोचक है। वह विशेषकर निम्नांकित रूपों में इसकी आलोचना करता है–

(1) प्लेटो राज्य की अति एकता पर बल देता है।

(2) इससे समाज में विषमताएं ही जन्म लेंगी।

(3) सामूहिक बच्चे आवश्यक रूप से उपेक्षित रहेंगे क्योंकि जो वस्तु सबकी होती है वह वास्तव में किसी एक की नहीं होती। यह योजना पूर्णतः अव्यावहारिक है।

(4) इस योजना के तहत नजदीकी संबंधियों के मध्य अपवित्र कृत्यों की संभावना बनी रहेगी।

(5) इस योजना से संरक्षक वर्ग कभी भी खुश नहीं रह सकते।

(6) ऐसी योजना का कोई पूर्व उदाहरण नहीं देखा जा सकता।

(7) अरस्तू राज्य को आवश्यक रूप से एक बहुलता मानता है।

निष्कर्ष रूप में इस योजना के बारे में भी यही कहा जाएगा कि प्लेटो के उद्देश्यों में सत्यता हो सकती है पर उसके प्रस्तावों को अपनाने में आपत्ति होगी। यद्यपि यह बात भी ध्यान में रखी जानी चाहिए कि प्लेटो जिस वर्ग के लिए इस योजना को प्रस्तावित करता है उसी वर्ग के लिए वह एक अनिवार्य तथा राज्य नियंत्रित कठोर शिक्षा-व्यवस्था को पहले ही बता चुका है।

प्लेटो का साम्यवाद एवं आधुनिक साम्यवाद

प्लेटो के साम्यवाद की आधुनिक साम्यवाद से तुलना किए जाने से पूर्व यह आवश्यक है कि आधुनिक साम्यवाद के अर्थ को जान लिया जाए। आधुनिक साम्यवाद का विचार अपने शास्त्रीय रूप में कार्ल मार्क्स के विचारों में परिलक्षित होता है। मार्क्स को वैज्ञानिक समाजवाद का जनक कहा जाता है। उसके विचार से एक शोषणयुक्त समाज में सदैव से दो वर्गों क्रमशः शोषकों एवं शोषितों (जिनके मध्य वह उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के आधार पर अंतर करता है) का अस्तित्व रहा है। मार्क्स संपूर्ण मानव जाति के इतिहास को वर्ग संघर्ष के इतिहास के रूप में दर्शाता है। एक ओर वह अल्पवर्ग है जिसके पास उत्पादन के साधनों का स्वामित्व है, जिसे वह पूँजीपति वर्ग कहता है और दूसरी ओर एक विशाल वर्ग, जिसे वह 'सर्वहारा' की संज्ञा देता है, मजदूरों एवं श्रमिकों का वर्ग है जिसकी एकमात्र शक्ति उसका श्रम है। मार्क्स राज्य को एक ऐसे उपकरण के रूप में देखता है जिसका प्रयोग पूँजीपति वर्ग सर्वहारा के शोषण के लिए करता है। उसका उद्देश्य एक 'वर्ग विहीन समाज' की स्थापना करना है जहाँ पर राज्य के लिए कोई स्थान नहीं होगा। अतः यह वर्ग विहीन समाज राज्य विहीन समाज होगा। मार्क्स की परिकल्पना में यह सर्वहारा वर्ग द्वारा पूँजीपतियों के विरुद्ध क्रांति के माध्यम से संभव है। मार्क्स के विचारों से प्रभावित होकर सर्वप्रथम लेनिन ने रूस में (1917) समाजवादी क्रांति को करवाने में सफलता प्राप्त की पर ऐसी सफलता एक साम्यवादी दल द्वारा प्राप्त की गयी जिसे लेनिन सर्वहारा के संरक्षक के रूप में आवश्यक मानता था। साम्यवादी दलों द्वारा ऐसी क्रांतियाँ कई अन्य देशों में भी संपन्न हुईं। परन्तु कहीं पर भी राज्य की समाप्ति नहीं हो पायी। राजनीतिक तंत्र साम्यवादी दलों की तानाशाही व्यवस्थाओं के रूप में स्थापित हुए। बीसवीं सदी के अंतिम दशक में रूस तथा पूर्वी यूरोप की ये सारी साम्यवादी व्यवस्थाएं ढह गयीं और आज सिर्फ चीन तथा कतिपय छोटे-छोटे राज्यों में ऐसी व्यवस्थाएं देखी जा सकती हैं।

आधुनिक साम्यवाद का यह परिचय प्लेटो की साम्यवादी योजना के साथ तुलना करने हेतु पर्याप्त है। एक विद्वान ने तो यहाँ तक लिखा कि 'वस्तुतः समस्त समाजवादियों एवं साम्यवादियों की जड़ें प्लेटो में विद्यमान हैं', परन्तु यह एक अतिशयोक्ति प्रतीत होती है तथापि प्लेटो और आधुनिक साम्यवाद में कतिपय समानताएं ढूंढी जा सकती हैं। ये निम्नलिखित हैं–

समानताएँ

(1) दोनों ही के लिए एक समान आदर्श यह है कि समाज का संगठन सामूहिक सामाजिक सेवाओं के लिए है।

(2) दोनों का उद्देश्य समाज की एकता एवं सुदृढ़ता को बनाए रखना है।

(3) दोनों ही में किसी समाज में एकाधिक वर्गों के अस्तित्व की परिकल्पना विद्यमान है।

(4) दोनों के लिए आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता के रूप में एक समान शत्रु को देखा जा सकता है।

(5) दोनों ही समान रूप से व्यक्ति की वैयक्तिकता की अनदेखी करते हैं और उसे समाज में विलीन कर देते हैं।

(6) दोनों ही व्यक्तिगत संपत्ति को एक बुराई के रूप में देखते हैं। अतः उसके अधिकार को स्वीकार नहीं करते।

(7) दोनों ही में समाज को एक सम्पूर्णता के रूप में देखा जा सकता है।

असमानताएँ :

(1) दोनों की उत्पत्ति का समय तथा इसके विवेचन की परिस्थितियां बिलकुल भिन्न-भिन्न हैं।

(2) जहाँ प्लेटो का साम्यवाद उत्पादन की व्यक्तिगत व्यवस्था को प्रभावित नहीं करता, आधुनिक साम्यवाद में यह प्रभावित होती है।

(3) प्लेटो की साम्यवादी योजना में उपभोग की वस्तुएं प्रभावित होती हैं जबकि आधुनिक साम्यवाद में उत्पादन के उपकरण प्रभावित होते हैं।

(4) प्लेटो की साम्यवादी योजना एक छोटे से सामाजिक वर्ग के लिए है। अतः यह 'अर्द्ध-साम्यवादी' कही गयी है, पर आधुनिक साम्यवाद की योजना व व्यवस्था सभी पर लागू होती है।

(5) प्लेटो के साम्यवाद की योजना का विशुद्धतः एक राजनीतिक उद्देश्य था, जबकि आधुनिक साम्यवाद का उद्देश्य आर्थिक है।

(6) प्लेटो की योजना में जिस वर्ग के लिए साम्यवाद की योजना दर्शायी गयी है वह संपत्ति का सामूहिक परित्याग करता है, जबकि आधुनिक साम्यवाद में संपत्ति का सामूहिक रूप से उपभोग किए जाने का प्रावधान है।

(7) प्लेटो की योजना प्राचीन यूनानी लघु नगर राज्यों के लिए सुझाई गयी एक योजना है और यह प्लेटो के आदर्श राज्य की प्राप्ति हेतु एक साधन है, जबकि आधुनिक साम्यवाद आधुनिक विशाल राष्ट्रीय-राज्यों के संदर्भ में दर्शाया गया विचार है। इस विचार का कार्यान्वयन विश्व में कई राज्यों में साम्यवादी क्रांतियों के माध्यम से स्थापित राजनीतिक व्यवस्थाओं के अभ्युदय के रूप में देखा जा सकता है।

(8) प्लेटो की योजना अभिजात (कुलीन) वर्गीय साम्यवाद की योजना है जबकि आधुनिक साम्यवाद सर्वहारा का साम्यवाद है।

(9) प्लेटो की योजना में परिवार अथवा पत्नियों के साम्यवाद की एक अति विशिष्ट योजना भी प्रस्तावित थी जबकि आधुनिक साम्यवाद में ऐसी कोई योजना नहीं देखी जा सकती।

(10) प्लेटो के साम्यवाद की योजना को कभी कार्यरूप में परिणत होते हुए नहीं देखा गया जबकि आधुनिक साम्यवाद के व्यवहारिक प्रयोग को देखा जा सकता है।

1.8 दर्शन का शासन अथवा दार्शनिक राजा के शासन का सिद्धान्त

प्लेटो के दर्शन में दार्शनिक राजा के अथवा दर्शन के शासन का सिद्धान्त उसका एक मौलिक विचार है। प्लेटो जो कि एक सुसंगत दार्शनिक है अपने निष्कर्षों को तार्किक दृष्टि से अपनी कतिपय आधारभूत मान्यताओं से निकालने का प्रयास करता है। उसकी दो आधारभूत मान्यताएं हैं, पहली – मानव आत्मा का त्रिवर्गीय विभाजन और इनके समरूप समाज का त्रिवर्गीय विभाजन और दूसरी – 'सदगुण ही ज्ञान है।' दर्शन के शासन के विचार को वह इन्हीं मान्यताओं से तार्किक रूप में देने का प्रयास करता है। परन्तु ऐसा विचार तत्कालीन यूनान की व्यवस्थाओं में विद्यमान दोषों को दृष्टिगत रखते हुए एक आदर्श राज्य की स्थापना हेतु अभिव्यक्त विचार है। वह विशेषकर एथेंस में विद्यमान शासन व्यवस्था का कटु आलोचक था। प्लेटो का मानना था कि "जब तक दार्शनिक राजा नहीं हो जाते अथवा जब तक शासकों अथवा नरेशों में दार्शनिक शक्ति एवं भावना का सृजन नहीं हो जाता नगर-राज्यों की बुराइयों का अंत संभव नहीं है।" प्लेटो के न्याय सिद्धान्त का भी एक निष्कर्ष यह निकलता है कि राज्य में शासन वही लोग करें जिनकी आत्मा में विवेक तत्त्व की प्रधानता है। अतः प्लेटो द्वारा कल्पित आदर्श राज्य के शासन के शीर्ष पर एक दार्शनिक राजा प्रतिष्ठित होगा। प्लेटो के विचार से नगर-राज्यों की बुराइयों का अंत तभी संभव है जबकि राजनीतिक सत्ता एवं वैज्ञानिक ज्ञान (दर्शन) एक ही व्यक्ति में निहित हो। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह एक व्यक्ति के शासन को ही अच्छा शासन कहता है पर यह एक व्यक्ति यदि वास्तव में दार्शनिक राजा की स्थिति ले सकता हो तो वह आदर्श रूप में सर्वोत्तम व्यवस्था होगी। दर्शन के शासन की प्लेटो की धारणा यही है कि दर्शन का ज्ञान सर्वोत्कृष्ट स्थिति है। दर्शन का ज्ञान राज्य के उद्देश्यों का सही निदेशन कर सकता है। प्लेटो यह भी मानता है कि ऐसे लोग किसी राज्य में बहुत थोड़े से ही होते हैं और प्लेटो शासन संचालन हेतु उन लोगों के समुचित प्रशिक्षण की भी व्यवस्था करता है। वह स्पष्टतः यह अभिव्यक्त करता है कि "शासन के रूपों में से वही रूप यथेष्ट अर्थात् एक मात्र वास्तविक है जिसमें शासक लोग वास्तव में विज्ञान का ज्ञान रखने वाले हों।" यहाँ विज्ञान के ज्ञान से उसका अभिप्राय दर्शन के ज्ञान से है। जिसे वह वास्तविक ज्ञान मानता है। प्लेटो यह भी मानता है कि अज्ञान शासन को भ्रष्ट करता है और प्लेटो की यह मान्यता तत्कालीन यूनान के नगर-राज्यों के अंतर्गत शासकों में विद्यमान प्रवृत्तियों के आधार पर विवेचित की गयी है।

प्लेटो जिस दार्शनिक शासक अथवा दर्शन के शासन की विवेचन करता है, उसके अंतर्गत दार्शनिक शासकों के गुणों का भी वर्णन करता है। उसके विचार से जिस व्यक्ति को दर्शन का ज्ञान है वह त्रिकालदर्शी और समस्त सृष्टि का ज्ञान रखता है। 'एक सच्चा दार्शनिक विद्वता से प्रेम रखता है न कि मात्र किसी की राय से। वह क्रोध, घृणा, संकीर्णता, द्वेष, स्वार्थपरता आदि से दूर रहता है। उसे मृत्यु का भय नहीं रहता। वह दया, सुदृढ़ता, न्याय तथा सहनशीलता आदि गुणों से युक्त होता है। वह सुंदरता के सब रूपों का उपासक होता है। प्लेटो. की कल्पना के ऐसे दार्शनिक राजा द्वारा संचालित शासन बुद्धि का शासन है और इसे बुद्धिमानों के कुलीनतंत्र के रूप में देखा जा सकता है। ऐसे विचार का प्रतिपादन वह सुकरात के इस कथन से प्रेरित होकर करता है कि 'ज्ञानवानों को ही शासन करने का अधिकार होना चाहिए।' इसका यह भी अभिप्राय हुआ कि ज्ञानवान लोग शासन करें एवं

अज्ञानी उनका अनुसरण। प्लेटो ऐसे शासकों के हितों तथा राज्य के हितों के बीच एक सा दृश्य देखता है। उसके मत से ऐसे दार्शनिक शासकों के पास शासन करने की निरपेक्ष शक्ति होनी चाहिए साथ ही वे किन्हीं कानूनों, परिपाटियों एवं जनमत के अधीन न हों। प्लेटो मानता है कि ऐसा शासन तार्किक है क्योंकि यदि ज्ञान राज्य का निदेशक है और शासक ज्ञान की योग्यता रखते हैं तो उनके ऊपर किसी तरह का नियंत्रण अवांछनीय है। प्लेटो इसे व्यावहारिक भी कहता है क्योंकि दार्शनिक ही यह जानते हैं कि राज्य के लिए क्या उत्तम है। इसलिए उनके हाथ कानून के नियमों से बंधे नहीं होने चाहिए। ऐसा करना तो वैसे ही होगा जैसे कि किसी चिकित्सक को अपनी सलाह किसी चिकित्सा-शास्त्र की पुस्तक में देखकर लिखना। प्लेटो ऐसे शासन को उपयोगी भी कहता है क्योंकि दार्शनिकों द्वारा संचालित शासन कानून के शासन से अधिक लचीला होता है और यह दार्शनिक बुद्धि से संचालित होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति को उसका प्राप्य दिला सकता है।

प्लेटो के विचार का दर्शन का शासन अमर्यादित स्वेच्छाचारी शासन नहीं है। वह दार्शनिक शासकों को राज्य के चार मूल सिद्धान्तों के अधीन रखता है और ये हैं –

1. दार्शनिक शासकों को राज्य के भीतर अर्थव्यवस्था में संतुलन बनाए रखने पर ध्यान देना होगा ताकि राज्य में न तो गरीबी का प्रवेश हो सके और न ही अत्यधिक संपत्ति एवं संपत्ति के अवांछनीय केंद्रीयकरण का।
2. शासकों को यह देखना भी आवश्यक है कि राज्य का आकार, राज्य की एकता एवं आत्मनिर्भरता को बनाए रखने हेतु बना रहे।
3. शासकों को राज्य के अंतर्गत न्याय के सिद्धान्त को बनाए रखना होगा।
4. शासकों को यह शक्ति नहीं है कि वे शिक्षा व्यवस्था में कोई परिवर्तन कर सकें।

इस तरह वह दार्शनिक शासकों को एक मूलभूत एवं अपरिवर्तनीय सामाजिक व्यवस्था के सेवकों के रूप में दर्शाता है।

आलोचना :

1. दर्शन का शासन स्वेच्छाचारी अथवा अत्याचारी शासन हो सकता है। यह बात विशेष रूप से तब महत्वपूर्ण हो जाती है जबकि शासकों के ऊपर कोई प्रतिबंध वह आरोपित नहीं करता। क्योंकि ये शासक मनुष्य हैं अतः मानवीय दुर्बलताओं से पूर्णतः मुक्त होंगे ऐसा नहीं कहा जा सकता। साथ ही शासन सत्ता की शक्ति उन्हें पथभ्रष्ट भी कर सकती है।
2. प्लेटो की व्यवस्था में नागरिकों के लिए राज्य शासन के क्रियाकलाप में सहभागिता के लिए कोई स्थान नहीं है।
3. प्लेटो मानव प्राणियों में समानता की धारणा को भी स्वीकार नहीं करता।
4. प्लेटो प्रजातंत्र के किसी भी रूप को अमान्य करता है।
5. प्लेटो के विचारों के दार्शनिक आदर्श शासक भी होंगे यह सदैव आवश्यक नहीं। प्रायः दार्शनिक अपने स्वभाव से सनकी हो जाते हैं।
6. दार्शनिक के पास निरंकुश शक्ति का उसके द्वारा दुरुपयोग भी संभव है।
7. प्लेटो चिकित्सक के साथ दार्शनिक शासक की जिस सादृश्यता को दर्शाता है वह बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत की गयी है।
8. पॉपर का मानना है कि प्लेटो की शिक्षा एवं दर्शन के शासन के बीच कोई संगति

नहीं है।

9. काण्ट का मानना है कि शक्ति की प्राप्ति प्रायः विवेक के स्वतंत्र निर्णय को प्रभावित करती है।

10. कुछ आलोचक प्लेटो के विचार में प्लेटो की स्वयं की दार्शनिक शासक (राजा) बनने की महत्वाकांक्षा को दर्शाते हैं।

11. दर्शन के शासन का विचार एक अति काल्पनिक विचार है।

1.9 स्टेट्समैन तथा लॉज में प्लेटो के राजनीतिक विचार

रिपब्लिक प्लेटो की सर्वश्रेष्ठ रचना है और प्रायः प्लेटो एवं रिपब्लिक परस्पर पर्यायवाची भी हैं। रिपब्लिक की रचना प्लेटो द्वारा अपने युवा काल में की गयी थी जब उसमें अति उत्साह, क्रांतिकारिता तथा आदर्श के प्रति तीव्र उत्कंठा विद्यमान थी। ऐसा प्रतीत होता है कि समय के साथ-साथ तथा परिपक्वता के चलते प्लेटो को आदर्श राज्य की व्यावहारिकता पर संदेह होने लगा था। अतः वह एक द्वितीय आदर्श अथवा उपादर्श राज्य के बारे में सोचने लगा। इस क्रम में वह क्रमशः अपने स्टेट्समैन और लॉज की रचना करता है। इन ग्रंथों में प्रतिपादित राजनीतिक सिद्धान्त यद्यपि रिपब्लिक के सामान्य सिद्धान्तों पर ही आधारित हैं परन्तु इनमें न तो रिपब्लिक जैसी काव्यगत प्रतिभा झलकती है और न ही वैचारिक मौलिकता एवं क्रांतिकारिता।

स्टेट्समैन में वह कानून की सर्वोच्चता के आधार पर यथार्थ राज्यों का वर्गीकरण करता है, साथ ही एक राजनेता के शासन को दर्शाता है एवं इस राजनेता का रिपब्लिक के दार्शनिक राजा के साथ सादृश्य दर्शाने की कोशिश करता है। वह कहता है कि 'शासनों के मध्य मात्र वही वास्तविक शासन है जिसमें शासक सच्चे अर्थ में विज्ञान (दर्शन) को प्राप्त किए हो। वह सिर्फ ज्ञान प्राप्त किए हुए दिखाई न पड़ते हों। भले ही ऐसा शासन विधि द्वारा शासन हो या बिना विधि के साथ ही भले ही प्रजा इच्छुक हो या अनिच्छुक।' वह एक राजनेता को एक ऐसा कलाकार मानता है जिसकी मुख्य योग्यता उसका ज्ञान है। वह राजनीति की पहचान शिक्षा तथा चरित्र निर्माण के साथ करता है। एक राजनेता की उसकी परिभाषा एक राजा एवं एक अत्याचारी शासक के बीच तीव्र अंतर करने की है। उसके अनुसार "जहाँ एक अत्याचारी शासक बल प्रयोग द्वारा अनिच्छुक प्रजाजनों के ऊपर शासन करता है वहीं एक सच्चा राजा अथवा राजनेता इस कला में निपुण होता है कि वह अपने शासन को स्वैच्छिक बना सकता है।" विज्ञान एवं दर्शन से युक्त राजनेता एक जानकार, बुद्धिमान, निष्पक्ष, ईमानदार, मेहनती, पूर्ण योग्य तथा आधिकारिक शासक होगा जो दैवी शासकों की प्रतिमूर्ति होगा। स्पष्ट है कि यह राजनेता एक ज्ञानी कलाकार है जिसे शासन करने का अधिकार इसलिए है क्योंकि वही जानता है कि सत्य क्या है। प्लेटो अविशेषज्ञों द्वारा शासन का विरोध निरंतर करता है। प्लेटो अब आदर्श राज्य के सिद्धान्तों के आधार पर कुछ व्यावहारिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाना आवश्यक समझता है।

स्टेट्समैन में वह राज्यों के वर्गीकरण को भी दर्शाता है। रिपब्लिक में उसके राज्यों के वर्गीकरण को हम श्रेष्ठतम से निकृष्टतम की श्रृंखला में इस क्रम में दर्शा सकते हैं – आदर्श राज्य – धनिकतंत्र – वर्गतंत्र – लोकतंत्र – अत्याचारी तंत्र।

स्टेट्समैन में राज्य-वर्गीकरण का क्रम निम्नवत् है –

1. आदर्श राज्य – रिपब्लिक में वर्णित

2. यथार्थ राज्य – इनके दो रूप हैं –

कानून द्वारा शासित	कानून विहीन
राजतंत्र	अत्याचारीतंत्र
कुलीनतंत्र	वर्ग तंत्र
संवैधानिक लोकतंत्र	असंवैधानिक लोकतंत्र

1.10 लॉज में वर्णित विचार

लॉज का दार्शनिक आधार :

लॉज में प्लेटो आत्मसंयम के तत्त्व को प्रमुखता देता है जो न्याय का स्थान ले लेता है। इसे वह विवेक तथा तृष्णा के तत्त्वों के मध्य समागम के रूप में दर्शाता है। वह यह मानकर चलता है कि आत्म संयम एवं न्याय परस्पर सहचारी हैं। सेबाइन ने आत्मसंयम को विधि का स्वर्ण तार कहा है और इसी से विवेक की उत्पत्ति होती है। सेबाइन के अनुसार, "लॉज में वर्णित राज्य के अंतर्गत विवेक का कानून के रूप में स्वीकरण कर दिया है। परिणामतः ऐसे राज्य में सर्वोच्च सद्‌गुण आत्मसंयम का है जिसका अभिप्राय है कानून-पालन का व्यवहार अथवा राज्य की संस्थाओं के प्रति सम्मान की भावना तथा कानूनी शक्तियों के समक्ष अधीनता की स्वीकारोक्ति।"

स्पष्ट है कि प्लेटो अब कानून की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को दर्शाता है। वह लिखता भी है कि 'किसी नगर-राज्य को मानवीय स्वामियों के अधीन न रहने दो वरन् कानून के अधीन रखो। अधीनता एक बुरी वस्तु है जो राजा तथा प्रजा एवं उनकी संततियों के लिए भी बुरी है ऐसा मेरा सिद्धान्त है।'

लॉज में वर्णित प्लेटो के कानून के सिद्धान्त की विशेषताओं को निम्नवत् रखा जा सकता है –

(1) कानून मानव के अतीतकालीन विवेक तथा अनुभवों का समावेश करता है।

(2) कानून की उत्पत्ति सभ्य सामाजिक जीवन के विकास के साथ-साथ हुई है।

(3) सभ्य सामाजिक जीवन के लिए कानून आवश्यक है।

(4) कानून विभिन्न मानवीय सद्‌गुणों के मध्य सामंजस्य स्थापित करने का साधन है।

(5) लॉज में कानून तथा दण्ड व्यवस्था के मध्य संबंध भी स्थापित किया गया है।

(6) कानून का उद्‌देश्य समानता एवं निष्पक्षता है।

(7) कानून को वह मानव जाति का विशिष्ट चिन्ह बताता है।

(8) कानून के अभाव में मनुष्य सदैव स्वार्थी प्रतिस्पर्धाओं में लगे रहेंगे तथा सिर्फ अपने व्यक्तिगत हितों को ही चाहेंगे।

प्लेटो कानून को विवेक की प्रतिमूर्ति मानता है इसलिए कानून मानव के समस्त जीवन काल में विस्तृत है इसी से जन्म, विवाह एवं मृत्यु की व्यवस्थाएं नियमित होती हैं। अतः कानून का केंद्रीय महत्व एवं सर्वोच्चता स्वयंसिद्ध है। सेबाइन का मानना है कि "कानून द्वारा शासित राज्य प्लेटो के लिए मानवीय प्रकृति की कमजोरी हेतु एक रिआयत अथवा छूट है। यह कभी भी ऐसा नहीं था जिसे वह सदैव स्वीकार करना चाहता था और विशेषकर अपने आदर्श के समकक्ष तो कदापि नहीं।"

राज्य का सिद्धान्त :

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है लॉज प्लेटो के विचारों का व्यावहारिक पक्ष है। इसके निम्नलिखित आधार हैं –

(1) लॉज में चित्रित राज्य-व्यवस्था राजतंत्र तथा लोकतंत्र का सम्मिश्रण है अर्थात् यह विवेक-मूल्य और स्वतंत्रता-मूल्य (आत्मसंयम) के सिद्धान्तों का मिश्रण है।

(2) विशेषीकरण के आधार पर कार्य विभाजन के कठोर सिद्धान्त एवं साम्यवाद जैसी धारणाओं का प्लेटो अब परित्याग करता है।

(3) लॉज में वर्णित मिश्रित राज्य की धारणा ऐतिहासिक आधार पर वास्तविक राज्यों के दृष्टांतों द्वारा व्यक्त की गयी है।

(4) लॉज में राज्य की भौतिक आवश्यकताओं का भी वर्णन है क्योंकि वह भौगोलिक परिस्थिति, जनसंख्या, संस्कृति, भाषा, जाति धर्म आदि पर विचार करता है।

लॉज में प्लेटो एक नयी सामाजिक एवं आर्थिक संरचना का विवेचन करता है। वह परिवार एवं संपत्ति की आवश्यकता को स्वीकृति प्रदान करता है, व्यक्तिगत विवाह को अनुमति देता है। बार्कर ने लिखा है कि "समूचे रूप में विवाह के बारे में प्लेटो का दृष्टिकोण केवल भौतिक ही नहीं है, उसका एक नैतिक एवं धार्मिक पहलू भी है। यदि इनमें कोई कमी है तो वह यही कि प्लेटो लॉज में बार-बार विवाह के ऊपर असंभव प्रकृति के अधीक्षण की बात करता है जो स्वयं उसकी एक बड़ी भूल है।" लॉज में दर्शाये गए श्रम विभाजन का रूप यह है कि नागरिक राजनीति की कला तथा शरीर एवं मस्तिष्क की उत्कृष्टता में संलग्न होंगे, दास कृषि कार्य करेंगे और विदेशी वाणिज्य एवं उद्योग तथा व्यापार का कार्य करेंगे।

लॉज में दर्शाया गया शासन संगठन प्लेटो द्वारा विस्तार से विचारा गया है। वस्तुतः वह एक मिश्रित राज्य की शासन व्यवस्था को बताता है और ऐसे शासन की संस्थाएं निम्नांकित हैं :

(1) सभा – जो 5040 व्यक्तिगत संपत्ति धारण करने वाले नागरिकों की सभा है। प्लेटो सभी नागरिकों को इस सभा का सदस्य बताता है। सभा का मुख्य कार्य शासन की विभिन्न संस्थाओं के सदस्यों एवं अधिकारी वर्ग का निर्वाचन करना है।

(2) परिषद् – दैनिक शासन की व्यवस्था के लिए एक परिषद् की व्यवस्था को बताया गया है जिसमें कुल 360 सदस्य होंगे। जिनका चुनाव सभा द्वारा किया जाएगा। परिषद् के सदस्य एक वर्ष के लिए चुने जाएंगे और इनमें से बारी-बारी से तीस सदस्य प्रतिमाह कार्य करेंगे। परिषद् द्वारा स्थानीय अधिकारियों और सेना के प्रमुखों का निर्वाचन किया जाएगा। परिषद् लोक न्यायपालिका के रूप में भी कार्य करेगी।

(3) कानून के संरक्षक – कार्यपालिका के रूप में सैंतीस सदस्यों की एक संस्था कानून के संरक्षकों की होगी। इनका चुनाव सभा के सदस्य तीन बार मतदान की प्रणाली द्वारा करेंगे पहले मतदान में तीन सौ सदस्य चुने जाएंगे। दूसरे मतदान में इन तीन सौ में से एक सौ सदस्य और तीसरे मतदान में इन सौ सदस्यों में से सैंतीय सदस्य। ये कानून के संरक्षक राज्य के अधिशासक होंगे। संरक्षकों का कार्यकाल बीस वर्ष का होगा और ये पचास से सत्तर वर्ष की आयु वर्ग के नागरिकों में से चुने जाएंगे। प्लेटो न्यायालयों के श्रृंखलाबद्ध संगठन और उनकी अधिकार सीमा के निर्धारण का भी विवेचन करता है। स्थानीय प्रशासन के लिए मजिस्ट्रेटों एवं निरीक्षकों की व्यवस्था बतायी गयी है। लॉज की अंतिम पुस्तक में दस सदस्यों की एक संस्था 'नाक्टरनल परिषद्' का भी प्रावधान है। यह परिषद सर्वोच्च विवेक का प्रतिनिधित्व करेगी।

लॉज में प्लेटो द्वारा शिक्षा के महत्व को भी दर्शाया गया है। शिक्षा को वह उत्तम जीवन की प्राप्ति और राज्य शासन के उत्तम संचालन हेतु आवश्यक मानता है। शिक्षा योजना रिपब्लिक की ही तरह एक सकारात्मक साधन है। शिक्षा का उद्देश्य शासकों व शासितों को वह अपने-अपने निर्धारित क्षेत्र में क्रमशः शासक और शासित होने की क्षमता प्रदान करना मानता है। शिक्षा ही वह साधन है जो नागरिकों को कानून की भावना को समझा सकती है। यह उनमें और विशेषकर युवकों में कानून के अनुसार आचरण करने का प्रशिक्षण देती है। प्लेटो के अनुसार चूँकि कानून निश्चित होता है अतः शिक्षा का पाठ्यक्रम और उद्देश्य भी निश्चित होना चाहिए। लॉज में प्लेटो द्वारा मिस्र की शिक्षा व्यवस्था का संदर्भ दिया गया है। वह अभी भी कविता एवं कला की शिक्षा को नियंत्रित रखता है और संगीत तथा नृत्य की शिक्षा को महत्वपूर्ण मानता है। व्यायाम की शिक्षा भी महत्त्वपूर्ण है। शिक्षा पुरुषों एवं महिलाओं के लिए समान है जो अनिवार्य और राज्य के नियंत्रण में है। शिक्षा को वह प्रधान शासक के नियंत्रण में बताता है जिसका निर्वाचन कानून के संरक्षकों द्वारा किया जाना चाहिए। ऐसा लगता है कि लॉज में वह शिक्षा संस्थाओं की पद्धति के सिद्धान्त को दर्शा रहा है। शिक्षा के तीन स्तर बताए गए हैं : पहला छह वर्ष की अवस्था तक, दूसरा स्तर छह से सोलह वर्ष तक, जिसमें व्यायाम, घुड़सवारी और धनुर्विद्या सम्मिलित की गयी है इसके साथ ही गणित, नक्षत्र और संगीत की शिक्षा भी सम्मिलित है। सोलह से पच्चीस वर्ष तक, तीसरे स्तर में, उच्चतर गणित और सैनिक शिक्षा को सम्मिलित किया गया है।

रिपब्लिक एवं लॉज की तुलना : प्लेटो के विचारों का अध्ययन उसकी रचनाओं क्रमशः रिपब्लिक और लॉज में करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें क्रमशः एक आदर्श एवं एक उपादर्श राज्य का चित्रण किया गया है। लॉज को लिखते हुए भले ही उसके विचारों में परिवर्तन दिखाई पड़ता हो पर उसने आदर्श राज्य का परित्याग कर दिया है ऐसा नहीं माना जा सकता। दोनों रचनाओं की तुलना बार्कर इस प्रकार करते हैं, "प्लेटो का रिपब्लिक उसके लॉज को आच्छादित कर देता है तो भी लॉज का एक व्यावहारिक महत्व है जो रिपब्लिक का नहीं।" रिपब्लिक में नैतिक दर्शन को आधार बनाया गया है। इसके अंतर्गत मानव आत्मा, राज्य तथा विश्वात्मा में समान तत्त्व दर्शाये गये हैं। जीवात्मा का अंतिम लक्ष्य 'सत्' का ज्ञान बताया गया है और मानव को उत्तम जीवन की प्राप्ति कराना व्यक्ति तथा समाज दोनों का ही लक्ष्य रखा गया है। अतः न्याय रिपब्लिक का आधार है। लॉज में कानून के शासन और कांनून की सर्वोच्चता को मान्य किया गया है। कानून को बुद्धि की उपज बताया गया है साथ ही कानून के शासन के अंतर्गत ही उत्तम जीवन की उपलब्धि की संभावना व्यक्त की गयी है। शिक्षा व्यवस्था का उद्देश्य दोनों ही ग्रंथों में समान है पर लॉज में शिक्षा रिपब्लिक की तरह आजीवन चलने वाली प्रक्रिया नहीं है। दोनों ही ग्रंथों में पुरुष एवं स्त्रियों की समानता को देखा जा सकता है साथ ही कार्य विभाजन के सिद्धान्तों को भी। संपत्ति तथा वैवाहिक जीवन पर लॉज में नियंत्रण दर्शाया गया है जो रिपब्लिक में संरक्षक वर्ग के लिए अमान्य था। रिपब्लिक के आदर्श संभवतः मानवों की अपूर्णता के चलते व्यवहार में प्रयुक्त नहीं हो सकते थे और इसका अनुभव स्वयं प्लेटो को भी होने लगा था इसीलिए प्लेटो के लॉज के विचारों का भविष्य में अधिक प्रभाव पड़ा। अरस्तू अपने आदर्श राज्य को प्लेटो के लॉज से ही ग्रहण करता है। वस्तुतः लॉज में राज्य के आदर्श के स्थान पर राज्य के सिद्धान्त को देखा जा सकता है जो उसकी व्यवहारिकता का परिचायक है। प्लेटो से प्रभावित अरस्तू अपने आदर्श राज्य में कानून के शासन और संविधानवाद का उल्लेख करता है।

1.11 सारांश

प्लेटो क्रमबद्ध राजनीतिक चिंतन करने वाला पहला विचारक है। राज्य के स्वप्नलोकी आदर्श का प्रतिपादक होते हुए भी उसके विचारों को सार्वभौम मान्यता प्राप्त हुई है।

प्लेटो के विचारों में निम्नलिखित कल्पनावादी विचार हैं जो सार्वभौम रूप से स्वीकृत नहीं हो पाए - साम्यवाद का सिद्धान्त (विशेषकर पत्नियों का साम्यवाद), स्त्री एवं पुरुषों के मध्य अतिवादी समानता, विशेषीकरण के आधार पर सामजिक वर्गों का कठोर नियंत्रण और दार्शनिक राजा का सिद्धान्त।

परन्तु निम्नलिखित धारणाओं के आधार पर उसे सार्वभौम मान्यता प्राप्त है –

न्याय का सिद्धान्त, कार्यों के विशेषीकरण का सिद्धान्त, योग्य व्यक्तियों द्वारा शासन संचालन का सिद्धान्त, शिक्षा का महत्व और कानून का महत्व।

प्लेटो विविध विचारधाराओं का भी जनक है और कई दार्शनिकों के लिए प्रेरणा स्रोत भी। उसकी सबसे बड़ी विरासत यह है कि राजनीतिक चिंतन के इतिहास में हर काल में उसे समझने की चेष्टा हुई है, उसे विविध रूपों में व्याख्यायित और पुनर्व्याख्यायित किया गया है। एक दार्शनिक विचारक के रूप में उसकी वंश परम्परा में क्रमशः अरस्तू, सिसरो, संत आगस्टाइन, दांते, टामस मूर, रूसो, हीगल, कांट, ग्रीन, बोसांके तथा मार्क्स आदि को किसी न किसी रूप में अवश्य सम्मिलित किया जा सकता है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजनीतिक सिद्धान्त के पुनर्जीवन के प्रयासों में यूनानी विचार के पुनर्जीवन को भी स्पष्टतः देखा जा सकता है और प्लेटो ऐसे सभी विचारकों और विद्वानों के विचारों को स्वभावतः आकर्षित एवम् प्रेरित करता है।

1.12 उपयोगी पुस्तकें

1. ए. आर. एम. मूरे	:	एन इंट्रोडक्शन टु पॉलिटिकल फिलोसोफी
2. जॉन बर्नेट	:	अर्ली ग्रीक फिलोसोफी
3. रेक्स वार्नर	:	द ग्रीक फिलोसोफरस्
4. अर्नेस्ट बार्कर	:	ग्रीक पॉलिटिकल थ्योरी - प्लेटो एण्ड हिज प्रेडिसैसर्स
5. जी. एस. सैबाईन	:	ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थ्योरी
6. विल दुरां	:	दि स्टोरी ऑफ फिलोसोफी
7. प्लेटो	:	द रिपब्लिक
8. आर. एस. एस. क्रोसमैन	:	प्लेटो टूडे
9. सी. एल. वेपर	:	पालिटिकल थॉट
10. सी. सी. मैक्सी	:	पालिटिकल फिलोसाफीस
11. डब्ल्यू. ईबनस्टीन	:	एन इन्ट्रोडक्शन टु पोलिटिकल फिलोसोफी

1.13 सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए :

(i) सद्गुण ही ज्ञान है।

(ii) सुकरात का ज्ञान का सिद्धान्त

(iii) सच बोलना तथा अपने ऋणों को चुका देना ही न्याय है।

(iv) न्याय शक्तिशाली का हित है।

(v) राज्य व्यक्ति का विराट् रूप है।

(vi) प्लेटो का विचार का सिद्धान्त।

(vii) स्टेट्समैन में प्लेटो का राज्यों का वर्गीकरण।

(viii) लॉज में वर्णित शासन संगठन।

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

(1) प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।

(2) प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

(3) प्लेटो के साम्यवाद के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए तथा आधुनिक साम्यवाद से इसकी तुलना कीजिए।

(4) दर्शन के शासन से क्या अभिप्राय है? क्या प्लेटो के दार्शनिक राजा का विचार एक स्वप्नलोकी आदर्श है।

(5) आदर्श राज्य के प्लेटो के विचार की समालोचना कीजिए।

(6) यद्यपि प्लेटो का रिपब्लिक उसके लॉज को आच्छादित कर देता है तो भी लॉज का जो व्यावहारिक महत्व है वह रिपब्लिक का नहीं'। इस कथन को समझाइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) 'सद्गुण ही ज्ञान है', यह वक्तव्य किसने दिया था?

(अ) सुकरात (ब) प्लेटो (स) ग्लूकान (द) थ्रैसीमेकस

(2) 'न्याय शक्तिशाली का हित है', यह विचार किसका है?

(अ) पालीमार्कस (ब) सेफेलस (स) सुकरात (द) थ्रैसीमेकस

(3) प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की विशेषता निम्नलिखित में से कौन सी नहीं है?

(अ) कार्य विशेषीकरण

(ब) समाज का त्रिवर्गीय विभाजन

(स) न्याय व्यक्ति के अधिकारों को दर्शाता है।

(द) न्याय पर आधारित व्यवस्था व्यक्ति में कर्त्तव्य भावना जागृत करती है।

(4) निम्नलिखित में से कौन एक सही नहीं है?

(अ) प्लेटो राज्य की सावयव प्रकृति को दर्शाता है।

(ब) प्लेटो राज्य की उत्पत्ति के आर्थिक आधार को दर्शाता है।

(स) प्लेटो का आर्दश राज्य 'बुद्धि का शासन' है।

(द) प्लेटो राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त को दर्शाता है।

1.14 प्रश्नोत्तर

1. (अ) 2.(ब) 3. (स) 4. (द)

इकाई 2 : अरस्तू

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना व अरस्तू परिचयात्मक

2.2 अरस्तू का राज्य सिद्धान्त

2.3 अरस्तू का आदर्श राज्य

2.4 नागरिकता

2.5 परिवार तथा संपत्ति संबंधी अरस्तू के विचार

2.6 शिक्षा पर अरस्तू के विचार

2.7 कानून संबंधी विचार

2.8 न्याय की अवधारणा

2.9 दास प्रथा

2.10 क्रान्तियाँ

2.11 सारांश/राजनीतिक चिंतन को अरस्तू की देन

2.12 उपयोगी पुस्तकें

2.13 सम्बन्धित प्रश्न

2.14 प्रश्नोत्तर

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

- अरस्तू की परिचयात्मक व्याख्या कर सकेंगे।
- अरस्तू के राज्य सिद्धान्त की विवेचना कर सकेंगे।
- नागरिकता पर टिप्पणी दे सकेंगे।
- अरस्तू के परिवार और संपत्ति संबंधी विचारों पर विवरण कर सकेंगे।
- अरस्तू के शिक्षा पर विचारों का विवरण कर सकेंगे।
- अरस्तू की न्याय पर अवधारणा, दास प्रथा और क्रांतियों से संबंधित विचारों की व्याख्या कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

अरस्तू का जन्म ईसा पूर्व 384 ई. में स्टैगिरा में हुआ था। उसका पिता निकोमैकस मैसीडोनिया के राजदरबार में शाही चिकित्सक था। अरस्तू के बाल्यकाल में ही उसके पिता की मृत्यु हो गई थी। 18 वर्ष तक स्टैगिरा में रहने के बाद अरस्तू ई. पू. 367 ई. में एथेंस आ गया और प्लेटो की अकादमी में दर्शन का अध्ययन करने लगा। 20 वर्षों तक वह प्लेटो की अकादमी में रहा और प्लेटो का प्रिय छात्र रहा। प्लेटो उसे अकादमी का

सबसे प्रबुद्ध व्यक्ति कहता था। ई पू. 347 ई. में अरस्तू ने अकादमी और एथेंस छोड़ दिया संभवतः प्लेटो की मृत्यु के उपरान्त अरस्तू को इस बात की निराशा रही कि उसे अकादमी के प्रधान के रूप में कार्य करने हेतु नहीं चुना गया। ई. पू. 342 ई. में अरस्तू को मैसीडोनिया के राजा फिलिप द्वारा अपने पुत्र राजकुमार सिकंदर (एलेक्जैंडर) को पढ़ाने के लिए आमंत्रित किया गया। ई. पू. 336 ई. में फिलिप की हत्या हो जाने पर एलेक्जैंडर मैसीडोनिया का राजा बना। अगले वर्ष प्लेटो की अकादमी में जहाँ प्लेटो का भतीजा अध्यक्ष था, यह पद रिक्त हुआ। अरस्तू को एक बार फिर यह पद न मिलने से निराशा हुई और ई. पू. 335 ई. में उसने अपनी संस्था लीसियम स्थापित की जहाँ प्लेटो की अकादमी से कुछ और लोग भी आ गये थे। अगले 12 वर्षों तक अरस्तू ने लीसियम में अपनी शैली की शिक्षण परंपरा स्थापित की जो प्लेटो से भिन्न थी। उसने जीव विज्ञान तथा इतिहास को अध्ययन का मूल विषय बनाया न कि गणित को। इसी काल में अरस्तू ने ज्ञान के सभी क्षेत्रों में अन्वेषण, चिंतन तथा शिक्षण की योजनाएं बनायी। अरस्तू को सिकन्दर से सदैव बड़ा समर्थन तथा प्रोत्साहन मिलता रहा। ई. पू. 323 ई. में सिकंदर की मृत्यु के बाद जब मैसीडोनियन विरोधी दल के हाथ में सत्ता आ गई तो अरस्तू ने एथेंस छोड़ दिया। अगले वर्ष ई.पू. 322 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

अरस्तू के समय में प्लेटो के समय जैसा ही राजनीतिक वातावरण मौजूद था। यूनानी नगर राज्यों में अराजकता तथा पारस्परिक कलह मौजूद थे। इसीलिए प्लेटो की ही तरह नगर-राज्यों की एकता तथा स्थायित्व अरस्तू के लिए भी महत्वपूर्ण विचारणीय विषय बन गये। उसकी पुस्तक 'पालिटिक्स' एक राजनेता के लिए पथ प्रदर्शिका है। यह संविधान निर्माताओं के लिए एक पाठ्य-पुस्तक है, जो अपनी संविधान योजनाओं के माध्यम से नगर राज्यों के जीवन में राजनीतिक एकता तथा स्थायित्व ला सकते थे। ऐसा कहा जाता है कि अरस्तू ने अपनी पुस्तक पालिटिक्स की रचना करने से पूर्व 158 संविधानों का अध्ययन किया था। इस पुस्तक में वह एक आदर्श एवं सर्वाधिक व्यावहारिक संविधान के विवेचन को प्रस्तुत करता है। वस्तुतः अरस्तू अपने आप में एक महानतम ज्ञान कोश था। वह अपने अध्ययन के उद्देश्यों तथा योजनाओं में ऐसे शोधों को सम्मिलित करता था जो राजनीतिक संगठनों, विज्ञान तथा दर्शन के इतिहास से संबंधित हों साथ ही वह खनिजों, पेड़-पौधों व प्राणियों के प्राकृतिक इतिहास को भी प्रस्तुत करता था। यही वजह है कि प्लेटो उसे अपनी अकादमी का Nous कहता था, जिसका अर्थ है बुद्धिमत्ता की प्रतिमूर्ति। दांते ने उसे 'ज्ञानियों का ज्ञानी' (The master of them that know) कहा। उसे सामान्य तथा सर्वमान्य रूप में राजनीति के विज्ञान का पिता (Father of political science) नाम से जाना है। यह खिताब उसकी राजनीतिक रचनाओं की शैली तथा इनके क्षेत्र से स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। उसके विचारों की सीमा विशाल है। उसका विश्लेषण क्रमबद्ध है। उसकी अभिव्यक्ति पूर्ण है और इसके उदाहरणस्वरूप उसके इतिहास के ज्ञान तथा तात्कालिक सरकारों के बारे में उसके अवलोकन को देखा जा सकता है और इन सबसे बढ़कर बाद के राजनीतिक चिंतन पर उसके प्रभाव से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

अरस्तू के विचारों का अध्ययन करने से पूर्व उसकी विचारशैली का ज्ञान आवश्यक है। प्लेटो का शिष्य, प्रशंसक तथा उससे प्रभावित होने के बावजूद भी उसकी शैली प्लेटो से भिन्न है। वस्तुतः उसकी शैली उसकी पद्धति है जो जाँच पड़ताल की तथा वैज्ञानिक है। वह न सिर्फ आगमनात्मक पद्धति का अनुसरण करता है, उसकी पद्धति पर्यवेक्षणात्मक, विश्लेषणात्मक, वैज्ञानिक एवं तुलनात्मक है बल्कि हेतुवादी भी है। हेतुवादी सिद्धान्त वह सिद्धान्त है जो वस्तुओं के अंतिम कारण की व्याख्या करने का प्रयास करता है। उसके लिए किसी वस्तु की प्रकृति उसका उद्देश्य होता है। किसी वस्तु का वास्तविक परीक्षण करने के लिए यह

आवश्यक है कि उसके पूर्ण विकास के विभिन्न चरणों को जाना जाय।

अरस्तू ने अपना संपूर्ण जीवन ज्ञान की खोज को समर्पित कर दिया था। ज्ञान की कोई शाखा ऐसी नहीं है जिस पर अरस्तू ने लिखा न हो। उसकी रचनाएं सैकड़ों की संख्या में थीं पर अब उनका कुछ अंश ही उपलब्ध है। पर जो कुछ भी बचा है वह स्वयं में एक पुस्तकालय है। ज्ञान की जिस किसी विधा पर भी उसने लिखा पूर्ण आधिकारिता के साथ लिखा। इसलिए कई शताब्दियों तक उसे ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का सर्वश्रेष्ठ व अंतिम वाक्य माना जाता रहा।

अरस्तू की प्रमुख रचनाएं निम्नलिखित हैं :

लाजिक (Logic) पर वह छह प्रबन्ध लिखता है जिन्हें आर्गेनान (Organon) शीर्षक के अंतर्गत रखा जा सकता है। इसमें अन्य प्रबंधों के शीर्षक क्रमशः कैटेगरीज (Categories) ऑन इंटरप्रिटेशन्स (On Interpretations), दि प्रायर एनालिटिक्स (The Prior Analytics), दि टापिक्स (The Topics) तथा साफिस्टिकल रेफ्यूटेशंस (Sophistical refutations) हैं। आन दि सोल (On the Soul) शीर्षक एक संवाद है। प्राणि शास्त्र के अध्ययनकर्त्ता के रूप में वह जो लिखता है उनके शीर्षक क्रमशः 'On the History of Animals', 'On the parts of animals', 'On the Generation of Animals', और 'On the profession of Animals' हैं। इसके बाद उसकी रचनाओं में क्रमशः 'Physics', 'Metaphysis' और 'Nictomachean Ethics' को रखा जा सकता है।

उसकी बाद की रचनाओं में क्रमशः 'On Monarchy' (जो सिकंदर को भेंट स्वरूप लिखी गई थी) 'Constitutions on Colonies', 'On philosophy' को रखा जाता है। राजनीतिक दर्शन के संबंध में उसकी रचना 'Politics' उसके सभी ग्रंथों में महानतम कही जायेगी। एक राजनीतिक चिंतक के रूप में उसके विचारों का अध्ययन हम इसी ग्रंथ के संदर्भ में कर रहे हैं।

2.2 अरस्तू का राज्य सिद्धान्त

अरस्तू का राज्य सिद्धान्त राजनीतिक चिंतन के इतिहास में उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन है। वह राज्य को एक 'कोईनोनिया' बताता है और यही राज्य संबंधी उसके विचारों की कुंजी है। एक जीवशास्त्री होने के कारण वह मनुष्य को एक 'राजनीतिक प्राणी' कहता है। जो अपनी प्रकृति से राज्य का जीवन जीने हेतु जन्मा है। वह राज्य को परिभाषित करते हुए इसे "परिवारों और गांवों का समूह" कहता है जिसका उद्देश्य एक पूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति है।" राज्य सभी समुदायों में सर्वोच्च है इसलिए इसका उद्देश्य सर्वोच्च भलाई है।

राज्य की उत्पत्ति को वह मनुष्य की प्रकृति के विकास में खोजता है। राज्य एक प्राकृतिक संस्था है जो मनुष्य को प्राकृतिक प्रवृत्ति से एक राजनीतिक संवास की ओर ले जाती है। उसके लिए राज्य मानव जीवन के विकास क्रम में अंतिम संवास है। उसके राज्य सिद्धान्त को क्रमशः निम्न रूपों में देखा जाना चाहिए –

(1) **राज्य की उत्पत्ति** – अरस्तू मानव की आवश्यकतापूर्ति हेतु समाज को आवश्यक मानता है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु मनुष्य संवासों का निर्माण करता है। इस क्रम में सर्वप्रथम वह परिवार बनाता है पर क्योंकि परिवार मनुष्य की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते इसलिए परिवारों से गांवों का निर्माण होता है। गांव में मनुष्य की उन आवश्यकताओं की पूर्ति होती है जो परिवार में संभव नहीं थीं परन्तु गांव भी मनुष्य की सभी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाते इसलिए गांवों से राज्य निर्मित होते हैं।

राज्य में मनुष्य की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है।

राज्य की उत्पत्ति के उपर्युक्त प्राकृतिक तर्क के अतिरिक्त अरस्तू एक और तर्क भी प्रस्तुत करता है जिसे वह हेतुवादी तर्क (Teleological Argument) कहता है। इस तर्क से वह प्रत्येक वस्तु का उद्देश्य उसकी प्रकृति में ढूंढता है। वह कहता है कि मानव विकास का लक्ष्य राज्य की सदस्यता है इसलिए राज्य मनुष्य के लिए प्राकृतिक व अंतिम स्थली बन जाता है। वस्तुतः अरस्तू किसी वस्तु की पहचान उस उद्देश्य से करता है जिस ओर यह विकसित हो रही है। वह यह बताता है कि प्रत्येक चरण में वस्तु आंशिक रूप में अपनी प्रकृति के लक्ष्य को प्राप्त करती है। वस्तुओं की यह प्रकृति अपनी पूर्णता को उस समय हासिल कर लेती है जब इसके उददेश्य की पूर्णतः प्राप्ति हो जाती है। अपने जीव वैज्ञानिक अध्ययनों से वह कहता है कि सबसे सरल और सबसे आदिम सर्वप्रथम आता है। जबकि पूर्ण बाद में विकसित होने पर; और यह पूर्ण चरण वस्तु की वास्तविक प्रकृति को बताता है। यही बात वह राज्य के लिए भी लागू करता है। चूँकि मनुष्य की प्रकृति राजनीतिक है इसलिए इसकी प्राप्ति को राज्य के विकास में ही देखा जा सकता है। पर यह विकास प्रकृति के नियम से चलता है। वह राज्य को मनुष्य से पूर्व बताता है। यह मनुष्य की वह प्रकृति है जहाँ वह पूर्णतः विकसित होता है। काल क्रम में यद्यपि राज्य के विकास के चरणों में क्रमशः पहले परिवार फिर गांव और अंत में राज्य की उत्पत्ति होती है और प्रत्येक चरण में यह विकास प्रकृति जनित ही बना रहता है। राज्य की उत्पत्ति तथा मनुष्य के राजनीतिक प्राणी होने का तीसरा तर्क वह राज्य को एक सावयव के रूप में विकसित बताते हुए देता है। उसके द्वारा राज्य को प्राकृतिक बताए जाने का सही अर्थ वैसा ही है जैसा कि भाषा का प्रयोग या मनुष्य द्वारा अपने लिए आवास का निर्माण। यहाँ पर वह राज्य तथा मधुंमक्खियों के छत्ते के बीच एक सादृश्य भी देखता है पर मधुमक्खी का छत्ता राजनीतिक नहीं है।

(2) राज्य की प्रकृति : राज्य की प्रकृति को बताते हुए वह इसे एक 'विस्तृत स्व' (Wider self) के रूप में लेते हैं। एक व्यक्ति को राज्य में जीवन, समाज, नैतिकता ये सभी उपलब्ध हो जाते हैं। इसलिए यह एक 'विस्तृत स्व' है। वह राज्य को प्राकृतिक कहता है क्योंकि इसकी उत्पत्ति मानव प्रकृति में निहित है। मनुष्य का सामाजिक होना राज्य की प्रकृति है क्योंकि प्रकृति सदैव सर्वोत्तम के लिए कार्य करती है इसलिए जो सर्वोत्तम है वह प्रकृति की उत्पत्ति है। अरस्तू राज्य को 'विवेक की उत्पत्ति' मानता है। मनुष्य को विवेक प्रकृति प्रदत्त है वह मानता है कि प्रकृति सभी चीजों को व्यर्थ ही नहीं बनाती उसने माना है कि मनुष्य के पास विवेक तथा भाषा प्रकृति प्रदत्त अनुपम भेंट है। अपने विवेक से वह उचित और अनुचित के मध्य अंतर करता है तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु क्रमशः परिवार, गांव और अंततः राज्य का निर्माण करता है। इस अर्थ में राज्य मानव विवेक की उत्पत्ति तथा प्राकृतिक दोनों है। राज्य की प्रकृति के संबंध में अरस्तू राज्य के सावयव स्वरूप को भी दर्शाता है वह राज्य को व्यक्ति से पूर्व बताता है। इसके प्रमाणस्वरूप उसका तर्क है कि मनुष्य जब एकाकी है तो आत्मनिर्भर नहीं हो सकता। राज्य और व्यक्ति के बीच आंगिक और अंग का संबंध है। राज्य पूर्ण है तथा आंगिक है जबकि व्यक्ति अपूर्ण तथा इसका अंग है और क्योंकि संपूर्ण सदैव अपने अंग से पूर्व होता है इसलिए राज्य व्यक्ति से पूर्व है पर यह आंशिकता संपूर्ण के संदर्भ में है। इस तर्क का अर्थ यह हुआ कि जिस तरह मानव शरीर रूपी सावयव में पहले संपूर्ण है और फिर उसके अंग जैसे हाथ या पैर और जिस तरह शरीर रूपी सावयव से पृथक् अंगों का शरीर से अलग अपना कोई अस्तित्व नहीं है उसी तरह राज्य से पृथक् व्यक्तियों का अपना अस्तित्व नहीं है। अरस्तू ने राज्य के सावयव स्वरूप को दर्शाते हुए पदार्थ एवं रूप तथा उद्देश्य एवं कारण की सादृश्यता भी

दर्शायी है वह भ्रूण को पदार्थ और बच्चे को उसका रूप तथा उद्देश्य बताता है। इसी तरह वह परिवार को पदार्थ तथा राज्य को उसका रूप तथा उद्देश्य बताता है। क्योंकि राज्य पूर्णतः विकसित है इसलिए वह यह निदेशित करता है कि किसी समुदाय में निहित क्या है। अरस्तू ने यह भी कहा है कि "वह व्यक्ति जो समाज में रहने योग्य नहीं है या जिसे समाज की आवश्यकता इसलिए नहीं है क्योंकि वह स्वयं आत्मनिर्भर है तो वह या तो देवता है या जानवर इसलिए वह राज्य का भाग नहीं है।"

(3) राज्य का उद्देश्य : अरस्तू के लिए राज्य का अस्तित्व जीवन के लिए है तथा निरंतर उत्तम जीवन की प्राप्ति इसका लक्ष्य है। वह राज्य को सद्गुणयुक्त जीवन की प्राप्ति तथा सर्वोच्च सद्गुणों के विकास हेतु एक प्राकृतिक साधन के रूप में भी देखता है। उसके अनुसार एक उत्तम जीवन के तीन पक्ष हैं : पहला – बाह्य उत्तमता जिसमें सम्पत्ति, दास तथा विश्राम सम्मिलित हैं , दूसरा – शारीरिक उत्तमता जिसमें शारीरिक प्राप्तियाँ तथा स्वास्थ्य विकास सम्मिलित है और तीसरा आध्यात्मिक उत्तमता जिसमें सद्गुणों की प्राप्ति तथा नैतिकता का विकास शामिल है।

(4) राज्यों का वर्गीकरण : राज्यों के वर्गीकरण में अरस्तू संविधान से प्रारंभ करता है और संविधान को राज्य का जीवन बताता है। उसके अनुसार संविधान 'राज्य के पदों के वितरण की व्यवस्था' का नाम है। किसी भी संविधान की उत्तमता की पहचान यह है कि उसमें अपने नागरिकों अथवा जनता को उत्तम जीवन प्रदान करने की प्रवृत्ति कहाँ तक विद्यमान है। उसके संविधान की धारणा उसके राज्य संबंधी विचारों का नैतिक रूप प्रस्तुत करती हैं। वह जब संविधान को राज्य का जीवन कहता है तो राजनीति और नैतिकता में अंतर नहीं करता पर संविधान को राजनीतिक दृष्टि से परिभाषित करता है। वह राज्य में आर्थिक वर्गों की प्राणियों के अंगों से तुलना करता है तथा कहता है कि राज्यों के उतने ही प्रकार हो सकते हैं कि जितने कि किसी सामाजिक जीवन में वर्गों को संयुक्त करने के लिए आवश्यक तरीके। राज्यों का वर्गीकरण करने में अरस्तू के ऊपर प्लेटो द्वारा अपने 'स्टेट्समैन' में दिए गए वर्गीकरण के प्रभाव को देखा जा सकता है। अरस्तू राज्यों का छह वर्गीय वर्गीकरण बताता है और इसके लिए वह दो मापदण्डों को अपनाता है। पहला – शासकों की संख्या जिसका अर्थ है संप्रभु शक्ति का प्रयोग करने वाले लोग और दूसरा – संविधान अथवा राज्य की प्रकृति जिसे वह क्रमशः विशुद्ध तथा विकृत दो रूपों में मानता है जिनकी व्याख्या क्रमशः शासन-संचालन का समुदाय के हित में या व्यक्ति अथवा शासकों के हित में किए जाने से लेता है। उसके राज्यों के वर्गीकरण को निम्नलिखित रूप से समझा जा सकता है –

शासकों की संख्या	राज्य/संविधान की प्रकृति	
	विशुद्ध रूप	विकृत रूप
एक	राजतंत्र	अत्याचारी तंत्र
थोड़े से	कुलीन तंत्र	वर्ग तंत्र
बहुत से	पालिटी	जनतंत्र

अरस्तू उपर्युक्त वर्गीकरण में प्रस्तुत प्रत्येक प्रकार के राज्य के लक्षण को बताता है साथ ही यह भी बताने का प्रयास करता है कि इनमें सर्वोत्तम व्यावहारिक कौन होगा? राजतंत्र का लक्षण सर्वोत्तम सद्गुणों का विकास है तो अत्याचारी तंत्र स्वार्थ एवं छलकपट का प्रतीक। कुलीनतंत्र सद्गुण तथा धन का मिश्रण है तो वर्गतंत्र शासक वर्ग में धन के लालच का प्रतीक है। पॉलिटी को वह एक ऐसे राज्य के रूप में देखता है जिसका उद्देश्य मध्यम सद्गुणों की वृद्धि करना है। उसने कहा है कि शासन का सर्वोत्तम रूप वह है जहाँ सत्ता

मध्यम वर्ग में निहित रहती है। पॉलिटी में वह एक सर्वोत्तम व्यावहारिक राज्य अथवा संविधान को ढूंढता है। इसमें वह धनिकों तथा जनसाधारण के मिश्रण को भी बताता है। प्रजातंत्र का लक्षण समानता, स्वतंत्रता एवं बहुसंख्या है। सामान्यतः बहुसंख्यक निर्धन होते हैं और राज्य शासन में सद्गुणों की वृद्धि करने की क्षमता नहीं रखते। वे अशिक्षित एवं अकुशल भी होते हैं।

सर्वोत्तम व्यावहारिक राज्य को बताते हुए वह प्रत्येक तरह के राज्य का विश्लेषण प्रचलित व्यवस्थाओं के अध्ययन, अवलोकन तथा तुलना के आधार पर करता है। स्मरणीय है कि अरस्तू ने अपने समय में 158 संविधानों अर्थात् राज्य व्यवस्थाओं का अध्ययन कर अपना वर्गीकरण प्रस्तुत किया है।

वह राजतंत्र के पांच प्रकार बताता है –

पहला - स्पार्टा के नमूने का जिसका स्वरूप सैनिक है जो वंशानुगत या निर्वाचित दोनों ही हो सकता है।

दूसरा - असभ्य जनसमूहों का जो वंशानुगत है जहाँ राजा स्वेच्छाचारी अतः अत्याचारी प्रकृति का होता है।

तीसरा - प्राचीन यूनानी तानाशाही जो निर्वाचित, पर अत्याचारी शासन के प्रतीक थे।

चौथा - वीरों का राजतंत्र जहाँ राजा वैधानिक और पितृवत् होता है। वह युद्ध में सेनानायक की भूमिका अदा करता है, न्यायिक कार्यों का निष्पादन करता है तथा धार्मिक क्रियाएं भी करता है। यह राजतंत्र सहमति पर आधारित होता है।

पांचवां - निरंकुश राजा जो सर्वसत्ताधारी तो है पर निरंकुश अत्याचारी नहीं। राजा का अपनी प्रजा से वही संबंध है जो परिवार के मुखिया का अपने परिवार जनों से। यह राजतंत्र का सर्वोत्तम रूप है।

अरस्तू राजतंत्र एवं विधि के शासन का भी विवेचन करता है और विधि के शासन को श्रेयस्कर मानता है। उसके अनुसार विशिष्ट ज्ञान रखने वाले राजा को निरपेक्ष राजा के रूप में प्रतिष्ठित करना उत्तम है।

अत्याचारी तंत्र के जिन दो रूपों को वह बताता है। वह वास्तव में राजतंत्र के उपर्युक्त लिखित दूसरे और तीसरे रूप हैं। इनकी प्रकृति अत्याचारी है। कहीं-कहीं पर वह इन्हें अर्द्ध-अत्याचारी तंत्र भी कहता है। अत्याचारी तंत्र को वह एक व्यक्ति का पूर्णतः अनुत्तरदायी शासन बताता है जहाँ शासितों के हितों की पूर्ण उपेक्षा और कानून के शासन की भी पूर्ण उपेक्षा की जाती है इसलिए उसके मत से यह किसी भी समाज के लिए मान्य नहीं हो सकती।

कुलीनतंत्र को वह विधि द्वारा शासित थोड़े से लोगों का शासन कहता है। वह कुलीनतंत्र को जन्म, धन तथा बुद्धि इन तीन रूपों में देखता है। कुलीनतंत्र सर्वोत्तम व्यक्तियों का शासन विशिष्ट अर्थ में नहीं बल्कि नैतिक दृष्टि से भी है। इस सर्वोत्तमता को वह नैतिक गुण के रूप में देखता है। कुलीनतंत्र में संपत्ति का प्रभाव बढ़ने से इसकी विकृति वर्गतंत्र में होती है जबकि संख्या में वृद्धि से जनतत्र की उत्पत्ति होती है। अरस्तू मानता है कि वास्तविक कुलीनतंत्र का निर्धारण एवं ज्ञान एक दुष्कर कार्य है। अरस्तू के अनुसार व्यवहार में वर्गतंत्र एवं प्रजातंत्र ये ही व्यवस्थाएं प्रचलित हैं। इसलिए इन्हीं के गुण दोषों का विश्लेषण करने के उपरान्त वह सर्वोत्तम व्यावहारिक राज्य की तलाश करता है।

प्रजातंत्र के वह पांच रूप मानता है।

पहला – जहाँ कानून द्वारा समानता निर्धारित हो,

दूसरा – जहाँ पद धारण हेतु संपत्तिजनित योग्यता हो,

तीसरा – जहाँ पदधारण हेतु जन्मगत नागरिकता की योग्यता हो,

चौथा – जहाँ पद धारण हेतु मात्र नागरिकता एक योग्यता हो, और

पाँचवां – जहाँ कानूनी प्रतिबंध के बिना सबको पद धारण का समान अधिकार प्राप्त हो यह उसके अनुसार प्रजातंत्र का निकृष्ट रूप है,

अरस्तू वर्गतंत्र के चार रूप बताता है –

पहला – अत्यधिक संपत्ति जहाँ पदधारण की योग्यता हो,

दूसरा – जहाँ पर्याप्त संपत्ति पदधारण की योग्यता हो,

तीसरा – वंशगत योग्यता और

चौथा – वंशगत योग्यता पर कानून के प्रतिबंध के बिना। यह वर्ग तंत्र का निकृष्टतम रूप है।

उक्त विश्लेषण के बाद वह सर्वोत्तम राज्य अथवा संविधान के सिद्धांत का विवेचन करता है।

सर्वोत्तम राज्य के संबंध में वह वितरणात्मक न्याय की धारणा को अपनाता है। जिसका अर्थ यह है कि राज्य के जीवन में व्यक्ति द्वारा जिस मात्रा में योगदान किया जाए उसी मात्रा में उसके अधिकारों का निर्धारण किया जाना चाहिए। प्रजातंत्र एवं वर्गतंत्र में न्याय का अर्थ भिन्न-भिन्न है। प्रजातंत्र में पद वितरण समानता के आधार पर किया जाता है पर यह समानता समानों के मध्य है न कि सबके मध्य। वर्गतंत्र में पद वितरण असमानता के आधार पर किया जाता है। यहाँ भी असमानता असमानों के मध्य है न कि सबके मध्य। जहाँ संपत्ति पद प्राप्ति का आधार होगा, वह वर्गतंत्र होगा पर इसका सिद्धान्त अल्पसंख्या होगा। जहाँ स्वतंत्रजन्म पद धारण करने का आधार होगा वहाँ प्रजातंत्र होगा इसका आधार बहुसंख्या होगा अर्थात् बहुमत होगा, इस तरह प्रजातंत्र निर्धनों, स्वतंत्र जन्मे एवं बहुसंख्यकों का शासन है जबकि वर्गतंत्र अल्पमत का वंशगत शासन है। अरस्तू का सुझाव है कि सर्वोत्तम राज्य में इन दोनों ही तत्वों का मिश्रण पाया जाना चाहिए। तत्त्वों के मिश्रण हेतु वह 'स्वर्णिम मध्यमान' के सिद्धान्त को अपनाए जाने की सलाह देता है। ऐसे मिश्रण में वह किसी एक रूप के चरम को न अपनाए जाने का सुझाव देता है। उसके अनुसार अत्यधिक संपत्तिशाली सिर्फ शासन करना जानते हैं तो अत्यधिक निर्धन सिर्फ शासित होना जबकि मध्यम वर्ग दोनों ही गुणों से युक्त होते हैं। अरस्तू इस बात को ध्यान दिए जाने पर जोर देता है कि मध्यम वर्ग का शासन स्थापित किया जाए। साथ ही एक सुव्यवस्थित राज्य में मध्यम वर्ग का बहुमत भी होना चाहिए। उसकी पॉलिटी में वर्गतंत्र एवं प्रजातंत्र के दोषों को दूर कर मिश्रित शासन के सिद्धान्त का औचित्यपूर्ण विवेचन देखा जा सकता है। इसीलिए वह इसे सर्वोत्तम व्यावहारिक कहता है पर सर्वोत्तम आदर्श नहीं। पर वह इसे सर्वाधिक स्थायी राज्य के रूप में अवश्य बताता है।

2.3 अरस्तू का आदर्श राज्य

अरस्तू की पुस्तक 'पालिटिक्स' को दो भागों में देखा जा सकता है। पहला – राजनीतिक आदर्श तथा दूसरा – राजनीतिक वास्तविकताएं। अपने आदर्श राज्य के विवेचन में वह प्लेटो की आलोचना करता हुआ दिखायी पड़ता है जबकि वास्तविक राज्य का वर्णन उसके स्वभाव

के अनुकूल दिखाई पड़ता है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि जिसे अरस्तू अपना आदर्श राज्य कहता है वह प्लेटो के 'लॉज' में वर्णित द्वितीय या उपादर्श राज्य जैसा ही है। अरस्तू लिखता है कि "वस्तुओं की प्राकृतिक व्यवस्था में उन लोगों से सर्वोत्तम जीवन जीने की अपेक्षा की जा सकती है जो सर्वोत्तम रूप में शासित होते हैं पर सर्वोत्तम प्रायः अप्राप्य होता है। इसीलिए सच्चे विधायकों एवं राजनेताओं को न सिर्फ उन बातों से परिचित कराया जाना चाहिए जो सर्वोत्तम हैं बल्कि उन बातों से भी जो परिस्थितियों के सापेक्ष में सर्वोत्तम हैं इसलिए हम सिर्फ उस शासन के बारे में नहीं सोचेंगे जो सर्वोत्तम है बल्कि जो संभव है और जो सबके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।" इस तरह वह राज्य के आदर्शों के बारे में लिखता हुआ प्रतीत होता है। अरस्तू अपनी रचना में जहाँ राजनीतिक आदर्शों का विवेचन करता है वहीं वह एक आदर्श राज्य के अस्तित्व हेतु भौतिक, मानसिक एवं भौगोलीय दशाओं, (जो कि आदर्श राज्य के अस्तित्व हेतु आवश्यक है), का भी वर्णन करता है। उसके आदर्श राज्य का विवेचन करने से पूर्व दो तथ्यों को ध्यान में रखा जाना आवश्यक है –

(1) आदर्शवादी प्लेटो से भिन्न अरस्तू एक यथार्थवादी है इसलिए वह आदर्श राज्य या सरकार के बारे में कोई सलाह देने से पूर्व उस राज्य के नागरिकों के चरित्र को ध्यान में रखता है।

(2) अरस्तू की प्राथमिकता राजतंत्र के लिए है पर राजतंत्र को अपने आदर्श रूप में प्राप्त किया जा सकना असंभव है क्योंकि इसमें कानून को सर्वोच्च नहीं बनाया जा सकता इसलिए वह उस आदर्श राज्य की ओर चलता है जहाँ कानून सर्वोच्च हो।

आदर्श राज्य की अरस्तू की विवेचना उसके द्वारा आदर्श राज्य की विशेषताओं को दर्शाती है जिन्हें निम्नलिखित बिन्दुओं में रखा जा सकता है :

1. सिर्फ एक छोटा नगर राज्य ही आदर्श हो सकता है।
2. आदर्श राज्य में कानून की सर्वोच्चता होनी चाहिए।
3. आदर्श राज्य का प्रमुख कार्य मनुष्य को नैतिक बनाना है।
4. आदर्श राज्य में एक अनिवार्य, एकरूप एवं सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।
5. आदर्श राज्य में नागरिक सम्पत्ति के वैयक्तिक रूप में स्वामी होंगे पर इसका उपभोग सामूहिक होगा।
6. दास कृषि संबंधी कार्य करेंगे विदेशी वाणिज्य एवं व्यापार करेंगे तथा नागरिक शासन करेंगे। यह आदर्श राज्य की श्रमविभाजन व्यवस्था होगी।

आदर्श राज्य की उपर्युक्त विशेषताओं के वर्णन को 'पालिटिक्स' की द्वितीय एवं तृतीय पुस्तकों में देखा जा सकता है जबकि अन्य विशेषताएं क्रमशः सातवीं एवं आठवीं पुस्तक में मिलती हैं जहाँ आदर्श राज्य की भौतिक एवं मानसिक दशाओं का वर्णन है। यहाँ पर यह बात भी जान लेना आवश्यक है कि – विद्वानों में इस बात पर सहमति नहीं है कि अरस्तू का यह विवेचन आदर्श राज्य की दशाओं का है या सर्वोत्तम व्यवहारिक राज्य का। अरस्तू राजनीतिक संगठन का विस्तार से विवेचन नहीं करता वह सिर्फ भौतिक एवं मानसिक दशाओं को दर्शाता है, यह सूची प्लेटो के 'लॉज' से ली गयी प्रतीत होती है। आदर्श राज्य की अन्य विशेषताएं निम्नांकित हैं :

7. आदर्श राज्य का आकार न बहुत बड़ा हो न बहुत छोटा, उसका क्षेत्र भी इतना हो जो लोगों को आत्मनिर्भर बनाए रखने के लिए पर्याप्त हो। आदर्श राज्य समुद्र से न

बहुत नजदीक हो और न ही बहुत दूर तथा इसकी जलवायु समशीतोष्ण हो।

8. आदर्श राज्य एक आक्रामक राज्य नहीं है।

9. आदर्श राज्य के नागरिकों का चरित्र यूनानी हो।

10. आदर्श राज्य में वह छह वर्गों को बताता है। इनमें से चार नागरिकों के वर्ग हैं और दो गैर नागरिकों के। ये क्रमशः कृषक, शिल्पी (जो गैर नागरिक होंगे), योद्धा, धनवान नागरिक वर्ग, धार्मिक पुरोहित और प्रशासक हैं।

    कृषक तथा शिल्पी राज्य की आवश्यकता हैं यद्यपि नागरिक नहीं हैं। नागरिकों के पास वैयक्तिक संपत्ति होना आवश्यक है तथा उन्हें अपने जीवन काल में क्रमशः योद्धाओं, प्रशासकों एवं धार्मिक पुरोहितों के रूप में दायित्वों का निर्वहन करना होता है।

11. अरस्तू आदर्श राज्य की कुछ लघु विशेषताओं का भी वर्णन करता है। इनमें वह राज्य में जलापूर्ति व्यवस्था, सड़कों की व्यवस्था, बाह्य आक्रमण से सुरक्षा हेतु आवश्यक व्यवस्था तथा युद्ध में आवश्यक हथियारों के प्रयोग का चित्रण करता है।

स्पष्ट है कि आदर्श राज्य का अरस्तू का विवेचन उसकी यथार्थवादिता से प्रेरित है। यह प्लेटो की तरह का काल्पनिक राज्य नहीं है। यह एक विशुद्धतः यूनानी नगर राज्य है जिसे इस धरती पर हासिल किया जा सकता है। सेबाइन का मानना है कि अरस्तू की प्रतिभा के अनुरूप संभवतः उसका आदर्श राज्य का चित्रण अपूर्ण है।

2.4 नागरिकता

अरस्तू के विचारों में आवश्यक रूप से रूढ़िवादिता दिखायी पड़ती है, विशेषकर जब वह नागरिकता तथा दास प्रथा की अवधारणाओं के औचित्य को बताता है। वह तत्कालीन परिस्थितियों का तार्किकीकरण करता है। अरस्तू की नागरिकता की अवधारणा का परीक्षण उसके द्वारा दी गयी राज्य की परिभाषा से प्रारंभ होता है। वह राज्य को 'नागरिकों के समूह' के रूप में देखता है। वह एथेन्स की परिस्थितियों को भी ध्यान में रखता है जहाँ थोड़े से सम्पत्तिशाली सभ्यजन राजनीतिक मामलों में एकाधिकार प्राप्त थे उन्हें ही राज्य संप्रभुता में प्रत्यक्ष सहभागिता प्राप्त थी। वह नागरिकता का विवेचन नकारात्मक दृष्टिकोण से प्रारंभ करता है। क्योंकि उसके लिए आवास, कानूनी अधिकारों का उपभोग अथवा जन्म आवश्यक रूप से नागरिकता की शर्त नहीं है। नागरिकता को परिभाषित करते हुए वह कहता है "वह व्यक्ति जो राज्य के विचार विमर्शात्मक तथा न्यायिक कार्यों में भाग लेता है राज्य का नागरिक है।" इसका अभिप्राय यह हुआ कि एक न्यायाधीश के रूप में कार्य करना अथवा जनप्रतिनिधि सभाओं का सदस्य होना किसी व्यक्ति को नागरिकता का पात्र बनाता है। यह परिभाषा जनतंत्र के अनुकूल है ऐसा उसका मानना है। नागरिकता हेतु मुख्य योग्यता "क्रमशः शासन करना तथा शासित होने की क्षमता का होना है।" इसके लिए वह विश्राम (Leisure) पर बहुत बल देता है। विश्राम हेतु वह संपत्ति धारण करना तथा दासों को रखना भी आवश्यक मानता है। संपत्तिधारण से राज्य के प्रति दायित्व तथा प्रबंधन का अनुभव प्राप्त होता है। विश्राम नागरिकों को चिंतन हेतु समय प्रदान करता है जबकि दासों का होना मालिकों को शारीरिक-श्रम से मुक्ति प्रदान करता है। शारीरिक श्रम करना अरस्तू नागरिकता की अयोग्यता बताता है। उसके लिए दास राज्य की आवश्यक दशाएं हैं जबकि मालिक राज्य के आवश्यक अंग। नागरिकता के विवेचन में अरस्तू जिस विश्राम की विवेचना करता है उसे वह उन गतिविधियों, जिनमें नागरिकों को संलग्न रहना चाहिए हेतु आवश्यक मानता है। ये

गतिविधियां क्रमशः ज्ञान की प्राप्ति तथा सद्गुणों की अभिवृद्धि हैं। उसका नागरिक का विचार एक ऐसे स्वतंत्र भद्रपुरुष का विचार है जिसके पास पर्याप्त शैक्षणिक अनुभव एवं विश्राम का अवसर है ताकि वह अपने आप को नागरिकोचित कार्यों हेतु समर्पित कर सके। वह यांत्रिकों या व्यापारियों का जीवन यापन करने वालों को नागरिक नहीं मानता क्योंकि ये कार्य सद्गुणों की प्राप्ति के अनुकूल नहीं हैं। साथ ही कृषक एवं शिल्पी भी नागरिक नहीं हो सकते क्योंकि राजनीतिक कर्त्तव्यों का निष्पादन नहीं कर सकते। अरस्तू इन गतिविधियों को क्रमशः किसी उद्देश्य के साधन की गतिविधियां और उद्देश्य के साधन हेतु विहीन गतिविधियां मानता है। पहली श्रेणी आवश्यक और उपयोगी हो सकती है पर दूसरी श्रेणी जीवन के उच्चतर मूल्यों जैसे– 'सत्य सुन्दर एवं शिव' से संबंधित है और ये ही विश्राम की गतिविधियां हैं। इन्हीं गतिविधियों में भाग लेना अपने आप में एक लक्ष्य है और इन्हीं से अरस्तू के नागरिक निर्मित होते हैं। स्पष्ट है कि वह नागरिकता को बहुत सीमित अधिकार के रूप में देखता है। उसके द्वारा दर्शायी नागरिकता की अवधारणा में निम्नांकित वर्ग नागरिकता से वंचित है–

(1) सभी दास, इसका कारण यह है कि वे किसी उद्देश्य के साधन हैं और शारीरिक श्रम करते हैं।

(2) सभी व्यापारी, जो विश्राम नहीं करते।

(3) सभी यांत्रिक, क्योंकि उनका जीवन सद्गुणों के अभ्यास के अनुकूल नहीं है। साथ ही उनके पास विश्राम का अभाव है।

(4) अरस्तू महिलाओं को भी नागरिकता हेतु अपात्र मानता है और इसका कारण वह उनमें कम बौद्धिक क्षमता का होना बताता है।

(5) सभी बच्चे, क्योंकि वे निर्णय लेने हेतु अपरिपक्व होते हैं।

अरस्तू एक अच्छे व्यक्ति और अच्छे नागरिक के मध्य भी अंतर करता है। एक अच्छा व्यक्ति अपने गुणों से भले ही सदैव अच्छा हो पर ये गुण सदैव एक अच्छे नागरिक के गुणों के समानार्थी नहीं हैं। यह बात इससे भी प्रमाणित होती है कि उसकी नागरिक की परिभाषा में नागरिकता के मापदण्ड अलग-अलग व्यवस्थाओं अथवा शासन प्रणालियों में अलग-अलग हैं।

उसकी नागरिकता की अवधारणा की आलोचना स्वरूप यह कहा जा सकता है कि–

(1) नागरिकता अति सीमित है।

(2) सम्पत्ति धारण को अवांछित रूप से अति महत्त्वपूर्ण माना गया है।

(3) इसे सार्वभौम रूप से लागू नहीं किया जा सकता। आधुनिक विशाल राष्ट्रीय राज्यों में तो कदापि नहीं।

(4) यह उसके राज्य सावयव सिद्धांत के भी प्रतिकूल है।

(5) समान अधिकारों की मनाही आपत्तिजनक है।

(6) यह प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र के साथ संगति नहीं रखती।

(7) यह शारीरिक श्रम को हेयता की दृष्टि से देखती है साथ ही यह श्रमिकों को राजनीतिक अधिकारों के प्रयोग हेतु शैक्षणिक प्रभावों से भी वंचित करती है।

(8) इससे राज्य का स्थायित्व प्रभावित होने की संभावना है।

(9) उसका उद्देश्य और, साधन का आधार भी जल्दबाजी में दिया हुआ प्रतीत होता है

और अततः

(10) उसकी अवधारणा अनुदारात्मक तथा रूढ़िवादी है।

2.5 परिवार तथा संपत्ति संबंधी अरस्तू के विचार

व्यक्तिगत संपत्ति के एक बड़े समर्थक के रूप में अरस्तू इसे एक प्राकृतिक संस्था के रूप में मानता है तथा परिवार की एक आवश्यक विशेषता बताता है। यह तो सर्वविदित है कि परिवार अरस्तू के लिए राज्य का आधार स्तम्भ है। अरस्तू ने संपत्ति को प्रत्येक नागरिक के लिए प्रकृतितः अपरिहार्य माना है। उसकी मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति के नैतिक जीवन हेतु व्यक्तिगत संपत्ति रूपी उपकरण तथा पारिवारिक जीवन रूपी अनुशासन आवश्यक है, परन्तु इन दोनों संस्थाओं को वह मात्र उपकरण बताता है न कि स्वयं में एक साध्य।

परिवार सामाजिक जीवन की एक महत्वपूर्ण संस्था है, यह इसके सदस्यों की गतिविधियों के ऊपर एक निषेधात्मक अवरोध का कार्य करता है और उन्हें अराजकता तथा अनुत्तरदायित्व से बचाता है, परिवार मनुष्य को अनुकूलन तथा समायोजन की शिक्षा देता है, जो कि पृथ्वी पर जीवित रहने हेतु अति आवश्यक हैं। परिवार मनुष्य को सामाजिक सद्गुणों– प्रेम, अनुशासन, आज्ञाकारिता तथा आत्म त्याग की सीख देता है। वस्तुतः एक व्यक्ति नागरिकता का प्रथम पाठ परिवार में ही पढ़ता है। परिवार मनुष्य को उसके व्यक्तित्व के विकास के सभी अवसर प्रदान करवाता है।

प्लेटो ने परिवार को एक अभिशाप माना था। उसके मत से परिवार मनुष्य के नजरिये को संकीर्ण तथा स्वार्थी बनाता है। वह एक समाज में परिवार को 'मेरा' तथा 'तेरा' की भावना को जन्म देने वाली संस्था बताता है, जो समाज की बुनियाद को चुनौती देता है। उसके अनुसार परिवार मनुष्य को आवश्यक रूप से भौतिकतावादी बना देता है परिणामतः मनुष्य उस जीवन का स्मरण नहीं कर पाता जो कि आत्मा का जीवन है। मात्र जीवन के लिए संघर्ष करते हुए व्यक्ति उस वास्तविक जीवन के बारे में विचार नहीं करते जो कि उत्साह का जीवन है। अतः प्लेटो ने अपने रिपब्लिक में परिवार के साम्यवाद की योजना को दर्शाते हुए संरक्षक वर्ग के लिए परिवार की समाप्ति की योजना व्यक्त की थी।

अरस्तू प्लेटो के इस विचार की तीव्र आलोचना करता है। उसका मानना है कि प्लेटो राज्य में निरपेक्ष/निर्बाध एकता स्थापित करने के लिए परिवार को समाप्त कर देता है। अरस्तू इस निरपेक्ष/निर्बाध एकता पर ही आपत्ति करता है। अरस्तू निर्बाध एकता (absolute unity) को असंभव मानता है। वह तर्क करता है कि शायद एक व्यक्ति से निर्मित एक नगर में यह संभव हो पर इसमें भी उसे आशंका है कि यह संभव न हो पाए। अरस्तू राज्य की प्रकृति को बहुल मानता है, अतः उसके अनुसार निर्बाध एकता प्राप्त करके राज्य फिर राज्य नहीं रह सकता। यहाँ पर राज्य एक परिवार व परिवार व्यक्ति बन जाता है, इस तरह ऐसा करके हम राज्य को ही नष्ट कर देंगे। पुनः अरस्तू के मत से राज्य का निर्माण कई व्यक्तियों से नहीं बल्कि कई असमान व्यक्तियों से मिलकर होता है जिनकी असमानताएं ही यह संभव बनाती हैं कि उनके मध्य सेवाओं का पारस्परिक आदान-प्रदान संभव है तथा इसी उद्देश्य से समुदाय बनते हैं। मानवों की विविध क्षमताएं उन्हें किसी समाज में एक दूसरे के करीब लाती हैं और यह विभेदीकरण ही एक समाज का आवश्यक आधार बनता है, इस तरह अरस्तू विविधता में एकता को स्थापित करना चाहता है। पुनश्च अरस्तू के लिए राज्य का उद्देश्य एकता नहीं बल्कि व्यक्तिगत आवश्यकताओं की संतुष्टि है अर्थात् आत्म निर्भरता है और इसके लिए एकता की कम मात्रा आवश्यक है न कि अधिक मात्रा। अरस्तू का आक्षेप प्लेटो द्वारा प्रस्तावित परिवार अथवा पत्नियों के साम्यवाद के ऊपर भी है, जिसकी आलोचना

वह यह कहते हुए करता है कि ऐसी योजना में सभी स्त्रियां सभी पुरुषों की हो जाती हैं और सभी बच्चे भी सभी के। यह तर्क भ्रामक है क्योंकि 'सभी' शब्द ही अस्पष्ट है और फिर जो सबका है वह किसी एक का कैसे हो सकता है ?

अरस्तू ने राज्य को समुदायों का समुदाय बताया है तथा परिवार को राज्य का एक महत्वपूर्ण समुदाय कहा है। अरस्तू द्वारा प्लेटो के इस तर्क का कि परिवार तथा राज्य एक दूसरे के प्रतिवाद हैं, सफलतापूर्वक समाधान किया गया है। वह परिवार तथा राज्य दोनों को प्राकृतिक बतलाता है क्योंकि ये दोनों ही मानव प्रकृति में अन्तर्निहित हैं। इस तरह ये दोनों ही मानव प्रकृति की अभिव्यक्ति हैं। अरस्तू प्राकृतिक तथा नैतिक को समानार्थी भी मानता है। अतः जो प्राकृतिक है वह नैतिक है। अतः राज्य तथा परिवार नैतिक संस्थाएँ हैं। परिवार के नैतिक औचित्य को दर्शाते हुए अरस्तू इसे बच्चों के नैतिक विकास हेतु अपरिहार्य मानता है और यह बताता है कि परिवार उन सभी सामाजिक सद्गुणों, जो कि मनुष्य को एक अच्छा नागरिक तथा मनुष्य बनाते हैं, हेतु एक प्रशिक्षण स्थल है। इसलिए परिवार को समाप्त कर देना बच्चों को परिवार के समस्त लाभों से वंचित कर देना होगा और इससे वह उद्देश्य ही पूर्ण नहीं होगा जिसके लिए एक आदर्श राज्य निर्मित होता है। अरस्तू ने परिवार रूपी संस्था को कार्य विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित माना है। उसकी मान्यता है कि एक परिवार में पति, पत्नी तथा बच्चे सभी सामूहिक हित के लिए एक दूसरे की मदद करते हैं। और जैसा कि बार्कर ने भी बताया है कि इस प्राकृतिक तथा पारस्परिक सहायता में प्रत्येक सदस्य का एक नैतिक दायित्व निहित होता है। परिवार में ही एक बुद्धिमान, स्नेही पिता, अनुशासित बच्चे तथा प्रशिक्षित व आज्ञाकारी दास मिल सकते हैं। इसलिए अरस्तू परिवार को एक आवश्यक तथा प्राकृतिक संस्था के रूप में बनाये रखने का समर्थन करता है।

परिवार की ही तरह संपत्ति भी सामाजिक जीवन की एक अति प्राचीन तथा महत्वपूर्ण संस्था है। वस्तुतः संपत्ति समाज की उत्पत्ति में एक कारक है परन्तु राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में संपत्ति रूपी संस्था की उपयोगिता के विषय में एकमतता नहीं है। जहाँ दार्शनिकों का एक वर्ग इसे महत्वपूर्ण व लाभप्रद मानते हुए आवश्यक बताता है तो दूसरी ओर एक वर्ग (विशेषकर साम्यवादियों का) इसे अनावश्यक मानते हुए इसकी समाप्ति का पक्षधर है।

संपत्ति विषयक अरस्तू के विचार प्लेटो के विचारों के संदर्भ में विकसित हुए हैं। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, अरस्तू प्लेटो के साम्यवाद की योजना का कटु आलोचक है। वह मानता है कि मनुष्यों के साथ-साथ रहने तथा वस्तुओं पर सामूहिक स्वामित्व के होने में सदैव कठिनाई आती है और संपत्ति के बारे में तो और भी अधिक। वह लिखता है कि नित्य प्रतिदिन के जीवन में मनुष्य जितने अधिक संपर्क में रहेंगे उनके मध्य उतने ही अधिक झगड़े उत्पन्न होंगे। इसलिए संपत्ति के साम्यवाद की प्लेटो जैसी योजना उसे स्वीकार्य नहीं है।

अरस्तू व्यक्तिगत सम्पत्ति के औचित्य को बताता है। वह संपत्ति के स्वामित्व तथा उपभोग के विषय में तीन स्थितियों को देखता है– पहला संपत्ति का सामूहिक स्वामित्व तथा सामूहिक उपभोग; दूसरा संपत्ति का सामूहिक स्वामित्व तथा व्यक्तिगत उपभोग और तीसरा संपत्ति का व्यक्तिगत स्वामित्व तथा सामूहिक उपभोग। इनमें से वह तीसरे विकल्प को स्वीकार करता है और इसका औचित्य बताने का प्रयास करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अरस्तू व्यक्तिवाद व समाजवाद के मध्य एक संतुलन स्थापित कर रहा है। संपत्ति का सामूहिक उपभोग एकममता तथा एकता को लाएगा, जबकि वैयक्तिक स्वामित्व से आर्थिक तथा नैतिक लाभ उपलब्ध होंगे। सामूहिक उपभोग को वह समुदाय के उत्तम जीवन हेतु उचित मानता है। कहीं न कहीं अरस्तू सम्पत्ति के समुचित व्यवस्थापन द्वारा नियमन का भी पक्षधर है। इस तरह वह संपत्ति को मनुष्य के नैतिक पूर्णत्व हेतु चुनौती नहीं मानता और इसके समर्थन में निम्नलिखित

आधार प्रस्तुत करता है–

प्रथमतः वह व्यक्तिगत संपत्ति के समर्थन में 'प्रेरणा तथा उन्नति' का तर्क रखता है। उसके मत से व्यक्ति तब कहीं अधिक मेहनत करता है जब उसका व्यक्तिगत हित निहित होता है। और व्यक्ति की इस मेहनत का लाभ समाज को प्राप्त होगा तथा समाज कहीं अधिक प्रगति करेगा।

दूसरे, अरस्तू व्यक्तिगत संपत्ति को आनन्द का कारण बताता है, यह आत्म प्रेम का रूप है, सभी मनुष्य धन तथा ऐसी ही वस्तुओं से प्रेम करते हैं, पर वह इसे स्वार्थ के रूप में नहीं मानता बल्कि आत्म सम्मान के रूप में देखता है। तीसरे, अरस्तू व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन एक सुखी जीवन (Good life) के उपकरण के रूप में करता है, साथ ही इसे वह मानवीय व्यक्तित्व के विकास का साधन भी मानता है। साम्यवादी व्यवस्था के अधीन मनुष्य से उदारता, सत्कारशीलता आदि सदगुणों के पोषण की अपेक्षा नहीं की जा सकती। चौथे, एक रूढ़िवादी की भाँति अरस्तू इस तथ्य को मानता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के विचार में अवश्य ही कुछ न कुछ मानवीय तत्व निहित है इसीलिए यह संस्था इतनी दीर्घ अवधि से अस्तित्व में है, यह इसकी उपयोगिता ही है जिसने इस संस्था को बनाये रखा है। अतः हमें युगों के अनुभवों का सम्मान करते हुए इसे बनाये रखना चाहिए।

पाँचवें, व्यक्तिगत सम्पत्ति का स्वामित्व व्यक्तियों में नागरिक दायित्वों का भी बोध कराता है। संपत्तिधारी, राज्य से इसके संरक्षण की अपेक्षा करते हैं साथ ही वे राज्य को कर देते हैं अतः राज्य के मामलों में दिलचस्पी लेते हैं, इसीलिए अरस्तू संपत्ति को नागरिकता हेतु भी एक अर्हता मानता है। अरस्तू यह भी बताना नहीं भूलता कि संपत्ति का होना इसके प्रबंधन की मांग करता है और यह अनुभव नागरिक को राज्य के प्रबंधन में भी मदद करता है।

इस तरह संक्षेप में अरस्तू का तर्क यही है कि संपत्ति, परिवार की ही तरह एक प्राकृतिक संस्था है, यह व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास हेतु, उसके नैतिक उत्थान हेतु, आनन्द प्राप्ति हेतु तथा कार्यात्मक सुख हेतु आवश्यक है। पर संपत्ति स्वयं में कोई साध्य नहीं है, वह अथाह संपत्ति संचय को व्यक्ति तथा समाज दोनों के हित में नहीं मानता, उसने संपत्ति जनित असमानता को राज्य में क्रांति का कारण भी बताया है। वह वाणिज्य को संपत्ति अर्जन का अप्राकृतिक तरीका बताता है।

2.6 शिक्षा पर अरस्तू के विचार
(Aristotle's Views on Education)

कोई भी राज्य अथवा शासन अपने नागरिकों के चरित्र की अनदेखी नहीं कर सकता, इसीलिए किसी शासन की सफलता का निर्णय मात्र इस बात से नहीं लिया जा सकता है कि वह कितना चुस्त प्रशासन देता है बल्कि इस बात से भी होगा कि वह अपने नागरिकों का चरित्र कैसा बनाता है। सद्गुण युक्त जीवन ही व्यक्ति तथा राज्य दोनों के लिए सर्वोत्तम जीवन है, और शिक्षा ही वह अभिकरण है जिसके माध्यम से श्रेष्ठता, अनुशासन तथा उच्च चरित्र के जीवन को प्राप्त किया जा सकता है।

अरस्तू राज्य तथा उसके नागरिक के जीवन में कोई अन्तर नहीं करता। यदि उद्देश्य सर्वोत्तम राज्यतंत्र को स्थापित करना है तो शिक्षा का उद्देश्य भी सर्वोत्तम नागरिक उत्पन्न करना होना चाहिए। निस्सन्देह विधायकों को अपना ध्यान युवाओं की शिक्षा पर केन्द्रित करना चाहिए क्योंकि इसकी अनदेखी राज्य के लिए हानिकारक होगी। नागरिकों को राज्यतंत्र के अनुरूप ही ढालना चाहिए, इस तरह शिक्षा का एक राजनीतिक उद्देश्य है। राज्य नागरिकों को ऐसी शिक्षा दे जो उनके सामाजिक तथा राजनीतिक प्रकृति के पूर्णत्व की प्राप्ति में मदद करे।

मनुष्य अच्छी तथा बुरी प्रवृत्तियों का युग्म होता है। जब वह विवेकशील होता है तो अच्छा व देवतुल्य होता है पर जब वह वासनाओं के वशीभूत होता है तो दानवतुल्य और निकृष्ट प्राणी बन जाता है। विवेक मनुष्य का विशिष्ट चिन्ह है। शिक्षा ही मनुष्य को अपनी शक्तियों तथा सामर्थ्यों के समुचित प्रयोग के उपयुक्त बनाती है। शिक्षा से ही वह उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय के मध्य अन्तर कर सकता है। एक राजनीतिक समाज में न्याय ही समुचित आधारभूत सिद्धान्त हो सकता है जो मनुष्यों के मध्य का एक बंधन भी होता है। शिक्षा का उद्देश्य नागरिक कला का प्रशिक्षण देना भी है। शिक्षा ही वह माध्यम है जो नागरिकों को अच्छे प्रजाजन और अच्छे शासक बनाती है। एक नागरिक तथा शासक में वही सद्‌गुण होने चाहिए जो कि एक अच्छे मनुष्य के लिए आवश्यक है। शिक्षा का उद्देश्य शांति की स्थापना तथा विश्राम का आनन्द लेना भी है। अरस्तू शिक्षा के उद्देश्य में आक्रामक सैन्य सद्‌गुणों की प्राप्ति को नहीं मान्य करता है। वह यह भी संस्तुत नहीं करता कि मनुष्यों को, उन लोगों को दास बनाने हेतु जो दास बनने योग्य नहीं हैं, युद्ध कला का अध्ययन करना चाहिए। आदर्श राज्य में शिक्षा का उद्देश्य नागरिकों के जीवन को सद्‌गुण युक्त और सुखी बनाना है। शिक्षा से मनुष्य यह सीख ले कि उसकी वैयक्तिकता, व्यक्तिवाद में पतित न हो जाये। शिक्षा मनुष्य को स्वर्णिम मध्यमान के सद्‌गुणों से युक्त करे। वह सहिष्णुता, मित्रता, समझौता व सहयोग जैसे गुणों से युक्त हो। वह अपनी संपत्ति का उपभोग अपने साथियों के साथ करना सीखे। इस तरह अरस्तू शिक्षा के उद्देश्यों को बहुआयामी बताता है।

अरस्तू के अनुसार मनुष्य को उसकी प्रकृति, आदत तथा विवेक, अच्छा और सद्‌गुणी बनाते हैं। एक संतुलित और श्रेष्ठ व्यक्तित्व को बनाये रखने के लिए इन तीनों में एकरसता बनाये रखना जरूरी है और यह शिक्षा से ही संभव है। अरस्तू यह बताता है कि अंततः शिक्षा को मनुष्य की बौद्धिक परिपक्वता तथा आत्मा के पल्लवीकरण हेतु निर्देशित होना चाहिए। अरस्तू मनुष्य के व्यक्तित्व के अतार्किक तथा तार्किक पक्षों को ध्यान में रखते हुए शिक्षा की किसी समझदार व तार्किक योजना में पहले अतार्किक और फिर तार्किक अर्थात् पहले अविवेकी व फिर विवेकी पक्ष को या फिर पहले शरीर और बाद में आत्मा को शिक्षित करने की बात करता है। प्लेटो की ही भाँति अरस्तू की शिक्षा योजना भी मनोविज्ञान पर आधारित है। वह यह मानता है कि शिक्षा को व्यक्ति के मानसिक विकास के प्रत्येक चरण को ध्यान में रखना चाहिए।

अरस्तू अपनी शिक्षा की योजना को तीन भागों में विभाजित करता है–

(i) शैशव काल जो जीवन के प्रथम 7 वर्षों तक का चरण है।

(ii) प्राथमिक स्तर जो 7 से 14 वर्ष तक का चरण है।

(iii) द्वितीयक स्तर जो 14 से 21 वर्ष तक का चरण है।

प्रत्येक चरण में शिक्षा कार्यक्रम की चर्चा वह विस्तार से करता है। यहाँ पर यह बात ध्यान देने की है कि अरस्तू प्लेटो की ही तरह शिक्षा को राज्य-नियंत्रित बताता है। शिक्षा राज्य के सभी नागरिकों के लिए समान होनी चाहिए क्योंकि राज्य का एक समान उद्देश्य है, अतः शिक्षा को सार्वजनिक होना चाहिए। डनिंग ने कहा है कि अरस्तू की स्थिति ऐसी है कि वह "राज्य के कार्य को अंततः शिक्षा देने का कार्य मानता है अर्थात् राज्य एक शिक्षणालय है, राज्य तथा सरकार दोनों का ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य समरूपी, अनिवार्य तथा सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था का प्रबंधन करना है।"

अरस्तू की शिक्षा योजना का महत्व इसलिए है कि वह शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व के सुव्यवस्थित विकास को मानता है। इससे शरीर, मन तथा आत्मा तीनों ही शिक्षित होते हैं। डनिंग के अनुसार, "इसका उद्देश्य व्यावहारिक उपयोगिता से कहीं अधिक मानसिक संवर्धन है। इसके अंतर्गत प्रशिक्षण के शारीरिक पक्ष पर पर्याप्त जोर दिया गया है, साथ ही संगीत

पर बल इसके नैतिक महत्व तथा चरित्र-निर्माणकारी प्रभाव के कारण है, जो कि वर्तमान युग के लिए बोधगम्य नहीं है''। शिक्षा योजना में वह मानव जीवन को प्रारंभ से ही शासकीय पर्यवेक्षण के अधीन कर देता है। वह विवाह के समय तथा परिस्थिति को कठोर नियमन के अधीन करते हुए संतानोत्पत्ति तथा युवाओं की देखरेख के समुचित प्रबंधन को बतलाता है ताकि बाद में शिक्षा का आदर्श आधार सुनिश्चित हो सके। मुरे के शब्दों में ''अरस्तू उचित ही मानता है कि शिक्षा को सर्वप्रथम शारीरिक संवर्धन की ओर निदेशित होना चाहिए इसके पश्चात् अभिलाषा का नियंत्रण होना चाहिए अर्थात् चरित्र निर्माण होना चाहिए और अंत में मन तथा आत्मा का विकास, जो कि शिक्षा का अंतिम उद्देश्य है शिक्षा के प्रारंभिक चरण तो इसके साधन मात्र हैं।''

परन्तु अरस्तू की शिक्षा योजना पूर्णतः दोषमुक्त नहीं है, वह शिक्षा की योजना की आकस्मिक समाप्ति कर देता है, क्योंकि 21 वर्ष में एक युवक बौद्धिक परिपक्वता प्राप्त नहीं कर सकता अतः पूर्णतः विकसित नहीं होता। इस तरह यह योजना आदर्श नागरिकता तथा बौद्धिक विकास के उद्देश्य से अपूर्ण तथा अपर्याप्त प्रतीत होती है। यह भी अरस्तू की शिक्षा योजना का एक दोष ही कहा जायेगा कि वह इसे सिर्फ राज्य के नागरिक अंग के लिए ही बताता है और इस तरह राज्य में नागरिकों तथा गैर नागरिकों के मध्य एक दरार उत्पन्न कर देता है।

2.7 कानून संबंधी विचार

अरस्तू कानून के विषय में यद्यपि सैद्धांतिक रूप से कोई विशेष योगदान नहीं करता परन्तु सामान्य रूप में वह कानून की सर्वोच्चता का पक्षधर है। उसके लिए संप्रभु कानून संहिताबद्ध कानून नहीं है। यह लिखित या अलिखित परंपराओं का समूह है जिसका विकास राज्य के विकास के साथ-साथ हुआ। कानून की संप्रभुता की धारणा तत्कालीन एथेन्स में प्रचलित व्यवस्था के समकक्ष थी। कानून को स्थायी एवं अपरिवर्तनीय नियमों का समूह माना जाता था। विधायक अथवा मजिस्ट्रेट कानून में परिवर्तन नहीं कर सकते थे। अति आवश्यक होने पर ऐसा अधिनियम राज्य का न्यायिक अंग ही करता था। न्यायिक अंग का अभिप्राय ''नागरिकों की स्वीकृति'' से समझा जाता था। अरस्तू ने शासकों को सदैव कानून के अधीन बताया तथा कानून का आचरण करना उनका दायित्व भी बताया। वह कानून को समस्त वासनाओं से रहित विवेक कहता है। उसके विचार में एक व्यक्ति के शासन की अपेक्षा विधि के शासन को उच्चतर माना जाना चाहिए। यदि व्यक्तियों के आदेशों को अधिक वांछनीय समझा जाता है तो ऐसे व्यक्तियों को विधि के संरक्षक अथवा विधिमंत्रियों के रूप में नियुक्त किया जाना चाहिए।

विधि के शासन का महत्त्व– अरस्तू का यथार्थवाद यह बताता है कि एक उत्तम से उत्तम नागरिक भी पूर्ण नहीं हो सकता। अतः कानूनी बंधन अनिवार्य है। अरस्तू के लिए जहाँ सर्वोत्तम संविधान वैधानिक राजतंत्र है वहीं सर्वोत्तम व्यावहारिक संविधान पॉलिटी है और अरस्तू का आदर्श एक वैधानिक शासन है। वह कानून की सर्वोच्चता को उत्तम राज्य के एक लक्षण के रूप में स्वीकार करता है। इसे वह एक दुर्भाग्यपूर्ण आवश्कता नहीं मानता। कानून का शासन 'सहमति का शासन' है। विधि के शासन के तीन तत्त्व हैं–

(1) यह जन साधारण के हित में है न कि व्यक्ति या वर्ग के हित में।

(2) यह विधिगत शासन है क्योंकि शासकों के द्वारा प्रचलित परंपराओं का उल्लंघन नहीं किया जा सकता।

(3) यह शासितों की इच्छाओं के अनुकूल शासन है।

इस तरह कानून नैतिक एवं सभ्य जीवन की अपरिहार्य परिस्थिति है। अरस्तू लिखता भी है "एक पूर्ण मानव सभी प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ है परन्तु मानव जब कानून एवं न्याय से पृथक कर दिया जाए तो वह निकृष्टतम प्राणी हो जाता है।" परम्पराएं या रीति-रिवाज कानून की आवश्यक स्थितियां हैं। ये मानवों के क्रमिक अनुभवों तथा विवेक की उपज हैं। एक व्यक्ति का विवेक उनसे श्रेष्ठ नहीं हो सकता है। सामूहिक विवेक श्रेष्ठ है और यह परंपराओं, रीति-रिवाजों तथा कानूनों में दीखता है। अतः कानून की सर्वोच्चता लाभप्रद एवं वांछनीय है।

अरस्तू कानून की संप्रभुता के विचार को दर्शाता है यद्यपि वह संप्रभुता के विचार पर कुछ नहीं कहता। उसके लिए कानून सम्प्रभु का आदेश नहीं है पर उसके संविधानों के वर्गीकरण को कानून की सर्वोच्च सत्ता की मान्यता पर आधारित कहा जा सकता है। संप्रभुतारूपी सर्वोच्च शक्ति अरस्तू के संदर्भ में तथ्यतः संप्रभुता जैसी ही है। वह राज्य को न साध्य मानता है और न ही संप्रभु। उसके लिए शासक कानून के अभिकर्ता हैं न कि निर्माता। राज्य की सर्वोच्च सत्ता को धारण करने वाले व्यक्ति या व्यक्ति समूह अथवा वर्ग भी संप्रभुता संपन्न नहीं हैं। वह लोक प्रभुसत्ता या कानून की सर्वोच्चता की आधुनिक धारणा को मान्य नहीं करता। कानून का शासन विवेक का शासन है। कानून अवैयक्तिक है। कानून के शासन का उद्देश्य जन कल्याण है और यह नागरिक गरिमा का सम्मान करता है। कानून का शासन इच्छुक प्रजाजनों के ऊपर शासन है न कि शक्ति द्वारा समर्थित और यह अनिच्छुक प्रजाजनों के ऊपर भी शासन नहीं हैं।

2.8 न्याय की अवधारणा

न्याय की अवधारणा पर विचार करते हुए अरस्तू इसे यथार्थता की एक नई शक्ति प्रदान करता है। प्लेटो के लिए न्याय राज्य का जीवन तथा आत्मा था। अरस्तू के लिए प्लेटो एक गुरू अवश्य है पर वह न्याय के संबंध में अपना विचार प्लेटो का अनुसरण करते हुए नहीं देता। वह प्लेटो से अधिक सत्य से प्रेम करता है। वह न्याय को एक पूर्ण सद्गुण मानता है और एक पूर्णतः न्याययुक्त मानव को पूर्णतः सद्गुणी भी बताता है। अरस्तू के लिए राज्य का लक्ष्य उत्तम जीवन की अभिवृद्धि करना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति सामूहिक क्रिया के जीवन से संभव है और यह तभी संभव है जब एक राज्य के नागरिक कानून के अनुकूल कार्य करें। इसका अर्थ है कि नागिरकों में कानून के अनुपालन का गुण होना चाहिए। इस तरह एक न्याययुक्त तथा कानून का अनुपालक व्यक्ति समान है। क्योंकि कानून का अनुपालन एक पूर्ण सद्गुण है इसलिए न्याय भी पूर्ण सद्गुण है और इसके बिना एक सामूहिक जीवन की प्राप्ति मुश्किल होगी। अरस्तू के लिए न्याय एक महान नैतिक सद्गुण तथा चारित्रिक श्रेष्ठता है और ये दोनों ही सामाजिक एवं सार्वजनिक संबंधों हेतु आवश्यक हैं।

अरस्तू न्याय के विवेचन में विशिष्ट न्याय की धारणा दर्शाता है जो इस बात पर आधारित है कि राज्य समान व्यक्तियों का समुदाय है इसलिए इस समुदाय के सदस्य के रूप में प्रत्येक व्यक्ति के संपूर्ण के संबंध में अपने अधिकार हैं साथ ही प्रत्येक व्यक्ति के दूसरे के विरुद्ध भी अधिकार हैं। पहली दशा को वह वितरणात्मक न्याय के रूप में देखता है जबकि दूसरी दशा को सुधारात्मक न्याय के रूप में। वितरणात्मक न्याय वितरण के उस सिद्धांत का नाम है जिसके द्वारा वस्तुएं, सेवाएं, सम्मान तथा पद नागरिकों के मध्य वितरित किए जाते हैं। क्योंकि प्रत्येक नागरिक राज्य के सामूहिक जीवन की प्राप्ति हेतु अपना योगदान करता है, अतः यह आवश्यक है कि उसे राज्य द्वारा उसी अनुपात में लाभ एवं सम्मान प्राप्त होने चाहिए जिस अनुपात में वह राज्य के लिए सेवा अर्पित करता है। वितरणात्मक न्याय राज्य

में असमानों के मध्य समानता स्थापित करता है। यह व्यवस्था जहाँ राज्य में स्थायित्व को जन्म देगी वहीं क्रान्तियों से बचने का भी एक उपाय होगी। वास्तव में वितरणात्मक न्याय की इस धारणा में आनुपातिक समानता और समानता के मध्य कोई विरोध नहीं पाया जाता।

सुधारात्मक न्याय का विचार इस उद्देश्य से प्रेरित है कि वितरणात्मक न्याय द्वारा स्थापित समानता की व्यवस्था में कोई व्यवधान न उत्पन्न हो। यह व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति को अपने साथियों के अधिकारों का हनन करने से रोकती है। इसका संबंध स्वैच्छिक तथा वाणिज्यिक लेनदेन से भी है साथ ही यह व्यवस्था उन क्रियाओं से भी संबंधित है जो किसी के जीवन, संपत्ति, स्वतंत्रता अथवा सम्मान पर कुठाराघात करती है। इसका उद्देश्य राज्य में व्यक्तियों के मध्य सामाजिक संबंधों में समानता और नेकी से है ताकि प्रत्येक व्यक्ति को उसका प्राप्य मिल सके।

अरस्तू न्याय के कुछ और रूपों का भी उल्लेख करता है। जैसे निरपेक्ष न्याय, जिसे वह मानवीय न्याय कहता है जो यह बताता है कि मानव होने के नाते व्यक्तियों को परस्पर कैसा व्यवहार करना चाहिए। राजनीतिक न्याय राज्य का नागरिक होने के नाते नागरिक-नागरिक के मध्य आचरण से संबंधित है। इसे सामूहिक जीवन जीने वाले नागरिकों के मध्य आत्मनिर्भरता की प्राप्ति के रूप में देखा जा सकता है साथ ही इसे स्वतंत्र मानवों तथा उनके मध्य समानता के रूप में भी देखा जा सकता है।

अरस्तू की दृष्टि में न्याय सामान्यतया कानून से संबद्ध है। न्यायसम्मत वही है जो कि विधिगत है। उत्पत्ति की दृष्टि से न्याय प्राकृतिक या विधिगत हो सकता है तथा क्षेत्र की दृष्टि से सामान्य अथवा विशेष हो सकता है परन्तु न्यायसम्मत अथवा विधिगत न्याय एक ही है।

2.9 दास-प्रथा

दास-प्रथा का विवेचन अरस्तू के विचारों में एक महत्त्वपूर्ण पर विवादास्पद विषय है। अरस्तू क्योंकि एक पक्का यूनानी है साथ ही अनुदारवादी भी इसलिए दास-प्रथा को बताना तथा उसके औचित्य को दर्शाना उसके लिए आवश्यक है। जहाँ प्लेटो अपने 'रिपब्लिक' में इसका कोई उल्लेख नहीं करता और 'लॉज' में दासों को कृषि कार्य हेतु आवश्यक मानता है, अरस्तू दास-प्रथा को एक संस्थागत व्यवस्था के रूप में देखता है। वह परिवार को सामुदायिक जीवन की प्राथमिक इकाई बताता है, पारिवारिक व्यवस्था में दास को सजीव संपत्ति के रूप में आवश्यक मानता है। दास संपत्तिरूपी अन्य निर्जीव उपकरणों से ऊपर एक सजीव उपकरण है। संपत्ति परिवार का आवश्यक अंग है और संपत्ति अर्जन हेतु उपकरण आवश्यक है। परिवार में वह तीन तरह के संबंध दर्शाता है जो क्रमशः मालिक-दास, मालिक-पत्नी व मालिक-बच्चों के मध्य हैं। वह लिखता है "कुछ लोग शासन करें और कुछ शासित रहें यह न सिर्फ प्राकृतिक है बल्कि व्यावहारिक भी। अपने जन्म से ही कुछ लोग शासन करने और कुछ शासित रहने के लिए नियत हैं।"

वह दास को निम्नलिखित रूपों में परिभाषित करता है

(i) कोई व्यक्ति जो प्रकृतितः अपना नहीं अपितु दूसरे का है, अपनी प्रकृति से दास है।

(ii) कोई व्यक्ति जो व्यक्ति हाते हुए भी संपत्ति की वस्तु है और दूसरे का है, दास है।

(iii) संपत्ति की वस्तु एक उपकरण है जिसे किसी क्रियागत उद्देश्य हेतु प्रयोग किया जाता है और अपने स्वामी से अलग किया जा सकता है।

अरस्तू ने दास-प्रथा के औचित्य को दर्शाने का भी प्रयास किया है और वस्तुतः यह प्रयास उसके यथार्थवाद को दर्शाता है जहाँ कि वह वस्तुओं को वैसे ही देखता है जैसी कि वे हैं। दास-प्रथा के औचित्य के संबंध में वह प्रमुखतः तीन आधार बताता है–

(1) दास प्रथा प्राकृतिक है– यहाँ पर वह अपने तर्क द्वारा सॉफिस्टों के द्वारा दास-प्रथा को प्रकृति के विपरीत बताए जाने का खण्डन करता है। वह इसे प्रकृति प्रदत्त मानता है क्योंकि वह मानवों में असमानता को आवश्यक एवं प्राकृतिक मानता है। वह प्रकृति के इस नियम की वकालत करता है कि श्रेष्ठ, अश्रेष्ठ के ऊपर शासन करता है। दास को वह उसकी परिभाषा से ही एक मानव के रूप में जानवर कहता है क्योंकि दास के पास सिर्फ इतना विवेक होता है कि वह दूसरे के विवेक को समझ सके और उसका अनुसरण कर सके न कि स्वविवेक से कार्य कर सके। दास की मुख्य पूँजी उसकी शारीरिक श्रम शक्ति है। इसके अतिरिक्त दास को प्राकृतिक मानने की वकालत अरस्तू इस रूप में करता है कि परिवार एक प्राकृतिक संवास है और परिवार के एक अंग के रूप में दास मालिक की संपत्ति और मालिक के कार्यों का उपकरण है।

(2) दास-प्रथा लाभप्रद है– इस उद्देश्य से अरस्तू का दास-प्रथा के औचित्य को साबित करने का तर्क यह है कि दास का होना नागरिकों को शारीरिक श्रम से मुक्ति प्रदान करता है और इससे अर्जित समय नागरिकों के लिए विश्राम का समय होता है जिसका कि उपयोग नागरिक उत्तमता की प्राप्ति हेतु कर सकते हैं। यह बात ध्यान में रखने की है कि अरस्तू के लिए नागरिक वह है जो राज्य के 'विचार-विमर्शात्मक एवं न्यायिक कार्यों' में भाग लेता है। इस तरह विश्राम का समय नागरिक इन कार्यों में श्रेष्ठता अर्जित करने हेतु प्रयोग कर सकता है। अरस्तू यह भी मानता है कि दास-प्रथा दासों के लिए भी लाभप्रद है क्योंकि मालिक की संगति उनमें उत्तमता की प्राप्ति के अवसर प्रदान करती है।

(3) दास-प्रथा उपयोगी है– यह तर्क जहाँ अरस्तू के अनुदारवाद का आवश्यक अंग है वहीं यह उसकी राजनीतिक दूरदर्शिता को भी दर्शाता है। दास यूनानी जगत में नगर-राज्यों की जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग हुआ करते थे, अतः दासों की मुक्ति यूनान के नगर-राज्यों के सामाजिक संतुलन को अस्त-व्यस्त कर देती।

दास प्रथा का अरस्तू प्रदत्त औचित्यीकरण अबाधित नहीं है। वह प्राकृतिक दास और कानूनी दास के बीच अंतर करता है तथा सिर्फ प्राकृतिक दास का ही औचित्य बताता है। वह राज्य द्वारा इस बात की प्रतिभूति भी चाहता है कि मालिक दासों के साथ समुचित आचरण करें। अकस्मात् कहीं न कहीं अरस्तू ऐसे दास की मुक्ति का भी पक्षधर है जिसमें विवेक तथा आत्मनिर्देशन के गुण दिखाई दें।

आलोचना :

दास-प्रथा की अरस्तू की विवेचना और इसके औचित्य की निम्न आधारों पर आलोचना की जा सकती है–

1. दास-प्रथा के औचित्य को दर्शाने में अरस्तू वैयक्तिक पूर्वाग्रहों का दोषी है।
2. उसका 'हेतुवादी दृष्टिकोण' दास-प्रथा के औचित्य के साथ मेल नहीं खाता।
3. यह स्वतंत्रता तथा समानता की अवधारणाओं के विपरीत तर्क है।
4. अरस्तू की व्याख्या से सभी औद्योगिक-श्रमिक दासों की श्रेणियों में ही रखे जाएंगे। यह बात बहुत युक्तिसंगत नहीं कही जा सकती।
5. अरस्तू दासों के परिवारों के बारे में कुछ भी नहीं बताता। साथ ही दासों की मुक्ति

का उसका सुझाव कैसे कार्यान्वित होगा इसे वह स्पष्टतः नहीं बताता।

6. अरस्तू दास को 'कार्य का उपकरण मानता है न कि उत्पादन का।' यह व्याख्या संतोषजनक नहीं है विशेषकर तब जबकि दास पारिवारिक जीवन में उत्पादन की क्रिया में सहभागी हैं।

दास-प्रथा का अरस्तू का विवेचन संभवतः उन दासों के बारे में है जो पारिवारिक कार्यों या लघु व्यापार में नागरिकों के सहायक होते थे परन्तु यदि प्रकृति द्वारा मनुष्य को सद्जीवन की प्राप्ति हेतु बनाया गया और प्रकृति ने ही कुछ लोगों को विवेकहीन बनाया तो क्या दास-प्रथा को प्राकृतिक कहा जाना उचित है।

2.10 क्रान्तियां

अरस्तू के विचारों में क्रांतियों के कारण एवं क्रांतियों से बचने के उपाय एक महत्त्वपूर्ण आयाम हैं। अरस्तू की यथार्थवादिता का एक परिचय क्रांतियों के विवेचन में देखा जा सकता है। एक चिकित्सक का पुत्र होने के कारण जिस तरह एक चिकित्सक किसी बीमार व्यक्ति के बीमारी के कारण और उसके निदान हेतु कार्य करता है लगभग वही पद्धति अरस्तू किसी राज्य के जीवन में उत्पन्न होने वाली बीमारियों और उनके निदान हेतु अपनाता है। उसके युग में यूनान में 'नगर-राज्य' इन क्रांतिकारी उथल-पुथलों से ग्रस्त थे। अरस्तू के विचार में राज्य का स्थायित्व अति आवश्यक है और राजनेताओं का प्रथम दायित्व भी है कि वे राज्य में किसी अस्थायित्व को जन्म न लेने दें।

अरस्तू संविधान को राज्य का जीवन बताता है इसलिए संविधान में होने वाला कोई परिवर्तन क्रांति का सूचक है। संविधान राज्य के पदों के वितरण की व्यवस्था का नाम है अतः अरस्तू के लिए संविधान में होने वाला कोई भी परिवर्तन क्रांति कहा जाएगा। वह चार तरह के परिवर्तनों को दर्शाता है–

(1) जहाँ परिवर्तन संविधान को ही परिवर्तित कर देता है अर्थात् निवर्तमान संविधान के स्थान पर दूसरा संविधान उभर आता है। उदाहरण के लिए राजतंत्रीय संविधान का कुलीनतंत्र के रूप में उद्भव।

(2) जब परिवर्तन संविधान को प्रभावित नहीं करता बल्कि परिवर्तन संवैधानिक पद धारकों के संबंध में होता है।

(3) जहाँ परिवर्तन इस उद्देश्य से प्रेरित होता है कि इससे व्यवस्था में मात्रात्मक या गुणात्मक बदलाव आ जाए अर्थात् किसी वर्गतंत्रीय व्यवस्था को न्यूनाधिक वर्गतंत्रीय बनाना उद्देश्य हो।

(4) जहाँ क्रांति संविधान के किसी भाग को प्रभावित करने हेतु निदेशित हो अथात् जहाँ उद्देश्य कतिपय संवैधानिक या प्रशासकीय पद धारकों को बदलने से प्रेरित हो।

क्रांतियों की विवेचना में अरस्तू क्रांतिकारियों की मनोवृत्तियों को भी व्यक्त करता है। क्रांतिकारी क्रांति हेतु ऐसे मनोविज्ञान से प्रेरित होते हैं कि उनमें यह भावना जन्म लेने लगती है कि उन्हें दूसरों की अपेक्षा लाभ एवं सम्मान कम प्राप्त हो रहा है। अरस्तू इसे 'उद्देश्य के लिए संघर्ष' के रूप में भी देखता है। कभी-कभी अरस्तू क्रांतियों के कारण को अवसर के रूप में भी व्यक्त करता है जो मनुष्यों में उपर्युक्त मनोविकारों या अन्य कारणों से जन्म लेते हैं।

क्रांति के **'सामान्य कारणों'** को बताते हुए अरस्तू असमानता को प्रमुख कारण बताता है। अरस्तू क्रांतियों के कारणों को समझने के लिए क्रांतिकारियों की भावनाओं, उद्देश्यों या

राजनीतिक गड़बड़ियों को पहचानने की सलाह भी देता है। असमानता को वह संख्यात्मक और आनुपातिक दोनों रूपों में दर्शाता है। परन्तु क्रांतियों के 'सामान्य कारणों' को बताते हुए वह व्यक्तिगत लाभ की आकांक्षा, श्रेष्ठता के प्रति मोह, भय, घृणा, राज्य के किसी भाग में असमानुपातिक वृद्धि, निर्वाचन षड्यन्त्र, प्रशासनिक लापरवाही अथवा प्रशासकों द्वारा जनसामान्य के मामलों की अनदेखी या फिर सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था में न्यायोचितता के नियम के उल्लंघन को दर्शाता है। वह क्रांति के कारणों में बहुत छोटे कारणों को भी ध्यान में रखता है। उदाहरण के लिए प्रेम-प्रसंग अथवा विवाह।

क्रांति के उक्त 'सामान्य कारणों' से भिन्न अरस्तू क्रांति के '**विशेष कारणों**' को विभिन्न व्यवस्थाओं के अनुभवात्मक अध्ययन के आधार पर विश्लेषित करता है। यद्यपि क्रांतियों के विशिष्ट कारणों का अरस्तू का विश्लेषण उसके पर्यवेक्षण, तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक पद्धति के प्रयोग द्वारा तत्कालीन यूनानी राज़नीति के संबंध में दर्शाया गया था तो भी ये कारण हर युग में उतने ही वैध कारणों के रूप में देखे जा सकते हैं।

अरस्तू प्रजातंत्र में क्रांति का कारण जननेताओं द्वारा अपनी स्वतंत्रता का लाभ उठाकर अनर्गल प्रचार को बताता है। प्रायः व्यक्तिगत आक्षेप, झूठे दोषारोपण या धनिकों को एक वर्ग की तरह बताकर ये जननेता अपनी स्वतंत्रता का अनुचित प्रयोग करते हैं। वर्गतंत्रों में क्रान्ति या तो वर्गतंत्र के अत्याचारी एवं आततायी शासकों को अपदस्थ करके या वर्गतंत्र में आंतरिक कलह के कारण जन्म ले सकती है। कुलीनतंत्र में शासन थोड़े से लोगों के हाथों में होता है। ये थोड़े से लोग सद्गुणी होते हैं परन्तु यदि अधिकाधिक संख्या में लोग शासकीय सद्गुणों का दावा करने लगें तो क्रांति जन्म लेती है। कुलीनतंत्रों में क्रांतियां इसके तत्वों क्रमशः संपत्ति, संख्या अथवा योग्यता में परिवर्तन से भी हो सकती हैं। अरस्तू संवैधानिक जनतंत्र में भी क्रांति की संभावना को देखता है। इस व्यवस्था में मध्यम वर्ग के पास अधिकतम शासकीय पद होते हैं और पद-धारण में संपत्ति भी एक योग्यता होती है। कालान्तर में राज्य समृद्धि बढ़ने पर यदि संपत्ति का विस्तार हो जाए तो पदों की प्राप्ति का दावा अधिकाधिक लोग करने लगेंगे। ऐसे में क्रांति होगी और यह व्यवस्था प्रजातंत्र में परिणत हो जाएगी। क्रांतियों के होने की सर्वाधिक संभावना और जैसा कि होना भी चाहिए तब होती है जब जनता का बहुमत उच्च उत्साही हो जाए और उनमें यह विश्वास जन्म ले कि वे भी उतने ही अच्छे हैं जितने कि उनके शासक। राजतंत्रों में क्रांति या तो जनता के प्रति राजाओं के अत्याचारी आचरण से उत्पन्न होती है या फिर राजा द्वारा योग्य व्यक्तियों के प्रति असम्मानपूर्ण व्यवहार के कारण। भद्रपुरुषों में अपनी प्रतिष्ठा को बनाए रखने या यश की इच्छा अथवा भय की भावना या राजा के विरुद्ध घृणा उन्हें विद्रोही बनाती है। अत्याचारीतंत्र को या तो पड़ोसी राज्य द्वारा नष्ट किया जा सकता है या फिर राज्य में वैदेशिक प्रभाव क्रांति उत्पन्न करने में सहायता कर सकता है अथवा राज्य के अन्दर विरोधी तत्वों की प्रचुरता क्रान्ति का कारण बन सकती है।

उपचार :

जिस स्पष्टता एवं विवेकपूर्ण ढंग से अरस्तू क्रांतियों के कारणों को बताता है उसी रूप में उसके उपचार भी सुझाता है। अरस्तू द्वारा विवेचित क्रांतियों को रोकने के उपचार उसके द्वारा वर्णित कारणों से संगति रखते हैं। क्योंकि क्रांतियों का कारण वह सामान्यतः असमानता को मानता है इसलिए अपने उपचारों में भी वह असमानता के निराकरण का उद्देश्य प्रमुख मानता है। यदि कानून का उद्देश्य समानता को बनाए रखना नहीं होगा तो कानून विहीनता फैल जाएगी और क्रांतियों के जन्म लेने की संभावना बनी रहेगी। अरस्तू यद्यपि अत्याचारी तंत्र को

निकृष्टतम संविधान मानता है तो भी एक यथार्थवादी की तरह ऐसे शासन के स्थायित्व के साधनों का क्रांति के उपचार स्वरूप विस्तृत विवेचन करता है। उसकी अभिरुचि मुख्य रूप से वर्गतंत्र और प्रजातंत्र में थी और इन्हीं का मध्यमान संवैधानिक जनतंत्र (पॉलिटी) उसके द्वारा स्वीकृत सर्वोत्तम व्यावहारिक संविधान था। अतः इन्हीं संदर्भों में वह क्रांति के उपचार बताता है। क्रांतियों को रोकने के लिए जिन साधनों का प्रतिपादन वह करता है संभवतः उससे अधिक निश्चयात्मक साधन बता पाना एक दुष्कर कार्य है। संक्षेप में उसके द्वारा दर्शाए गए उपचार निम्नांकित बिन्दुओं में रखे जा सकते हैं :

(1) राज्य के समस्त नागरिकों में कानून के अनुपालन की भावना का विकास किया जाना चाहिए।

(2) संविधान के कार्यान्वयन में विविध वर्गों के मध्य संतुलन एवं सहयोग प्राप्त किया जाना चाहिए।

(3) राज्य द्वारा पद, प्रतिष्ठा, सम्मान अथवा पुरस्कारों का न्यायपूर्ण वितरण हो। इस कार्य हेतु न सिर्फ असमानता को तिरस्कृत किया जाए बल्कि यह भी ध्यान में रखा जाए कि उच्च पदों का कार्यकाल यथासंभव कम हो ताकि अधिकतम व्यक्तियों को नियुक्ति के अवसर प्राप्त हो सकें।

(4) जनता में देशभक्ति की भावना का संचार किया जाय।

(5) राज्य के कानून तथा आचारण दोनों ही दृष्टियों से प्रमुख नागरिकों के मध्य कलह एवं विद्रोह उत्पन्न होने से रोकना।

(6) राज्य के पदाधिकारियों की संपत्तियों का समय-समय पर आकलन।

(7) प्रशासकों को ऐसे अवसर प्राप्त न होने दिए जाएं कि वे अपने पद का दुरुपयोग अपने व्यक्तिगत लाभ हेतु करने लगें।

(8) राज्य में आनुपातिक समानता की स्थापना किए जाने का यथासंभव प्रयास किया जाय।

(9) राज्य की अर्थव्यवस्था में संतुलन बनाए रखना चाहिए। इसका उद्देश्य नागरिकों तथा नागरिक वर्गों द्वारा सम्पत्ति अर्जन से उत्पन्न असमानता को स्थापित किए जाने से रोकना है। इसका यह भी अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना वास्तविक प्राप्य अवश्य प्राप्त कर सके।

(10) वैधानिक जनतंत्र तथा मध्यम श्रेणी के नागिरकों का शासन स्थापित किए जाने का प्रयास करना।

(11) शासन व्यवस्था के अनुरूप शिक्षा की व्यापक व्यवस्था की जानी चाहिए।

इनके अतिरिक्त अरस्तू राजतंत्र में राजाओं को क्रांति से बचने के लिए उदारता की नीति अपनाने का सुझाव देता है। वह अत्याचारी शासक को सलाह देता है कि क्रांति से बचने के लिए उसे अपने प्रजाजनों को सदैव कार्यरत रखना चाहिए। उसे गुप्तचर व्यवस्था द्वारा सूचनाएं प्राप्त करते रहना चाहिए। अपने आचरण में उसे सैनिक गुणों का प्रदर्शन करना चाहिए। राज्य में भय का वातावरण बनाए रखना चाहिए और नागरिकों को पुरस्कार तो स्वयं दे पर दण्डित दूसरों से करवाए। एक अत्याचारी शासक को दीर्घ अवधि तक शासन में बने रहने की सबसे अच्छी सलाह अरस्तू यह देता है कि उसका आचरण राजतांत्रिक हो, उसका प्रशासन कुशल हो, उसमें आत्मनियंत्रण हो और वह श्रेष्ठों का सम्मान करे तथा अधिकाधिक सामाजिक वर्गों का सहयोग प्राप्त करे।

2.11 सारांश

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में अरस्तू की गणना एक अत्यधिक प्रभावशाली विचारक के रूप में की जाती है। वास्तव में अरस्तू के बिना राजनीति के विज्ञान के विषय में सोच पाना असंभव है। उसके द्वारा राजनीतिक विषयों के विवेचन हेतु अपनायी गयी वैज्ञानिक पद्धति के अभाव में हम सिर्फ राजनीतिक दर्शन का अध्ययन कर रहे होते न कि राजनीति विज्ञान का। उसे सही अर्थों में राजनीति विज्ञान का जनक कहा गया है। और मनुष्य की सामाजिक प्रकृति, राज्य की प्राकृतिक उत्पत्ति, विधि का शासन, क्रांतियों, संविधानवाद, सर्वोच्च सत्ता का विचार तथा पर्यवेक्षणात्मक, तुलनात्मक, अनुभवात्मक एवं विश्लेषणात्मक पद्धतियों के प्रथम विवेचनकर्ता के रूप में वह आज तक राजनीतिक-विचारकों तथा राजनीति-शास्त्रियों का प्रेरणास्रोत बना हुआ है। वह विज्ञान का त्रिवर्गीय विभाजन करता है जिन्हें वह क्रमशः सैद्धान्तिक (इसमें गणित, बीजगणित, रेखागणित, भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान सम्मिलित हैं) व्यावहारिक (इसमें नीतिशास्त्र एवं राजनीति जैसे सामाजिक विज्ञान सम्मिलित हैं) तथा उत्पादनात्मक (इसमें निर्माण, शिल्पकला, चित्रकला आदि सम्मिलित हैं) कहता है। राजनीति को वह 'सर्वोच्च विज्ञान' कहता है क्योंकि राजनीति सभी समुदायों में सर्वश्रेष्ठ समुदाय 'राज्य' के विवेचन से संबंधित है। वह 'आगमनात्मक पद्धति' का अनुगामी है। जैसा कि एक सच्चे विज्ञानी को होना चाहिए। यह पद्धति अपने निष्कर्षों को भावात्मक विचारों से नहीं बल्कि निवर्तमान परिस्थितियों से निकालने की पद्धति है अतः 'विशेष से सामान्य' की ओर चलने की पद्धति है। इसीलिए वह वस्तुओं को उस रूप में देखता है जैसी कि वे हैं न कि उस रूप में जैसा कि उन्हें होना चाहिए। इस कारण वह सर्वाधिक यथार्थवादी और अनुभवात्मक विचारक हो जाता है। इसके साथ ही वह अपने गुरू प्लेटो के आदर्श राज्य के विवेचन की अव्यावहारिकता को अनुभव करता हुआ एक ऐसी व्यावहारिक राज़नीति (अथवा दर्शन) का विवेचन करता है जो अनुभवात्मक पद्धति पर आधारित है। उसके ग्रंथ 'राजनीति' को सही अर्थों में शासन के विज्ञान एवं कला पर एक प्रबन्ध के रूप में देखा जाता है। वह निवर्तमान उपलब्ध ज्ञान का क्रमबद्धीकरण करता है न कि नए दर्शन का प्रतिपादन। शासनों के वर्गीकरण और क्रांतियों के कारणों को दर्शाते हुए वह तुलनात्मक तथा विश्लेषणात्मक उपागम का प्रयोग करता है।

राजनीतिक चिंतन को उसके अनुदाय का ऑकलन हम निम्नलिखित बिन्दुओं में कर सकते हैं–

(1) अरस्तू में यूनानीवाद– वह एक पक्का यूनानी था। भले ही आधुनिक समय में प्राचीन यूनानी विचारों की प्रासंगिकता बहुत महत्त्वपूर्ण न रह गयी हो तो भी वह अपने समय की संस्थाओं के तार्किकीकरण का प्रयास करता है।

(2) अरस्तू में सार्वभौमिकतावाद– अरस्तू के चिंतन में सार्वभौम महत्त्व के अनेक सिद्धांतों को देखा जा सकता है। आज के राजनीति विज्ञान के अंतर्गत अरस्तू के अनेकों सिद्धातों को देखा जा सकता है जो मानव-प्रकृति के विषय में अंतिम सत्य को दर्शाते हैं। ये विचार ही राजनीति विज्ञान को उसके महत्त्वपूर्ण अनुदाय हैं जिन्हें निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है–

(i) कानून के शासन की अवधारणा और एक संवैधानिक राज्य की अवधारणा अरस्तू की सर्वाधिक महान विरासत है। आधुनिक समय में सभी प्रजातांत्रिक राज्यों की ये प्रमुख विशेषताएं हैं। इस क्रम में वह एक्वीनास, हूकर और लॉक को प्रभावित करता है तथा सभी संविधानवादियों का जनक हो जाता है।

(ii) राज्य की उत्पत्ति एवं प्रकृति संबंधी अरस्तू की व्याख्या और इस संबंध में दिए गए उसके वक्तव्य राजनीति विज्ञानियों के लिए स्वयं सिद्ध हैं।

(iii) राजनीति एवं राजनीति विज्ञान की अंतिम समस्या स्वतंत्रता एवं सत्ता के मध्य समाधान का अरस्तू सर्वाधिक विश्वसनीय समाधान प्रस्तुत करता है। वह ऐसी पूर्ण स्वतंत्रता का पक्षधर नहीं है जो व्यक्ति द्वारा स्वच्छन्दता की सीमा तक अपने अधिकारों के प्रयोग को बताती है। उसके द्वारा बतायी गयी स्वतंत्रता की परिभाषा तो न्यायोचित एवं उचित कानूनों के अनुपालन तथा एक निःस्वार्थी संवैधानिक सत्ता के अधीन रहने में ही है। वह जिस कानून की सर्वोच्चता को बताता है उसे 'वासनारहित विवेक' मानता है।

(iv) राज्य के सकारात्मक कार्यों का उसका विवेचन आधुनिक युग के विचारों को आकर्षित करता है। वह राज्य के प्रमुख कार्य में मनुष्य के नैतिक विकास को महत्त्वपूर्ण मानता है।

(v) अरस्तू जनमत के मूल्य को महत्त्वपूर्ण बताता है। जैसा कि सर्वविदित है, जनमत पर आधारित कोई शासन ही स्थायी हो सकता है इसीलिए वह लोकप्रिय सर्वोच्चता, जिसे वह जनमानस के सद्गुणों तथा उनकी राजनीतिक योग्यता का कुल योग कहता है, के विचार का प्रतिपादक है।

(vi) वैयक्तिक सम्पत्ति के विचार का समर्थन और इस हेतु दिए गए उसके तर्क भी पर्याप्त संतोषजनक प्रतीत होते हैं।

(vii) शासनिक कार्यों का उसका विभाजन, जिन्हें वह क्रमशः विचार विमर्शात्मक, प्रशासनिक एवं न्यायिक कहता है, माण्टेस्क्यू के माध्यम से शक्ति-पृथक्करण सिद्धांत के आधारभूत कहे जा सकते हैं।

(viii) वह अनुदारवाद का भी जनक है।

(ix) वह व्यवहारवादियों का भी जनक है।

(x) 'मध्यम वर्ग' को किसी समाज में एक संतुलनकर्ता शक्ति के रूप में दर्शाना ऐतिहासिक आधार पर एक उचित विचार कहा जा सकता है। इतिहास गवाह है कि ऐसे ही शासन अधिक स्थायी एवं दीर्घकालिक साबित हुए।

(xi) वह उपयोगितावादियों एवं व्यक्तिवादियों को भी प्रेरित करता है।

(xii) वह सार्वभौमरूप से महत्त्वपूर्ण इस अर्थ में है कि वह राजनीतिक संगठन एवं गतिविधियों को आर्थिक प्रभावों के संदर्भ में विचारने की वकालत करता है।

(3) अरस्तू का प्रभाव– यद्यपि अरस्तू के बाद लगभग एक हजार वर्षों तक उसके विचार प्रभावशाली नहीं रहे। इसका कारण नगर राज्यों के स्थान पर बड़े साम्राज्यों का अभ्युदय हो जाना था परन्तु तेरहवीं शताब्दी में अरस्तू का पुनर्जीवन उसकी रचना 'पॉलिटिक्स' के अरेबिक तथा लैटिन भाषा में अनुवाद के साथ देखा जा सकता है। अब उसे "ज्ञानवानों में सर्वश्रेष्ठ" कहा गया और राजनीतिक विचारकों की एक लंबी श्रृंखला उसके विचारों से प्रभावित दिखायी पड़ती है। वह टॉमस एक्वीनास को प्रभावित करता है। बाद में मार्सीलियो की रचनाओं में अरस्तू का प्रभाव देखा जा सकता है। मैकियावेली और बोदाँ भी उससे प्रभावित हैं। हूबर, लॉक एवं बर्क के विचारों में उसका प्रभाव है। मांटेस्क्यू, हैरिंग्टन और हीगल पर उसके प्रभाव को देखा जा सकता है। इन सभी दार्शनिकों पर अरस्तू का प्रभाव भिन्न-भिन्न रूपों में उनके विचारों के अध्ययन से समझा जा सकता है। इसीलिए उसकी रचना 'पालिटिक्स' राजनीति पर एक सर्वाधिक उत्कृष्ट रचना है, इसलिए हम जैलर के इस विचार से सहमत हैं कि 'उसकी रचना पालिटिक्स पुरातन काल से प्राप्त एक समृद्ध खजाना है तथा राजनीति विज्ञान को उसका महानतम अनुदाय है।'

2.12 उपयोगी पुस्तकें

1.	एम0डब्ल्यू0 फोस्टर	:	मास्टर्स ऑफ पालिटिकल थाट वाल्यूम 1
2.	डब्ल्यू0ए0 डनिंग	:	पालिटिकल थ्योरीस एनसियेंट एण्ड मेडीवल
3.	सी0एच0 मैकिलवेन	:	ग्रोथ ऑफ पालिटिकल थॉट इन द वेस्ट
4.	एरिस्टोटल	:	पालिटिक्स
5.	ए0ई0 टेलर	:	एरिस्टोटल्स थ्योरी
6.	अर्नेस्ट बार्कर	:	पालिटिकल थाट आफ प्लेटो एण्ड एरिस्टोटल

2.13 सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए :

(i) मनुष्य स्वभावतः एक राजनीतिक प्राणी है।

(ii) राज्य व्यक्ति से पूर्व है।

(iii) अरस्तू के अनुसार राज्य का उद्देश्य क्या है ?

(iv) अरस्तू की नागरिकता की अवधारणा

(v) अरस्तू का कानून संबंधी विचार

(vi) वितरणात्मक न्याय की अरस्तू की अवधारणा

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(i) राज्य की उत्पत्ति, प्रकृति तथा उद्देश्य के संबंध में अरस्तू के विचारों को समझाइये।

(ii) अरस्तू के संविधानों के वर्गीकरण को दर्शाइये, सर्वोत्तम व्यावहारिक संविधान की उसकी क्या अवधारणा है?

(iii) दास प्रथा के औचित्य के बारे में अरस्तू के विचारों की आलोचना कीजिए।

(iv) अरस्तू के अनुसार क्रांतियां क्यों होती हैं ? क्रांतियों से बचने हेतु वह क्या उपाय बताता है।

(v) अरस्तू के आदर्श राज्य के विचार की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

(vi) अरस्तू को राजनीति विज्ञान का जनक क्यों कहा जाता है ? राजनीतिक चिंतन को अरस्तू का क्या अनुदाय है ।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) निम्नलिखित में से किसे राजनीति विज्ञान का जनक कहा जाता है?

(अ) सुकरात (ब) प्लेटो (स) अरस्तू (द) सिसरो

(2) "अरस्तू राज्य को परिवारों तथा गाँवों का समूह बताता है तथा इसका उद्देश्य एक पूर्ण एवम् आत्म निर्भर जीवन की प्राप्ति को बताता है",इस कथन के संदर्भ में निम्नलिखित में से कौन सा निष्कर्ष सही नहीं है?

(अ) राज्य प्राकृतिक है।

(ब) राज्य मनुष्य से है।

(स) मनुष्य स्वभावतः एक राजनीतिक प्राणी है।

(द) राज्य की उत्पत्ति सामाजिक समझौते द्वारा हुई है।

(3) निम्नलिखित में से कौन एक अरस्तु से अनुदाय के रूप में नहीं माना जा सकता–

(अ) संविधानवाद (ब) विधि का शासन

(स) राज्य की सावयव प्रकृति (द) राज्य का दैवीय उत्पत्ति का सिद्धान्त

(4) अरस्तु के संविधानों के वर्गीकरण में प्रजातंत्र–

(अ) राज्य का विशुद्ध रूप है। (ब) राज्य का विकृत रूप है।

(स) प्रजातंत्र आदर्श संविधान है। (द) प्रजातंत्र का कोई जिक्र नहीं है।

2.14 प्रश्नोत्तर

1. (स) 2.(द) 3. (द) 4. (ब)

इकाई– 3 : उत्तर अरस्तू कालीन विचारधाराएं

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 इपीक्यूरियन विचारधारा

3.3 इपीक्यूरियनवाद का दर्शन

3.4 सिनिक संप्रदाय

3.5 स्टाइक विचारधारा

3.6 स्टाइक विचारधारा में संशोधन

3.7 राजनीतिक चिंतन पर प्रभाव

3.8 सारांश

3.9 उपयोगी पुस्तकें

3.10 सम्बन्धित प्रश्न

3.11 प्रश्नोत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

- इपीक्यूरियन दर्शन की व्याख्या कर सकेंगे।
- सिनिक संप्रदाय और स्टॉइक विचारधारा का विश्लेषण कर सकेंगे।
- स्टॉइक विचारधारा में संशोधन की व्याख्या कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

"निश्चित रूप से प्लेटो तथा अरस्तू को समझ पाना मुश्किल था, एक अर्थ में वे अति परंपरावादी भी थे, इसलिए नई परिस्थितियों की लोकप्रिय मांगों की संतुष्टि उनके विचारों के माध्यम से संभव नहीं थी, यही कारण था कि यद्यपि उनकी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रही, नये काल का दर्शन दूसरों के द्वारा प्रदान किया गया जो कि प्लेटो तथा अरस्तू से पूर्णतः भिन्न था।"

ईसा पूर्व 322 ई0 में अरस्तू की मृत्यु के साथ ही एक युग की समाप्ति और एक नये युग का प्रारंभ हो जाता है। रैक्स वार्नर के मत से "अरस्तू की मृत्यु को एक अत्यधिक सामाजिक तथा राजनीतिक गड़बड़ियों के सूचक के प्रारंभ के रूप में देखा जाना चाहिए, जो कि ऐसा प्रतीत होता है कि अरस्तू द्वारा अनुमानित नहीं की जा सकीं पर जिन्होंने राजनीतिक दर्शन की दिशा को क्रांतिकारी रूप में परिवर्तित किया।" अरस्तू की मृत्यु के बाद जैसा कि ए0आर0एम0 मरे लिखते हैं "नगर राज्य राजनीतिक जीवन के केन्द्र के रूप में समाप्त हो गये और ये मैसीडोन के फिलिप तथा सिकन्दर महान द्वारा स्थापित विशाल सम्राज्यों की छोटी इकाईयां मात्र रह गये और नगर राज्यों के जीवन में आने वाले इसी बदलाव का राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में अत्यन्त दूरगामी परिणाम हुआ। यह स्वाभाविक ही था कि

नगर राज्यों की स्वतंत्रता समाप्त हो चुकी थी, वे विशाल साम्राज्यों की अपंग, लघु इकाइयाँ मात्र रह गये थे, इसीलिए इनके नागरिकों को ऐसा प्रतीत होने लगा कि अपने राजनीतिक भविष्य के बारे में उनकी भूमिका नगण्य हो गई है। इसी कारण से वे अपने व्यक्तिगत जीवन के इर्द-गिर्द अपनी खुशियों को तलाशने लगे।" इन परिस्थितियों में यह अपरिहार्य हो गया था कि तत्काल एक ऐसा आंदोलन जन्म लेता जो प्लेटो अरस्तू की उस परंपरा से भिन्न होता जो अति तार्किक थे, अति वैचारिक थे और जो एक लोकप्रिय आधार प्रदान कर सकने में असमर्थ थे। एक व्यावहारिक और लोकप्रिय आंदोलन को प्रदान करने का कार्य क्रमशः इपीक्यूरियन, सिनिक तथा स्टाइक सिद्धान्तों द्वारा किया गया। अतः पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उत्तर अरस्तू काल का ज्ञान इस इकाई के अंतर्गत क्रमशः इन्हीं विचारधाराओं के रूप में किया जा रहा है।

3.2 इपीक्यूरियन विचारधारा

इपीक्यूरियनवाद को एक ही साथ एक मत, सिद्धान्त, पंथ या दर्शन के रूप में देखा जा सकता है। इसका संस्थापक इपीक्यूरियस (341-270 B.C.) था। वह एक स्कूल अध्यापक का पुत्र था। उसे सभी तरह की शिक्षाओं से घृणा थी। अपने अनुयायियों के लिए उसकी सलाह थी कि "अपनी युवावस्था को आशीर्वाद दो, अपनी ही नौका में रहो तथा संस्कृति के प्रत्येक रूप से दूर रहो।" लगभग 36 वर्षों तक वह अपने प्रसिद्ध 'स्कूल आफ दि गार्डन' में, जो कि एथेंस में था, अपने अनुयायियों का प्रिय तथा स्नेहभाजन बना रहा। उसके अनुयायियों में पुरुष तथा महिलाएं दोनों ही थे। वस्तुतः वह पहला व्यक्ति था जिसनें अपने दर्शन के विद्यालय में महिलाओं के प्रवेश की अनुमति दी थी। यद्यपि इपीक्यूरियस के द्वारा रचित सभी रचनाएं लुप्त हो चुकी हैं पर उसके सिद्धान्तों का एक सही वर्णन ल्यूक्रेटियस द्वारा लिखी कविता 'ऑन नेचर' से लिया जा सकता है। ल्यूक्रेटियस एक रोमन कवि था तथा जूलियस सीजर का समकालीन था। ल्यूक्रेटियस के मत से इपीक्यूरियस मानव जाति का सबसे बड़ा उपकारक था और यह इसलिए कि उसने मनुष्य को भय से मुक्त किया - वह भय जो चाहे दैवीय हो अथवा इस विचार का कि मृत्यु के बाद क्या होता है ? उसने यह काम अत्यन्त सरल अंदाज में किया तथा किसी भी तरह की शंका या असमंजस की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी। उसके मत से सभी वस्तुओं की प्रकृति ज्ञात होती है तथा इसे किसी भी ऐसे व्यक्ति को समझाया जा सकता है जो इतना समझदार हो कि सभी तर्क सुन सकता हो। एक विद्वान ने उसे सर्वाधिक सुसंगत विचारक के रूप में बताया है तथा उसका वर्णन 'सामान्य बुद्धि के अग्रदूत' के रूप में किया है। वस्तुतः इपीक्यूरियस के सच्चे पथ प्रदर्शक के रूप में प्राचीन यूनानी विचारक डेमाक्राइटस को देखा जाना चाहिए जिसका नैतिकता का सिद्धान्त प्रफुल्लता का था। परन्तु इपीक्यूरियस नैतिकता का अपना वैकल्पिक सिद्धान्त प्रस्तुत करता है और इस तरह वह दो दार्शनिक व्यवस्थाओं में से एक को स्थापित करता है जो कि शिक्षित मस्तिष्क को उसके समय से ईसाईयत के अभ्युदय तक निर्धारित करता रहा।

3.3 इपीक्यूरियनवाद का दर्शन

इपीक्यूरियनवादी दर्शन अपनी प्रकृति से अतिव्यक्तिवादी है। इपीक्यूरियस ने मानवीय सुख तथा सद्गुण को राजनीतिक परिवेश से स्वतंत्र रखना चाहा, इसीलिए वह यह दलील देता था कि 'व्यक्ति की भलाई के एक साधन के रूप में राज्य की अवधारणा कदापि उपयुक्त नहीं है और यह कि एक विवेकशील मानव को अपने ही संसाधनों से आदर्श जीवन की परिस्थितियों को ढूँढ़ना चाहिए।' इपीक्यूरियस तथा उसके अनुयायी राज्य तथा समाज को अवश्य अपने

संज्ञान में रखते थे परन्तु मात्र यह जताने के लिए कि वे इनके प्रति कितने उदासीन थे। उनके द्वारा सामाजिक तथा कानूनी संबंधों की व्याख्या इस रूप में की गई कि वे सिर्फ व्यक्ति के स्वहित पर आधारित हैं। इनके पीछे व्यक्ति की अपनी क्षति से सुरक्षा की इच्छा मात्र रहती है। कानून के प्रति आज्ञाकारिता तभी तक विवेकपूर्ण है जब तक कि वह (कानून) इस उद्देश्य की अभिवृद्धि करे। अमूर्त न्याय का कोई अस्तित्व नहीं है, यह तो पारस्परिक लाभ के लिए किया गया कोई समझौता है। इपीक्यूरियनवादी यह प्रश्न करते थे कि 'एक विवेकपूर्ण जीवन की कुंजी क्या है? और इसका उत्तर देते हुए कहते थे कि ऐसा जीवन सभी बाधाओं और कष्टों से मुक्ति का जीवन है। इसीलिए उनके विचार में एक बुद्धिमान व्यक्ति को राजनीतिक जीवन से तब तक कोई सरोकार नहीं होना चाहिए जब तक कि यह उसके हितों के लिए अत्यावश्यक न हो। राजनीतिक जीवन एक आदर्श मानवीय अस्तित्व हेतु एक बोझ है।

इपीक्यूरियनवाद के दर्शन को निम्नांकित बिन्दुओं में रखा जा सकता है–

(1) समस्त मानवीय क्रियाकलापों का उद्देश्य सुख की प्राप्ति है। यद्यपि सुख प्राप्ति की व्याख्या उनके द्वारा नकारात्मक रूप में विवेचित की गई है क्योंकि उनके अनुसार सुख प्राप्ति समस्त दुखों, चिन्ताओं तथा उत्सुकताओं से मुक्ति में निहित है।

(2) इपीक्यूरियन यह मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में आत्मनिर्भर होता है। अतः उसे राज्य तथा ऐसे ही किन्हीं संवासों की आवश्यकता अपने सुख की प्राप्ति के लिए नहीं है। वे तो यहाँ तक मानते हैं कि व्यक्ति को परिवार, समुदाय तथा राज्य जैसे समुदायों से दूर ही रहना चाहिए क्योंकि वे व्यक्ति के सुख के मार्ग में बाधक होते हैं।

(3) मनुष्य आवश्यक रूप से स्वार्थी होता है, वह प्रकृति से ही अपने और सिर्फ अपने सुख की चिन्ता करता है, यहाँ तक कि दूसरों के सुख की कीमत पर भी। कभी-कभी व्यक्तियों के पारस्परिक हितों में टकराहट होती है, इसलिये ऐसे संघर्षों के समाधान हेतु राज्य आवश्यक हो जाता है।

(4) जैसा कि सैबाइन ने लिखा है कि इपीक्यूरियनवादी दर्शन का दार्शनिक आधार उनका पक्का भौतिकवादी होना है जिसे उन्होंने अपने पूर्ववर्ती दर्शन से ग्रहण किया। सुखवाद की इपीक्यूरियनवादी अवधारणा भौतिक परिवेश से ली गई है इसमें इस जीवन के बाद के जीवन का लेशमात्र भी अंश नहीं है।

(5) राज्य की उत्पत्ति एक समझौते से हुई है अथवा राज्य व्यक्तियों के मध्य एक निहित सहमति का प्रतिफल है जहाँ पक्षकार परस्पर दूसरों को हानि न पहुँचाने तथा हानि न सहने का वचन लेते हैं। व्यक्तियों के मध्य इस प्रभाव का एक कार्यगत समझौता है कि वे परस्पर एक दूसरे के अधिकारों का सम्मान करेंगे, इस समझौते की शर्तों को मानने में ही न्याय निहित है तथा इसका हनन अन्याय होगा। एक बुद्धिमान व्यक्ति के लिए न्यायप्रिय होना ही व्यावहारिकता है न कि अन्यायी होना और ऐसा इसलिए भी क्योंकि पारस्परिक सुरक्षा तथा अन्यायी को दण्ड देने के लिए ही कानून तथा सरकार अस्तित्व में आये। इस तरह उनके लिए सरकार का आधार व्यावहारिकता है न कि नैतिकता।

(6) यद्यपि इपीक्यूरियनवादी राजनीतिक संस्थाओं के प्रति सामान्यतः उदासीनता की भावना का प्रदर्शन करते हैं तथापि उनके मत से राजतंत्र शासन प्रणाली का सर्वोत्तम रूप है क्योंकि यह सर्वशक्तिशाली तथा सर्वाधिक सुरक्षित सरकार है।

(7) इपीक्यूरियनवाद इस विचार को मानता है कि ईश्वर को मानवीय मामलों से कोई

सरोकार नहीं है। ईश्वर या ऐसी ही किसी शक्ति का विचार एक सपना है और अंधविश्वासिता भी। ये लोग दैवी संसार के विचार के घोर विरोधी थे।

योगदान– राजनीतिक चिन्तन के इतिहास को इपीक्यूरियनवाद कतिपय विशिष्ट योगदान करता है जिन्हें संक्षेप में निम्नांकित बिन्दुओं में रखा जा सकता है :

(1) इपीक्यूरियन विचारधारा को सामाजिक समझौता सिद्धान्तकारों के पूर्वगामियों के रूप में देखा जा सकता है। सोलहवीं शताब्दी में हॉब्स के विचारों में सामाजिक समझौता सिद्धान्त का जन्म होता है और लगभग दो शताब्दियों तक यह राज्य की उत्पत्ति के एक सर्वाधिक तार्किक सिद्धान्त के रूप में अपना स्थान बना लेता है।

(2) उन्नीसवीं शताब्दी में जन्मे उपयोगितावादी सिद्धान्त को भी आधार प्रदान करने में इपीक्यूरियनवाद की भूमिका रही है। उपयोगितावादी विचार कि समस्त मानवीय क्रियाओं का उद्देश्य सुखवाद है, इपीक्यूरियनवाद की ही सीख है। व्यक्ति द्वारा राज्य के आदेशों के पालन का दायित्व तभी तक है जब तक कि राज्य व्यक्ति के सुख को सुनिश्चित करे, इस उपयोगितावादी विचार में इपीक्यूरियनों की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है।

(3) बाद के युगों के समस्त भौतिकवादी विचार को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में इपीक्यूरियनवाद प्रभावित करता है।

(4) एक और महत्त्वपूर्ण योगदान जिसे इपीक्यूरियनवाद के साथ जोड़ा जा सकता है यह है कि यह व्यक्तिवाद तथा व्यक्तिवादी विचारधारा का भी पूर्वगामी है।

यह बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि इपीक्यूरियनवाद का तत्काल राजनीतिक विचारों के विकास पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। कई शताब्दियों बाद हॉब्स तथा बैंथम के सिद्धान्तों में ये विचार पुनर्जीवित हुए।

3.4 सिनिक संप्रदाय (Cynic School)

उत्तर अरस्तू काल में यूनान में सिनिक संप्रदाय के कुछ उपदेशकों का अभ्युदय हुआ। इस संप्रदाय के संस्थापक के रूप में एन्टिस्टनीज (Anisthenes) का नाम लिया जाता है। इसके अन्य समर्थकों में डायोजिनीज, क्रेटीज व उसकी पत्नी हिप्पार्किया शामिल थे। ये सभी एक तरह के संन्यासी जीवन को जीने वाले थे और भीख मांगकर अपनी आजीविका चलाते थे। इनकी शिक्षाओं में पलायनवाद स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। सिनिक संप्रदाय ग्रीक नगर राज्यों की सामाजिक वर्गगत संरचना का विरोध करता था। उन्होंने मनुष्य के लिए किसी भी प्रकार की सम्पत्ति का विरोध किया। ये लोग मुख्यतः दरिद्रों को यह उपदेश देने का उद्देश्य रखते थे कि वे सांसारिक सुख-भोग, आकांक्षाओं आदि की तृप्ति के वशीभूत न हों। यही कारण है कि सैबाइन उन्हें सर्वहारा वर्ग के दार्शनिकों का प्रथम उदाहरण कहता है।

सिनिक शिक्षाओं का सार यह है कि एक बुद्धिमान व्यक्ति को पूर्णतः आत्मनिर्भर होना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य को संपत्ति, परिवार, वैवाहिक जीवन, नागरिकता, सामाजिक प्रतिष्ठा, ज्ञान आदि से कोई सरोकार नहीं होना चाहिए। सिनिकों के मत से समस्त मानव समान हैं इसलिए नागरिक-अनागरिक, धनी-निर्धन, मालिक-दास आदि के मध्य किसी प्रकार का भेद भाव नहीं है। सिनिक उपदेशक व्यक्ति को एक तपस्वी का जीवन जीने का उपदेश देते थे। कदाचित सिनिक विचारों में अराजकतावाद की स्वप्नलोकी व्यवस्था का आभास होता है जहाँ संपत्ति, परिवार, सरकार आदि का कोई अस्तित्व नहीं है, सभी वस्तुएं सबकी होंगी, बुद्धि नागरिकता की प्रथम आवश्यकता होगी, राज्य व कानून का अस्तित्व नहीं

होगा। इस धारणा में विश्व को एक राजनीतिक समाज मानने का विचार विद्यमान है क्योंकि विश्व के सभी बुद्धिमान व्यक्ति एक एकाकी समाज का निर्माण करते हैं।

सिनिक विचारधारा का स्वयं में कोई महत्व नहीं है क्योंकि इसमें पलायनवादी दृष्टिकोण अपनाकर मनुष्य को सामाजिक जीवन से पृथक् रहने का उपदेश दिया गया है। परन्तु विश्वबन्धुत्व अथवा सार्वभौम विश्व राज्य का कोई विध्यात्मक विचार दृष्टिगोचर नहीं होता। इसमें मानव जीवन प्रारंभिक असभ्य जीवन की अवस्था के रूप में देखा गया प्रतीत होता है। ऐसे में राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप आदि का कोई विवेचन नहीं दिखाई पड़ता है।

3.5 स्टॉइक विचारधारा (STOIC SCHOOL)

निस्संदेह उत्तर अरस्तू काल में यूनान में सर्वाधिक प्रभावशाली विचारधारा स्टोइक विचारधारा रही। स्टाइकवाद में व्यक्तिवाद, सार्वभौमिकतावाद तथा सामाजिक समानतावाद तीनों ही दृष्टिगोचर होते हैं। स्टोइक का शाब्दिक अर्थ एक ऐसे व्यक्तित्व से है जिसमें कष्ट के समय महान उत्साह बना रहता है। स्टोइक विचारधारा मनुष्य को अपनी इच्छा को वशीभूत करने के लिए कष्ट साध्य जीवन जीने की प्रेरणा देती है। यह एक प्रकार की नैतिक विचारधारा है। एक ओर जहाँ इपीक्यूरियन विचारक व्यक्तिगत सुख की महत्ता तथा सामाजिक जीवन से निवृत्ति की शिक्षा देकर शुद्ध व्यक्तिवादी प्रवृत्ति का सृजन कर रहे थे वहीं दूसरी ओर विश्व बंधुत्व तथा सार्वभौम मानवतावाद की प्रवृत्तियां भी जन्म ले रही थीं और इस दिशा में स्टॉइक दर्शन ने पर्याप्त योगदान किया। इस दर्शन का संस्थापक जैनो (zeno) (340-260 B.C.) था, जो एक विचित्र व्यक्तित्व का स्वामी था। कालान्तर में इस संप्रदाय से ग्रीस से बाहर के व्यक्ति भी जुड़ गये। क्राइसिप्पस ने इस विचारधारा को रोम तक पहुँचाया और इसवी सदी के कुछ वर्षों तक यह विचारधारा राजनीतिक चिन्तन को महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित करती रही। रोम के शिक्षित वर्ग के ऊपर इसका काफी प्रभाव रहा। स्टॉइक विचारधारा को दो भागों में रखकर देखा जाना चाहिए–

(1) इसका वह रूप जो प्रारंभिक संस्थापकों जैनो तथा क्राइसिप्पस द्वारा प्रदत्त था। उस समय यह इपीक्यूरियन और सिनिक दर्शन से प्रभावित था स्टॉईकों ने इसे शिष्ट और नैतिक बनाया।

(2) इसका वह संशोधित रूप जो कारनीड्स तथा पैनेटियस के विचारों से मिलता है और जिसकी छाप रोमन विचारकों क्रमशः पालिबियस तथा सिसरो के दर्शन में मिलती है।

स्टॉइक विचारधारा की विशेषताएं

(1) इपीक्यूरियन तथा सिनिक दर्शन से प्रभावित– स्टोइक विचारक इपीक्यूरियनों की इस धारणा का समर्थन करते हैं कि मानव जीवन का उद्देश्य सुख की प्राप्ति है परन्तु इसकी उपलब्धि के साधनों के बारे में वे उनसे भित्र दृष्टिकोण रखते हैं। जहाँ इपीक्यूरियन संयमित, भौतिक तथा बौद्धिक इच्छा की तुष्टि पर बल देते थे वहीं स्टाइक भौतिक इच्छाओं की तुष्टि की अपेक्षा विवेक पर आधारित नैतिक इच्छा की तुष्टि पर बल देते हैं। उनके मत से वास्तविक सुख आनन्द की प्राप्ति में नहीं वरन् सद्गुणों की प्राप्ति में है। अतः मनुष्य को अपने विवेक का अनुसरण करना चाहिए न कि भावनाओं का। प्रारंभ में स्टाइक विचारधारा सिनिक विचारधारा की ही एक शाखा के रूप में थी। जैनो का कहना था कि आदर्श राज्य में मानव एक एकाकी समूह के रूप में जीवन व्यतीत करेगा, जिसमें न उसका परिवार होगा न संपत्ति अथवा कानून, सिनिकों की प्राकृतिक तथा अराजक समाज की यह धारणा मानव जीवन को आरंभिक असभ्य समाज की स्थिति की ओर ले जाती है। अतः यह जीवन के

भद्देपन तथा असभ्यता की सूचक है। इसीलिए जैनो ने इस विचार से विरोध व्यक्त करना प्रारंभ कर दिया।

(2) सार्वभौम रूप से मानवीय समानता की धारणा का समर्थन– स्टाइक विचारक मानव मात्र के मध्य समानता की धारणा का प्रतिपादन करते हैं, उनके विचार से नागरिक, विदेशी, दास या असभ्य के मध्य भेद नहीं माना जाना चाहिए, सभी मानव एक ही ईश्वर की संतान है अतः समान हैं या भाई-भाई जैसे हैं, मानव-मानव के मध्य अंतर मात्र उनमें विवेक या अविवेक के अस्तित्व के कारण है। क्राईसिप्पस का मानना था कि कोई प्राकृतिक दास नहीं होता दास को जीवन भर के लिए किराये पर लिया गया श्रमिक माना जाना चाहिए।

(3) प्राकृतिक कानून की धारणा का सृजन– स्टोइक विचारधारा ईश्वर को सर्वोच्च विवेकशील मानती है। यह एक दैवी ज्वाला के समान है और समस्त विश्व इसी से दीप्तिमान होता है। मानवों की आत्मा में इसी ज्वाला की एक चिनगारी है। अतएव मानव अन्य जीवधारियों की अपेक्षा विवेकशील और श्रेष्ठतर हो गया है। मनुष्य के पास वाणी है और उसे उचित अनुचित का बोध है। इसीलिए वह समाज में रहना आवश्यक समझता है। समस्त मानव समान रूप से विवेकशील हैं। इसलिए वे सब एक विश्व के नागरिक हैं। इस विश्व राज्य का संविधान 'उचित विवेक' (Right Reason) है जो सभी मनुष्यों में उचित अनुचित का बोध कराता है। यही विवेक प्राकृतिक कानून (Law of Nature) है। अतः स्टाइक विचारकों के अनुसार प्राकृतिक कानून सार्वभौम-मानव का विवेक है, जिसे सार्वभौम रूप से मानवों का समर्थन प्राप्त है। सभी विवेकयुक्त मानव समान अधिकार प्राप्त हैं और एक ही प्राकृतिक कानून के अधीन हैं। प्राकृतिक कानून शासक व शासित में भेद नहीं करता। इसकी अनुशस्ति ईश्वरीय है। क्राईसिप्पस ने कहा भी है कि "प्राकृतिक कानून देवताओं तथा मानवों के समस्त कार्यकलापों पर शासन करता है, कौन सी बात सम्माननीय है तथा कौन सी तुच्छ इसका निदेशन, शासन तथा निर्णय वही करता है। यह उचित अनुचित के मध्य भेद करने का मापदण्ड है। उन समस्त प्राणियों के संबंध में जो सामाजिक हैं, कानून ही इस बात का निदेशन करता है कि कौन सा कार्य करणीय है और कौन सा वर्जित", इस तरह स्टाइकों की दृष्टि में 'प्राकृतिक कानून विवेक का वह सामूहिक, सार्वभौम, दैवी तथा श्रेष्ठ नियम है जो एक प्राकृतिक समुदाय में सम्मिलित समस्त प्राणियों के ऊपर शासन करता है।' प्राकृतिक कानून विषयक स्टाइकों की यह धारणा रोमन विधि को एक बड़ी सीमा तक प्रभावित करती है, साथ ही सम्पूर्ण मध्य युग तथा उसके पश्चात् भी 18वीं सदी तक अनेक विचारक प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त को अपने राजनीतिक चिन्तन का केन्द्र बनाते रहे।

(4) प्राकृतिक कानून तथा परम्परागत कानून के मध्य अंतर– स्टाइकों के अनुसार मानव दो तरह के कानूनों के अधीन हैं–

(i) परम्परागत कानून (Customary Law) जो उस समाज से जन्म लेते हैं जिनमें मानव रहते हैं इन्हें राज्य कानून (Law of the City) कहा जाता है।

(ii) विवेक का कानून जो सम्पूर्ण मानवीय विवेक है जिसे विश्व राज्य का कानून (law of the world city) कहा जाता है। यही प्राकृतिक कानून (Law of Nature) है।

जहाँ परम्परागत कानून दो समाजों में भिन्न-भिन्न होता है, प्राकृतिक कानून सार्वभौम होता है इसलिए प्रत्येक समाज इसके अधीन है।

(5) विश्व बंधुत्व तथा सार्वभौम विश्व समाज की धारणा– स्टाइक दार्शनिकों की धारणा एक सार्वभौम प्राकृतिक कानून के आधार पर सम्पूर्ण मानव समाज के लिए एक

एकाकी विधि व्यवस्था की कल्पना है, जिसके अधीन अनेक नागरिक कानून (Customary Laws) होंगे। परन्तु विश्वव्यापी कानून के अधीन तथा इससे शासित होने वाले समस्त मानवों का एक समाज होना चाहिए। क्योंकि परम्परागत कानून, विवेक अथवा प्राकृतिक कानून का विरोधी नहीं हो सकता इसलिए विविध राजनीतिक समाजों के नागरिकों के मध्य आपसी कलह की संभावना नहीं हो सकती। इस तरह स्टाइक धारणा विश्वबंधुत्व, मानवीय एकता, समानता तथा एक मानव समाज की धारणा की पुष्टि करती है।

(6) राजत्व के दैवी सिद्धान्त को स्वीकार करना– स्टाइक विचारधारा हेलेन प्रदेशों से चली थी, जहाँ उस समय राजतंत्र स्थापित थे। सिकन्दर भी उन्हीं प्रदेशों का था। यूनान में भी राजाओं को देवतातुल्य मानने का प्रभाव था। धर्म के प्रभाव से भी राजत्व को दैवत्व प्राप्त हुआ था। यूनान के कई राजतंत्र इसी स्वरूप के माने जाते थे। उस काल में राजा को इस दृष्टि से दैवी माना जाता था कि वह अपने राज्य में उसी रूप में समरूपता लाता था जिस रूप में ईश्वर समस्त विश्व में समरूपता लाता है। इस दृष्टि से प्रारंभ में स्टाइक विचारधारा निरंकुश राजतंत्रों के मध्य विकसित होने के कारण राजत्व के दैवी सिद्धान्त से पूर्णतः मुक्त नहीं थी। यद्यपि स्टाइक विचारधारा के शास्त्रीय स्वरूप में राजत्व के दैवी आदर्श को मानने का ज्ञान नहीं होता है।

(7) नैतिक तथा धार्मिक आदर्श– यह विचारधारा एक नैतिकता का दर्शन है क्योंकि यह व्यक्तिगत आत्मनिर्भरता एवम् कल्याण का उद्देश्य रखती है। परन्तु यह मानव कल्याण हेतु निवृत्ति का मार्ग अपनाने की शिक्षा नहीं देती। भौतिक सुख प्राप्ति के स्थान पर यह दृढ़ प्रतिज्ञता, उत्साह तथा कर्त्तव्य परायणता का उपदेश देती है। यह ईश्वर की सर्वोत्तम शक्ति/सत्ता पर विश्वास रखते हुए मनुष्य को पृथ्वी पर ईश्वर के सैनिक की तरह मानती है। वस्तुतः उनकी मौलिक शिक्षा प्रकृति की एकता तथा पूर्णत्व (Oneness and perfection) अर्थात् एक नैतिक व्यवस्था पर धार्मिक विश्वास की थी।

(8) राज्य तथा व्यक्ति– प्लेटो तथा अरस्तू राज्य को व्यक्ति के लिए अपरिहार्य मानते थे क्योंकि आत्म निर्भरता व उत्तम जीवन की प्राप्ति राज्य में ही संभव थी। स्टाइक विचारक इनसे भिन्न, व्यक्ति को अपने आप में एक इकाई मानते थे। वे मानवों के मध्य आचार शास्त्र को राजनीति से अधिक नियामक शक्ति मानते थे। मानवों के मध्य प्राकृतिक असमानता का विरोध करके उन्होंने राजनीति में स्वतंत्रता, समानता व भ्रातत्व की धारणाओं के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

3.6 स्टॉइक विचारधारा में संशोधन

स्टाइक विचारधारा का जो विवेचन ऊपर दिया गया है वह इस विचारधारा का प्रारंभिक स्वरूप है जबकि यह इपीक्यूरियन तथा सिनिक दर्शन से प्रभावित थी। इस विचारधारा की कठिनाई यह थी कि यह मानव को सामाजिक विरक्ति का उपदेश देती रही तथा प्राकृतिक कानून का संबंध परंपरागत नियमों तथा रीतिरिवाजों के साथ स्थापित नहीं कर पायी। द्वितीय शताब्दी के आते-आते इस विचारधारा की आलोचना की जाने लगी। स्केप्टिक काइनीड्स द्वारा इसकी आलोचना करना प्रारंभ किया गया। उसके मत से स्टाइकों का बुद्धिमान व्यक्ति एक अप्राकृतिक रूप का दीर्घकाय मानव था जो भावनाओं तथा भावावेशों से पूर्णतया विरक्त होकर अमानवीय ही रहता। कारनीड्स ने यह भी तर्क दिया कि स्टाइकों के इस विश्वास में भी कठिनाई थी कि नैतिक विश्वास तथा व्यवहार की कमियों के लिये न्याय का एक सार्वभौम कानून होता है। ऐसी आलोचनाओं का उद्देश्य स्टाइक दर्शन में प्लेटो व अरस्तू द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का समावेश करके उसे संशोधित करना था। तत्कालीन राजनीतिक,

सामाजिक व सांस्कृतिक परिवर्तनों के संदर्भ में भी यह आवश्यक था।

पैनेटियस ने स्टॉइक विचारधारा को रोम के कुलीनवर्ग के मध्य प्रसारित करने तथा उसे कारनीड्स की आलोचना के आधार पर नये रूप में व्यक्त करने का कार्य प्रारंभ किया। पैनेटियस ने इस विचारधारा को अधिक मानवतावादी बनाने का प्रयास किया। उसने आत्मनिर्भरता के स्थान पर जन सेवा, मानवता, सहानुभूति तथा दया के आदर्शों को स्थापित किया। मानवीय समानता की धारणा को उसने अधिक स्पष्ट रूप से समझाया। उसने बताया कि विवेक केवल बुद्धिमानों का नियम नहीं बल्कि सब मानवों का नियम है। इसलिए सब मानव समान हैं। अतः मानव होने नाते सभी मानवों को समान अधिकार प्राप्त होने चाहिए। न्याय ही राज्यों के लिए एक ऐसा कानून हो सकता है जो उन्हें एक सूत्र में बांधने का कार्य करता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि राज्य अन्यायी नहीं हो सकता वरन् यह है कि यदि राज्य अन्याय करता है तो उस आधार को खो देता है जो उसे समरूपता प्रदान कर राज्य बनाता है। इस तरह पैनेटियस द्वारा अभिव्यक्त स्टॉइक विचारधारा के मूल आदर्श हैं– मानव जाति की एकता, मानवीय समानता, राज्य का न्याय, स्त्री पुरुषों की समान महत्ता, पत्नियों तथा बच्चों के अधिकारों का सम्मान, दया, प्रेम, सहिष्णुता, दानशीलता तथा प्रत्येक स्थिति में मानवीयता। इस तरह स्टॉइक विचारधारा ने न सिर्फ मानवतावाद, मानवीय एकता तथा विभिन्न राजनीतिक समाजों के मध्य एकता की भावना को विकसित करने में योगदान किया बल्कि न्याय तथा दया की धारणाओं की भी नये दृष्टिकोण से व्याख्या की। उनकी विचारधारा में न्याय, सार्वभौम विवेक का एक रूप है। उसका आधार समानता है और उसका उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को उसका प्राप्य उपलब्ध कराना है। दया की धारणा का संबंध मुख्यतया दासों से है क्योंकि स्टॉइक विचारधारा यह मानती है कि दासों में विवेक एवम् उत्साह की भले ही कमी हो पर मानव होने के नाते वे दया के अधिकारी हैं। अतः मालिकों को उनके प्रति दया तथा मानवीय व्यवहार करना चाहिए। इस तरह स्टाइक विचारधारा ने एक ओर तो यूनानी विचारकों प्लेटो तथा अरस्तू की नगर राज्यों की आत्मनिर्भरता तक सीमित संकीर्ण विचारधारा का विरोध करके सार्वभौम मानव समाज तथा विश्व राज्य की धारणा के विकास को महत्त्व दिया और दूसरी ओर प्लेटो तथा अरस्तू के न्याय, नैतिकता एवम् उत्तम सद्गुणयुक्त जीवन के आदर्शों को अपनाकर उन्हें सार्वभौम रूप से सम्पूर्ण मानवों के संबंध में लागू किये जाने के आदर्श को प्रस्तुत किया।

3.7 राजनीतिक चिन्तन पर प्रभाव

अरस्तू के पश्चात् यूनानी राजनीतिक विचारधाराओं में से स्टॉइक विचारधारा ही राजनीतिक चिन्तन को एक लंबे समय तक प्रभावित कर पाई। रोमन साम्राज्य के विस्तार तथा रोमन विधि के विकास में इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। प्राकृतिक कानून एवम् सार्वभौम विश्व राज्य का विचार सम्पूर्ण रोमन तथा मध्य युगीन राजनीतिक चिन्तन में छाया रहा। ईसाई धर्म की समानता तथा भ्रातृत्व की शिक्षाएं स्टॉइक विचार से ही प्रभावित हुई। रोम में सिसरो के विचारों के लिए तो कहा ही गया है कि वह स्टॉइकवाद का ही विशद रूप है। राजनीतिक सिद्धान्त के अन्तर्गत राजाओं के दैवी अधिकार सिद्धान्त, सामाजिक कर्त्तव्यपरायणता की धारणा तथा स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व एवम् न्याय जैसी अवधारणाओं के विकास में स्टॉइक विचारधारा का किसी न किसी रूप में प्रभाव स्वयंसिद्ध है।

3.8 सारांश

अरस्तु के बाद यूनान में जो विचारधारायें परिलक्षित हुई उनमें इपीक्यूरियन, सिनिक तथा स्टाइक विचारधारायें प्रमुख हैं। इपीक्यूरियन चिन्तन अतिव्यक्तिवादी है तथा वह मानवीय सुख

और सद्गुण को राजनीतिक परिवेश से स्वतंत्र रखना चाहता है। सिनिक सम्प्रदाय की विचारधारा का सार यह है कि बुद्धिमान मनुष्य को पूर्णतया आत्मनिर्भर होना चाहिए। मनुष्य को संपत्ति, परिवार, वैवाहिक जीवन, नागरिकता सामाजिक प्रतिष्ठा तथा ज्ञान आदि से कोई सरोकार नहीं रखना चाहिए।

उत्तर अरस्तू काल में सर्वाधिक प्रभावशाली विचारधारा स्टोइक विचारधारा रही है। इस विचारधारा में व्यक्तिवाद, सार्वभौमिकतावाद तथा सामाजिक समानता का चिन्तन दृष्टिगोचर होता है। रोमन तथा मध्ययुगीन चिन्तन में प्राकृतिक कानून एवं सार्वभौम विश्वराज्य का विचार स्टोइक विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित है।

3.9 उपयोगी पुस्तकें

1. जी0एच0 सैबाईन : ए हिस्ट्री ऑफ पालिटिकल थ्योरी
2. डब्लू0 ए0 डनिंग : पालिटिकल थ्योरीज वाल्यूम I
3. जार्ज कैटलिन : ए हिस्ट्री ऑफ पालिटिकल फिलोसफर्स
4. सी0एच0 मैकिलवेनः ग्रोथ ऑफ पालिटिकल थाट इन द वेस्ट

3.10 सम्बन्धित प्रश्न

(1) अरस्तू के पश्चात् नगर राज्यों के पतन से यूनानी दर्शन का आधार एवम् चरित्र कैसे प्रभावित हुआ ?

(2) इपीक्यूरियनवाद के प्रमुख सिद्धान्त क्या थे ?

(3) इपीक्यूरियनवाद ने राजनीतिक चिन्तन को क्या योगदान किया ?

(4) सिनिक संप्रदाय से क्या अभिप्राय है ?

(5) स्टॉइक विचारधारा के प्रमुख सिद्धान्त बताइये।

(6) स्टॉइक विचारधारा का राजनीति को क्या अनुदाय है ?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) निम्नलिखित में से कौन सी शिक्षा इपीक्यूरियन नहीं देते?
   (अ) मनुष्य सुख की प्राप्ति व दुःख से निवृत्ति चाहता है।
   (ब) मनुष्य को पारिवारिक जीवन से अलग रहना चाहिए।
   (स) राज्य की उत्पत्ति का आधार सामाजिक समझौता है।
   (द) राज्य एक प्राकृतिक संस्था है।

(2) स्टाइक दर्शन का सूत्रपात निम्नलिखित में से किसने किया था :
   (अ) ऐन्टिस्टनीज (ब) हिप्पार्कीया (स) जैनो (द) क्राइसिप्पस

3.11 प्रश्नोत्तर

1. (द) 2.(स)

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

एम.ए. राजनीतिशास्त्र पाठ्यक्रम (PGPS) सेमेस्टर–प्रथम

PGPS-01 पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक का इतिहास

खण्ड–एक **यूनानी राजनीतिक चिन्तन**

- इकाई-1 प्लेटो
- इकाई-2 अरस्तू
- इकाई-3 उत्तर अरस्तू कालीन विचारधाराएं

खण्ड–दो **रोमन एवं मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन**

- इकाई-4 पोलिबियस एवं सिसरो
- इकाई-5 आगस्टीन एवं एक्वीनास
- इकाई-6 दान्ते एवं मार्सिलियो

खण्ड–तीन **आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भ**

- इकाई-7 पुनर्जागरण और धर्म सुधार आन्दोलन
- इकाई-8 मैकियाविलि
- इकाई-9 जीन बोदां

खण्ड–चार **सामाजिक संविदावादियों का राजनीतिक चिन्तन**

- इकाई-7 टॉमस हॉब्स
- इकाई-8 जॉन लॉक
- इकाई-9 जीन जैक्यस रूसो

खण्ड–पाँच **बुद्धिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया**

- इकाई-7 मांटेस्क्यू
- इकाई-8 डेविड ह्यूम
- इकाई-9 बर्क

PGPS-02 प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन

खण्ड–एक **प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन के विभिन्न उपागम**

- इकाई-1 राजनीतिक चिन्तन की आवधारणा
- इकाई-2 प्रकृति एवं विशेषताएँ
- इकाई-3 प्राचीन भारत में गणराज्य
- इकाई-4 दक्षिण भारत की राजनीतिक संस्थाएँ

खण्ड–दो **मनुस्मृति में प्रतिपादित राजनीतिक एवं सामाजिक सिद्धान्त**

- इकाई-5 वर्णाश्रम व्यवस्था
- इकाई-6 मनु स्मृति में नारी धर्म
- इकाई-7 राजा, मंत्रिपरिषद् एवं राष्ट्र
- इकाई-8 कोष, बल एवं मित्र

खण्ड–तीन **महाभारत में वर्णित राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ**

- इकाई-9 राजधर्म
- इकाई-10 कर प्रणाली एवं युद्ध
- इकाई-11 गणतन्त्र
- इकाई-12 प्रशासनिक नीतियाँ

खण्ड–चार **कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र**

- इकाई-13 धर्म एवं नीति पर कौटिल्य के विचार
- इकाई-14 प्रशासनिक संगठन तथा गुप्तचर व्यवस्था
- इकाई-15 मंडल सिद्धान्त
- इकाई-16 कौटिल्य एवं मैकियावेली का एक तुलनात्मक अध्ययन

खण्ड–पाँच **शुक्रनीति एवं कामंदक नीतिसार**

- इकाई-17 शुक्र के राजत्व तथा मंत्रिपरिषद् संबंधी परिचय
- इकाई-18 कोष सेना पर शुक्र के विचार
- इकाई-19 कामंदक के राजत्व संबंधी विचार
- इकाई-20 कामंदक के अन्तर्राज्य संबंधी विचार

PGPS-03 तुलनात्मक राजनीति

खण्ड–एक **तुलनात्मक राजनीति की अवधारणा एवं उपागम**

- इकाई-1 अर्थ प्रकृति एवं क्षेत्र
- इकाई-2 परम्परागत दृष्टिकोण
- इकाई-3 आधुनिक दृष्टिकोण

खण्ड–दो **राजनीतिक विश्लेषण के उपागम**

- इकाई-4 व्यवस्था विश्लेषण
- इकाई-5 संरचनात्मक-क्रियात्मक विश्लेषण
- इकाई-6 मार्क्सवादी विश्लेषण

खण्ड–तीन **शासन के रूप**

- इकाई-7 संसदीय तथा अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियाँ
- इकाई-8 एकात्मक तथा संघात्मक शासन प्रणालियाँ
- इकाई-9 प्रजातन्त्र एवं तानाशाही

खण्ड–चार **राजनीतिक प्रक्रियाएँ**

- इकाई-10 राजनीतिक विकास
- इकाई-11 राजनीतिक सम्प्रेषण (संचार)
- इकाई-12 राजनीतिक सहभागिता

खण्ड–पाँच **राजनीतिक संस्थाएँ तथा संरचनाएँ**

- इकाई-13 राजनीतिक दल
- इकाई-14 दबाव समूह
- इकाई-15 प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

MAPS – 01
पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का इतिहास

खण्ड

2

रोमन एवं मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन

इकाई 4
पोलिबियस एवं सिसरो 5

इकाई 5
आगस्टीन एवं एक्वीनास 20

इकाई 6
दान्ते एवं मार्सिलियो 44

विशेषज्ञ समिति

प्रो. देवेन्द्र प्रताप सिंह — अध्यक्ष
कुलपति
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

डॉ. आर.के. मणि त्रिपाठी — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

डॉ. एल.डी. ठाकुर — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रो. एस.एम. सईद — विषय विशेषज्ञ
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव — दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
रीडर, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. आर.के. बसलस — सचिव
कुलसचिव
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

कार्यक्रम संयोजक : डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, परामर्शदाता, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सम्पादन : प्रो. एस. के. द्विवेदी, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

PGPS-01 :– *पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का इतिहास*

लेखक मण्डल

खण्ड एकः प्रो. बी.के. तिवारी, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई

खण्ड दोः प्रो. राकेश कुमार मिश्र, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई

खण्ड तीनः डॉ. आशुतोष मिश्र, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई

खण्ड चारः प्रो. आलोक पंत, अध्यक्ष राजनीतिशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद 3 इकाई

खण्ड पाँचः डॉ. मुकुल अस्थाना, रीडर,राजनीतिशास्त्र विभाग, सेन्ट एन्ड्रूज पी.जी. कालेज, गोरखपुर 3 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।

खण्ड 2 का परिचय : रोमन एवं मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन

इस खण्ड में रोमन एवं ईसाई राजनीतिक चिंतन का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। रोम के राजनीतिक विचारक अपनी मूलभूत मान्यताएं यूनानी विचारकों जैसे प्लेटो, अरस्तू आदि से ग्रहण करते हैं और रोम की संवैधानिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के संदर्भ में उन्हें पुनर्परिभाषित करते हैं। परन्तु विधिशास्त्र के क्षेत्र में रोम का अविस्मरणीय योगदान है, और रोमन विधि ने मध्यकाल और आधुनिक काल की वैधानिक मान्यताओं पर गहरा प्रभाव डाला। रोम के सम्राट कान्स्टेन्टाइन के समय ईसाई धर्म को राज्याश्रय प्राप्त होने के बाद ईसाइयत का प्रसार प्रचार संपूर्ण रोमन साम्राज्य में होने लगा। ईसाई धर्म ने जिन जीवनादर्शों का प्रतिपादन किया वे रोम की अपनी मान्यताओं से नितान्त भिन्न थे। ईसाई धर्म शास्त्रों का आधार ईश्वरीय वाणी थी, और ईसाइयत का राजनीतिक चिन्तन उसके धार्मिक आध्यात्मिक सिद्धान्तों से पूरी तरह प्रभावित था। लगभग 15वीं सदी तक ईसाई राजदर्शन का पूर्ण प्रभाव यूरोपीय सभ्यता एवं संस्कृति पर देखा जा सकता है। पुनर्जागरण काल की इहलोकवादी मान्यताओं के उदय एवं प्रसार ने ईसाई राजदर्शन को ग्रहण लगाया और यहीं से आधुनिक राजनीतिक चिंतन का प्रारंभ होता है।

इस खण्ड की प्रथम इकाई में वृहत्तर यूनानी काल की मुख्य प्रवृत्तियों का विवेचन किया गया है। यह काल यूनानी सभ्यता तथा अन्य पूर्वी सभ्यताओं के मिलन का काल था। यूनानी नगर राज्य तो लगभग नष्टप्राय थे, पर यूनानी दर्शन का प्रभाव अभी भी विद्यमान था। इस दौर का सबसे प्रमुख राजनीतिक विचारक पोलिबियस था जिसने रोम की संवैधानिक एवं राजनीतिक व्यवस्था का विवेचन किया। रोमन युग का सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक दार्शनिक सिसरो था जिसने राज्य व शासन से संबंधित गंभीर विषयों पर विचार किया। उसका प्राकृतिक विधि का विवेचन यूरोपीय चिंतन की अमूल्य निधि माना जाता है।

द्वितीय इकाई में ईसाई राजदर्शन के दो मूर्धन्य प्रतिपादकों - आगस्टीन व एक्विनास के विचारों का वर्णन किया गया है। दोनों ही विचारकों ने ईसाई धर्मशास्त्र के संदर्भ में राजनीतिक एवं सामाजिक विषयों का विवेचन किया। टामस एक्वीनास को इस बात का श्रेय है कि उसने ईसाई राजदर्शन का विशद एवं सन्तुलित विवेचन प्रस्तुत किया। इस इकाई में मध्ययुग के ज्वलन्त प्रश्न चर्च-राज्य सम्बन्ध की भी विवेचना प्रस्तुत की गयी है।

इकाई तीन में मध्ययुग के उत्तरार्द्ध के दो प्रमुख राजनीतिक विचारकों - दान्ते और मार्सिलियो के विचारों का वर्णन किया गया है। ये दोनों राजसत्तावादी विचारक माने जाते हैं, अर्थात् चर्च-राज्य सम्बन्धों के विवाद में उन्होंने राज्य की स्वायत्तता और लौकिक मामलों में सर्वोपरिता का प्रतिपादन किया। दान्ते की तुलना में मार्सिलियो का चर्च एवं पोप का विरोध अधिक उग्र प्रतीत होता है। इसी इकाई में परिषदीय आन्दोलन का संक्षिप्त उल्लेख भी है। इसके द्वारा चर्च को लोकतांत्रिक बनाने का असफल प्रयास किया, परन्तु इसके दूरगामी परिणाम काफी महत्वपूर्ण रहे। इकाई के अंत में इस मान्यता कि मध्ययुग अराजनीतिक था, की समालोचना प्रस्तुत की गयी है।

इस प्रकार खण्ड 2 का उद्देश्य रोमन राजदर्शन और ईसाई राजदर्शन की विशेषताओं और योगदान का विवेचन करना है।

इकाई 4 : पोलिबियस एवं सिसरो

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 वृहत्तर यूनानी युग की विशेषताएं

4.3 पोलिबियस

- 4.3.1 शासन का वर्गीकरण
- 4.3.2 मिश्रित संविधान का विचार
- 4.3.3 भाग्य व धर्म की भूमिका
- 4.3.4 समीक्षा

4.4 सिसरो

- 4.4.1 रोमन विधि शास्त्र
- 4.4.2 सिसरो का राजदर्शन
- 4.4.3 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
- 4.4.4 मिश्रित संविधान की धारणा
- 4.4.5 राज्य संबंधी विचार
- 4.4.6. प्राकृतिक विधि
- 4.4.7 मानवीय समानता की धारणा
- 4.4.8 समीक्षा

4.5 सारांश

4.6 उपयोगी पुस्तकें

4.7 सम्बन्धित प्रश्न

4.8 प्रश्नोत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

- वृहत्तर यूनानी काल (Hellenistic Age) की मुख्य विशेषताओं से अवगत हो सकेंगे,
- पोलिबियस के प्रमुख राजनीतिक विचारों को समझ सकेंगे,
- सिसरो के प्रमुख राजनीतिक विचारों को समझ सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में यदि सुकरात, प्लेटो एवं अरस्तू का कालखण्ड दार्शनिक चिन्तन एवं विवेचन का चरमोत्कर्ष था, तो अरस्तू की मृत्यु के उपरान्त लगभग 300 वर्षों का समय दर्शन की गोधूलि बेला थी। डनिंग के अनुसार सिकन्दर की साम्राज्य स्थापना से रोमन साम्राज्य के उदय तक राजदर्शन वस्तुतः मूक था। फिर भी यह सांध्य बेला अपने गर्भ में उन विचार प्रवृत्तियों को पाल रही थी जो कालान्तर में महत्वपूर्ण मान्यताओं व सिद्धान्तों का स्रोत बनीं। वस्तुतः यह वृहत्तर यूनानी युग (Hellenistic Period) राजदर्शन के इतिहास में एक संक्रमण काल है जिसमें उन अनेक सिद्धान्तों का बीजारोपण हुआ जिन्होंने शताब्दियों तक राजदर्शन को प्रेरित व प्रभावित किया।

वृहत्तर यूनानी युग में यूनानी सभ्यता का प्रसार प्रचार भूमध्य सागर के आसपास के क्षेत्रों में हुआ। दूसरे शब्दों में, यूनान की सभ्यता मकदूनिया और एशिया की अन्य सभ्यताओं के घनिष्ठ सम्पर्क में आयी। सभ्यताओं व संस्कृतियों के सम्मिलन एवं सम्मिश्रण से अनेक स्थापित मान्यताएं एवं सिद्धान्त खंडित हुए और नए विचारों व सिद्धान्तों का सूत्रपात हुआ। तत्वदर्शन, राजनीति, नीति के क्षेत्रों में भारी उथल-पुथल दृष्टिगोचर होता है।

4.2 वृहत्तर यूनानी युग की विशेषताएं

वृहत्तर यूनानी काल की मुख्य प्रवृत्तियों व विशेषताओं का उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है –

1. 'नगर राज्य' (Polis) और उसके नैतिक राजनीतिक आदर्श विखंडित होते हैं और उनके स्थान पर 'साम्राज्य' (Empire) अपना 'विश्व-राज्य' (Cosmopolis) की धारणा उभरती है। सुकरात, प्लेटो और अरस्तू के चिन्तन का संदर्भ नगर राज्य थे जो आकार और जनसंख्या की दृष्टि से छोटे, जातीय एवं सांस्कृतिक दृष्टि से सजाती, और सीमित परन्तु सक्रिय नागरिकता के सिद्धान्त पर आधारित थे। इन नगर राज्यों में सामुदायिक भावना बड़ी प्रबल थी और राजनीतिक-सामाजिक जीवन में नागरिकों की सक्रिय भागीदारी के कारण बड़ी जीवन्तता थी, लेकिन साम्राज्य अथवा विश्वराज्य के संरचनात्मक सिद्धान्त भिन्न थे। यह आकार और जनसंख्या की दृष्टि से विशाल और सांस्कृतिक एवं जातीय दृष्टि से बहुल था। राजसत्ता सम्राट और उसके सलाहकारों और क्षेत्रीय प्रतिनिधियों के पास केंद्रित थी। सभी निवासी सिद्धान्त रूप में नैतिक दृष्टि से समान माने जाते थे, पर राजनीतिक जीवन में जनता की भागीदारी नगण्य थी। प्रसिद्ध विद्वान शेल्डन वालिन के अनुसार जहाँ नगर - **राज्यों की राजनीतिक मूर्त एवं प्रत्यक्ष (Visual Politics) थी, वहीं दूसरी ओर साम्राज्य को राजनीतिक अमूर्त (Abstrct Politics) थी।**

2. पहले मकदूनिया के साम्राज्य और फिर रोमन साम्राज्य की स्थापना ने राजनीतिक शक्ति के केन्द्रीयकरण और सैन्यवाद (Militarism) की प्रवृत्तियों को बहुत बल प्रदान किया। सम्राट राजनीतिक एकता का प्रतीक बन कर उभरा और सम्राट का दरबार राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र। राजा और सम्राट देवताओं की भाँति पूजे जाने लगे। नगर राज्यों की राजनीति जो नागरिकों की प्रत्यक्ष भागीदारी पर आधारित थी, अब अप्रासंगिक हो गयी थी। परिणामस्वरूप राजनीतिक जीवन के प्रति अरुचि और उपेक्षा के दौर का सूत्रपात हुआ और यह राजनीतिक उदासीनता इस युग के दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों के द्वारा मुखर रूप से अभिव्यक्त हुई। सिनिक (Cynic) सम्प्रदाय ने राजनीतिक-सामाजिक संस्थाओं, नियमों और सम्बन्धों को सद्गुण (Virtue) की प्राप्ति में बहुत बाधक बताया और उन्हें अस्वीकार करने की वकालत की। एपीक्योरस (Epicurus) ने कहा कि यदि मनुष्य शान्ति चाहता है तो उसे पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक दायित्वों को सीमित महत्व ही प्रदान करना चाहिए। एपीक्योरस के शब्दों में "हमें अपने को राजनीतिक और अन्य दायित्वों के कारागार से मुक्त कर लेना चाहिए .... हमें अपने को एकान्तवास के लिए तैयार करना चाहिए।" (We must free ourselves from the prison of affairs and politics... A man must prepare himself for solitude too.') इस प्रकार जहाँ सुकरात, प्लेटो और अरस्तू के अनुसार राजनीतिक जीवन में सक्रिय हुए बिना और राज्य की सदस्यता के बिना मानवीय पूर्णता संभव नहीं है, वहीं सिनिक, एपीक्योरियन और स्टाइक विचारकों की दृष्टि में सद्गुण एवं सद्जीवन की उपलब्धि में राज्य व अन्य सामाजिक संस्थाएं बाधक हैं। वे सद्जीवन की प्राप्ति के लिए मनुष्य का अराजनीतिक होना आवश्यक मानते हैं।

राजनीति की इस उपेक्षा ने उग्र व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को जन्म दिया। व्यक्ति का सुख उसका

अपना निजी दायित्व, उसकी अपनी निजी चिन्ता है और इसे वह राज्य और समाज के बाहर तथा उनके बगैर भी प्राप्त कर सकता है। स्टाइक दर्शन में यह प्रतिपादित किया गया कि व्यक्ति की मूल निष्ठा सार्वभौम समाज (Universal Society) के प्रति है, न कि राज्य के प्रति। इस दृष्टि से वृहत्तर यूनानी काल राजनीति के अवसान का युग है। शेल्डन बॉलिन के शब्दों में, 'दर्शन ने प्रकृति का समाजीकरण एवं राजनीतिकरण कर दिया जबकि राजनीति को विकृत कर डाला। (`Philosophy had socialised and politicized nature while denaturing the political) प्लेटो आदि यूनानी दार्शनिक ने विवेक को मनुष्य का सर्वोपरि तत्व माना और विवेक के समुचित उपयोग से सत्य और ज्ञान की उपलब्धि को संभव माना लेकिन वृहत्तर यूनानी काल के दार्शनिक मूलतः संशयवादी हैं। जहाँ प्लेटो के लिए सत्य, आनन्द, सौंदर्य की निरपेक्ष सत्ता है वहीं इन दार्शनिकों के लिए ये सापेक्ष एवं व्यक्तिनिष्ठ हैं। सिनिक, एपीक्योरिस एवं सेप्टिक सभी दार्शनिक सम्प्रदाय यह मानते थे कि मनुष्य निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नहीं जान सकता। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि प्लेटो के द्वारा स्थापित 'एकाडमी' नामक शिक्षा संस्था इस काल तक आते-आते संशयवादी मान्यताओं का प्रमुख केंद्र बन गयी थी।

जहाँ यूनानी दर्शन में सद्जीवन का साधन विवेक को माना गया, जहाँ वृहत्तर यूनानी काल में विवेक के तत्व को उपेक्षित किया गया और मनुष्य के आनन्द का स्रोत इच्छाओं व भावनाओं का नियंत्रण व परिसीमन माना गया। सद्जीवन का सम्बन्ध अन्ततः मनुष्य की मानसिक और भावनात्मक स्थिति से है। इस प्रकार सद्जीवन की प्राप्ति के लिए न तो राज्य की सक्रिय सदस्यता अपरिहार्य है और न ही विवेक और चिन्तन। वृहत्तर यूनानी काल के दार्शनिक सम्प्रदाय न केवल अराजनीतिक है, वरन् अबुद्धिवादी भी हैं। स्टाइक सम्प्रदाय इस दृष्टि से विशिष्ट है क्योंकि यद्यपि वह राज्य एवं राजनीति के प्रति उदासीन है, परन्तु वह ब्रह्माण्ड में एक विवेकपूर्ण, शाश्वत नियम जिसको वह प्राकृतिक नियम (Law of Nature) कहता है, की सत्ता को स्वीकार करता है।

4.3 पोलिबियस

यूनानी सभ्यता के समानान्तर रोमन सभ्यता का अभ्युदय एवं विकास विश्व इतिहास की महत्वपूर्ण घटना है। रोमन सभ्यता के इतिहास को तीन चरणों में बाँटा जा सकता है -- प्रागैतिहासिक युग से 500 ई. पू. तक का राजतांत्रिक युग, 500 ई. पू. से पहली ई. पू. तक का गणतांत्रिक युग, और 100 ई. पू. से 5वीं शती तक साम्राज्य का युग।

200 ई. पू. के आसपास रोम एक महाशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। यूनानी राज्यों के संघ से मिल रही चुनौती का उसने मुँहतोड़ उत्तर दिया। रोमन लोग यूनानी सभ्यता को हिकारत की नजर से ही देखते थे। लेकिन यह इतिहास की विडम्बना है कि रोम की संवैधानिक एवं राजनीतिक संस्थाओं और सिद्धान्तों का विशद विवेचन करने वाला पोलिबियस (203 ई. पू. - 121 ई. पू.) एक यूनानी दार्शनिक था। रोम की सेना ने 167 ई. पू. में यूनानी राज्यों के संघ से हो रहे युद्ध में अनेक प्रमुख यूनानी राजनीतिज्ञों एवं विद्वानों को बंदी बना लिया और उन्हें रोम ले जाया गया। इन्हीं युद्धबन्दियों में पोलिबियस भी था जो अपने बौद्धिक एवं नैतिक गुणों के कारण शीघ्र ही रोम के शासकों व सेनानायकों का प्रियपात्र व परामर्शदाता बन गया।

पोलिबियस बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न दार्शनिक था। वह एक प्रखर इतिहासविद्, कुशल राजनीतिज्ञ एवं सैन्य कला का मर्मज्ञ था। विश्व के अनेक देशों का वह भ्रमण कर चुका था। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'इतिहास' (Universal History) में उसने यूनानी शासन सिद्धान्तों के संदर्भ में रोमन राज-व्यवस्था का विस्तृत विवेचन किया है और रोम को एक महाशक्ति के रूप में उभरने के कारणों की समीक्षा की है।

4.3.1 शासन का वर्गीकरण

पोलिबियस ने अरस्तू द्वारा प्रतिपादित शासन के वर्गीकरण को स्वीकार किया है। उसने तीन शुद्ध शासन प्रणालियाँ – राजतंत्र, कुलीनतंत्र और प्रजातंत्र और तीन विकृत शासन प्रणालियाँ – निरंकुश तंत्र, वर्गतंत्र और भीड़तंत्र मानी है। उसका विचार है कि मानव इतिहास में उत्थान और पतन का चक्र निरंतर गतिशील है, और शासन प्रणालियाँ भी इस चक्रीय परिवर्तन से अप्रभावित नहीं हैं।

राजतंत्र एक व्यक्ति का शासन है और उसमें राजा न्याय के सिद्धान्तों का पालन करते हुए विवेकपूर्ण तरीके से शासन संचालन करता है। परन्तु जब वह न्याय एवं जनकल्याण की उपेक्षा कर स्वेच्छाधारी रूप से शासन करने लगता है तब राजतंत्र निरंकुश तंत्र में परिणत हो जाता है। इस निरंकुश शासक को जब समाज के विवेकशील और चरित्रशील लोग अपदस्थ कर शासन शक्ति का स्वयं प्रयोग करते हैं और जन कल्याण को सर्वोपरि मानते हैं, तब कुलीनतंत्र अस्तित्व में आता है। परन्तु जब ये कुलीन शक्ति लिप्सा व स्वार्थबुद्धि से ग्रस्त हो जाते हैं और आपसी गुटबन्दियों में पड़कर जनहित भुला बैठते हैं तब वर्गतंत्र स्थापित होता है। वर्गतंत्र के विरुद्ध जनता की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप शासन शक्ति जनता के हाथ में पहुँच जाती है और जब जनता इस शासनाधिकार का प्रयोग विधि एवं नीति की मर्यादा में रहते हुए करती है, तब लोकतंत्र की उत्पत्ति होती है। परन्तु जब जनता विधि विहीन एवं अमर्यादित होकर स्वेच्छाचारी हो जाए, तो समाज में अराजकता की वृद्धि होने लगती है, और भीड़तंत्र अस्तित्व में आता है। इस अराजक दशा का लाभ उठाकर महत्वाकांक्षी एवं चतुर राजनेता अपने निरंकुश शासन की स्थापना करता है। इस प्रकार शासन प्रणालियों का परिवर्तन चक्र सतत् गतिशील रहता है।

पोलिबियस का विचार है कि हर शुद्ध शासन प्रणाली में अपनी विकृति एवं विनाश के बीज विद्यमान होते हैं। शासन प्रणालियों का बार-बार परिवर्तन राजनीतिक समाज की रुग्णावस्था का सूचक होता है। राजनीतिक अस्थिरता में किसी प्रकार का जनकल्याण संभव नहीं है। पोलिबियस राजनीतिक स्थायित्व को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानता है, और इसकी खोज उसे मिश्रित संविधान (Mixed Constitution) की अवधारणा की ओर ले जाती है।

4.3.2 मिश्रित संविधान का विचार

पोलिबियस रोमन राजनीति का तीक्ष्ण पर्यवेक्षक है। रोमन गणराज्य की सफलता और रोम की राजनीतिक संस्थाओं की स्थिरता पर वह मुग्ध है। उसका विचार है कि यदि रोम की राजनीतिक संस्थाएं सुदीर्घ काल से सफलतापूर्वक कार्य कर रही है, और यदि रोम ने 53 वर्ष के अल्प काल में विश्व के एक बड़े भाग को अपने अधीन कर लिया तो इसका मुख्य कारण रोम की मिश्रित या संतुलित संविधान की व्यवस्था है। विश्व की अन्य राजव्यवस्थाओं के विपरीत, रोम की राजव्यवस्था किसी एक तत्व या शक्ति की प्रधानता पर आधारित नहीं है, वरन् इसमें तीन तत्वों अथवा व्यक्तियों का सामंजस्य एवं संतुलन है।

पोलिबियस स्पार्टा के विधि निर्माता लाइकरगस का परम प्रशंसक है जिसने मिश्रित संविधान के विचार को प्रस्तुत किया। लाइकरगस की मान्यता थी जब किसी राज्य में राजतांत्रिक, कुलीनतांत्रिक एवं लोकतांत्रिक - इन तीनों तत्वों का समुचित सम्मिश्रण होता है तब शासन प्रणाली स्थिर व सफल होती है। यदि कोई एक तत्व अनावश्यक रूप से प्रबल हो जाएगा अथवा राजशक्ति पर किसी एक वर्ग का एकाधिकार स्थापित हो जाएगा, तो राज्य असंतुलित एवं अस्थिर हो जायेगा। पोलिबियस के अनुसार रोम में इस सत्य को अपने लंबे ऐतिहासिक अनुभवों व प्रयोगों से प्राप्त किया है। उसके अनुसार शताब्दियों के विकास के परिणामस्वरूप

रोम के संविधान में तीनों तत्वों का ऐसा अद्भुत समन्वय हो गया है कि रोम का नागरिक भी यह निश्चयपूर्वक नहीं बता सकता कि उसका संविधान राजतांत्रिक है अथवा कुलीनतांत्रिक अथवा प्रजातांत्रिक। जब उसे यह एहसास होता है कि रोम का संविधान मिश्रित है, तो वह अपने पूर्वजों का बुद्धिमत्ता एवं दूरदर्शिता पर चमत्कृत रह जाता है।

पोलिबियस के अनुसार रोम के संविधान में कौन्सुल (Consul) का पद राजतांत्रिक तत्व, सीनेट (Senate) कुलीनतांत्रिक तत्व और जनसभाएं (Comitias) जनतांत्रिक तत्व का प्रतिनिधित्व करती है। रोम के संविधान में न केवल ये तीनों तत्व विद्यमान हैं वरन् वे एक दूसरे को नियंत्रित एवं संतुलित भी करते हैं। कौन्सुल युद्धकाल में सेनाओं का नेतृत्व करता है और शान्तिकाल में प्रशासन का संचालन व नियंत्रण। परन्तु धन एवं अन्य सामग्री की स्वीकृति हेतु वह सीनेट पर निर्भर है। सीनेट न केवल राजकोष को नियंत्रित करती है, वरन् यह युद्ध के दौरान सैन्य अधिकारियों के क्रियाकलापों की समीक्षा कर उन्हें पदोन्नत, पदावनत् और अपदस्थ करने की शक्ति रखती है। देशद्रोह, षड्यंत्र एवं हत्या जैसे गंभीर अपराधों का निर्णय सीनेट के हाथ में है। पोलिबियस के अनुसार जनता 'सम्मान और दण्ड की एकमात्र स्रोत' है। मजिस्ट्रेटों का निर्वाचन और कानूनों को अन्ततः स्वीकृत या अस्वीकृत करना जनता का दायित्व है। उसे सन्धि समझौतों पर अनुमोदन भी प्रदान करना होता है। सीनेट एवं आम जनता भी परस्पर निर्भर है। जनता द्वारा चुने गये अधिकारियों (Tribunes) को सीनेट के कार्यों पर निषेधाधिकार प्राप्त है। सीनेट के मृत्युदण्ड सम्बन्धी फैसलों पर जनता की स्वीकृति अनिवार्य है। इसी प्रकार आम जनता व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से सीनेट पर निर्भर है क्योंकि सार्वजनिक सम्पत्ति एवं सार्वजनिक हित के कार्यों पर सीनेट का नियंत्रण है।

इस प्रकार रोम के संविधान में तीनों तत्व परस्पर सम्बद्ध रहते हुए एक दूसरे को निर्देशित, नियंत्रित एवं संतुलित करते हैं। युद्धकाल हो अथवा शांतिकाल, रोम की मिश्रित संविधान की व्यवस्था किसी एक तत्व की शक्ति लिप्सा, अहंकार एवं महत्वाकांक्षा को बांधने में सक्षम है। पोलिबियस का विचार है कि मिश्रित संविधान की व्यवस्था रोम की जनता के निजी जीवन को 'पवित्र एवं शुद्ध' एवं राज्य के सार्वजनिक जीवन को 'सभ्य एवं न्यायपूर्ण' बनाए रखने में सफल रही है।

क्या मिश्रित संविधान शाश्वत है? पोलिबियस इस तथ्य को रेखांकित करता है कि मिश्रित संविधान श्रेष्ठ एवं दीर्घजीवी तो अवश्य है पर उसे शाश्वत नहीं माना जा सकता। परिवर्तन एवं पतन प्रकृति का नियम है और इसलिए मिश्रित संविधान भी क्रमशः विकृत होते हुए पतनोन्मुख होगा। राज्य की शक्ति का विस्तार एवं जनता में सम्पन्नता की वृद्धि एक सीमा के बाद दुर्गुणों व विकारों को जन्म देती है। जनता में प्रदर्शन, प्रतिस्पर्धा एवं फिजूलखर्ची की प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगती हैं और राजनीतिज्ञों में ईर्ष्या, महत्वाकांक्षा एवं शक्ति लिप्सा। विधि व नीति की मर्यादाएं खंडित होने लगती हैं। राजनीतिज्ञ चाटुकारिता के द्वारा जनसमर्थन एवं सत्ता की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो उठते हैं और आम जनता अपने तात्कालिक भौतिक लाभ के लिए देश प्रेम और अन्य नैतिक सिद्धान्तों को भूल बैठती है। ऐसी स्थिति में सर्वत्र अराजकता का बोलबाला होता है क्यों राजा, प्रजा और कुलीन न्याय व मर्यादा से च्युत हो जाते हैं। अंततः कोई महत्वाकांक्षी एवं चतुर राजनीतिज्ञ अपनी निरंकुश सत्ता स्थापित कर लेता है। पोलिबियस इस तथ्य से अवगत था कि रोम के मिश्रित संविधान की व्यवस्था में कई दरारें पैदा हो चुकी हैं। यह विडम्बना ही थी कि पोलिबियस की मृत्यु के कुछ ही दशकों बाद रोम में जूलियस सीजर की निरंकुश सत्ता की पदचाप सुनायी पड़ने लगी थी।

4.3.3 भाग्य एवं धर्म की भूमिका

पोलिबियस ने शासन प्रणालियों के चक्रीय परिवर्तन की मान्यता का ही प्रतिपादन नहीं किया

वरन् वह इस चक्रीय परिवर्तन को एक नियमित एवं अपरिहार्य प्रक्रिया मानता है। लेकिन वह शासन प्रणालियों के परिवर्तन में आकस्मिक कारकों (Contingency) को भी अपनी विवेचना में समुचित महत्व प्रदान करता है। उसका विचार है कि राज्यों के उत्थान पतन में भाग्य (Fortune) की भूमिका भी अक्सर निर्णायक हो जाती है, और फारस, मकदूनिया एवं रोम के इतिहास में यह बात बार-बार प्रमाणित होती है।

रोम के संविधान की विवेचना करते हुए वह धर्म की भूमिका का भी उल्लेख करता है। जहाँ यूनानियों के लिए धर्म एक अन्धविश्वास बन कर रह गया था, रोम की राजनीतिक प्रणाली को सुदृढ़ एवं सुस्थिर करने में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका रही। उसका विचार है कि आम जनता की वासनाओं को नियंत्रित करने एवं उन्हें सकारात्मक दिशा प्रदान करने में धर्म व धार्मिक अनुष्ठानों का विशेष महत्व है। धर्म व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक जीवन में अनुशासन स्थापित करने वाला एक महत्वपूर्ण उपकरण है।

4.3.4 समीक्षा

प्रो. सेबाइन के अनुसार यद्यपि पोलिबियस रोमन राजव्यवस्था का प्रथम अध्येता था, तथापि उसके निष्कर्ष ऐतिहासिक दृष्टि से भ्रामक हैं। वस्तुतः रोमन संविधान का उसका अध्ययन उतना ही सतही है जितना 18वीं शती में मान्टेस्क्यू का ब्रिटिश संविधान का था। रोम के राज्य में विभिन्न स्तरों पर विभिन्न प्रकार के तनाव, द्वन्द्व और संघर्ष विद्यमान थे और समय-समय पर वे बहुत उग्र रूप धारण कर लेते थे। जिस सामंजस्य और संतुलन की गौरवगाथा पोलिबियस प्रस्तुत करता है, वह तो रोम के इतिहास में कभी-कभार ही दृष्टिगोचर होती है।

सत्य तो यह है कि पोलिबियस की दृष्टि रोमन संविधान एवं इतिहास के स्थायी तत्वों पर थी न कि केवल समकालीन प्रवृत्तियों व प्रारूपों पर। इस दृष्टि में वह रोमन राजनीतिक व्यवस्था के जीवनदायी स्रोतों को व्याख्या व विश्लेषण का केंद्र बनाता है, और नियंत्रण व संतुलन की व्यवस्था इसी प्रकार का एक आधार स्तंभ है।

4.4 सिसरो

रोम में राजदर्शन का आविर्भाव यूनानी सभ्यता एवं संस्कृति के प्रभाव के फलस्वरूप हुआ। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि तीन यूनानी दार्शनिकों - पेनेटियस, पोलिबियस एवं कार्नेडीस ने रोम के उद्बोधक की भूमिका निभायी। रोम की राजनीतिक एवं सैनिक सफलताओं ने भी उसके आत्मविश्वास को जागृत किया, और उसके अपने आत्मिक व नैतिक स्रोतों का प्रवाह तीव्रतर हो चला। 100 ई. पू. से पहली सदी तक के लगभग 200 वर्ष लैटिन भाषा एवं साहित्य के विकास का गौरवशाली युग था, जिसमें प्लाटस, सिसरो, ल्यूक्रेशियस एवं वर्जिल जैसी महान विभूतियों ने दर्शन व साहित्य की विविध विधाओं को समृद्ध किया। फिर भी विषय-वस्तु और शैली की दृष्टि से लैटिन साहित्य व दर्शन यूनानी स्रोतों पर ही निर्भर रहा। प्रसिद्ध रोमन साहित्यकार हारेस (Horace) के अनुसार - 'पराजित यूनान ने अंततः अपने विजेता रोम' को बंदी बना लिया और इटली में विद्याओं व कलाओं को प्रवर्तित किया।' सभी प्रमुख रोमन चिंतक, इतिहासकार व कवि यूनानी दर्शन से अभिभूत थे और यूनानी चिंतन उनके राजनीतिक व सामाजिक दर्शन का भी उत्प्रेरक था।

4.4.1 रोमन विधिशास्त्र

विधिशास्त्र के क्षेत्र में रोम का अद्भुत योगदान है और उनकी वैधानिक संस्थाओं और मान्यताओं

UGEN 01V 58

ने उन्हें विश्व इतिहास में अमर बना दिया। रोम में असाधारण विधिशास्त्री उत्पन्न हुए जिन्होंने विधि विज्ञान (Legal science) के विकास में अविस्मरणीय भूमिका निभायी। कानून पर विस्तृत निबन्ध (Digesta) लिखकर, विद्यार्थियों के लिए पाठ्य-पुस्तकें (Institutions) लिखकर और विशिष्ट मुकदमों पर अपने मंतव्यों (Responsa) को लिखकर उन्होंने विधिशास्त्र को विकसित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। लगभग 700 वर्षों तक अविरामरूप से चले इन अथक प्रयासों के परिणामस्वरूप रोम विधिशास्त्र इतना समृद्ध हो गया कि शायद ही कोई अन्य समकालीन राज्य विधि के क्षेत्र में उसके आगे टिक सकता हो। रोम के इन महान विधिशास्त्रियों में पेपिनियन (Papinian), पाल (Paul), अल्पियन (Ulpian), गयस (Gaius) और मोडेस्टिनस (Modestinus) के नाम उल्लेखनीय हैं।

रोमन सभ्यता और रोमन विधि का विकास वस्तुतः समानान्तर घटनाएं हैं। रोम का प्राचीन कानून परम्पराओं और प्रथाओं का समुच्चय था जिसे 5वीं शताब्दी ई. पू. में 'ट्वेल्व टेबिल्स' (Twelve tables) के रूप में संहिताबद्ध किया गया। कानून एवं न्याय का प्रशासन और उनकी व्याख्या करने की शक्तियाँ प्रेटर (Praetor) नामक अधिकारियों में निहित थी। जैसे-जैसे रोमन सभ्यता का विस्तार यूनान, फोनेशिया, बेबिलोन आदि क्षेत्रों में हुआ, इन देशों के विधि और न्याय के सिद्धान्त भी कानूनों और वैधानिक निर्णयों का आधार बनने लगीं। इस प्रकार रोमन विधि एवं गैर-रोमन विधि प्रणालियों के बीच आदान-प्रदान की एक सुदीर्घ व सार्थक प्रक्रिया प्रारंभ हुई। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रोमन विधि के विकास में विधिशास्त्रियों का विशेष योगदान रहा जो न्यायिक अधिकारियों (Practors) को जटिल कानूनी मामलों व मुद्दों पर अपनी परिपक्व व विशेषज्ञ सलाह प्रदान करते थे। रोम के साम्राज्य के रूप में उभरने के बाद विधि निर्माण, व्याख्या व न्याय प्रदान करने का अधिकार सम्राटों में सिमटने लगा। 6वीं शताब्दी में सम्राट जस्टीनियन (Justinian) ने रोम के कानूनों व विधिशास्त्रियों की टीकाओं को संहिताबद्ध कर प्रकाशित करवाया।

रोम के विधिशास्त्री एवं न्यायाधीश तीन प्रकार के कानूनों को मान्यता प्रदान करते थे – नागरिक विधि (Jus Civile), अंतर्राष्ट्रीय विधि (Jus Gentium) और प्राकृतिक विधि (Jus Naturale), नागरिक विधि रोम का प्राचीन परम्परागत कानून था जो रोम के नागरिकों पर लागू होता था। अंतर्राष्ट्रीय विधि के अंतर्गत वे नियम व सिद्धान्त आते थे जिनके आधार पर गैर-रोमन लोगों के मामलों व विवादों का निपटारा किया जाता था। प्राकृतिक विधि वह शाश्वत व सार्वभौमिक विधि है जो मनुष्य मात्र को सत्-असत्, नीति-अनीति का बोध कराती है। रोमन सभ्यता के विकास के साथ नागरिक विधि और अंतर्राष्ट्रीय विधि काफी घुल-मिल गए, ठीक उसी प्रकार जैसे रोमन और गैर-रोमन का भेद धुंधला होने लगा। नागरिक विधि और अंतर्राष्ट्रीय विधि में स्पष्ट रूप से अंतर कर पाना कठिन हो गया और स्वयं विधिशास्त्रियों में उनकी स्पष्ट व्याख्या को लेकर मतभेद था। इसी प्रकार प्राकृतिक विधि एवं अंतर्राष्ट्रीय विधि के बीच स्पष्ट भेद कर पाना कठिन था क्योंकि दोनों का स्वरूप विशिष्ट न होकर सामान्य था। फिर भी प्राकृतिक विधि की मान्यताएं ही नागरिक विधि एवं अंतर्राष्ट्रीय विधि में व्यक्त होती है, यह दृष्टिकोण निरंतर प्रतिपादित किया जाता रहा। सेबाइन ने भी इसी तथ्य को रेखांकित करते हुए कहा है कि अंतर्राष्ट्रीय विधि मूलतः एक विधिक अवधारणा है जबकि प्राकृतिक विधि मूलतः एक दार्शनिक विचार है। उदाहरणतः दार्शनिक-नैतिक दृष्टि से रोमन राज्य में दासता को अस्वीकार किया जाता था क्योंकि प्राकृतिक विधि मनुष्य को स्वतंत्र एवं समान मानती है, जबकि नागरिक विधि एवं अंतर्राष्ट्रीय विधि दासता को मान्यता प्रदान करती थी। प्राकृतिक विधि की मान्यता के प्रभाव में ही समय-समय पर दासों के प्रति क्रूरता को रोकने हेतु वैधानिक प्रयास किए गये।

सभी रोमन विधिशास्त्री प्राकृतिक विधि को मानवीय विधि से उच्चतर मानते हैं, और इस दृष्टि से स्टाइक मान्यताओं का रोमन विधिशास्त्र पर गहरा और स्थायी प्रभाव पड़ा। उनका विचार था कि

प्राकृतिक विधि ही सत् एवं न्याय का स्रोत है। अल्पियन के अनुसार - "विधिशास्त्र सत् एवं असत् की विधा है, मानवीय एवं दैवीय का ज्ञान है।" राज्य निर्मित विधियों की कसौटी प्राकृतिक विधि ही है।

रोमन विधि विज्ञान का एक अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह था कि विधि अंततः जनसमुदाय में ही समाविष्ट है। सम्राट, सीनेट या जनता द्वारा चुनी विधानसभाएं जनता के प्रतिनिधि मात्र हैं और जनता से प्राप्त अधिकारों का उपयोग करते हुए ही विधि-निर्माण कर सकते हैं।

4.4.2 सिसरो का राजदर्शन

रोम की राजनीति में प्राकृतिक विधि एवं संविधानवाद की मान्यताओं का सशक्त प्रतिपादक सिसरो (106 ई. पू. – 43 ई. पू.) एक कुशल राजनेता, विलक्षण वक्ता, उत्कृष्ट गद्यकार एवं अप्रतिम विधिशास्त्री था। रोम के सार्वजनिक जीवन से घनिष्ठ रूप से जुड़े रहने पर भी दर्शन का लोकोत्तर आनंद उसे निरंतर अपनी ओर आकृष्ट करता रहा। परिणामस्वरूप उसने ज्ञान की विविध शाखाओं में विपुल साहित्य का सृजन किया। उसे रोम का न्यायाधिकारी (Practor) और मुख्य कार्यपालक (Consul) होने का गौरव भी प्राप्त हुआ।

राजदर्शन के इतिहास में सिसरो की विशिष्टता एवं महत्ता अपनी निजी मान्यताओं और सिद्धान्तों को गढ़ने के लिए नहीं है, वरन् यूनानी एवं वृहत्तर यूनानी युग के आदर्शों व सिद्धान्तों के व्याख्याता के रूप में है। वस्तुतः वह यूनानी दर्शन को रोमन संदर्भ में पुनर्प्रतिपादित करता है। अपनी रचनाओं के विषय में उसने स्वयं कहा था, "वे प्रतिलिपि हैं। मैं केवल शब्द प्रदान करता हूँ और शब्दों का भंडार तो मेरे पास है ही।" (They are transcripts. I simply supply the words and I have plenty of those.) फिर भी अपनी अनूठी शैली एवं संश्लेषणात्मक सामर्थ्य के बल पर वह यूनानी व स्टॉइक मान्यताओं को नवीन एवं प्रभावशाली कलेवर प्रदान करता है। उसकी रचनाओं में सनातन आदर्शों के प्रति तीव्र आग्रह है, रोम के सार्वजनिक जीवन की विकृति के प्रति गहरा आक्रोश है। पेट्रार्क के शब्दों में, "सिसरो का अध्ययन करते समय आपको अक्सर ऐसा प्रतीत होता है कि मानों कोई पैगन दार्शनिक नहीं, वरन् एक ईसाई संत बोल रहा है।' 18वीं सदी के फ्रेंच दार्शनिक वाल्टेयर के लिए सिसरो विवेक की प्रतिमूर्ति है। उसी के शब्दों में, 'हम सिसरो का आदर करते हैं क्योंकि उसने हमें विचार करना सिखाया।" (We honour Cicero who taught us how to think.)

4.4.3 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

ई. पू. प्रथम शताब्दी रोम के इतिहास में राजनीतिक व आर्थिक असंतोष व संघर्षों की शताब्दी थी। जहाँ एक ओर कुलीन वर्ग के विशेषाधिकारों के विरुद्ध जन असंतोष बढ़ रहा था, वहीं रोम की गणतांत्रिक संस्थाओं व परम्पराओं को जूलियस सीजर जैसे सेनानायकों व राजनीतिज्ञों से चुनौती मिल रही थी। ये लोग अपनी सैनिक सफलताओं की आड़ में जनता की सहानुभूति व समर्थन अर्जित कर अपनी निजी सत्ता को स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे। केटलाइन जैसे चतुर राजनेता भूमि के पुनर्वितरण का प्रश्न उठाकर आम जनता को बरगलाने में लिप्त थे। सिसरो इस प्रकार की प्रवृत्तियों से काफी चिंतित एवं सशंकित था क्योंकि उसका विचार था कि रोम की गणतांत्रिक परम्परा सभी वर्गों व हितों के सामंजस्य (Concord of orders) पर आधारित रही है, और उसमें बगैर सोचे समझे, भावुकता के प्रवाह में कोई बड़ा परिवर्तन करना वांछनीय एवं कल्याणकारी नहीं होगा। परिणामतः 'गणतंत्र की रक्षा करो' (Save the Republic) का विचार उसके राजदर्शन का मूलाधार है। सिसरो का यह दृढ़ विश्वास था कि हिंसा, रक्तपात, संघर्ष के साधन अपनाकर और भावावेश में आकर किए गए राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन प्रायः आत्मघाती सिद्ध होते हैं। रोम की गणतांत्रिक परम्परा का आधार संवाद,

विचार-विमर्श, तर्क-वितर्क रहा है। वक्तृता (Rhetoric) के द्वारा दार्शनिक धरातल पर विभिन्न प्रश्नों एवं मुद्दों पर निष्पक्ष विचार होना चाहिए। तभी संवैधानिक एवं राजनीतिक जीवन में सार्थक परिवर्तन हो सकते हैं। सिसरो के अनुसार दर्शन (Philosophy) और कक्तृता (Rhetoric) का यह समन्वय ही संवैधानिक शासन का आधार है, और जब विभिन्न कारणों से यह संबंध टूट जाता है तो निरंकुश सत्ता का उदय अवश्यंभावी है। उसके विचार से समकालीन रोम इन परम्पराओं से भटक रहा था, जबकि सिसरो इन परम्पराओं की पुनर्प्रतिष्ठा में ही रोम का कल्याण मानता था।

4.4.4. मिश्रित संविधान की धारणा

सिसरो के अनुसार रोम का गणतंत्र मिश्रित संविधान का अनूठा उदाहरण रहा है और इसी धारणा पर दृढ़ रहने में ही उसका कल्याण है। राजतंत्र, कुलीनतंत्र एवं लोकतंत्र में से किसी एक शासन प्रणाली को राज्य द्वारा अंगीकार करने को वह उचित नहीं मानता। राजतंत्र में निर्णय प्रक्रिया पर राजा के एकाधिकार के कारण राजा के स्वेच्छाचारी व निरंकुश हो जाने की संभावना रहती है। कुलीनतंत्र में कुलीनों का अहं, उनकी प्रतिद्वन्द्विता, उनकी शान-शौकत उन्हें समष्टि के हित से विमुख कर देती है। जनतंत्र में स्वतंत्रता एवं समानता के प्रति अति आग्रह अन्याय व अराजकता की प्रवृत्तियों को जन्म देता है, और वह भीड़तंत्र में विकृत हो जाता है। अतः सिसरो का विचार है कि तीनों शासन प्रणालियों के तत्वों व संस्थाओं के आधार पर एक संतुलित एवं मिश्रित संविधान स्थापित करना ही सर्वोत्तम मार्ग होगा। एक सुव्यवस्थित राज्य में राजा के रूप में निर्देशक व समन्वयक की आवश्यकता है, कुलीनों के रूप में गुणी, विवेकशील एवं लोकहित की भावना से ओतप्रोत एक सज्जन-वृंद की आवश्यकता है और यह भी आवश्यक है कि कतिपय प्रश्नों व निर्णयों को आम जनता की सम्मति एवं सहमति के लिए सुरक्षित रखा जाए। सिसरो के अनुसार इसी प्रकार से एक राज्य में एकता, श्रेष्ठता एवं सहमति की स्थापना की जा सकती है।

पोलिबियस के तर्क से सहमति प्रकट करते हुए सिसरो कहता है कि विश्व में रोम ही एकमात्र ऐसा राज्य है जो मिश्रित संविधान की व्यवस्था से संचालित होता आया है। रोम की यह राजव्यवस्था किसी एक या कुछ मनुष्यों के विवेक का परिणाम नहीं है और न ही यह किसी एक पीढ़ी की कृति है। रोम का संविधान सुदीर्घकाल के अनुभव, प्रयोग और चिंतन का परिणाम है और प्रबुद्ध जनों की अनेकों पीढ़ियों ने इसको विकसित एवं परिष्कृत किया है। कौन्सुल, सीनेट एवं आम जनता - इन तीनों अंगों का समुचित सामंजस्य और सहयोग रोम की शक्ति व सुदृढ़ता का कारण रहा है। उसी के शब्दों में "रोम के मजिस्ट्रेटों के पास पर्याप्त शक्ति (Potestas), कुलीनों के पास पर्याप्त बौद्धिक परिपक्वता (Auctoritas) और जनसामान्य के पास पर्याप्त स्वतंत्रता (Libertas) विद्यमान रही है, और इसी ने रोम को स्थिर व दृढ़ बनाया है।"

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि सिसरो मिश्रित संविधान को एक आदर्श प्रणाली मानता है, पर उसका विचार है कि शासन एक जड़ यंत्र नहीं है और इसलिए यह मान लेना कि शासन के तीनों तत्व सदैव यंत्रवत् संचालित होते रहेंगे, अबुद्धिमत्तापूर्ण होगा। दूसरे शब्दों में, प्रश्न यह है कि यदि मिश्रित संविधान में कोई असंतुलन उत्पन्न हो जाए अथवा गतिरोध पैदा हो जाए, तो उसे कौन ठीक करे? अतः एक ऐसी संचालक शक्ति (Directing Spirit) की आवश्यकता है जो तीनों तत्वों को अपने स्थान और अपनी मर्यादा में गतिशील रखे और उनके मध्य सौहार्द्र कायम रखे। इस भूमिका का निर्वहन करने हेतु वह नेतृत्व (Leadership) की परिकल्पना करता है जो जनमत को इस प्रकार शिक्षित व निर्देशित करेगा कि संविधान का संतुलन बना रहे। लेकिन उसकी नेतृत्व की धारणा अस्पष्ट और अपरिभाषित ही रह जाती है।

क्या नेतृत्व से उसका आशय एक असाधारण व्यक्ति से है जो अपनी अंतर्दृष्टि, दूरदर्शिता एवं लोक संग्रह की भावना से राज्य को सुस्थिर एवं सुशासित रख सके? उसकी पुस्तक 'रिपब्लिक' के कुछ अंश ऐसा ही आभास देते हैं कि नेतृत्व का भार शिपियों (Scipio) जैसा राजनेता वहन कर सकता है। लेकिन अन्य स्थलों पर वह नेतृत्व के लिए अभिजन समूह को उपयुक्त मानता है।

4.4.5 राज्य संबंधी विचार

सिसरो के अनुसार मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी है। वह किसी मजबूरी या कमजोरी से राज्य में नहीं रहता, वरन् राज्य में रहना उसका सहज स्वभाव है। राज्य को परिभाषित करते हुए वह कहता है – "राज्य जनता की सम्पत्ति है।.... यह वह जनसमूह है जो न्याय और सामुदायिक कल्याण की भावना से एकता के सूत्र में बंधा है।" (The Commonwealth is the wealth of the people.....State is the multitude united by a common sense of right and by a community of interest) सिसरो के अनुसार राज्य की एकता का आधार न्याय के शाश्वत सिद्धान्त हैं और इन्हीं की स्थापना में समष्टि का कल्याण संभव है। जब किन्हीं कारणोंवश राज्य न्याय से विरत् हो जाता है तो समष्टि के कल्याण का भाव तिरोहित होने लगता है। समाज में स्वार्थ व संघर्ष की वृद्धि होने लगती है और अंततः राज्य (Populus) एक भीड़ (Mob) में विकृत हो जाता है।

सिसरो के अनुसार राज्य के अस्तित्व और एकता की रक्षा हेतु शासन की आवश्यकता होती है। शासन प्रणालियों के वर्गीकरण के विषय में वह अरस्तू की मान्यताओं का ही अनुसरण करता है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

4.4.6 प्राकृतिक विधि

अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में सिसरो ने एपीक्योरियन दार्शनिकों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त कि विधि अनुबंध या प्रथा का परिणाम है, की समीक्षा की है और उसे अस्वीकार किया है। इस सिद्धान्त में विधि को मनुष्यकृत (Conventional) माना गया। मनुष्य एक दूसरे पर विश्वास नहीं करते और एक दूसरे से भयभीत रहते हैं। उन्हें अपनी शक्ति सामर्थ्य का भी पूरा भरोसा नहीं है। अतः सभी मनुष्य एक अनुबन्ध कर कानून और न्याय की स्थापना करते हैं। इस प्रकार विधि हमारी दुर्बलता का परिणाम है। इसी प्रकार की मान्यता प्लेटो के 'रिपब्लिक' में ग्लोकन प्रतिपादित करता है जब वह कहता है कि 'न्याय भय की सन्तान है।' (Justice is the child of fear)

सिसरो इस तर्क को स्वीकार नहीं करता कि विधि मनुष्यकृत है और मनुष्यों को जैसे चाहे कानून बनाने का अधिकार है। सिसरो स्टाइक दर्शन का अनुगामी है और मानता है कि कानून प्राकृतिक विवेक (Natural Reason) का परिणाम है, यह शाश्वत व सार्वभौमिक है, और सर्वदा एवं सर्वत्र एक समान है। प्राकृतिक विधि को परिभाषित करते हुए वह कहता है कि – "विधि प्रकृति पर आधारित सम्यक् विवेक है। यह सार्वभौमिक, अपरिवर्तनशील और शाश्वत है। अपने निर्देशों से यह मनुष्य को कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध कराती है। कोई अन्य नियम या विधि इसका स्थान नहीं ले सकती, इससे हटकर कोई नियम नहीं बनाया जा सकता और इसे समाप्त करना असंभव है। संसद और जनता दोनों ही इस विधि की अवहेलना नहीं कर सकती, यह स्वयं ही अपनी व्याख्याता है। एथेन्स में एक और रोम में दूसरा कानून नहीं हो सकता, इसी प्रकार वर्तमान और भविष्य के कानून अलग-अलग नहीं हो सकते। सभी देश एवं सभी युग एक शाश्वत व अपरिवर्तनीय विधि से नियंत्रित होंगे। जो ईश्वर सभी मनुष्यों का स्वामी एवं शासक है, वही इस विधि का निर्माता और व्याख्याकार है।" (``True law is the right reason

conformable to nature. It is of universal application, unchanging and everlasting. It summons men to their duty by its commands and deters them from crime by its prohibitions .... No rule may be made in substitution for this law, no rule can be made in derogation from it, nor can it be utterly abrogated, We can not be released from it either by Senate or people nor is any commentator or interpreter of it other than itself to be sought. There will not be one law at Athens and other at Rome or one law now or another in the future, all nations at all times will be bound by the one eternal and immutable law, there will be one God who is Common to all men, their master and ruler and He it is who devises, debates and enacts this law."

इस प्रकार प्राकृतिक विधि का स्रोत ईश्वर है। वस्तुतः विधि मनुष्य को ईश्वर का उपहार है, न कि किसी व्यक्ति, विधानमंडल या जनसमूह की रचना। राज्य निर्मित विधियाँ उसी सीमा तक विधि कही जा सकती हैं जिस सीमा तक वे प्राकृतिक विधि के अनुरूप हों। अपनी पुस्तक 'Law' में वह विधि के लिए 'व्यावहारिक विवेक' (Prudentia) शब्द का प्रयोग करता है जिससे हमें करणीय और अकरणीय कार्यों का बोध होता है। सिसरो के अनुसार राज्य के कानून, नियम या प्रथाएं प्राकृतिक विधि की प्रतिलिपि होनी चाहिए, अन्यथा मनुष्य उनका पालन करने के लिए बाध्य नहीं है।

4.4.7 मानवीय समानता की धारणा

सिसरो के अनुसार सभी मनुष्यों में प्राकृतिक विवेक किसी न किसी अंश में विद्यमान है, अतः सभी मनुष्य समान माने जाने चाहिए। सभी मनुष्य समानरूप से सम्पत्तिवान या विद्यावान नहीं हो सकते, पर सत्-असत्, पाप-पुण्य, उचित-अनुचित का भेद करने की सामर्थ्य सभी मनुष्यों को प्राप्त है। प्राकृतिक विवेक में समान रूप से भागीदार होने की इस क्षमता के कारण यह उचित होगा कि सभी मनुष्यों को साध्य के रूप में देखा जाए और किसी मनुष्य को साधन न माना जाये। मनुष्य को यंत्र मानना या इस रूप में उसे प्रयुक्त करना मानवता का अपमान होगा।

सिसरो के लिए समानता एक नैतिक आदर्श है और दासता एक नैतिक विकृति। वह इस तथ्य से भली-भाँति अवगत है कि व्यावहारिक जगत् में हमें अनेक प्रकार की विषमताएं एवं भेद दिखाई पड़ते हैं। उसका विचार है कि अनेकों प्रकार की असमानताएं हमारी भ्रान्ति एवं दुर्बलता का परिणाम हैं। मानवीय समानता का उसका यह विचार उसे यूनानी दर्शन से, विशेषतः अरस्तू के राजदर्शन से पृथक करता है। इसीलिए कार्लायल का विचार है कि अरस्तू के बाद के युग की कोई राजनीतिक मान्यता इतनी चौंकाने वाली नहीं है जितना सिसरो का मानवीय समानता का सिद्धान्त। इस दृष्टि से सिसरो का तात्कालिक उत्तराधिकारी ईसाई राजदर्शन था और दीर्घकालिक उत्तराधिकारी जर्मन दार्शनिक कान्ट। दोनों ने मनुष्य को साध्य के रूप में स्वीकार कर मानवीय गरिमा को अत्यंत महत्वपूर्ण माना। इस दृष्टि से, जैसा कि प्रो. सेबाइन का निष्कर्ष है, सिसरो 1800 वर्ष बाद के दार्शनिक कान्ट के बहुत निकट है और 300 वर्ष पूर्व के अरस्तू से बहुत दूर।

4.4.8 समीक्षा

पाश्चात्य राजदर्शन के समीक्षक सिसरो को यूनानी युग और मध्ययुग के बीच की एक महत्वपूर्ण कड़ी मानते हैं। उनका विचार है कि सिसरो की रचनाएं रोम के राजनीतिक आदर्शों एवं तत्कालीन संवैधानिक एवं सामाजिक संघर्षों को भली प्रकार प्रतिबिम्बित करती हैं। फिर भी उसके राजनीतिक दर्शन में अनेक विसंगतियाँ एवं अस्पष्टताएं विद्यमान हैं। प्रो. अरनेस्ट बार्कर का मत है कि 'सिसरो का राजदर्शन मौलिक और सुसंगत नहीं है तथा ऐसा प्रतीत होता है कि उसने

तत्कालीन राजनीतिक झंझावतों से विश्राम पाने के लिए लेखनी की शरण ली, न कि किसी व्यवस्थित राजदर्शन का प्रतिपादन करने के लिए। उसने बहुत लिखा और बड़ी जल्दबाजी में लिखा, इसलिए उसे चिंतन और मनन के लिए अवकाश नहीं मिल पाया।' वह संशयवाद से भी प्रभावित था और स्टाइक दर्शन से भी, लेकिन इन परस्पर विरोधी सिद्धान्तों में सामंजस्य स्थापित कर पाना आसान नहीं था। सिसरो के राजदर्शन की आलोचना निम्न आधारों पर की जाती है –

1. सिसरो का मिश्रित संविधान का विचार पोलिबियस के निष्कर्षों का पुनर्कथन मात्र है। सेबाइन का विचार है कि यूनानी नगर-राज्यों के संदर्भ में प्रतिपादित मिश्रित संविधान की धारणा को रोम पर ज्यों का त्यों आरोपित करना उचित नहीं था। यदि सिसरो रोमन इतिहास व संवैधानिक विकास का गहन अध्ययन कर रोम में मिश्रित संविधान के वैशिष्ट्य की व्याख्या करता तो उसका विचार अधिक इतिहासपरक, अनुभवपरक एवं सत्य के निकट होता। इसी कमी के कारण वह स्पष्ट रूप से यह बताने में असमर्थ रहा कि रोम की कौन सी संस्था किस तत्व को प्रकट करती है।

2. प्रो. बार्कर का विचार है कि सिसरो का मिश्रित संविधान का विचार वस्तुतः कुलीनतंत्र की ओर झुका हुआ है। इसका कारण यह है कि वह कुलीनवर्ग को राजव्यवस्था की धुरी मानता है। मिश्रित संविधान की व्यवस्था को सक्रिय रखने के लिए 'नेतृत्व' की जिस अवधारणा का वह प्रतिपादन करता है, उससे भी यही बात सिद्ध होती है।

   प्रो. बार्कर के अनुसार यद्यपि सिसरो नागरिकों के अधिकारों व स्वतंत्रताओं को बहुत महत्वपूर्ण मानता है, परन्तु जनता द्वारा चुनी गयी सभाओं पर उसका अधिक विश्वास नहीं है। सिसरो मानता है कि राजनीति में इस सिद्धान्त का पालन आवश्यक है कि आम जनता को सर्वाधिक शक्ति प्राप्त नहीं होनी चाहिए।

3. पहली सदी के रोमन इतिहासकार टेसिटस (Tacitus) का विचार था कि मिश्रित संविधान की चर्चा करना बहुत आसान है, पर विभिन्न तत्वों का समुचित संतुलन स्थापित कर पाना बहुत जटिल कार्य है। यदि एक बार यह संतुलन स्थापित भी हो जाए, तो यह सदैव बना रहेगा इसकी गारंटी नहीं दी जा सकती।

4. डनिंग का विचार है कि यद्यपि सिसरो ने प्राकृतिक विधि को शाश्वत माना है पर 'प्रकृति' शब्द को वह अनेक अर्थों में प्रयोग करता है। प्राकृतिक विधि को सावधानीपूर्वक परिभाषित करने की चेष्टा वह नहीं करता, और तर्कपूर्ण शैली का परित्याग कर वाग्जाल में उलझ जाता है। डनिंग कहते हैं कि वह अंततः रोम के कानून को ही प्राकृतिक विधि मान बैठता है।

   सिसरो के राजदर्शन की सीमाओं और विसंगतियों के विषय में कोई निश्चित निष्कर्ष निकालना इसलिए संभव नहीं है क्योंकि उसकी सभी रचनाएं उपलब्ध नहीं हैं और जो उपलब्ध हैं वह आधी-अधूरी हैं। उसकी विसंगतियों का एक कारण संभवतः यह भी है कि एक राजनीतिज्ञ की विवशताओं और एक दार्शनिक की निष्ठाओं का द्वन्द्व उसके जीवन में निरंतर बना रहा, और इसके पूर्व कि इस द्वन्द्व का कोई समाधान निकलता, उसकी क्रूरतापूर्ण तरीके से हत्या कर दी गयी। राजदर्शन के इतिहास में सिसरो एक युग का प्रतिनिधि है और भावी युगों के लिए प्रकाश-स्तंभ है। उसके योगदान का विवेचन निम्न प्रकार से किया जा सकता है –

1. प्रो. लियो स्ट्रास का विचार है कि सिसरो ने राजनीतिक जीवन की महत्ता (Primacy of the Political) को पुनर्स्थापित किया। अरस्तू की मृत्यु के बाद के लगभग 300

वर्षों में राजनीति एवं राज्य के प्रति जो उपेक्षा का भाव आ गया था, सिसरो ने उसे समाप्त किया। उसकी रचनाओं में सार्वजनिक जीवन के प्रति तीव्र उत्साह दृष्टिगोचर होता है। वह दार्शनिकों को बार-बार मातृभूमि के प्रति कर्तव्य का स्मरण कराता है और कहता है कि दार्शनिकों को, आवश्यकता पड़ने पर, 'शाश्वत एवं दिव्य' की अपनी साधना को स्थगित कर राज्य की सेवा में प्रस्तुत होना चाहिए।

2. सिसरो संविधानवाद और गणतांत्रिक परम्पराओं का प्रबल पक्षधर है। राजनीति, दर्शन और वाग्मिता के घनिष्ठ संबंध को वह राज्य के नैतिक स्वास्थ्य के लिए बहुत आवश्यक मानता है। उसका स्पष्ट विचार है कि राजनीति संवाद का क्षेत्र है न कि हिंसा व शक्ति प्रदर्शन का, और इसलिए वाक्-शक्ति को वह कुशल और सफल राजनीतिज्ञ का सर्वोपरि गुण मानता है। उसका स्पष्ट विचार है कि वक्तृता और वाग्जाल में बहुत अंतर है। जहाँ वक्तृता बुद्धि को प्रकाशित कर सार्वजनिक जीवन को शुद्ध करती है वहाँ वाग्जाल भावनाओं को भड़काकर राज्य को विभ्रम और अव्यवस्था में झोंक देता है।

सिसरो के अनुसार काव्य, इतिहास, राजनीति और वाग्मिता का ज्ञान और अभ्यास नागरिकों का बौद्धिक व नैतिक परिष्कार करता है, और उन्हें स्वतंत्र व सीमित शासन के लिए तैयार करता है। इस प्रकार संविधानवाद, सार्वजनिक जीवन में शिक्षा एवं संवाद की महत्ता मध्ययुगीन व आधुनिक राजदर्शन को सिसरो का गौरवशाली अनुदाय है।

3. प्रो. डनिंग के अनुसार सिसरो का प्राकृतिक विधि का विचार नीतिशास्त्र, विधिशास्त्र एवं राजशास्त्र के सिद्धान्तों का मिलन-बिन्दु होने के कारण एक स्थायी देन है।

4. प्रो. कार्लायल के अनुसार सिसरो की विशिष्टता तीन महत्वपूर्ण व अंतर्संबंधित धारणाओं के प्रतिपादन में है और यह हैं – प्राकृतिक विधि, प्राकृतिक समानता और राज्य का प्राकृतिक होना।

सिसरो के राजदर्शन ने मध्ययुग के ईसाई दार्शनिकों, पुनर्जागरण काल के मानववादियों और डेविड ह्यूम जैसे संशयवादियों को भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रभावित किया। उसका दावा था कि उसने रोम को दर्शन से परिचित कराया। यह कहना था कि कालांतर में उसने विश्व को रोम से परिचित कराया, अत्युक्ति न होगी।

4.5 सारांश

इस इकाई में आपने वृहत्तर यूनानीकाल और रोमनकाल के राजनीतिक चिंतन का अध्ययन किया है। वृहत्तर यूनानी काल के लगभग 300 वर्ष राजदर्शन की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं हैं क्योंकि इस युग में राज्य और राजनीतिक जीवन के प्रति उपेक्षा व उदासीनता का भाव ही दृष्टिगोचर होता है। स्पष्टतः साम्राज्यवादी और सैन्यवादी प्रवृत्तियों के उभरने से न केवल जनसामान्य में वरन् दार्शनिकों में भी राजनीतिक जीवन के प्रति अरुचि पैदा हो गयी। इस युग के प्रमुख दार्शनिक सम्प्रदाय-एपीक्योरियन, स्टाइक, सिनिक्स आदि 'सद्जीवन' को नितान्त व्यक्तिनिष्ठ विषय मानते हैं, और यह यूनानी मान्यता कि राज्य में ही सद्जीवन की प्राप्ति संभव है, को अस्वीकार कर देते हैं। इस युग में न केवल राजनीति की उपेक्षा की गयी, वरन् यूनानी दर्शन के एक अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्त - बुद्धिवाद को भी महत्व नहीं दिया गया।

इस युग में राजदर्शन के क्षेत्र में दो मुख्य दार्शनिक - पोलिबियस एवं सिसरो हुए। पोलिबियस एक ग्रीक दार्शनिक था जिसने रोम की संवैधानिक व्यवस्था का विवेचन किया और रोम की शक्ति का कारण मिश्रित संविधान की अवधारणा को माना। सिसरो के राजदर्शन पर पोलिबियस की मान्यताओं का गहरा प्रभाव देखा जा सकता है। सिसरो की महत्ता इस बात में है कि उसने राजदर्शन को उसकी प्रतिष्ठा लौटाई और राजदर्शन के मूलभूत प्रश्नों जैसे राज्य की प्रकृति,

विधि का स्वरूप, आदर्श संविधान के लक्षण आदि को विवेचना का विषय बनाया। रोमन सभ्यता ने जहाँ सिसरो जैसे राजशास्त्री को उत्पन्न किया वहीं विधिशास्त्र के क्षेत्र में भी उसने अविस्मरणीय योगदान किया। रोम के वैधानिक सिद्धान्तों व संस्थाओं की आधारशिला पर ही आधुनिक यूरोप की राजनीतिक एवं वैधानिक प्रणाली की रचना हुयी।

4.6 उपयोगी पुस्तकें

1. जार्ज सेबाइन - राजनीतिक चिंतन का इतिहास

2. डॉ. ब्रज किशोर झा - राजनीतिक चिंतन का इतिहास

3. Sheldon Wolin – Politics and Vision

4.7 संबंधित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. पोलिबियस के राजदर्शन की मुख्य मान्यताओं का विवेचन कीजिए।
2. 'सिसरो एक प्रखर संविधानवादी है।' इस कथन की विवेचना कीजिए।
3. प्राकृतिक विधि की सिसरो की मान्यता का विवेचन कीजिए। परवर्ती राजनीतिक चिंतन पर इसका क्या प्रभाव पड़ा?
4. राजदर्शन के इतिहास में सिसरो के योगदान की समीक्षा कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. यूनानी राजदर्शन एवं वृहत्तर यूनानीकाल के राजदर्शन में अंतर स्पष्ट कीजिए।
2. पोलिबियस की मिश्रित संविधान की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
3. मानवीय समानता पर सिसरो के विचार बताइए।
4. सिसरो के मिश्रित संविधान के विचार को स्पष्ट कीजिए।
5. रोम में कानून के कितने प्रकार मान्य थे?
6. रोम में नागरिक विधि और अंतर्राष्ट्रीय विधि में क्या भेद था?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्न में से किस मान्यता का पोलिबियस प्रतिपादक है?

   (अ) शासन प्रणालियों का चक्रीय परिवर्तन

   (ब) साम्राज्यवाद

   (स) नगर राज्य की श्रेष्ठता

   (द) प्राकृतिक विधि

2. सिसरो की पुस्तक का नाम बताइए।

   (अ) पालिटिक्स

   (ब) स्टेट्समैन

(स) रिपब्लिक

(द) आन फ्रीडम

3. यूनानी राजदर्शन की किस मान्यता को सिसरो ने अस्वीकार किया?

(अ) न्याय

(ब) मिश्रित संविधान

(स) दासता

(द) राज्य को प्राकृतिक मानना।

4. रोम की राजनीति में सिसरो पक्षधर था –

(अ) निरंकुशवाद का

(ब) विस्तारवाद का

(स) गणतंत्र का

(द) भूमि के पुनर्वितरण का

5. प्राकृतिक विधि की धारणा के अनुसार

(अ) विधि मनुष्यकृत है

(ब) विधि भय का परिणाम है

(स) विधि शाश्वत व सार्वभौमिक है

(द) विधि सापेक्ष है

6. सिसरो के राजदर्शन पर मुख्य प्रभाव किसका पड़ा?

(अ) ईसाई राजदर्शन

(ब) सोफिस्ट दर्शन

(स) स्टाइक दर्शन

(द) उक्त में कोई नहीं

4.8 प्रश्नोत्तर

1. अ 2. स 3. स 4. स 5. स 6. स

इकाई 5 : आगस्टीन एवं एक्वीनास

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 प्रारंभिक ईसाई राजदर्शन
5.3 दो तलवारों का सिद्धान्त
5.4 सन्त आगस्टीन
5.4.1 आगस्टीन का इतिहास दर्शन
5.4.2 दो राज्यों की अवधारणा
5.4.3 राज्य का स्वरूप
5.4.4 चर्च सम्बन्धी विचार
5.4.5 दासता व युद्ध सम्बन्धी विचार
5.4.6 समीक्षा
5.5 सन्त टामस एक्वीनास
5.5.1 पाण्डित्यवाद एवं सन्त एक्वीनास
5.5.2 विधि की अवधारणा
5.5.3 राज्य सिद्धान्त
5.5.4 शासन सिद्धान्त
5.5.5 शासक के कार्य
5.5.6 चर्च-राज्य सम्बन्ध
5.5.7 युद्ध सम्बन्धी विचार
5.5.8 एक्वीनास का महत्त्व
5.6 मध्य युग में चर्च-राज्य संघर्ष
5.7 सारांश
5.8 उपयोगी पुस्तकें
5.9 सम्बन्धित प्रश्न
5.10 प्रश्नोत्तर

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

- ईसाई राजदर्शन की मुख्य विशेषताओं से अवगत हो सकेंगे
- सन्त आगस्टीन के मुख्य राजनीतिक विचारों को समझ सकेंगे
- संत टामस एक्विनास के पांडित्यवादी दर्शन और राजनीतिक चिन्तन को समझ सकेंगे
- मध्य युग में चर्च-राज्य संघर्ष के स्वरूप से अवगत हो सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

मध्ययुग वस्तुतः ईसाई राजनीतिक चिन्तन का युग था। इतिहासकारों का विचार है कि 312 ई० जब रोमन सम्राट कान्स्टेटाइन ने ईसाई धर्म को राजधर्म घोषित किया, से 1517 ई० जब मार्टिन लूथर के प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन के फलस्वरूप ईसाई धर्म दो टुकड़ों में बँट गया - का

लगभग 1200 वर्ष का कालखंड ईसाई धर्म-दर्शन की प्रधानता का युग था। प्रसिद्ध विद्वान विल ड्यूरां ने इसे विश्वास का युग (Age of Faith) कहा है क्योंकि ईसाई धर्मशास्त्र ज्ञान एवं दर्शन का आधार बना और ईश्वरीय वचन (Revelation) तर्क और बुद्धि की कसौटी बने। यद्यपि ईसाई धर्म-दर्शन पर यहूदी, यूनानी, रोमन और स्टाइक सिद्धान्तों का गहरा प्रभाव पड़ा, फिर भी ईसाई धर्म के रूप में एक नयी जीवन-दृष्टि, एक नये विचार-दर्शन का उदय एक असाधारण घटना थी जिसने यूरोपीय संस्कृति एवं राजनीति को आमूल रूप से परिवर्तित कर दिया। दर्शन, विज्ञान, साहित्य, कला, राजनीति और अर्थनीति आदि जीवन के सभी पक्ष ईसाइयत के रंग में सराबोर हो गए।

ईसाई धर्म यहूदी धर्म की ही एक शाखा है, और इसका उदय यहूदी धर्म में व्याप्त कुरीतियों व विकृतियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। ईसाई धर्म जीवन की एक समग्र अवधारणा प्रस्तुत करता है क्योंकि ईसा का आगमन मनुष्य को लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण के मार्ग पर प्रवृत्त करने के लिए हुआ। यहूदी धर्म की भाँति ईसाई धर्म में भी पारलौकिक जीवन को सर्वोच्च एवं अन्तिम लक्ष्य माना गया है और मनुष्य के इहलौकिक जीवन को एक तीर्थयात्रा एवं पारलौकिक जीवन की तैयारी के रूप में देखा गया है। इसलिए ईसाई धर्म में राजनीति, नीति एवं धर्म घनिष्ठ रूप से परस्पर गुंथे हुए हैं।

ईसाई धर्म के संस्थापक तो ईसा थे, परन्तु सम्पूर्ण रोमन साम्राज्य में उसका प्रसार-प्रचार करने का श्रेय संत पीटर एवं सन्त पाल को जाता है। ईसाई धर्म के मानने वालों को लगभग 300 वर्ष तक रोमन सम्राटों के घोर दमन और उत्पीड़न का सामना करना पड़ा क्योंकि रोमन सम्राट और जनता पैगन (Pagan) मत के अनुयायी थे। परन्तु अन्ततः ईसाइयों का बलिदान, उनका विश्वास विजयी हुआ और सन् 312 ई0 में रोमन सम्राट कान्स्टेन्टाइन ने ईसाई धर्म को स्वयं अंगीकार करते हुए उसे रोम का राजधर्म घोषित कर दिया।

चौथी व पाँचवीं सदी में रोमन साम्राज्य पर बर्बर नातियों के आक्रमण प्रारंभ हो गए थे। आन्तरिक कुप्रबन्ध से राजनीतिक व सामाजिक अव्यवस्था तेजी से बढ़ रही थी। इन परिस्थितियों में ईसाई धर्म व चर्च रोम के लोगों के लिए एक महत्वपूर्ण सम्बल बना। इन्हीं शताब्दियों में चर्च का संगठनात्मक ढाँचा खड़ा हुआ। अनेक विलक्षण सन्तों व धर्मशास्त्रियों ने ईसाइयत के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों का प्रतिपादन कर उसे सुदृढ़ दार्शनिक एवं वैचारिक आधार प्रदान किया। उन्होंने जहाँ एक ओर यूनान और रोम के बुद्धिवादी दर्शन पर ईसाइयत की श्रेष्ठता को प्रतिपादित किया, वहीं दूसरी ओर ईसाई धर्म के अन्दर से उठ रहीं विधर्मियों की चुनौतियों का तर्कपूर्ण प्रतिवाद भी किया। इन विभूतियों में टर्ट्यूलियन, आरिजेन, लैक्टेन्टियस, सन्त आगस्टीन, सन्त एम्ब्रोज और पोप ग्रेगरी महान के नाम उल्लेखनीय हैं।

5.2 प्रारंभिक ईसाई राज दर्शन

ईसाई धर्म का उदय रोमन साम्राज्य के एक भाग में हुआ था। रोम के लोग पैगन धर्म के अनुयायी थे। ईसा के बलिदान के बाद जब ईसाई धर्म का प्रसार प्रचार रोमन साम्राज्य के विभिन्न भागों में शुरू हुआ, तो रोमन सम्राट व जनता इसे कतई बर्दाश्त नहीं कर पाए। रोमन सम्राटों ने ईसा और ईसाई धर्म को एक प्रतिद्वन्द्वी एवं शत्रु के रूप में देखा और उसका दमन प्रारंभ कर दिया। ईसाई धर्म के उदय के बाद के लगभग 300 वर्ष ईसाइयों के लिए बलिदान व संघर्ष के वर्ष थे। अतः राजनीतिक दृष्टि से ईसाई धर्माचार्यों व विचारकों के समक्ष सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह था कि एक गैर-ईसाई राज्य के ईसाई निवासी राज्य के प्रति किस प्रकार का दृष्टिकोण रखें और ऐसे राज्य में उनकी क्या भूमिका है। इस समस्या को और जटिल बनाने में स्वयं ईसाई धर्म की मान्यताओं ने भी योगदान किया क्योंकि ईसाई धर्म में मोक्ष या स्वर्ग के

राज्य को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य माना गया है और सांसारिक व लौकिक निष्ठाओं व सम्बन्धों को गौण माना गया है।

यूनानी एवं रोमन राजदर्शन में राज्य को सर्वोपरि संस्था के रूप में देखा गया और उसे मनुष्य की सम्पूर्ण निष्ठा का केन्द्र माना गया। उनके अनुसार मनुष्य का आत्मिक, नैतिक व भौतिक विकास राज्य के मार्गदर्शन और माध्यम से ही संभव है। न केवल यूनानी दार्शनिकों वरन् रोमन विधिशास्त्रियों के लिए राज्य में ही सार्थक जीवन संभव है और राज्य से परे किसी लक्ष्य की कल्पना नहीं की जा सकती। हाँ, स्टाइक दर्शन ने मनुष्य की दोहरी निष्ठाओं का अवश्य उल्लेख किया - एक राज्य (Polis) के प्रति एवं एक सार्वभौमिक समाज (Cosmopolis) के प्रति। परन्तु स्टाइक दर्शन की यह मान्यता अमूर्त दार्शनिक धरातल तक ही सीमित रही। ईसाई धर्म ने इस प्रश्न को धार्मिक-आध्यात्मिक शब्दावली में प्रस्तुत कर ज्वलन्त प्रश्न बना दिया। इस प्रकार व्यक्ति राज्य सम्बन्ध की समस्या को ईसाई सन्तों व विचारकों ने न केवल गैर-ईसाई रोमन साम्राज्य की नीतियों के संदर्भ में देखा, वरन् उसे ईसाई धर्मशास्त्रों की दृष्टि से भी देखा।

ईसा और उनके शिष्यों ने मनुष्य के सांसारिक जीवन को ईश्वरीय राज्य (Kingdom of God) की तैयारी के रूप में देखा था। उनका विचार था कि आदम के मूल पाप (Original Sin) के परिणामस्वरूप राज्य की उत्पत्ति हुयी। राज्य एक पाप पूर्ण संस्था है परन्तु यह आवश्यक भी क्योंकि संसार में पापों व अपराधों को बढ़ने से रोकने में राज्य की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यदि राज्य न हो, तो अनाचार की वृद्धि के कारण धार्मिक एवं नैतिक जीवन असंभव हो जायेगा। अतः वे राज्य को साधन के रूप में स्वीकार करते हैं, परन्तु साध्य के रूप में नहीं। ईसा ने निर्देश दिया था कि एक ईसाई को राज्य के प्रति अपने दायित्वों को पूरा करना चाहिए। उनके अनुसार 'जो सम्राट को देय है, वह सम्राट को दो और जो ईश्वर को देय है, वह ईश्वर को दो।' (Render unto Caesar the things which are Caesar's and unto God the things that are God's) सन्त पाल ने रोम के निवासियों को राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करने का निर्देश देते हुए कहा था– "प्रत्येक व्यक्ति को उच्चतर शक्तियों के अधीन रहना चाहिए क्योंकि सभी उच्चतर शक्तियाँ ईश्वरीय विधान का अंग हैं। इसलिए जो उनका विरोध करता है वह वस्तुतः ईश्वर का विरोध करता है।" (Let every soul be subject unto the higher powers. For there is no power but of God; the powers that be are ordained of God) सन्त पीटर ने 'न्यू टेस्टामेन्ट' में कहा कि संसार में दुष्टों को दण्डित करने के लिए ईश्वर ने शासक को भेजा, अतः शासन की आज्ञा का पालन होना चाहिए। 'ईश्वर से डरो और राजा का सम्मान करो।' (Fear God. Honour the King.)

पीटर और पाल के विचार वस्तुतः राजपद की दैवीय उत्पत्ति की धारणा का प्रतिपादन करते हैं। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है अतः उसकी आज्ञा का पालन होना चाहिए। यहूदी धर्मशास्त्र भी राजा को दैवीय मानता है। यह अवश्य है कि राजपद (office of the king) दैवीय है, न कि राजा। ईसाई सन्त और विचारक यह समझते थे कि राजा आततायी एवं दुष्ट भी हो सकता है। पर इससे हमारे राजा के प्रति दायित्वों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि दुष्ट राजा ईश्वरीय कोप को प्रकट करते हैं। फिर भी जैसा कि प्रसिद्ध विद्वान कलमैन (Cullmann) ने स्पष्ट किया है, एक ईसाई का सर्वोच्च एवं सर्वप्रथम दायित्व तो ईश्वर और उसके पुत्र ईसा के प्रति ही है, और राजा की आज्ञा एवं धर्मशास्त्र के आदेश में टकराव की स्थिति में एक ईसाई धर्मशास्त्र के निर्देशों के अनुसार ही कार्य करेगा और राजा की अवज्ञा करेगा। राजपद दैवीय है, लेकिन वह ईश्वर के समकक्ष नहीं है। एक सीमा के अन्तर्गत राज्य महत्वपूर्ण है और उसके प्रति हमारे दायित्व भी महत्वपूर्ण हैं। लेकिन हमारा सर्वोपरि एवं परम दायित्व ईश्वर के प्रति ही है। (''Actually Jesus merely recognizes that within its sphere, the state can demand what belongs to it : money, taxes. But it is not placed on the same level

as God. Give God what is his, that is, your life your entire person"– Oscar Cullmann, `The State in the New Testament')

5.3 दो तलवारों का सिद्धान्त

ईसाई धर्म मनुष्य के लक्ष्य, उसके स्वरूप और उसकी निष्ठा के सम्बन्ध में द्वैतवादी (Dualistic) दृष्टिकोण अपनाता है। एक ईसाई के पारलौकिक एवं लौकिक दो लक्ष्य हैं, पारलौकिक लक्ष्य प्रधान है एवं लौकिक लक्ष्य गौण। पहला साध्य है तो दूसरा साधन। इसी दृष्टि से एक ईसाई दो राज्यों का सदस्य है और दो सत्ताओं के अधीन है। पारलौकिक लक्ष्य के सम्बन्ध में उसका मार्गदर्शन चर्च एवं उसके धर्माधिकारी करते हैं एवं अपनी लौकिक एवं सांसारिक गतिविधियों के सुचारु संचालन के लिए वह राज्य पर निर्भर है और राजसत्ता के अधीन है। धर्मसत्ता व राजसत्ता के मध्य परस्पर सहयोग व सौहार्द आवश्यक है क्योंकि तभी मनुष्य का सम्पूर्ण कल्याण संभव है।

धर्मसत्ता व राजसत्ता के सह अस्तित्व और पारस्परिक सम्बन्धों को 5वीं शताब्दी के अन्त में पोप गेलेशियस प्रथम ने दो तलवारों के सिद्धान्त (Doctrine of two swords) के रूप में प्रतिपादित किया। सम्राट अनास्टेसियस को 494 ई0 में लिखे एक पत्र में पोप गेलेशियस ने कहा– "यह संसार मुख्य रूप से दो प्रणालियों द्वारा शासित है– पादरियों की पवित्र सत्ता और राजसत्ता। इन दोनों में पादरियों की सत्ता उच्चतर है क्योंकि अन्तिम निर्णय के समय उन्हें ईश्वर को राजा के कार्यों का भी हिसाब-किताब देना होगा।" (There are two system under which chiefly this world is governed, the sacred authority of the priests and the royal power. Of these the greater weight is with the priests in sofaer as they will answer to the Lord even for the kings in the last judgement.')

इस सिद्धान्त के अनुसार लौकिक क्षेत्र में अन्तिम शक्ति राजा को प्राप्त है, वह विभिन्न स्तरों पर नियुक्त राजकीय पदाधिकारियों की सहायता से राज्य का संचालन करता है, जबकि आध्यात्मिक व धार्मिक क्षेत्र में पोप सर्वोच्च है और वह धर्माधिकारियों की सहायता से जनसमाज को आत्मिक व धार्मिक क्षेत्र में निर्देशित करता है। धार्मिक मामलों व विवादों को निपटाने में चर्च स्वतंत्र है और इस क्षेत्र में राजकीय कानून एवं आदेश लागू नहीं होते। गेलेशियस के अनुसार चर्च एवं राज्य को एक दूसरे के सहयोग की आवश्यकता है। ईसाई सम्राटों को मोक्ष के लिए बिशप आदि धर्माचार्यों की आवश्यकता है और धर्माचार्यों को सांसारिक-लौकिक मामलों में राजा व राजकीय सत्ता का सहयोग चाहिए। गेलेशियस के अनुसार दोनों सत्ताओं को अपने कार्यक्षेत्र में रहना चाहिए व दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

चर्च व राज्य के रूप में दो सत्ताओं की यह धारणा एक क्रान्तिकारी विचार था क्योंकि यूनानी व रोमन सभ्यता में इस प्रकार का द्वन्द्व दृष्टिगोचर नहीं होता। एक ईसाई दो सत्ताओं व विधानों के अर्न्तगत माना गया। कालान्तर में दोनों सत्ताओं के कार्यक्षेत्र की व्याख्या को लेकर गंभीर विवाद पैदा हुए और चर्च व राज्य में टकराव होने लगा। 11वीं और 12वीं शताब्दियों में यह विवाद अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। चर्च एवं राज्य के सम्बन्धों में काफी कटुता उत्पन्न हो गयी और तर्क वितर्क और कुतर्क का एक लम्बा दौर चला। इस विवाद ने चर्च की प्रतिष्ठा को काफी धूमिल भी किया और राज्यों को गृह युद्ध के कगार पर पहुँचा दिया।

5.4 सन्त आगस्टीन

सन्त आगस्टीन (354-430) एक महान ईसाई सन्त एवं दार्शनिक थे। उनके चिन्तन ने

मध्ययुगीन राजदर्शन की आधारशिला रखी। कार्थेज नगर में शिक्षा प्राप्ति के बाद वह मनीशियन (Manichaean) सम्प्रदाय के सम्पर्क में आए, पर उसकी मान्यताएं उन्हें रास नहीं आयीं। कालान्तर में वह संशयवाद और नवप्लेटोवाद के प्रभाव में आए। अन्ततः उनकी बौद्धिक जिज्ञासाओं एवं आध्यात्मिक खोज को ईसाई धर्म में समाधान प्राप्त हुआ और 388 ई० में उन्होंने विधिवत् ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया। 395 ई० में वह हिप्पो के बिशप चुने गए और मृत्युपर्यन्त एक बिशप के रूप में अपने धार्मिक एवं प्रशासनिक दायित्वों को बड़ी कुशलता से निभाते रहे।

आगस्टीन ईसाई धर्मशास्त्र में तो निष्णात थे ही, उन्हें यूनानी, स्टाइक और रोमन चिन्तन का भी पर्याप्त ज्ञान था। अपने पाण्डित्य एवं तर्क-शक्ति के बल पर उन्होंने ईसाई धर्म-दर्शन के आलोचकों और विधर्मियों को निरुत्तर कर दिया। यह आगस्टीन की अद्‌भुत अन्तर्दृष्टि व सृजनशीलता ही थी कि प्लेटो और स्टाइक चिन्तन की मान्यताएँ ईसाई धर्मशास्त्र के साँचे में ढलकर ऐसी दीपशिखा प्रज्वलित कर सकीं जिसने मध्ययुग के विश्रंखलन एवं विप्लव में मानव समाज को मार्ग दिखाया। मध्ययुगीन चिन्तन के प्रसिद्ध समीक्षक मारे के अनुसार किसी अन्य ईसाई चिन्तक ने इतनी कल्पनाशीलता व सावधानी से प्लेटो को ग्रहण नहीं किया। अपने ज्ञान एवं विश्वास के बल पर प्लेटो जैसे दार्शनिकों के चिन्तन में विद्यमान कालजयी तत्वों को इंगित करने में वह कोई गलती नहीं करते। (`No christian ever Platonised more courageously or cautiously than St. Augustine. His sound theological sense enabled him to use Platonism while avoiding the pitfalls it presents to less prudent Christian thinkers.'–A. A. Maurer in `Medieval Philosophy')

आगस्टीन के राजदर्शन में अनेक विचार-धाराएं ईसाइयत के प्रबल प्रवाह में समाहित हो एक नयी प्रासंगिकता प्राप्त करती हैं, और यही उनका वैदुष्य एवं वैशिष्ट्य है। उनकी सर्वोत्तम कृति 'ईश्वर का राज्य' (City of God) है।

5.4.1 आगस्टीन का इतिहास दर्शन

410 ई० में अलेरिक के नेतृत्व में रोम पर बर्बर नातियों का भयंकर आक्रमण हुआ। इतिहास में इस घटना को 'रोम का विध्वंस' (Sack of Rome) कहते हैं। रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत पैगनधर्म के मानने वालों ने रोम की इस दुर्गति के लिए रोम में ईसाई धर्म की स्थापना को उत्तरदायी ठहराया और कहा कि अपने देवी देवताओं को ठुकरा कर ईसाई धर्म स्वीकार कर लेने के कारण रोम दैवीय कोप का शिकार हुआ है। पैगन धर्म के अनुयायियों के इस तर्क का प्रतिवाद करने के लिए आगस्टीन ने 'सिटी आफ गॉड' की रचना की। उन्होंने ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के संदर्भ में रोमन इतिहास का विवेचन किया और यह दर्शाया कि रोम के राजनीतिक एवं भौतिक पराभव का कारण पैगन देवी देवताओं का कोप नहीं है। इन देवी देवताओं की उपासना से मनुष्य का कल्याण संभव नहीं है। मानव मात्र के लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण हेतु ही ईसा का अवतरण हुआ और ईसाई धर्म ही मानवता को स्थायी सुख-शान्ति प्रदान कर सकता है।

आगस्टीन के अनुसार यद्यपि इतिहास में रोम एक शक्तिशाली राज्य रहा है और उसने उल्लेखनीय राजनीतिक व सैनिक सफलताएं प्राप्त की, फिर भी रोम को अनेकों बार सैनिक पराजयों एवं गृहयुद्धों का सामना भी करना पड़ा है। यदि अलेरिक द्वारा किया गया रोम का विध्वंस रोमन देवताओं के कोप का परिणाम है, तो अतीत में यह देवता रोम को सैनिक पराजयों व गृहयुद्ध से क्यों नहीं बचा पाए ? दूसरी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि किसी राज्य या सभ्यता की श्रेष्ठता का मूल्यांकन राजनीतिक एवं सैनिक शक्ति के आधार पर करना कहाँ तक उचित है ?

मानव इतिहास की ईसाई धर्मशास्त्र की दृष्टि से विवेचना करते हुए आगस्टीन कहते हैं कि इतिहास में सदैव ही सत् एवं असत् के बीच संघर्ष चलता रहा है, और इसमें कभी सत् की विजय हुयी है और कभी असत् भारी पड़ा है। इतिहास में राज्यों के उत्थान-पतन, विजय-पराजय का क्रम निरन्तर चलता रहा है। यह अवश्य है कि यह सब कुछ एक दैवीय विधान के अनुसार हो रहा है पर मनुष्य के लिए यह संभव नहीं कि इस दैवीय विधान को पूर्णतः समझ सके। आगस्टीन का विचार है कि मात्र राजनीतिक एवं सैनिक सफलता न तो राज्य का लक्ष्य होती है और न ही वह उसकी श्रेष्ठता की कसौटी। इसी तथ्य को उजागर करने एवं मनुष्य को सम्यक् जीवन की ओर उन्मुख करने के लिए ईसा का जन्म हुआ। ईसाई धर्म की स्थापना दैवीय विधान का एक महत्वपूर्ण अंग है। इसका उद्देश्य मनुष्यों व राज्यों को यह सत्य बताना है कि आत्मिक जीवन ही सर्वोपरि है और इसलिए उन्हें अपनी क्षमताओं व साधनों का दुरुपयोग तृष्णाओं व वासनाओं की सन्तुष्टि में नहीं करना चाहिए। भौतिक सुख व सफलताएं तो अस्थायी हैं, सैनिक विजयें महत्वहीन हैं। एक श्रेष्ठ राज्य वह है जो ईसाई धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित सिद्धान्तों को सामाजिक जीवन में स्थापित करता है। न्याय व धर्म ही व्यक्ति व राज्य की सम्यक् निधि हैं। ईसाई धर्म की स्थापना का उद्देश्य इतिहास को न्याय व धर्म की दिशा में प्रवृत्त करना है ताकि मनुष्य को प्रतिद्वन्द्विता, ईर्ष्या, संघर्ष एवं अनाचार से मुक्ति मिल सके।

इस प्रकार इतिहास एक विराट नाट्यशाला है जिसमें धर्म-अधर्म की शक्तियों का संघर्ष निरन्तर दृष्टिगोचर होगा। यदि मनुष्य और उनके राज्य ईसा के उपदेशों का पालन करेंगे तो पापाचार एवं पाप-जनित द्वन्द्वों व संघर्षों से छुटकारा मिल सकेगा। संसार के राज्य ईश्वरीय राज्य की स्थापना के उपकरण बनें, यही इतिहास की यात्रा का गंतव्य है।

आगस्टीन के इतिहास दर्शन में भविष्य आशाओं और उपलब्धियों से ओत प्रोत है क्योंकि एक ईसाई को इस सांसारिक यात्रा की समाप्ति पर ईश्वर के राज्य के स्वर्गक सुख प्राप्त होंगे, शाश्वत जीवन की उपलब्धि होगी। यह आशा उन्हें वर्तमान के कष्टों और संघर्षों का सामना करने की शक्ति भी प्रदान करती है और सांसारिक जीवन को अनावश्यक महत्व प्रदान करने से भी रोकती है, आगस्टीन के शब्दों में "भविष्य में परित्राण की आशा आनन्द का स्रोत बन जाती है। जिन बुराइयों से हम घिरे हैं, उनको धैर्य पूर्वक सहने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है क्योंकि हमें विशुद्ध निर्मल आनन्द की प्राप्ति होनी है। फिर कुछ भी सहने को नहीं बचेगा।" इस प्रकार इतिहास मुक्तिदाता है क्योंकि इसकी परिणति शाश्वत जीवन और अनिवर्चनीय आनन्द में होगी। आगस्टीन यूनानी दर्शन के इतिहास सिद्धान्त को जिसका स्वरूप चक्रीय है और इसलिए जिसका कोई गंतव्य नहीं है, नितान्त भ्रामक मानता है। ('What wonder is it, if entrapped in these circles, they find neither extrance nor exit?')

5.4.2 दो राज्यों की अवधारणा

उसके ग्रंथ 'सिटी आफ गॉड' का मुख्य प्रतिपाद्य विषय दो राज्यों की अवधारणा है। वस्तुतः यह विचार कि मनुष्य दो राज्यों का नागरिक है, स्टाइक चिन्तन में भी विद्यमान है। रोम के प्रसिद्ध दार्शनिक-सम्राट मारकस आरेलियस ने कहा था कि प्रत्येक व्यक्ति दो राज्यों का निवासी है– रोमन राज्य एवं विश्व राज्य। इस नैतिक धारणा को ईसाई धर्म में बहुत महत्वपूर्ण माना गया। ईसा और ईसाई सन्तों ने कहा कि इस संसार में मनुष्य एक निर्वासित (Exiled) या एक तीर्थयात्री (Pilgrim) की तरह निवास करे क्योंकि उसका असली घर तो स्वर्ग में है। सन्त पाल के अनुसार– 'जिस राज्य के हम निवासी हैं वह तो स्वर्ग में है।' ('The Commonwealth to which we belong is in heaven') महान धर्मशास्त्री टर्ट्यूलियन (Tertullian) ने कहा कि 'ईसाई लोग धरती पर रहते तो हैं, पर वे स्वर्ग के राज्य के नागरिक हैं।' ('The Christians pass their life on earth, but they are citizens in heaven')

आगस्टीन के अनुसार इस पृथ्वी के राज्य तो आदम के पतन के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आए। पतन से पूर्व मनुष्य स्वर्ग के राज्य में सुख शान्ति से निवास कर रहा था। अपने अहंकार व तृष्णा के कारण उसने ईश्वर की अवज्ञा की और इसलिए स्वर्ग से निष्कासित कर दिया गया। धरती पर आने के उपरान्त मनुष्य ईश्वर को विस्मृत कर देता है और सांसारिक पदार्थों व सफलताओं के मोह में पड़ जाता है। अतः मनुष्य की तृष्णाओं व इच्छाओं के कारण संसार के राज्य सदैव ईर्ष्या, द्वेष, दुख एवं संघर्ष से ग्रस्त रहेंगे। सांसारिक राज्यों के मनुष्य इन्द्रिय सुख, धनसंग्रह, शक्ति व आधिपत्य की लिप्सा को साध्य मानते हैं। सांसारिक राज्यों के लोग उत्पादन, संग्रह एवं भोग (Generation) के इर्द गिर्द घूमते रहते हैं। आत्म-परिष्कार (Regeneration) की उन्हें कोई चिन्ता नहीं होती। अतैव समाज में निरंतर अशान्ति व संघर्ष ही व्याप्त रहता है। संसार के राज्यों में पाप ही फलता फूलता है अतः वे कितने ही विशाल एवं शक्तिशाली क्यों न हों, काल के गाल में समा जाना ही उनकी नियति है।

इसके विपरीत ईश्वरीय राज्य ईश्वर के प्रति समर्पण पर आधारित है। इसीलिए इसके निवासी सदाचारी, मर्यादित एवं विनम्र होते हैं। उनकी भौतिक क्रियायें उनके आत्मिक विकास में बाधक नहीं होती क्योंकि भौतिकता उनके लिए साधन है, साध्य नहीं। वस्तुतः वे भौतिक क्रियाओं को शुद्ध अन्तःकरण से करते हुए आत्मिक एवं नैतिक रूप से परिष्कृत होते जाते हैं। उनके लिए ईश्वर का प्रेम सर्वोच्च है इसलिए शाश्वत जीवन एवं शाश्वत आनन्द उनकी नियति है। आदम के वंशज होते हुए भी ईश्वरीय कृपा के बल से वे अपने को आदम के पाप से बचाने हेतु निरंतर प्रयत्नशील रहते हैं। वे ईसा की शरण में पहुँच गए हैं अतः स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है। ईश्वरीय राज्य के निवासी अपने विश्वास एवं ईश्वर की कृपा के द्वारा अपने लौकिक जीवन को भी निष्कटंक बना लेते हैं और पारलौकिक कल्याण को भी सुनिश्चित कर लेते हैं।

प्लेटो ने अपने प्रसिद्ध संवादों– 'सिम्पोज़ियम' और 'फेड्रस' में प्रेम (Eros) के दो स्वरूप माने हैं– भौतिक प्रेम और स्वर्गिक प्रेम। स्वर्गिक प्रेम उच्चतर और उन्नयनकारी है और भौतिक प्रेम निम्नतर एवं पतनकारी। इसी मान्यता को सन्त आगस्टीन ने धर्मशास्त्रीय मुहावरों में नया कलेवर व नयी गहनता प्रदान करते हुए 'मानवीय राज्य' व 'ईश्वरीय राज्य' की धारणाओं के द्वारा प्रतिपादित किया। उनके शब्द उद्धरणीय हैं– 'दो राज्यों की रचना दो प्रकार के प्रेम से होती है– "अपने से प्रेम और ईश्वर से घृणा सांसारिक राज्य का आधार है और ईश्वर से प्रेम व अपने से घृणा ईश्वरीय राज्य का। संसार के राज्य अपने गौरव पर मुग्ध हैं और ईश्वर का राज्य ईश्वर के गौरव पर ..... संसार के राज्यों के शासक राजशक्ति से प्रेम करते हैं, ईश्वर के राज्य के शासक व निवासी ईश्वरीय प्रेम के प्रभाव में परस्पर एक दूसरे की सेवा करते हैं।" (`Two cities have been formed by two loves; the earthly by love of self even to the contempt of God, heavenly by the love of God even to the contempt of the self. The former, in a word, glories in itself, the latter in Lord ..... In the one, the princes and nations it subdues are ruled by the love of ruling, in the other the princes and subjects serve one another in love')

ईश्वरीय राज्य दृश्य है अथवा अदृश्य, वर्तमान में विद्यमान है अथवा भविष्य के गर्भ में है, यह एक जटिल समस्या रही है। फिर भी कुछ बातें स्पष्ट हैं। ईश्वरीय राज्य का विचार मूलतः एक आदर्श है जिसकी पूर्ण स्थापना तो भविष्य में ही कभी होगी। इतना अवश्य है कि मानवीय राज्यों में रहने वाले वे सभी लोग जो मन, वाणी एवं कर्म से ईसा की शिक्षाओं का पालन करते हैं, जो किसी देश और काल में हुए हों, इसके सदस्य हैं। ईश्वरीय राज्य की सदस्यता का सम्बन्ध वस्तुतः व्यक्ति की आत्मिक दशा से है। यदि हम सच्चे ईसाई हैं तो पतनशील एवं संघर्षशील सांसारिक राज्यों में रहते हुए भी ईश्वर के राज्य के सदस्य हैं। आगस्टीन के अनुसार संसार के राज्य न तो पूर्णतः शुद्ध और श्रेष्ठ हैं और न ही पूर्णतः अशुद्ध एवं अश्रेष्ठ।

उनका स्वरूप मिश्रित है। स्वयं ईसा ने इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहा था कि संसार रूपी खेत में गेहूँ के साथ खरपतवार भी उगेगी। सच्चे ईसाइयों को शाश्वत आनन्द की अनुभूतियाँ संसार के राज्यों में भी हो सकेंगी और मोक्ष के उपरान्त वे ईश्वरीय राज्य के स्थायी नागरिक बनेंगे।

5.4.3 राज्य का स्वरूप

आगस्टीन का विचार है कि राज्य के स्वरूप की विशिष्टता यह है कि यद्यपि यह मनुष्य के पाप का परिणाम है, फिर भी समाज में पाप पर अंकुश लगाने के लिए इसकी आवश्यकता है। एक मनुष्य का दूसरे पर शासन आदम के पाप के कारण ही अस्तित्व में आया और मनुष्य के अहंकार व शक्ति लिप्सा के कारण बना हुआ है। प्रारंभिक ईसाई सन्तों का अनुसरण करते हुए आगस्टीन मानते हैं कि मनुष्य में पापपूर्ण और आसुरी वृत्तियों की वृद्धि के कारण राज्य आवश्यक हो गया क्योंकि राज्य के अभाव में ये प्रवृत्तियाँ इतनी बढ़ जाएंगी कि मानवीय जीवन असंभव हो जाएगा। राज्य मूलतः एक नकारात्मक और दण्डात्मक संस्था है क्योंकि इसका दायित्व अराजकता को रोकना है ताकि जनसाधारण को आत्मिक, नैतिक एवं भौतिक विकास करने हेतु शान्तिपूर्ण वातावरण मिल सके।

राज्य की प्रकृति पर विचार करते हुए आगस्टीन ने सिसरो के राज्य सिद्धान्त पर महत्वपूर्ण टिप्पणी की है। सिसरो के अनुसार राज्य न्याय पर आधारित व सामान्य कल्याण के लिए प्रयत्नशील जनसमुदाय है। आगस्टीन के अनुसार वास्तविक न्याय तो एक ईसाई राज्य में ही संभव है जो ईश्वर में अटूट विश्वास रखता हो और जहाँ दैवीय विधान को सर्वोच्च माना जाता हो। प्राचीन रोम जो पैगन धर्म में विश्वास रखता था, कभी न्यायशील नहीं हो सकता था। ऐसे राज्यों को वास्तव में राज्य कहना ही अनुचित होगा। बाइबिल में प्रतिपादित ईश्वरीय कानून ही न्याय का स्रोत है, और जो राज्य इस न्याय की अवहेलना करता है, वह तो डकैतों का समूह मात्र है।

आगस्टीन के अनुसार अधिकांश राज्य सही अर्थ में राज्य नहीं है क्योंकि वे ईसाई धर्मशास्त्र की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। उन्हें केवल सापेक्ष दृष्टि से ही राज्य कहा जा सकता है क्योंकि वहाँ का जनसमुदाय शासक व शासित में विभाजित है, कानून और दण्ड की व्यवस्था से अपेक्षाकृत शान्ति बनी रहती है और जन समुदाय के कुछ सामान्य लक्ष्य हैं। उसके अनुसार बेबिलोन, असीरिया, रोम, मिस्र आदि इसी सीमित व सापेक्ष दृष्टि से ही राज्य कहे जा सकते हैं।

ऐसे राज्यों में प्रजा के आज्ञापालन के प्रश्न पर भी उसने विचार किया है। सामान्यतः नागरिकों को राज्य की आज्ञाओं का पालन करना चाहिए, अन्यथा अशान्ति व अराजकता पैदा हो जायेगी। पर जब राज्य के आदेश दैवीय नियम के विरुद्ध हों, तब नागरिक आज्ञापालन के लिए बाध्य नहीं हैं। फिर भी, जैसा कि हंरबर्ट डीन ने लिखा है, अवज्ञा करने का कर्त्तव्य विद्रोह के अधिकार में विकसित नहीं हो जाता। आगस्टीन के अनुसार अवज्ञा करते हुए अन्ततः शहीद हो जाना एक सच्चे ईसाई की पहचान है। प्रसिद्ध दार्शनिक क्रिस्टोफर डॉसन के अनुसार यद्यपि आगस्टीन ने राज्य को इसके आभामंडल से वंचित कर दिया, फिर भी उसने सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था और व्यक्ति की नैतिक स्वतंत्रता एवं दायित्व बोध का सामंजस्य अपने राजदर्शन में प्रस्तुत किया है। (`Although Augustine deprived the state of its aura of divinity, he at the same time insisted upon the value of free human personality and of moral responsibility even against the state, so that in this way he made possible the ideal of a social order resting on the free personality and a common effort towards moral ends.'– Cristopher Dawson in `A Monument to st.

Augustine')

5.4.4 चर्च सम्बन्धी विचार

यह स्वाभाविक ही है कि आगस्टीन के दर्शन में चर्च एवं धर्माधिकारियों को बहुत महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की गयी है। उन्होंने चर्च को 'ईसा का दूसरा अवतरण' (Second Coming of Christ) माना है। पोप, बिशप आदि चर्च के पादरी ईसा के प्रतिनिधि हैं जिनका सबसे महत्वपूर्ण दायित्व ईसाई धर्मशास्त्रों की रक्षा व व्याख्या करते हुए मनुष्य को मोक्ष के मार्ग की ओर उन्मुख करना है। मूलतः चर्च आस्तिकता व नैतिकता का प्रहरी है, और अपने उपदेशों के द्वारा जनता को सद्जीवन और मोक्ष का मार्ग दिखाता है। पर आगस्टीन चर्च को आवश्यकता पड़ने पर भय व शक्ति का प्रयोग करने का अधिकारी भी मानता है ताकि ईसाई धर्म विधर्मियों व धर्मद्रोहियों से सुरक्षित रहे। इस उद्देश्य से वह विधर्मियों का दमन करने में राज्य को परामर्श व सहयोग देता है। विधर्मियों का नाश करने हेतु शक्ति व बल प्रयोग के चर्च के अधिकार का समर्थन करने के लिए वह बाइबिल से सन्त ल्यूक के वचन को उद्धृत करता है जिसमें वह कहते हैं कि 'उन्हें चर्च में आने के लिए बाध्य करो।' (`Compel them to Come in').

क्या चर्च ईश्वरीय राज्य का मूर्तरूप है ? आगस्टीन का विचार है कि चर्च का स्वरूप मिश्रित है। इसमें ऐसे शुद्ध व सच्चे ईसाई भी हैं जो ईश्वर के राज्य में प्रवेश की पात्रता रखते हैं, और ऐसे लोग भी काफी हैं जो पाप वृत्तियों के पूर्ण प्रभाव में हैं और वस्तुतः शैतान के अनुयायी हैं। उनके शब्द उद्धरणीय हैं– "वर्तमान में तो चर्च दोनों प्रकार के लोगों से मिलकर बना है, चर्च के पूर्ण एवं अन्तिम स्वरूप में केवल शुद्धात्माओं का वास होगा।"

5.4.5 दासता और युद्ध सम्बन्धी विचार

रोमन साम्राज्य का विशाल प्रासाद दासता की प्रथा पर आधारित था। अपने लम्बे इतिहास में संघर्षों और युद्धों के दौर से रोम को बार-बार गुजरना पड़ा। दूसरी ओर ईसाई धर्म शान्ति और स्वतंत्रता को मनुष्य की नियति मानता है। अतः ऐतिहासिक राज्यों में विद्यमान संघर्षों एवं दासता की ओर आगस्टीन जैसे मनीषियों का ध्यान जाना स्वाभाविक था।

आगस्टीन के अनुसार विश्व का स्वरूप ही द्वन्दात्मक है और यह बात हर सांसारिक संस्था, घटना और वस्तु में प्रतिबिम्बित होती है। सांसारिक राज्यों का स्वरूप भी इसी द्वन्द को प्रकट करता है और उनमें युद्ध एवं शान्ति, स्वतंत्रता एवं दासता, सम्पन्नता व विपन्नता दोनों ही दृष्टिगोचर होते हैं। ईश्वर ने तो मनुष्य को शान्ति एवं प्रेम से रहने के लिए बनाया परन्तु राज्यों में क्षणभंगुर शान्ति ही देखने को मिलती है। मनुष्य के अन्दर विद्यमान अज्ञानता एवं तृष्णा के कारण स्थायी शान्ति मनुष्य की नियति नहीं है। परिवार में तनाव और टकराव दिखाई पड़ता है, समाज में विद्वेष, हिंसा व संघर्ष विद्यमान है और राज्यों के बीच युद्ध। इस प्रकार मानवीय अस्तित्व की यह विडम्बना है कि सभी शान्ति चाहते हैं परन्तु सभी स्तरों पर तनाव व टकराव ही दिखायी पड़ता है। 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' में इस विरोधाभास को इस प्रकार व्यक्त किया गया है, 'शान्ति, शान्ति की पुकार परन्तु कहीं शान्ति नहीं है।' (Peace, peace .... while there is no peace')

परन्तु आगस्टीन के अनुसार सिक्के का एक दूसरा पहलू भी है। युद्ध बुराइयों व विकृतियों को रोकने का भी माध्यम है और इस दृष्टि से युद्ध समाज के नैतिक शुद्धीकरण का साधन है। इस प्रकार धर्म एवं नीति की रक्षा के लिए लड़ा जाने वाला युद्ध एक पवित्र कार्य बन जाता है। इसे आगस्टीन 'धर्म युद्ध' (Just War) कहता है। ईसाइयत की प्रारंभिक शताब्दियों में इस विषय को लेकर काफी विवाद था कि क्या ईसाई को हथियार उठाना चाहिए ? आगस्टीन ने प्रतिपादित किया कि धर्म व न्याय की रक्षा व स्थापना के लिए सैनिक सेवा करने में या युद्ध

करने में कोई दोष नहीं है क्योंकि इस दशा में युद्ध पापपूर्ण नहीं रह जाता है।

आगस्टीन का विचार है कि दासता भी मनुष्य के पाप का परिणाम है। जब मनुष्य ईश्वर के सान्निध्य में स्वर्ग में निवास करता था तो उसे केवल पशु-पक्षियों पर आधिपत्य प्राप्त था, दूसरे मनुष्यों पर नहीं। परन्तु पतन के उपरान्त मनुष्य में अहं व शक्ति लिप्सा असीमित हो गयी और मनुष्य ने मनुष्य को अपने अधीन करना, उन्हें यंत्र बनाना शुरू कर दिया। यही दासता की प्रथा का आरंभ था। आगस्टीन के अनुसार दासता एक दुधारी तलवार है क्योंकि इसमें दास का ही शोषण नहीं होता, वरन् मालिक भी पतित होता है। दास मालिक की इच्छाओं के अधीन हो जाता है और मालिक अपनी तृष्णाओं व वासनाओं के। अतः दासता की प्रथा दोनों का नैतिक पतन करती है।

व्यावहारिक जीवन में दासता से कैसे निपटा जाए ? अगस्टीन के अनुसार दासता की स्वतंत्रता अन्ततः आन्तरिक अनुभूति की चीज है। एक दास अपनी भौतिक स्थिति को स्वीकार कर अपनी नैतिक आत्मिक स्वतंत्रता के लिए प्रयत्नशील हो सकता है। यदि वह सच्चे ईसाई का जीवन जी रहा है तो वह स्वतंत्र है, और उसकी भौतिक व कानूनी स्थिति कोई महत्व नहीं रखती। दास यदि यह समझता है कि स्वर्ग के राज्य में सभी स्वतंत्र है और वह स्वतंत्रता ही सम्यक् स्वतंत्रता है, तो वह दास होकर भी स्वतंत्र है। मालिक की स्वतंत्रता आत्म-प्रवंचना मात्र होती यदि वह धार्मिक-आत्मिक सत्यों से विमुख है।

इस प्रकार आगस्टीन के लिए दासता का सम्बन्ध अन्ततः हमारी आन्तरिक स्थिति से है, न कि बाह्य, कानूनी स्थिति से। एक ईसाई के लिए बाह्य-कानूनी स्थिति विशेष महत्व नहीं रखती।

5.4.6 आगस्टीन के राजदर्शन की समीक्षा

सन्त आगस्टीन ईसाई राजदर्शन के सर्वप्रथम व्यवस्थित प्रतिपादक थे। परवर्ती राजनीतिक चिन्तन, चाहे वह कैथोलिक हो अथवा प्रोटेस्टेंट, पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा और उसकी मान्यताएं विचारों का एक अविराम स्रोत बनी। आगस्टीन के चिन्तन में कई अस्पष्टताएं भी है जिसके कारण उसके समीक्षकों के बीच निष्कर्षों को लेकर मतैक्यता का अभाव है। हरबर्टडीन जैसे समीक्षक उसको रहस्यवादी एवं व्यक्तिवादी चिन्तक मानते हैं, जबकि जे. एन. फिजिस जैसे समीक्षक उन्हें सार्वभौमिक चर्च के संगठनात्मक व संस्थात्मक पक्ष का सशक्त प्रतिपादक मानते हैं। कुछ की दृष्टि में आगस्टीन के लिए राज्य आदि लौकिक संस्थाओं का कोई महत्व नहीं है जबकि अन्यों का विचार है कि वह राज्य आदि को समुचित महत्व प्रदान करते हैं।

सत्य तो यह है कि आगस्टीन के लिए ईसाई धर्म के आदर्श व सिद्धान्त ही सर्वोच्च एवं अन्तिम सत्य हैं, और जब धर्मशास्त्रीय दृष्टि से वह समकालीन घटनाओं व संस्थाओं की समीक्षा करते हैं तो वह उन्हें सापेक्षिक रूप से महत्वपूर्ण व औचित्यपूर्ण मानते हैं। इसलिए प्रसिद्ध विद्वान ट्राल्श (Troeltsch) का विचार है कि आगस्टीन के राजनीतिक-सामाजिक विचार 'सापेक्ष प्राकृतिक विधि' (Relative Natural law) की आधार शिला पर खड़े हैं। शुद्ध प्राकृतिक विधि (Absolute Natural Law) तो मनुष्य के पतन के पूर्व कार्यरत् थी। मनुष्य के पतन के उपरान्त सभी मानवीय संस्थाएं पाप से प्रभावित हो जाती है, उनका स्वरूप मिश्रित एवं द्वन्दात्मक हो जाता है। इसलिए उन्हें सीमित एवं सापेक्ष रूप में ही अच्छा एवं उपयोगी कहा जा सकता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मध्ययुगीन राजदर्शन के स्वरूप को निर्धारित करने में आगस्टीन का महती योगदान है। फिजिस ने कहा है कि 'सन्त आगस्टीन के बिना हम मध्ययुग के सामाजिक राजनीतिक पक्ष को नहीं समझ सकते।'' ('Clearly, we cannot understand the Middle Ages on its political and social side without Augustine')

5.5 सन्त टामस एक्विनास

सन्त टामस एक्विनास (1225-1274) मध्ययुग के अत्यन्त प्रतिष्ठित सन्त एवं दार्शनिक थे। समकालीन युग के विचारक मारित्याँ के अनुसार उनका चिन्तन केवल 13वीं शताब्दी के लिए ही नहीं, समकालीन युग के लिए भी पदप्रदर्शक है। 'The apostle of mind, the doctor of truth, the restorer of the intellectual order, St. Thomas wrote not for the thirteenth century, but for our time'– Jacques Maritain in 'St. Thomas Aquinas : Angel of the Schools')

वस्तुतः प्लेटो और अरस्तू के बाद टामस एक्विनास में ही ज्ञान का विशद और गहन महासागर हिलोरें लेता दिखाई पड़ता है। 1879 ई0 में कैथोलिक ईसाई धर्म ने उनके दर्शन को रोमन कैथोलिक चर्च का 'अधिकारिक दर्शन घोषित किया।

एक्विनास का जन्म इटली के नेपिल्स राज्य के एक कुलीन परिवार में हुआ था। नेपिल्स विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने के बाद वह डोमिनिकन सम्प्रदाय (Dominican Order) का सदस्य बना। अपने युग के महान दार्शनिक अल्बर्ट का वह शिष्य था। उसका अधिकांश जीवन अध्ययन, अध्यापन एवं ईसाई धर्म के प्रसार प्रचार में ही बीता। एक्विनास एक प्रज्ञावान चिन्तक था, उसके चिन्तन में तर्कशक्ति एवं अन्तश्चेतना का अद्भुत सामंजस्य प्राप्त होता है। उसकी अनेक प्रसिद्ध रचनाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति 'सुमा थियोलाजिका' है।

13वीं सदी जिसमें एक्विनास का जन्म हुआ, बौद्धिक एवं दार्शनिक दृष्टि से यूरोप की अत्यन्त जीवन्त शताब्दी थी। दार्शनिक जगत विभिन्न विचारधाराओं की समीक्षा, समालोचना, उनके खंडन-मंडन से आन्दोलित था। कारण यह था कि ईसाई धर्म-दर्शन एक ओर 'इस्लाम धर्म के सम्पर्क में आ रहा था और दूसरी ओर अरस्तू के बुद्धिवादी दर्शन के। 5वीं सदी में सन्त आगस्टीन ईसाई धर्म का नवप्लेटोवादी, स्टाइक और यहूदी मान्यताओं से सामंजस्य बिठाने का महती कार्य कर चुके थे। अब 13वीं सदी में ईसाई धर्म को नयी चुनौती अरस्तू के दर्शन के पुनरुत्थान से मिल रही थी जो अरबी एवं यहूदी विद्वानों के माध्यम से ईसाई जगत में प्रवेश कर चुका था। इस चुनौती का सामना अपनी असाधारण प्रतिभा के बल पर सन्त एक्विनास ने किया। उन्होंने न केवल अरस्तूवाद और ईसाई धर्म की मान्यताओं के मध्य अविरोध को प्रभावशाली रूप से प्रतिपादित किया, वरन् चर्च-राज्य सम्बन्धों की बड़ी सन्तुलित व्याख्या की।

5.5.1 पांडित्यवाद एवं सन्त एक्विनास

पांडित्यवाद (Scholasticism), टामस एक्विनास जिसके सर्वोत्तम प्रतिपादक थे, मध्य युग की विचार पद्धति थी। ईसाई धर्म का आधार बाइबिल के वचन और ईसा की शिक्षाएं हैं जिहें देववाणी (Revelation) कहा जाता है। एक ईसाई के लिए ये वचन एवं उपदेश पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास के केन्द्र हैं। इन का पालन कर मनुष्य अपना लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण कर सकता है। ईसाई धर्मशास्त्र सम्पूर्ण सत्य और समग्र ज्ञान के स्रोत हैं।

यूनानी दर्शन में विवेक (Reason) को मनुष्य का सर्वोत्तम तत्व माना गया और उसकी मान्यता है कि बुद्धि एवं तर्कशक्ति के सदुपयोग से मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है और सद्जीवन की ओर प्रवृत्त हो सकता है। स्पष्टतः ईसाई और यूनानी दृष्टिकोणों में एक मौलिक अन्तर और विरोध है। 12वीं एवं 13वीं सदी में अरस्तू के दर्शन के पुनरुत्थान के कारण ईसाई धर्म के समक्ष एक नयी समस्या, एक नया द्वन्द्व पैदा हो गया कि ज्ञान का स्रोत ईश्वरीयवाणी (Revelation) है अथवा विवेक (Reason), ईश्वरीय वचन में श्रद्धा (Faith) अधिक महत्वपूर्ण है अथवा मनुष्य का विवेक। इस जटिल समस्या से निपटने का पहला मार्ग यह चुना गया कि

अरस्तू आदि यूनानी दार्शनिकों की रचनाएं विधर्मी एवं असत्य घोषित कर प्रतिबन्धित कर दी गयीं। पर 12वीं एवं 13वीं शताब्दियों की बौद्धिक जागृति के चलते इस प्रकार का समाधान ईसाइयत के लिए आत्मघाती ही सिद्ध होता। अतः विचारशील लोगों ने कहा कि अरस्तूवाद के दमन की नहीं, वरन् ईसाइयत के संदर्भ में उसके समुचित मूल्यांकन की आवश्यकता है। इस गुरुत्तर दायित्व का वहन सन्त एक्विनास जैसी महान विभूति ने किया।

एक्विनास के अनुसार ज्ञान एक समग्रता है और ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया में हमारी बुद्धि, तर्कशक्ति और हमारे अनुभव का महत्वपूर्ण स्थान होता है। परन्तु सम्पूर्ण एवं अन्तिम सत्य तक पहुँचने में हमारी इन्द्रियाँ, हमारी बुद्धि एवं तर्कशक्ति असमर्थ हैं क्योंकि बुद्धि, तर्कशक्ति और अनुभव की अपनी सीमाएं हैं। यहीं पर ईश्वरीय वाणी (Revelation) पर आधारित धर्मशास्त्र हमारी सहायता करते हैं और हमें अज्ञान और दुविधा से बचाते हैं। अरस्तू जैसे बुद्धिवादी दार्शनिक का चिन्तन जीवन और जगत के सम्बन्ध में हमारा महत्वपूर्ण मार्गदर्शन करता है और उसके निष्कर्ष सामान्यतः ईसाईधर्म के सिद्धान्तों के विरुद्ध नहीं जाते। लेकिन एक्विनास का विचार है कि अरस्तू का दर्शन अनेक सत्यों का ज्ञान कराते हुए भी सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार नहीं कराता। यही उसकी सीमा रेखा है, और यहीं से ईश्वरीयवाणी पर आधारित ईसाई धर्म शास्त्रों की श्रेष्ठता का प्रारंभ होता है। एक्विनास के अनुसार ज्ञान के कुछ ऐसे स्तर हैं और जीवन के कुछ ऐसे रहस्य हैं जहाँ मनुष्य अपनी बुद्धि व तर्कशक्ति के बूते नहीं पहुँच सकता है और जिन्हें प्राप्त करने के लिए धर्मशास्त्रों में श्रद्धा और विश्वास ही एकमात्र मार्ग है। सेबाइन के शब्दों में 'विश्वास बुद्धि को पूर्णता प्रदान करता है।' (Faith is the fulfillment of reason) विश्वास के सम्बल से बुद्धि सत्य की ओर दृढ़तापूर्वक प्रस्थान करती है, अन्यथा उसके भटकने और पथभ्रष्ट होने की संभावना रहती है। इस प्रकार एक्विनास के अनुसार दर्शनशास्त्र (Philosophy) और धर्मशास्त्र (Theology) में कोई विरोध या टकराव तभी उत्पन्न होगा जब दर्शन धर्मशास्त्र से स्वतंत्र हो जाएगा, अन्यथा दोनों में कोई विरोध नहीं है।

दर्शन व धर्मशास्त्र के सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए एक्विनास कहते हैं कि बुद्धि एवं दर्शन की सहायता से ईसाई धर्म द्वारा प्रतिपादित कई सत्यों को सिद्ध किया जा सकता है, कुछ की व्याख्या की जा सकती है, इनकी सहायता से ईसाई धर्म के आलोचकों के तर्कों का उत्तर दिया जा सकता है। परन्तु दर्शनशास्त्र धर्मशास्त्र से निम्नतर ही है क्योंकि जीवन के सम्पूर्ण सत्य को उद्घाटित करने की क्षमता तो धर्मशास्त्र में ही है। ईसाई धर्मशास्त्र व सन्तों की शिक्षाएं ही 'सद्जीवन' की सम्यक् व्याख्या कर सकती हैं, दर्शन और विज्ञान सहायक भूमिका में योगदान कर सकते हैं। इस प्रकार धर्मशास्त्र प्रधान है और वह विज्ञान व दर्शन की कसौटी है। प्रसिद्ध विद्वान यूबेरबेग (Ueberweg) के शब्दों में, "जहाँ तक दर्शन और धर्मशास्त्र में अविरोध है, धर्मशास्त्र दर्शन की कसौटी व मापदण्ड रहेगा।" यह स्वाभाविक ही है कि पांडित्यवादी पद्धति में विज्ञान व दर्शन के ऐसे सिद्धान्त असत्य कह कर अस्वीकार कर दिए जाएंगे जो ईसाई धर्मशास्त्र की मान्यताओं से भिन्न हों अथवा उनके विपरीत हों।

जहाँ तक राजनीतिक चिन्तन का सम्बन्ध है, पांडित्यवादी विचारकों ने मुख्य रूप से चार बातों पर विचार किया– विश्व की एकता; राज्य की प्रकृति व्यक्ति की स्थिति और सत्ता का स्वरूप। उनके अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्मांड ईश्वर के रचना होने के कारण एक है, पर ब्रह्मांड की यह एकता अपने में बहुलता को समेटे हुए है। ब्रह्मांड एक ऐसा सम्पूर्ण (Whole) है जो अपने में असंख्य छोटे-मोटे सम्पूर्णों को समाहित किए हुए है। ईश्वर से प्रारंभ होकर नीचे तक सत्ताओं व सम्बन्धों को एक विशाल श्रृंखला है जिसे ईश्वर संचालित और एकीकृत कर रहा है। इसी विशाल श्रृंखला में मनुष्य व उसके राज्यों का भी एक स्थान है। इस प्रकार पांडित्यवादी राज्य को ईश्वरीय विधान का आवश्यक अंग मानते हैं। मनुष्य को उसके लौकिक और पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति में राज्य सहायता प्रदान करता है। राज्य की सत्ता अपने में साध्य नहीं है,

वह सामाजिक नियंत्रण व सामंजस्य का उपकरण है एवं सामान्य कल्याण की वृद्धि का साधन है। पांडित्यवादी विचारक संवैधानिक व सीमित राजसत्ता के पक्षधर हैं। जहाँ एक ओर राजसत्ता सामान्य कल्याण के दायित्व से सीमित है, वहीं दूसरी ओर चर्च के द्वारा नैतिक धार्मिक दृष्टि से मर्यादित है। विधि के क्षेत्र में पांडित्यवादियों ने दैवीय व प्राकृतिक कानून की सर्वोपरिता का प्रतिपादन किया। राज्य निर्मित कानून यदि इनके अनुसार है तो श्रेष्ठ है अन्यथा वे हेय और त्याज्य हैं।

5.5.2 विधि की अवधारणा

एक्विनास का विधि सिद्धान्त उनकी संश्लेषणात्मक प्रतिभा का अनूठा प्रमाण है। प्रसिद्ध विद्वान एन्टन-हर्मन क्राउस्ट के अनुसार, "एक्विनास का विधि सिद्धान्त एक महान परम्परा का मूर्तरूप है और इसमें अन्तोगत्वा ईसाई, यूनानी एवं रोमन धाराएं एकाकार हो जाती हैं ..... विधि और न्याय पर उनके विचार सभी महत्वपूर्ण विधिशास्त्रीय सिद्धान्तों के लिए एक अमर विरासत है।" ("The philosophy of law of St. Thomas is the embodiment of a great tradition which ultimately fused Christianity, Greek philosopy and Roman law.... the views of St. Thomas about law and justic have become a deathless legacy for all meaningful jurispurdential theories"– Anton. Hermann Chroust)

एक्विनास के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्मांड ही विधि के अधीन है। जड़-चेतन सभी प्राणी विधि से शासित हैं और यह विधि विविध स्तरों पर विवेक (Reason) के रूप में व्यक्त होती है। कानून को सामान्य रूप से परिभाषित करते हुए वह कहता है– "कानून विवेक का वह आदेश है जिसका उद्देश्य सामान्य कल्याण है और जिसका निर्माण और जिसकी उद्घोषणा समष्टि के नियंता के द्वारा की जाती है।" ('An ordinance of reason for the common good, made by him, Who has the care of the community, and promulgated') इस सम्पूर्ण ब्रह्मांड का संप्रभु ईश्वर है, वह सर्वोच्च विवेक भी है और सभी प्रकार की विधियों का स्रोत भी। प्रो० सेबाइन के अनुसार एक परम विवेक चार स्तरों पर चार रूपों में व्यक्त होता है। ईश्वर के शाश्वत विवेक (Divine Reason) से शाश्वत विधि, शाश्वत विवेक के प्रकृति में प्रकटीकरण (Divine Reason in Nature) से प्राकृतिक विधि, ईसा की वाणी (Christian Revelation) से दैवीय विधि और मानवीय बुद्धि के प्राकृतिक विवेक में भागीदारी (Participation of human reason in Divine Reason in Nature) से मानवीय विधि की उत्पत्ति होती है। एक्विनास के लिए विधि एक मानदण्ड (Norm) है, एक परामर्श (Prescription) है और विधि का पालन करने से वस्तुओं को उनके सम्यक् स्वरूप की प्राप्ति होती है। विधि सर्वोच्च सत्ताधारी का आदेश (Fiat) या इच्छा (Will) है पर इस आदेश या इच्छा का न्यायपूर्ण और विवेकपूर्ण होना परम आवश्यक है। विधि केवल मात्र उच्चतर का आदेश नहीं हो सकती क्योंकि आदेश स्वेच्छाचारी व अविवेकपूर्ण भी हो सकते हैं। एक्विनास ने विधि के चार प्रकारों का उल्लेख किया है जिनका वर्णन निम्न प्रकार ने किया जा सकता है।

1. शाश्वत विधि– यह सर्वोच्च त्रिधि है। ईश्वर के मस्तिष्क में विद्यमान ब्रह्मांड की सम्पूर्ण योजना को वह शाश्वत विधि कहता है। यह शाश्वत विधि मनुष्यों के लिए अगम और अगोचर है। ईश्वरीय विधान को उसकी सम्पूर्णता में समझ पाना मनुष्य की सामर्थ्य के बाहर है। अधिक से अधिक मनुष्य को इस शाश्वत विधि के अस्फुट संकेत मिल सकते हैं।

2. प्राकृतिक विधि– प्राकृतिक विधि ब्रह्मांड की विविध वस्तुओं में अभिव्यक्त ईश्वरीय विवेक है। यह ईश्वरीय विवेक वृक्ष वनस्पतियों व पशु-पक्षियों के मूल प्रवृत्ति (Instinct) के रूप में प्रकट होता है और मनुष्यों में नैतिक नियमों के रूप में। आत्मरक्षा की प्रवृत्ति इसका एक दृष्टान्त है जो पशुओं और मनुष्यों में समान रूप से पायी जाती है। पर मनुष्य ईश्वर की

सर्वोत्तम कृति है अतः उसके पास विकसित विवेक विद्यमान है। इसकी सहायता से वह सत्-असत्, अच्छे-बुरे का ज्ञान प्राप्त करता है एवं सन्मार्ग पर प्रवृत्त होने की चेष्टा करता है। इस प्रकार प्राकृतिक विधि हमारे समक्ष कुछ सार्वभौमिक सिद्धान्त प्रस्तुत करती है, और इनका पालन करके ही हम अपना कल्याण कर सकते हैं।

प्राकृतिक विधि क्या देशकाल परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तनशील है ? क्या मनुष्य प्राकृतिक विधि को संशोधित करने का अधिकारी है ? एक्विनास ने इन जटिल प्रश्नों पर विचार किया है। सामान्य दशा में प्राकृतिक विधि यह है कि हम उधार लिए धन या वस्तु को उसके स्वामी को वापस कर दें। उदाहरण के लिए, यदि हमने किसी से आत्म रक्षा के लिए अस्त्र उधार लिया था, तो कार्य हो जाने पर अस्त्र उसके स्वामी को वापस करना हमारा कर्त्तव्य है। पर उस स्थिति में क्या किया जाए जब इस दौरान दुर्भाग्यवश अस्त्र का स्वामी पागल हो जाए ? क्या पागल व्यक्ति को अस्त्र लौटाना उचित होगा ? दूसरा दृष्टान्त भी द्रष्टव्य है। ईश्वर ने सभी वस्तुएं सब के कल्याण एवं सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनायी है। तब क्या निजी सम्पत्ति रखना प्राकृतिक विधि के अनुरूप होगा ? एक्विनास के अनुसार इन परिस्थितियों में प्राकृतिक विधि को परिवर्धित (Supplement) किया जा सकता है, परन्तु परिवर्धन संशोधन नहीं है। इस प्रकार सामान्यतः तो प्राकृतिक विधि सार्वभौमिक है उसका उल्लंघन करना उचित नहीं है। पर विशेष परिस्थितियों में प्राकृतिक विधि के निर्देशों में स्पष्टता लाने के लिए, हम अपने विवेक का प्रयोग करते हुए कुछ बातों को जोड़ कर उसका विस्तार कर सकते हैं।

3. दैवीय विधि– यदि प्राकृतिक विधि दैवीय विवेक में मनुष्य की भागीदारी है, तो दैवीय विधि ईश्वर की वाणी (Revelation) है। बाइबिल के निर्देश व उपदेश दैवीय विधि के दृष्टान्त हैं। एक्विनास इस तर्क कि मनुष्य का मार्गदर्शन करने के लिए प्राकृतिक विधि पर्याप्त है, को उचित नहीं मानते। प्राकृतिक नियम आवश्यक व कल्याणकारी होते हुए भी मनुष्य को सम्पूर्ण व शाश्वत कल्याण का मार्ग नहीं दिखा पाते, इसलिए दैवीय विधि की आवश्यकता पड़ती है। दैवीय विधि की आवश्यकता न महत्ता को स्पष्ट करने हेतु वह निम्न तर्क देते हैं–

1. प्राकृतिक विधि के आधार पर मनुष्य चरम पुरुषार्थ- मोक्ष की ओर उन्मुख नहीं हो सकता। मोक्ष के स्वरूप और उसके माधनों का ज्ञान दैवीय विधि से ही संभव है।

2. सांसारिक जीवन जीने में प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त बहुत उपयोगी हैं, पर मानवीय बुद्धि पाप के प्रभाव से भ्रमित व दूषित हो यह निश्चित करने में प्रायः असमर्थ हो जाती है कि विभिन्न परिस्थितियों में प्राकृतिक नियमों का प्रयोग किस प्रकार किया जाए। ऐसे में दैवीय बुद्धि हमें हमारा सहारा प्रदान करती है और निर्णय लेने में सहायता करती है।

3. मानव की अन्तःशुद्धि में दैवीय विधियों की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका है।

4. मानवीय विधियों द्वारा मनुष्य के वाह्य आचरण को तो नियंत्रित व निर्देशित किया जा सकता है, पर वे हमारे अन्दर विद्यमान दुर्गुणों व पापों का स्पर्श नहीं कर सकते। अतः मानवीय विधियाँ एक सीमा तक ही हमें सन्मार्ग पर प्रवृत्त करने में सहायक हैं। दैवीय विधियाँ मानवीय विधि को अपूर्णताओं व विवशताओं का उपचार करती है।

एक्विनास का विचार है कि मानवीय पूर्णता के लिए आवश्यक है कि वह ईसाई धर्मशास्त्र में उल्लिखित तीन वासनाओं– धन की तृष्णा, सांसारिक सुखों की लालसा व शक्ति व आधिपत्य की इच्छा का परित्याग कर दे, और इनके स्थान पर निर्धनता (Poverty) पवित्रता (Chastity) और ईश्वरीय वचनों का पालन (obedience) के गुणों को विकसित करे।

4. मानवीय विधि– मानवीय विधि (Positive Law) से आशय उन कानूनों से है जो किसी

विशिष्ट मानव-समूह या राज्य के नागरिकों के वाह्य आचरण को निर्देशित व नियंत्रित करती हैं। ये विधियाँ प्रथाओं के रूप में विद्यमान हो सकती हैं और किसी विधि निर्मात्री सभा या राजा के आदेश के रूप में भी अस्तित्व में आती हैं। मानवीय विधि भी विवेक पर आधारित होनी चाहिए और उनका उद्देश्य सर्वसाधारण का कल्याण होना चाहिए। राज्य निर्मित कानून यदि प्राकृतिक विधि पर आधारित हैं तभी वे न्यायपूर्ण एवं बुद्धिसंगत हैं और तभी उनका पालन कराने के लिए दण्ड-शक्ति का प्रयोग औचित्यपूर्ण होगा।

राज्य द्वारा निर्मित कानूनों का सम्यक् आधार प्राकृतिक विधि ही है। प्राकृतिक विधि सामान्य होती है, उन्हें विशिष्ट परिस्थितियों के अनुसार ढालकर, निश्चित एवं स्पष्ट बनाकर और उनके साथ दण्ड का प्रावधान कर मानवीय विधि का सृजन होता है। उदाहरण के लिए, मानव जीवन ईश्वर की देन होने के कारण पवित्र है और इसलिए किसी मनुष्य की हत्या करना प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है और समाज की सुरक्षा व शान्ति पर आघात है। जब यह मानवीय विधि के रूप में परिवर्तित किया जाता है तो इसे सुपरिभाषित व स्पष्ट करने की आवश्यकता होतीह ऐ, दण्ड की व्यवस्था करनी पड़ती है और यह सब करते समय देश काल एवं परिस्थितियों का ध्यान रखना पड़ता है। इस प्रकार प्राकृतिक विधि का विशिष्ट रूप मानवीय विधि है।

क्या राज्य निर्मित कानून मनुष्य के सभी दुर्गुणों व अपराधों की रोकथाम कर सकते हैं ? एक्वीनास के अनुसार राज्य के कानून सभी दुर्गुणों व दुष्कर्मों का उपचार नहीं कर सकते। यदि बल पूर्वक ऐसा करने की चेष्टा की जायगी तो इसके प्रतिकूल परिणाम हो सकते हैं। बाइबिल को उद्घृत करते हुए वह कहते हैं– "नाक साफ करने में अगर बहुत जोर लगाया जाएगा, तो खून निकल आएगा।" (He that violently bloweth his nose, bringeth out blood) मानवीय विधियों को प्रकट एवं विकट बुराइयों को नियंत्रित करने की चेष्टा तक सीमित रहना चाहिए। शेष को दूर करने के लिए सामाजिक चेतना और व्यक्ति के अन्तःकरण पर भरोसा किया जाना चाहिए।

एक्विनास का विचार है कि मानवीय विधियों की समय-समय पर समीक्षा होती रहनी चाहिए ताकि आवश्यक परिवर्तन किया जा सके। पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि राज्य निर्मित कानून प्राकृतिक विधि से भटकने न पाएं।

इस प्रकार एक्विनास ने विधि का सांगोपांग विवेचन किया है जिसमें इच्छा व आदेश का तत्व रोमन विधिशास्त्र, विवेक का तत्व यूनानी व स्टाइक चिन्तन एवं दैवीय तत्व ईसाई चिन्तन को प्रतिबिम्बित करता है। उसका विधि सिद्धान्त समन्वयात्मक दृष्टिकोण का अप्रतिम उदाहरण है।

5.5.3 राज्य सिद्धान्त

एक्विनास के अनुसार यह ब्रह्मांड सत्ताओं व व्यवस्थाओं का पद सोपान है और इसी का एक महत्वपूर्ण अंग राज्य है। ईश्वरीय विधान का अंग होने के कारण राज्य एक प्राकृतिक संस्था है, और समाज में रहना मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्ति है। समाज एक व्यवस्था (order) है और व्यवस्था का मूल असमानता (Inequality) है। प्रकृति सभी मनुष्यों को भिन्न-भिन्न प्रकार की क्षमताएं देकर उत्पन्न करती है, और क्षमताओं तथा प्रवृत्तियों की इस भिन्नता से समष्टि (whole) का निर्माण होता है। समष्टि के सुचारु संचालन के लिए कार्यों व दायित्वों का योग्यतानुसार निर्धारण बहुत आवश्यक है। राज्य एक ऐसी व्यवस्था व समष्टि है जिसमें उच्चतर निम्नतर पर शासन करता है। यह सामान्य कल्याण की उपलब्धि हेतु सेवाओं का आदान प्रदान है। समाज के विभिन्न वर्ग यथा कृषक, शिल्पी, सैनिक, पुरोहित आदि अपने-अपने दायित्वों का निर्वहन करते हुए समष्टि के कल्याण में योगदान करते हैं। इन सभी वर्गों को नियंत्रित एवं निर्देशित करने के लिए राजा होता है जो राज्य पर उसी प्रकार शासन करता है जैसे आत्मा शरीर पर

और ईश्वर ब्रह्मांड पर शासन करता है। वह अरस्तू के इस विचार से सहमत है कि राज्य एक पूर्ण एवं आत्म-निर्भर समुदाय है। लेकिन वह मानता है कि पूर्ण एवं आत्म निर्भर जीवन एक नगर-राज्य में उस प्रकार संभव नहीं है जितना कि वृहत् राज्य (Regnum) में। अतः जिस प्रकार अरस्तू के लिए नगर-राज्य स्वाभाविक है, उसी प्रकार एक्विनास के लिए साम्राज्य। राज्य के लक्ष्य के सम्बन्ध में भी वह अरस्तू की 'सद्जीवन' की धारणा को ईसाई धर्म शास्त्र के संदर्भ में विवेचित करता है, उसके अनुसार सद्जीवन (Good life) सद्गुण (virtue) के बिना संभव नहीं है, परन्तु सद्गुण का ज्ञान बाइबिल के द्वारा ही संभव है। यदि मनुष्य बाइबिल की शिक्षाओं का पालन करे, तभी वह सद्गुणी हो सकता है, और तभी सद्जीवन अर्थात् लौकिक व पारलौकिक कल्याण की उपलब्धि संभव है।

इस प्रकार जैसा कि पॉल सिंगमंड ने लिखा है 'एक्विनास पहले ईसाई हैं और उसका अरस्तूवाद ईसाई अरस्तूवाद है।' ('Aquinas is first Christian and his Aristotelianism is a Christian Aristotelianism'.) यह तथ्य उसके सभी सिद्धान्तों में बार-बार प्रकट होता है।

5.5.4 शासनं सिद्धान्त

एक्विनास ने अरस्तू के शासन प्रणालियों के वर्गीकरण को स्वीकार किया है। संख्या और लक्ष्य के आधार पर तीन शुद्ध प्रणालियाँ– राजतंत्र, कुलीनतंत्र व प्रजातंत्र होती हैं, और तीन विकृत शासन प्रणालियाँ– निरंकुश तंत्र, वर्गतंत्र व भीड़तंत्र होती हैं।

शासन के श्रेष्ठ प्रकारों में वह राजतंत्र को सर्वोत्तम मानता है। उसका विचार है कि जनता की सुरक्षा एवं जनकल्याण की वृद्धि तभी संभव है जब राज्य में एकता व शान्ति हो, और इसकी स्थापना एक व्यक्ति के शासन राजतंत्र में ही संभव है। कुलीनतंत्र में राज-शक्ति के लिए कुलीनों की आपसी प्रतिद्वन्दिता और प्रजातंत्र में शासनशक्ति के लिए दलों व गुटों के बीच संघर्ष राज्य की एकता के लिए गंभीर खतरा बन जाता है। राजतंत्र में इस प्रकार के षडयंत्रों, प्रतिद्वन्द्विता और गुटबन्दी की संभावना नहीं रहती, और इसलिए राजतंत्र में राज्य की एकता और शान्ति सुरक्षित रहती है। राजतंत्र की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए वह कई दृष्टान्तों का सहारा लेता है। जिस प्रकार एक जहाज में एक नाविक होता है जो जहाज को अपने गंतव्य तक पहुँचाता है, उसी प्रकार राज्य का शासक एक राजा होना चाहिए। ब्रह्माण्ड का शासक ईश्वर भी एक है और मधुमक्खियों के समाज में भी एक रानी मक्खी का शासन होता है। वह ईसा की उक्ति को उद्धृत करते हुए कहता है कि कई माली बाग को नष्ट कर डालते हैं। अतः कुछ या सबके शासन की तुलना में एक व्यक्ति का शासन सर्वश्रेष्ठ होता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अरस्तू के मिश्रित संविधान के विचार से भी वह बहुत प्रभावित है, और इसलिए राजतंत्र के बाद वह मिश्रित संविधान को ही श्रेष्ठ मानता है। मिश्रित संविधान राजा द्वारा प्रदत्त एकता, कुलीनों की बुद्धिमत्ता और जनता के संख्याबल व आज्ञाकारिता का समन्वय होता है और इस प्रणाली में राज्य में स्थिरता एवं सद्भाव रहता है।

जहाँ एक्विनास राजतंत्र को श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है वहीं वह इस तथ्य से भी चिन्तित है कि राजतंत्र को निरंकुशतंत्र में परिणत होने में देर नहीं लगती। यद्यपि उसका यह दृढ़ विश्वास है कि प्रजातंत्र व वर्गतंत्र निरंकुशता के प्रधान स्रोत होते हैं। एक श्रेष्ठ राजा देवत्व का प्रतीक है पर इतिहास में शासकों की क्रूरता व स्वेच्छाचारिता के प्रसंग भी कम नहीं मिलते। शासक जब प्राकृतिक एवं दैवीय विधियों को नकारने लगता है, तब समष्टि के कल्याण की संभावना समाप्त हो जाती है। उसने धर्मशील एवं न्यायपूर्ण राजा और अन्यायी व आसुरी शासक में स्पष्ट भेद किया है। दो परिस्थितियों में राजा पथभ्रष्ट होकर निरंकुश हो जाता है– (i) जब वह शासनाधिकार को अवैध एवं अनैतिक तरीके से हड़प ले। (ii) वैधानिक शासक होते हुए भी वह अन्यायपूर्ण तरीके से शासन करे।

जहाँ राजतंत्र सर्वोत्तम शासन है वहीं निरंकुशतंत्र सबसे निकृष्ट। निरंकुश राजा ईश्वरीय व प्राकृतिक विधियों की अवहेलना और सामान्य कल्याण की उपेक्षा करता है। उसके लिए अपने हित और राजशक्ति ही साध्य हैं। वह स्वयं गुणों एवं नीति से रहित होता है और सदाचारी प्रजाजनों को उत्पीड़ित करता है। इस प्रकार के निरंकुश शासन में सद्जीवन संभव नहीं है। निरंकुश शासन में तो अनाचार, भय, आतंक एवं दमन का ही बोलबाला रहता है। निरंकुश शासक वस्तुतः हिंसक व क्रूर पशु के समान है।

प्रजा का निरंकुश शासक के प्रति क्या दृष्टिकोण हो ? क्या प्रजा को निरंकुश शासक का वध (Tyrannicide) करने का अधिकार है ? एक्विनास ने इन प्रश्नों पर ईसाई धर्मशास्त्र की दृष्टि से विचार किया है। उनका विचार है कि यदि निरंकुश शासन बहुत आततायी नहीं है तो प्रजा के लिए बुद्धिमानी इसी में होगी कि उसे कुछ सीमा तक बर्दाश्त कर लिया जाए क्योंकि यदि जनता विद्रोह करती है और वह असफल रहती है, तो शासक के और अधिक अत्याचारी व क्रूर होने की संभावना प्रबल हो जाती है। यह अवश्य है कि ऐसे शासक की शक्तियों को कम करने अथवा उसे पदच्युत करने का विकल्प जनता के पास सदैव विद्यमान है ? रोम के इतिहास से वह ऐसे उदाहरण भी देता है।

एक्विनास के अनुसार निरंकुश शासक का पदारूढ़ होना जनता के पापों के लिए ईश्वरीय दण्ड है, और उससे छुटकारा पाने का सम्यक् मार्ग यही है कि लोग पाप से बचें और ईश्वर से प्रार्थना करें। सदाचरण एवं प्रार्थना में बड़ी शक्ति है। पर क्या प्रजा को निरंकुश शासक के वध का अधिकार है ? इस विषय पर उसके विचारों में काफी विरोधाभास प्राप्त होता है। अपनी पुस्तक कमेन्ट्री आन दि सेन्टेन्सेस आफ पीटर लोम्बार्ड' में जहाँ वह निरंकुश शासक के वध का समर्थन करता मालूम पड़ता है, परन्तु अन्य पुस्तक **'रूल आफ प्रिंसेस'** में इस विषय पर भिन्न दृष्टिकोण प्राप्त होता है। यहाँ वह निरंकुशतंत्र के उदय को रोकेन के उपायों की चर्चा करता है। जैसे– एक सद्गुणी व्यक्ति के ही राजपद सौंपा जाना चाहिए, राजा का चयन समाज की सहमति से होना चाहिए, शासन की शक्तियों का वितरण इस प्रकार होना चाहिए कि निरंकुशता को बढ़ावा न मिले और राजा की शक्तियों को स्पष्ट रूप से परिभाषित एवं परिसीमित किया जाना चाहिए। अन्तिम अस्त्र के रूप में प्रजा के पास निरंकुश शासक के पदच्युत करने का अधिकार है। इस अधिकार का दुरुपयोग न होने पाए, इसके लिए आवश्यक है कि राजा को पदच्युत करने की शक्ति सम्पूर्ण समाज में निहित हो, न कि कुछ व्यक्तियों और गुटों में। यह स्पष्ट है कि यहाँ एक्विनास जनता के क्रान्ति करने के अधिकार का प्रतिपादन करते हैं। शासक का स्वरूप अन्ततः न्यास का है, जिसका दुरुपयोग करने पर प्रजा का प्रतिरोध का पूरा अधिकार है। टामस एक्वीनास की इसी मान्यता के संदर्भ में लार्ड एक्टन ने उन्हें 'राजनीति में प्रथम उदारवादी' (The first whig in Politics') कहा है।

5.5.5 शासक के कार्य

सन्त थामस के अनुसार ईश्वर के दो मुख्य कार्य हैं– ब्रह्मांड की रचना और ब्रह्मांड का संचालन। इसी प्रकार राजा के भी दो प्रमुख दायित्व हैं– राज्य की स्थापना व राज्य का संचालन। पर राज्य की स्थापना का दायित्व हर राजा को वहन नहीं करना पड़ता। फिर भी जब किसी राजा को एक नए राज्य की स्थापना करनी हो, तो उन्हें भौगोलिक स्थिति, जलवायु, भूमि की उर्वरता, प्राकृतिक सौन्दर्य आदि का विचार करते हुए यह कार्य करना चाहिए।

अधिकांशतः राजाओं का मुख्य दायित्व शासन का सुचारु संचालन होता है। एक्विनास ने शासक के नैतिक व प्रशासनिक दायित्वों का वर्णन किया है। राजा को नागरिकों को सदाचारी बनाने की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। कानूनों का निर्माण, दण्ड की व्यवस्था एवं राज्य की रक्षा भी शासक के प्रमुख दायित्व हैं। शासक को राज्य में सड़कों की समुचित व्यवस्था करनी चाहिए।

मुद्रा प्रणाली को संचालित करना और गरीबों व अपाहिजों के भरण-पोषण की व्यवस्था करना भी शासक के दायित्व हैं।

5.5.6 चर्च-राज्य सम्बन्ध

सन्त थामस अत्यन्त सन्तुलित विचारक है। किसी भी प्रकार के अतिरेक, दुराग्रह अथवा पूर्वाग्रह का उसके चिन्तन में सर्वथा अभाव है। इस दृष्टि से यूनानी दर्शन के इस सूत्र 'वस्तुएं अपनी समुचित मात्रा में' (Things in their proper measure) का वह मूर्तमान रूप है। चर्च - राज्य सम्बन्धों के विवेचन में भी उसकी यही विशेषता परिलक्षित होती है। यद्यपि पोप गेलेशियस के 'दो तलवारों के सिद्धान्त' की तरह वह धर्मसत्ता को राजसत्ता से उच्चतर मानता है, परन्तु वह लौकिक मामलों में राज्य की स्वायत्तता का पक्षधर है। चर्च व राज्य को अपने-अपने कार्यक्षेत्र में रहते हुए और परस्पर अहस्तक्षेप की नीति अपनाते हुए जनता के सम्पूर्ण कल्याण का कार्य करना चाहिए। मनुष्य का पारलौकिक कल्याण साध्य होने के कारण पोप और चर्च का दायित्व श्रेष्ठतर व उच्चतर है। उन्हें न केवल सामान्य जनता का नैतिक-आत्मिक उन्नयन के लिए मार्गदर्शन करना है वरन् उन्हें राजाओं व सम्राटों की आत्मा के उद्धार की जिम्मेदारी निभानी है। इसलिए विशेष परिस्थितियों में पोप एवं चर्च को राजसत्ता का मार्गदर्शन करने, उसे प्रताड़ित करने, दण्डित करने व राजा को पदच्युत करने का अधिकार है। जब राजा न्याय व धर्म के मार्ग से विरत हो जाए, जनहित व जनइच्छा की घोर उपेक्षा करने लगे, दैवीय व प्राकृतिक कानूनों का तिरस्कार करने लग जाए, उस दशा में चर्च को लौकिक-भौतिक कार्यों में हस्तक्षेप का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

इसी संदर्भ में एक्विनास ने इस विषय पर भी विचार किया है कि एक ईसाई राज्य में विधर्मियों (Heretics) और नास्तिकों (Atheists) से किस प्रकार का व्यवहार किया जाए। उसका विचार है कि नास्तिकों, जिन्होंने कभी ईसाई धर्म के सत्यों व सिद्धान्तों को ग्रहण ही नहीं किया, के प्रति तो सहिष्णुता दिखाई जा सकती है, पर विधर्मियों व धर्म द्रोहियों के प्रति कोई सहिष्णुता नहीं दिखाई जानी चाहिए। एक नास्तिक की तुलना में एक धर्मद्रोही को वह ईसाई धर्म के लिए बड़ी चुनौती मानते हैं। एक्विनास ने इस प्रश्न पर भी विचार किया है कि क्या एक गैर-ईसाई राज्य की ईसाई प्रजा को शासन की आज्ञा का पालन करना चाहिए ? एक्विनास के अनुसार शासक व शासित का सम्बन्ध एक प्राकृतिक सम्बन्ध है, अतः ईसाई प्रजा का यह दायित्व बनता है कि वह गैर-ईसाई शासक की आज्ञाओं का पालन करे। लेकिन यदि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में चर्च प्रजा को ऐसे शासक की आज्ञा पालन के दायित्व से मुक्त कर देता है तो प्रजा को चर्च के आदेशों के अनुसार कार्य करना चाहिए। उनके अनुसार यदि कोई ईसाई शासक भी धर्मभ्रष्ट हो जाए तो चर्च ऐसे शासक को धर्म बहिष्कृत (Excommunicate) कर प्रजा को आज्ञापालन के दायित्व से मुक्त कर सकता है।

इस प्रकार चर्च-राज्य सम्बन्धों के प्रति एक्विनास ने बहुत संयत दृष्टिकोण अपनाया है। सेबाइन ने इसीलिए उन्हें एक 'नरम धर्मसत्तावादी' (Moderate Papalist) कहा है। रोमन (Rommen) के अनुसार "यद्यपि उनका युग पोप व सम्राट के बीच गरमागरम विवाद से हिल उठा था, वह स्वयं अपने समय की राजनीति से अप्रभावित थे।" ('He was indifferent to political life of his times, though his era was shaken by the heated disputes between the pope and the emperor.") टामस एक्विनास किसी पक्ष या दल के वकील नहीं थे, वह चर्च-राज्य सम्बन्ध पर एक धर्मशास्त्री व दार्शनिक की दृष्टि से विचार कर रहे थे।

5.5.7 युद्ध सम्बन्धी विचार

सन्त आगस्टीन का अनुसरण करते हुए वह कहते हैं कि इस संसार में पूर्णशान्ति संभव नहीं

है। मनुष्य की शान्ति की खोज उसके पापों एवं तज्जनित संघर्षों व तनावों के कारण हमेशा असफल ही रहेगी। पूर्णशान्ति तो स्वर्ग में ही संभव है जहाँ शुद्ध आत्माओं का वास होता है। सामाजिक राजनीतिक जीवन में अनेक प्रकार के संघर्ष व युद्ध विद्यमान हैं और इनका सामना करना मनुष्य की नियति है। पर क्या युद्ध सदैव पापपूर्ण व त्याज्य हैं ? बाइबिल के कतिपय समीक्षकों ने यह विचार प्रकट किया था कि ईसाई धर्म में युद्ध के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि बाइबिल कहती है कि जो तलवार उठायेगा, वह तलवार से मारा जाएगा। इसके अतिरिक्त बाइबिल का यह निर्देश भी है कि बुराई का प्रतिरोध न करो एवं प्रतिशोध व प्रतिहिंसा से दूर रहो।

सन्त थामस ने कहा कि युद्ध को शुद्ध बुराई नहीं माना जा सकता। जब बाइबिल ने तलवार उठाने से मना किया या बुराई का प्रतिरोध न करने की शिक्षा दी, तो ऐसा व्यक्तिगत जीवन के आदर्श के रूप में प्रतिपादित किया गया न कि सार्वजनिक व राजनीतिक जीवन की नीति के रूप में। धर्म व न्याय की रक्षा के लिए किन्हीं परिस्थितियों में युद्ध व प्रतिरोध आवश्यक हो जाता है। उसने कहा कि युद्ध के दो स्वरूप हो सकते हैं– न्यायपूर्ण युद्ध (Just war) एवं अन्यायपूर्ण युद्ध (unjust war), न्यायपूर्ण युद्ध लड़ने में कुछ भी अनुचित या ईसा की शिक्षाओं के विरुद्ध नहीं है। एक्वीनास ने न्यायपूर्ण युद्ध के तीन लक्षण बताए–

(i) यह युद्ध किसी राज्य या राजा द्वारा लड़ा जाता है। किन्हीं स्वार्थी व चालाक गुटों व दलों द्वारा शुरू किए गए युद्ध न्यायपूर्ण नहीं कहे जा सकते।

(2) युद्ध किसी आदर्श, सिद्धान्त या धर्मशास्त्रीय मान्यता की रक्षा के लिए लड़ा जाना चाहिए।

(3) युद्ध शुद्ध भाव से लड़ा जाना चाहिए, शक्ति विस्तार या प्रतिशोध की भावना से नहीं। इस प्रकार के न्यायपूर्ण युद्ध कभी-कभी अपरिहार्य कर्त्तव्य बन जाते हैं।

5.5.8 एक्विनास का महत्त्व

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में टामस एक्वीनास बहुश्रुत एवं विख्यात दास दार्शनिक हैं। उनकी प्रतिभा विस्मयकारी है। जहाँ एक ओर अध्यात्म-विद्या के क्षेत्र में उन्होंने ईश्वर की सत्ता को अपनी सूक्ष्म मीमांसा का विषय बनाया, वहीं दूसरी ओर सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्र में राजसत्ता, विधि, सम्पत्ति जैसे महत्वपूर्ण विषयों का गंभीर विवेचन किया। उन्होंने राजदर्शन को, जो मध्ययुग में प्रायः उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था, स्वायत्तता, गंभीरता एवं महत्ता प्रदान की। प्रसिद्ध विद्वान ए.पी. द'एन्ट्रेव के अनुसार "राजनीति के प्रति उनका दृष्टिकोण मूलतः सैद्धान्तिक था। इसका किसी व्यावहारिक समस्या से सम्बन्ध न था ..... उनके राज्य एवं शासन सम्बन्धी विचार तत्वशास्त्रीय सिद्धान्तों से प्रसूत थे।" ('His approach to politics was essentially theoretical. It did not arise from any practical issue ..... His views on state and government were a deduction from metaphysical principles'. A. P. D'entreves) प्रो0 अर्नेस्ट बार्कर के अनुसार अरस्तू के राजदर्शन को आधुनिक काल तक पहुँचाने में सन्त टामस एक महत्वपूर्ण कड़ी हैं। उनके अनुसार, "अरस्तू ने सन्त टामस को शिक्षा प्रदान की, सन्त टामस के माध्यम से कैथोलिक यूरोप को शिक्षित किया, सन्त थामस के माध्यम से ही उसने रिचर्ड हूकर को शासन सिद्धान्तों का ज्ञान प्रदान किया, विवेकशील हूकर लॉक के गुरुओं में से एक था ..... लाक के द्वारा बर्क तक ये सिद्धान्त पहुँचे ..... इस प्रकार विरासत की एक लम्बी श्रृंखला है जो अरस्तू से सन्त थामस, सन्त थामस से हूकर, हूकर से लॉक और अन्ततः बर्क तक जाती है।" यहाँ एफ.सी. कोपल्सटन के तर्क का उल्लेख विषय को स्पष्ट करने में सहायक होगा। कोपल्सटन का विचार है कि यद्यपि एक्विनास ने अपने राजनीतिक सिद्धान्तों की विषयवस्तु और विचारशैली तो अरस्तू से ग्रहण की, पर उस सभी

सामग्री पर मध्ययुगीन ईसाई दृष्टिकोण से ही विचार किया। आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने अरस्तूवाद को ईसाई धर्मशास्त्र की मान्यताओं के अनुसार संशोधित एवं परिष्कृत भी किया। इस प्रकार सन्त थामस के माध्यम से आधुनिक युग तक पहुँचने वाला अरस्तूवाद ईसाइयत के साँचे में ढला हुआ है। वस्तुतः पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन एक्विनास के आभा-मंडल से अनवरत् रूप से प्रकाशित होता रहा है। बीसवीं सदी में 'नव-टामसवाद' का उदय इसका प्रबल प्रमाण है।

5.6 मध्ययुग में चर्च-राज्य संघर्ष

मध्य युगीन राजनीति का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष चर्च और राज्य का संघर्ष था। ईसाई राजदर्शन में मानवीय जीवन को दो सत्ताओं के अधीन माना गया और यह विचार 'दो तलवारों के सिद्धान्त' के रूप में काफी प्रसिद्ध हुआ। इसके प्रतिपादक पोप गेलेशियस ने कहा था कि दोनों सत्ताओं को परस्पर सहयोग करते हुए अपने-अपने कार्यक्षेत्र में सीमित रहना चाहिए। मध्य युग की प्रारंभिक शताब्दियों में चर्च-राज्य सम्बन्ध सामान्यतः किसी कटुता व टकराव से मुक्त रहे, और जो छोटे मोटे विवाद उत्पन्न भी हुए, उन्हें आसानी से सुलझा लिया गया। परन्तु पोप गेलेशियस या किसी अन्य सन्त ने दोनों सत्ताओं के कार्यक्षेत्र को सुस्पष्ट रूप से परिभाषित या प्रतिपादित नहीं किया अथवा शायद यह संभव नहीं था। अतः विवाद एवं टकराव की संभावना सदैव विद्यमान थी, और यह 11वीं और 12वीं शताब्दियों में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। विशेष बात यह थी कि धर्मसत्तावादियों (Papalists) और राजसत्तावादियों (Imperialists) दोनों ने धर्मशास्त्र एवं इतिहास से प्रमाण देते हुए अपने तर्क प्रस्तुत किए। विवाद का मूल मुद्दा यह था कि दोनों सत्ताओं का अधिकारक्षेत्र व कार्यक्षेत्र क्या है, और राज्य किस सीमा तक चर्च से स्वतंत्र है। धर्म सत्तावादियों ने चर्च की सर्वोच्चता व श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया व राजसत्ता वादियों ने राज्य की स्वायत्तता का।

मध्य युग की प्रारंभिक शताब्दियों में सन्त एम्ब्रोज एवं सम्राट थियोडोशियस, सन्त लियो और थियोडोशियस जूनियर, पोप हिलेरी एवं सम्राट एन्थीनियस के बीच उत्पन्न विवादों में चर्च-राज्य सम्बन्धों का जटिल प्रश्न सामने आया। 11वीं शती में पोप ग्रेगरी सप्तम और सम्राट हेनरी चतुर्थ तथा 13वीं शती में पोप बोनीफेस अष्टम एवं सम्राट फिलिप चतुर्थ के बीच ऐतिहासिक टकराव हुआ जिनमें यह विवाद और मुखर होकर सामने आया। चर्च-राज्य के इस संघर्ष का एक सैद्धान्तिक आधार भी है जो दोनों पक्षों के तर्कों पर आधारित है। धर्मसत्तावादियों ने अपनी सर्वोच्चता के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किए–

1. इहलोक की तुलना में परलोक श्रेष्ठ है, शरीर की तुलना में आत्मा श्रेष्ठ है और इसलिए मनुष्य के पारलौकिक कल्याण का दायित्व वहन करने वाले-पोप एवं चर्च की सत्ता सम्राटों व राजाओं की सत्ता से उच्चतर व श्रेष्ठतर है। सन्त एम्ब्रोज ने कहा कि जिस प्रकार काँच की चमक से सोने की चमक श्रेष्ठतर है उसी प्रकार विशप राजा से श्रेष्ठतर है। पोप ग्रेगोरी सप्तम् ने कहा कि राजा व सम्राट मनुष्य को पापमुक्त नहीं कर सकते और न ही उसे स्वर्ग के राज्य में प्रवेश का अधिकारी बना सकते हैं। ये शक्ति-सामर्थ्य केवल चर्च के पास है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से ही चन्द्रमा प्रकाशित होता है, उसी प्रकार धर्मसत्ता से राजसत्ता को उसकी चमक प्राप्त होती है।

2. राज्य का नैतिक-धार्मिक मामलों में मार्गदर्शन करना चर्च का दायित्व व विशेषाधिकार है। हिंकमार (Hincmar) ने बाइबिल से प्रमाण देते हुए कहा कि ईश्वर ने राजनीतिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने की अन्तिम शक्ति चर्च को प्रदान की है। 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' के पैगम्बर निरन्तर राजाओं का मार्ग दर्शन करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें प्रताड़ित एवं दण्डित करते हैं। सैमुअल ने राजा सॉल एवं नाथन ने राजा डेविड

को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की शिक्षा दी। ग्रेगरी सप्तम ने ईसा द्वारा सन्त पीटर को दिए गए निर्देश 'मेरी भेड़ों का भरण पोषण करो' (Feed my Sheep) की व्याख्या करते हुए कहा कि चर्च व धर्माधिकारियों को प्रजा व राजा दोनों के कल्याण का दायित्व सौंपा गया है। ऐतिहासिक घटनाओं जैसे 'कान्स्टेन्टाइन का दान' (Donation of Constantine) एवं पोप लियो द्वारा शार्लमैग्ने को पवित्र रोमन साम्राज्य का राजा बनाना - को भी धर्मसत्तावादियों ने अपनी सर्वोपरिता को प्रमाणित करने के लिए उद्धृत किया।

3. राजसत्ता को अनुशासित एवं दण्डित करने के लिए पोप एवं चर्च अनेक उपायों और साधनों का प्रयोग करने के अधिकारी थे। इनमें प्रमुख थे– धर्म बहिष्कृत कर देना (Ex communication), राजाओं को पद्च्युत करना (Deposition), प्रजा को राजा के प्रति निष्ठा की शपथ से मुक्त कर देना (Release from the Oath of Allegiance), धर्मद्रोही राजा का साथ देने वाली प्रजा को ईसाई धर्म के सात संस्कारों से वंचित कर देना (Interdict)।

राजसत्तावादियों (Imperialists) ने राजा की स्वतंत्रता के पक्ष में मुख्यतः निम्न तर्क दिए–

1. राजसत्तावादियों ने राजा के दैवी अधिकार (Divine Rights of the Kings) का प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा कि राजसत्ता भी उसी प्रकार ईश्वरकृत है जिस प्रकार धर्मसत्ता। इसलिए राजा अपने कार्यों के लिए सीधे ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। न्याय पूर्ण तरीके से शासन करना, प्रजा रक्षण, चर्च व धर्माधिकारियों की समुचित देखभाल राजा के प्रमुख कर्त्तव्य हैं पर यदि अपने कर्त्तव्य पालन में राजा से कोई चूक हो भी जाए तो चर्च एवं पोप को राजा के विरुद्ध दण्ड-शक्ति का प्रयोग करने का अधिकार नहीं है। ऐसी दशा में राजा को दण्डित करने की शक्ति केवल ईश्वर को प्राप्त है, और इसका प्रयोग स्वर्ग में किया जाएगा। राजा चाहे अच्छा हो अथवा बुरा, वह ईश्वर का प्रतिनिधि व यंत्र है। उसकी आज्ञा का पालन करना सभी का कर्त्तव्य है। एक निरंकुश शासक से छुटकारा पाने के लिए प्रजा या तो ईश्वर से प्रार्थना करे अथवा प्रायश्चित करे।

   हर दशा में राज्य के आदेशों का पालन (Passive obedience) की इस मान्यता को पुष्ट करने के लिए सजसत्तावादियों ने ईसा के वचनों एवं सन्त पीटर व सन्त पॉल की शिक्षाओं को उद्धृत किया। चर्च से राज्य की स्वतंत्रता सिद्ध करने के लिए उन्होंने 'ओल्ड टेस्टामेंट' से राजा सॉल एवं अन्य राजाओं का दृष्टान्त दिया जो सीधे ईश्वर से निर्देश प्राप्त करते थे।

2. कुछ राजसत्तावादियों ने चर्च के इन दावों कि राजाओं व सम्राटों को उनकी सत्ता पोप व चर्च से प्राप्त होती है, को ठुकराते हुए 'राजसत्ता की निरन्तरता' (Unbroken Imperial Power) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया व कहा कि सम्राटों व राजाओं की सत्ता अविच्छिन्न रूप से तब से चली आ रही है जब न ईसाई धर्म था और न ही चर्च। उनके अनुसार राज्याधिकार चर्च की देन नहीं है। पोप बोनीफेस के साथ अपने विवाद में फ्रांस के राजा फिलिप ने स्पष्ट कहा, "जब पादरी पुरोहित अस्तित्व में नहीं आए थे, तब से फ्रांस के राजा अपने राज्य की देखभाल कर रहे हैं और विधियों का निर्माण कर रहे हैं।"

   इस प्रकार राज्य-चर्च संघर्ष मध्ययुगीन राजनीति का एक रोचक पक्ष है। यह भी उल्लेखनीय है कि दोनों पक्षों की ओर से कुछ मनगढ़ंत प्रमाण व दृष्टान्त भी प्रस्तुत किए गए, व कई ऐतिहासिक घटनाओं की मनमानी व्याख्या भी की गयी। 14वीं शताब्दी तक आते-आते यह संघर्ष अप्रासंगिक हो गया क्योंकि विभिन्न कारणों से इहलोकवादी

(Secular) प्रवृत्तियाँ प्रबल सिद्ध होती हैं और ईसाई धर्म-दर्शन उपेक्षित होने लगता है। वस्तुतः यूरोपीय सभ्यता एक नए रूप में प्रकट होने के लिए व्यग्र थी और पुर्नजागरण काल में यह प्रक्रिया प्रारंभ भी हो गयी। यही आधुनिक युग व आधुनिक दर्शन का आरंभ बिन्दु था।

5.7 सारांश

इस इकाई में आपने ईसाई राजदर्शन का अध्ययन किया। रोमन सम्राट कान्स्टेन्टाइन ने ईसाई धर्म को राजधर्म घोषित कर दिया, और इसके उपरान्त रोमन साम्राज्य के विभिन्न भागों में ईसाई धर्म का प्रसार-प्रचार तीव्रता के साथ हुआ। मध्ययुग के पूर्वार्द्ध में सन्त पाल, सन्त अम्ब्रोज, सन्त आगस्टीन, पोप ग्रेगरी एवं पोप गेलेशियस आदि ने ईसाई राजदर्शन की मूल मान्यताओं का प्रतिपादन किया। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध विचारक सन्त आगस्टीन थे जिन्होंने 'सिटी आफ गॉड' नामक अपने ग्रंथ में राज्य, चर्च, दासता, युद्ध आदि विषयों की व्याख्या की। सन्त पाल ने ईसाइयत के प्रारंभिक दौर में जिन मान्यताओं का सूत्र रूप में प्रतिपादन किया था, उनका विस्तृत विवेचन करने का श्रेय सन्त आगस्टीन को जाता है। मध्ययुग के उत्तरार्ध में सन्त टामस एक्विनास ने ईसाई राजदर्शन का सशक्त प्रतिपादन किया। यदि सन्त आगस्टीन ने प्लेटो व नवप्लेटोवादी दर्शन की पुर्नव्याख्या ईसाई धर्मशास्त्र के संदर्भ में की, तो 13वीं सदी में अरस्तू के दर्शन के पुनरुत्थान के फलस्वरूप इसी प्रकार की भूमिका सन्त एक्विनास को निभानी पड़ी। सन्त एक्वीनास ने ईसाई धर्मशास्त्र की सर्वोपरिता को बनाए रखते हुए अरस्तू के दर्शन को ग्रहण किया और कहा कि वस्तुतः अरस्तू के दर्शन व ईसाइयत की मान्यातओं में टकराव नहीं है। ईसाई धर्मशास्त्र अरस्तूवाद को परिपूर्णता प्रदान करते हैं। ईसाई धर्मशास्त्र को प्रमाण मानते हुए बुद्धिवादी दर्शन को समुचित स्थान प्रदान करने की पद्धति ही पांडित्यवाद कहलाई। धर्मशास्त्र दर्शनशास्त्र की कसौटी बना।

मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन का केन्द्रीय विषय चर्च-राज्य सम्बन्ध है। पाश्चात्य सभ्यता के इतिहास में संभवतः यह पहली बार था कि व्यक्ति को दो सत्ताओं धर्मसत्ता व राजसत्ता के अधीन माना गया। एक उसके इहलौकिक कल्याण के लिए उत्तरदायी मानी गयी व दूसरी उसके पारलौकिक कल्याण के लिए। पोप गेलेशियस ने अपने 'दो तलवारों के सिद्धान्त' में दोनों सत्ताओं की आवश्यकता व उनकी पारस्परिक निर्भरता का प्रतिपादन किया था। मध्य युग में उत्तरार्ध में चर्च राज्य के बीच कार्य क्षेत्र को लेकर गंभीर विवाद पैदा हो गया। चर्च ने राज्य पर अपनी सर्वोपरिता का दावा किया व राज्य ने चर्च से अपनी स्वतंत्रता का। राज्य व चर्च की ओर से अपने पक्ष में अनेक तर्क व प्रमाण प्रस्तुत किए गए।

इस प्रकार मध्ययुगीन राजदर्शन ईसाई धर्म-दर्शन के संदर्भ में प्रतिपादित किया गया है।

5.8 उपयोगी पुस्तकें

1. जार्ज सेबाइन– राजनीतिक चिन्तन का इतिहास (हिन्दी अनुवाद)
2. डॉ. सोहन लाल टॉक एवं डॉ. के. एल. कमल– पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास
3. Sheldon Wolin– Politics and Vision
4. R. W. Carlyle and A. J. Carlyle– A History of Medieval Political Theory in the West.

5.9 सम्बन्धित प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. सन्त आगस्टीन द्वारा प्रतिपादित ईश्वरीय राज्य की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. राज्य और चर्च पर आगस्टीन के विचारों की समीक्षा कीजिए।
3. एक्विनास के राजनीतिक विचारों का विवेचन कीजिए। उन्हें मध्य युग का अरस्तू क्यों कहा जाता है ?
4. एक्विनास के विधि सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. ईसाई राज दर्शन की मुख्य विशेषताएं स्पष्ट कीजिए।
2. 'दो तलवारों के सिद्धान्त' पर एक लघु टिप्पणी लिखिए।
3. पांडित्यवाद क्या है ? एक्विनास को पाण्डित्यवादी विचारक क्यों माना जाता है ?
4. 'एक्विनास एक नरम धर्मसत्तावादी है' क्या आप इस मत से सहमत हैं ?
5. चर्च-राज्य संघर्ष में दोनों पक्षों से क्या तर्क दिए गए ?
6. एक्विनास की 'न्याय पूर्ण युद्ध' की धारणा स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. आगस्टीन के अनुसार राज्य
   - (अ) एक पापपूर्ण संस्था है।
   - (ब) एक कृत्रिम संस्था है।
   - (स) एक अनावश्यक संस्था है।
   - (द) चर्च से उच्चतर संस्था है।
2. आगस्टीन के दर्शन पर किसका प्रभाव है ?
   - (अ) नवप्लेटोवाद
   - (ब) सोफिस्ट दर्शन
   - (स) पुर्नजागरण काल का दर्शन
   - (द) संशयवाद
3. 'दो तलवारों का सिद्धान्त' किसने प्रतिपादित किया ?
   - (अ) पोप ग्रेगरी
   - (ब) पोप गेलेशियस
   - (स) सन्त एम्ब्रोज
   - (द) सन्त पॉल
4. 'दि रूल आफ प्रिन्सेस' का लेखक कौन है ?
   - (अ) सन्त एक्विनास

(ब) सन्त फ्रान्सिस

(स) पोप लियो

(द) सन्त आगस्टीन

5. एक्विनास ने दैवीय विधि को प्राकृतिक विधि का

(अ) विरोधी माना है।

(ब) पूरक माना है।

(स) समकक्ष माना है।

(द) प्रतिबिम्ब माना है।

5.10 प्रश्नोत्तर

उत्तर 1. अ, 2. अ, 3. ब, 4. द, 5. ब

इकाई 6 : दान्ते एवं मार्सिलियो

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 सार्वभौमिक सम्राट की आवश्यकता
- 6.2.1 सार्वभौमिक राजतंत्र एवं रोमन लोगों की पात्रता
- 6.2.2 सम्राट की सत्ता का स्रोत
- 6.2.3 समीक्षा

6.3 मार्सिलियो
- 6.3.1 राज्य संबंधी विचार
- 6.3.2 शासन सिद्धान्त
- 6.3.3 विधि एवं विधि निर्माता
- 6.3.4 चर्च संबंधी विचार
- 6.3.5 समीक्षा

6.4 परिषदीय आंदोलन

6.5 क्या मध्ययुग अराजनीतिक युग था?

6.6 सारांश

6.7 उपयोगी पुस्तकें

6.8 संबंधित प्रश्न

6.9 प्रश्नोत्तर

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद

- आप दान्ते के राजनीतिक चिंतन से अवगत हो सकेंगे।
- आप मार्सिलियो के राजनीतिक विचारों से अवगत हो सकेंगे।
- आप परिषदीय आंदोलन के स्वरूप व महत्व को जान सकेंगे।
- मध्ययुगीन राजदर्शन को 'अराजनीतिक' मानने के तर्क की आलोचनात्मक समीक्षा से अवगत हो सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

सन्त टामस एक्विनास ने सार्वभौमिक चर्च की जिस धारणा का प्रतिपादन किया था, 14वीं सदी में ठीक इसके विपरीत घटनाएं घटित हो रही थीं। चर्च-राज्य विवाद ने पोप और चर्च की सत्ता को काफी नुकसान पहुंचाया और 13वीं सदी से 16वीं सदी के प्रारंभ तक के लगभग 300 वर्ष चर्च की सत्ता के तीव्र क्षरण के वर्ष थे। इस अवधि में पोप एवं चर्च फ्रांस के राजाओं के हाथों की कठपुतली बन गए और अन्ततः चर्च का विभाजन (The Great Schism) हो गया। एक पोप रोम से और दूसरा पोप एवीनॉन से ईसाई धर्मावलम्बियों को निर्देश देने लगा।

इन परिस्थितियों में राजसत्तावादियों ने राजाओं व सम्राटों के स्वतंत्रता सम्बन्धी दावों का नए

आत्म-विश्वास से निरूपित किया। इन विचारकों में दांते, मार्सिलियो ऑफ पडुआ, विलियम ऑफ ओकम के नाम उल्लेखनीय हैं। दाँते ने सार्वभौमिक साम्राज्य (Universal Empire) की धारणा को पुनर्जीवित किया और राजसत्ता की स्वतंत्रता एवं महत्ता का प्रतिपादन किया।

दांते (1265–1321) मध्ययुग का महान कवि एवं दार्शनिक था। उसने 'डिवाइन कामेडी' जैसे अमरकाव्य की रचना की और 'द मोनार्कियो' जैसे महत्वपूर्ण राजनीतिक ग्रंथ की। दांते ने इटेलियन भाषा में अपने काव्य की रचना कर लैटिन भाषा के वर्चस्व को चुनौती दी। वह एक कूटनीतिज्ञ, राजनीतिज्ञ, भाषाविद्, धर्मशास्त्री, सैन्यकला का ज्ञाता था। उसका जन्म इटली के फ्लोरेंस शहर में एक कुलीन परिवार में हुआ था। फ्लोरेंस की राजनीति में उसकी गहरी रुचि थी और फ्लोरेंस के आन्तरिक मामलों में बाह्य हस्तक्षेप का वह घोर विरोधी था। प्रतिकूल राजनीतिक परिस्थितियों के कारण 1301 में उसे अपना राज्य छोड़ना पड़ा। निर्वासन काल का सदुपयोग उसने ज्ञानार्जन व देशाटन में किया। दांते के विचारों पर अरस्तू के तत्वदर्शन व राजदर्शन का गहरा प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त अपनी राजनीतिक मान्यताओं को पुष्ट करने के लिए वह यहूदी एवं रोमन इतिहास के प्रसंगों का भी भरपूर उपयोग करता है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'कॉनवाइवियो' में उसने कहा कि वह अपने को बड़ा दार्शनिक नहीं मानता, वरन् बड़े दार्शनिकों का अनुचर मानता है और उनके विचारों के अंशों को दूसरों तक पहुंचाने तक अपनी भूमिका सीमित मानता है।

दांते के राजनीतिक चिन्तन में जहाँ एक ओर मध्ययुगीन मान्यताएं विद्यमान हैं, वहीं दूसरी ओर उसके चिंतन में अनेक आधुनिक प्रवृत्तियों के संकेत भी प्राप्त होते हैं। अपने विचारों का पक्षपोषण करने के लिए वह इतिहास व धर्मशास्त्र का आश्रय लेता है, परन्तु उसका दृष्टिकोण अंततः इहलोकवादी (Secular) है। इसलिए अनेक समीक्षकों का विचार है कि वह सन्त टामस जैसे मध्ययुगीन एवं हाब्स जैसे आधुनिक चिन्तकों के बीच महत्वपूर्ण बौद्धिक कड़ी है।

दांते के राजनीतिक चिन्तन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय सार्वभौमिक सम्राट (Universal Monarchy) का विचार है। अपनी पुस्तक 'द मोनार्किया' में उसने तीन प्रश्नों पर विचार किया है – (i) विश्व के कल्याण हेतु सार्वभौमिक सम्राट की आवश्यकता (ii) सार्वभौमिक सम्राट बनने के लिए रोमन लोगों की पात्रता की समीक्षा और (iii) सार्वभौमिक सम्राट की सत्ता का स्रोत ईश्वर है अथवा कोई अन्य। उसकी इन तीनों मान्यताओं का विवेचन निम्न प्रकार से किया जा सकता है –

6.2 सार्वभौमिक सम्राट की आवश्यकता

दांते के अनुसार सार्वभौमिक राजतंत्र वह व्यवस्था है जिसमें सम्पूर्ण मानव समाज एक सम्राट के द्वारा शासित हो, अर्थात् लौकिक दृष्टि से सम्पूर्ण मानवता एक राज्य में संगठित हो और एक सम्राट से शासित हो। इस सार्वभौमिक राजतंत्र की वह निम्न कारणों से आवश्यक मानता है –

(1) मानव शरीर की भाँति विश्व भी एक सावयवी (Organism) है। जिस प्रकार मानव शरीर में विभिन्न अंग होते हैं जो विभिन्न प्रकार के कार्य करते हैं, और जिनमें परस्पर निर्भरता होती है और अंततः सभी अंग संपूर्ण (Whole) पर निर्भर होते हैं, उसी प्रकार मानव समाज रूपी शरीर का निर्माण भी विभिन्न राष्ट्रों व समुदायों से मिलकर होता है। इनमें परस्पर अन्तर्निर्भरता है, और अन्ततः ये सभी समष्टि पर निर्भर हैं। दांते के अनुसार एक मस्तिष्क के द्वारा संपूर्ण शरीर का मार्गदर्शन व संचालन होता है, और इसी प्रकार एक विश्व सम्राट के द्वारा संपूर्ण विश्व का संचालन होना चाहिए।

(2) दांते के अनुसार चाहे व्यष्टि हो अथवा समष्टि, दोनों की पूर्णता इस बात में है कि वे

अपनी अन्तर्निहित बौद्धिक क्षमताओं को विकसित करें क्योंकि बुद्धि ही मानव का सर्वोत्तम तत्व है। परन्तु बौद्धिक समताओं का संवर्धन तभी संभव है जब व्यक्ति और मानव समाज दोनों ही शान्तिपूर्ण जीवन जीने की स्थिति में हों। यदि व्यक्ति तनावग्रस्त व अशान्त है तो वह अपनी बौद्धिक क्षमताओं को विकसित नहीं कर सकता। इसी प्रकार यदि मानव समाज संघर्षों व युद्धों से ग्रस्त है तो मानवता की बौद्धिक क्षमताएं विकसित नहीं हो पाएंगी। इस प्रकार दांते, शान्ति को परम साध्य मानता है क्योंकि इसके अभाव में मानवता का बौद्धिक विकास संभव नहीं है।

स्थायी शान्ति की स्थापना कैसे हो? दांते ने अरस्तू के तर्कों का आश्रय लेकर अपनी मान्यता प्रतिपादित की है। घर की शान्ति व सद्भाव का कारण पिता का शासन होता है जो परिवार के सभी सदस्यों के हितों में सामंजस्य करता है और जिसकी आज्ञा का पालन सभी सदस्य करते हैं। इस प्रकार परिवार को लक्ष्य की एकता व शान्ति प्रदान करने वाला मुखिया है। सम्पूर्ण मानव समाज की एकता व शान्ति एक सार्वभौमिक सम्राट के शासन में ही संभव है। इस प्रकार सार्वभौमिक सम्राट सार्वभौमिक शान्ति स्थापित करेगा और तभी मानव जाति की बौद्धिक क्षमताओं का पूर्ण विकास हो सकेगा। सार्वभौमिक सम्राट विश्व का सर्वोच्च न्यायालय होगा और वह विभिन्न राष्ट्रों व सभ्यताओं के विवादों व संघर्षों का निपटारा कर विश्व को स्थायी शान्ति प्रदान कर सकेगा।

(3) दांते के अनुसार सम्राट के शासन में ही पूर्ण न्याय संभव होगा। न्याय वह सद्गुण है जो मनुष्यों के आपसी सम्बन्धों व दायित्वों का निर्धारण करता है। ऐसा तभी संभव है जब शासक के पास पर्याप्त शक्ति और इच्छा हो। सार्वभौमिक सम्राट के पास दृढ़ इच्छा भी है और पर्याप्त शक्ति भी। वह सम्पूर्ण विश्व का शासक है अतः उसमें ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा, लालच और तृष्णा का अभाव होगा, एवं इसलिए उसमें किसी के प्रति अन्याय करने की भावना कभी न आएगी। न्याय की स्थापना के लिए शक्ति की भी आवश्यकता होती है, और सार्वभौमिक सम्राट पर्याप्त शक्ति-सम्पन्न भी होगा। अतः पूर्ण न्याय की स्थापना केवल विश्व सम्राट ही कर सकता है। छोटे बड़े राज्यों के शासक किसी न किसी प्रकार की महत्वाकांक्षा एवं लोभ-लालच से ग्रस्त होते हैं, अतः वे कभी निष्पक्ष एवं न्यायप्रिय नहीं हो सकते। सार्वभौमिक सम्राट इन दोषों से मुक्त होने के कारण न्यायप्रिय होगा।

(4) सार्वभौमिक राजतंत्र की स्थापना से ही मनुष्य स्वतंत्रता का आनन्द प्राप्त कर सकेंगे। सम्राट के न्यायप्रिय होने के कारण मनुष्यों के जीवन में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं होगा। अन्य शासन प्रणालियों में शासकों की वासनाएं व महत्वाकांक्षाएं उन्हें निरंकुश बना देती है और वे प्रजा को अपना दास मानते हैं। अपनी निरंकुशता के कारण वे प्रजाजनों पर तमाम प्रकार के नियंत्रण आरोपित कर देते हैं।

सार्वभौमिक सम्राट इन विकारों से मुक्त होता है। न्यायप्रिय होने के कारण वह सदैव प्रजा की सुख समृद्धि के लिए ही प्रयत्नशील रहेगा। सत्ता के दुरुपयोग से उत्पन्न होने वाली दासता का उसके साम्राज्य में अभाव होगा।

(5) दांते के अनुसार ईश्वर चाहता है कि मानव समाज अपने को उसके स्वरूप में ढाले। ईश्वर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का एकमात्र शासक है और वही पूरे ब्रह्माण्ड को एकता के सूत्र में बाँधे हुए है। अतः सम्पूर्ण मानव समाज का भी एक शासक होना चाहिए। सार्वभौमिक सम्राट के शासन में ही मानव समाज को एकता प्राप्त हो सकती है।

यद्यपि दांते सार्वभौमिक राजतंत्र का प्रबल पक्षधर है लेकिन वह कहता है कि ऐसे सम्राट के शासन का अर्थ यह नहीं है कि विभिन्न सभ्यताओं व राज्यों की अपनी

विशिष्टता या पहचान समाप्त हो जाएगी। विभिन्न राज्य अपनी-अपनी विधि प्रणालियों का पालन करते हुए, अपनी संस्कृति व परम्पराओं के अनुसार आचरण करने के लिए स्वतंत्र होंगे। सम्राट का कार्य उनमें सामंजस्य एवं सौहार्द्र स्थापित करना होगा। वह सामान्य निर्देशों और कानूनों के द्वारा राज्यों का मार्गदर्शन करेगा, उनको परिस्थितियों व आवश्यकताओं के अनुसार ढालना विभिन्न राज्यों का दायित्व होगा। इस संदर्भ में वह 'ओल्ड टेस्टामेंट' से मूसा का दृष्टान्त देता है जो विभिन्न यहूदी कबीलों को सामान्य निर्देश देता था और उनके आधार पर छोटी मोटी बातों को तय करने की शक्ति कबीलों के सरदारों के पास ही रहती थी।

6.2.1 सार्वभौमिक राजतंत्र एवं रोमन लोगों की पात्रता

सार्वभौमिक राजतंत्र की आवश्यकता के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करने के बाद दांते यह विचार प्रकट करता है कि रोमन लोगों में सार्वभौमिक सम्राट का दायित्व संभालने की पात्रता एवं क्षमता विद्यमान थी। इसके पक्ष में वह निम्न तर्क देते हैं –

(1) दांते के अनुसार रोमन जाति विश्व की सर्वश्रेष्ठ जाति थी, अतः उसने विश्व पर अपना शासन स्थपित करने में सफलता प्राप्त की। रोम के लोगों की महान व श्रेष्ठ वंश-परंपरा थी। अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए वह रोम के महान कवि वर्जिले को उद्धृत करता है जिसने कहा था कि रोम के लोग प्राचीन काल से ही श्रेष्ठ रहे हैं। रोम का प्राचीन सम्राट एनीयस (Aeneas) वंश-परम्परा एवं वैवाहिक संबंधों की दृष्टि से एशिया, अफ्रीका व यूरोप के श्रेष्ठ कुलों और राजाओं से जुड़ा हुआ था। दांते के अनुसार तीन महाद्वीपों का श्रेष्ठ रक्त एनीयस की नसों में प्रवाहित हो रहा था, और ऐसे गौरवशाली शासक के वंशज रोम के लोगों की श्रेष्ठता व कुलीनता असंदिग्ध थी। अतः विश्व साम्राज्य स्थापित करने के प्रयास में जहाँ अन्य राज्यों को असफलता का मुंह देखना पड़ा, वहाँ रोम ने इस कार्य में सफलता प्राप्त की। प्रसिद्ध दार्शनिक बोथियस और ईसाई संत ल्यूक को उद्धृत करते हुए वह कहता है कि असीरिया, मिस्र, फारस और मकदूनिया के राजाओं को विश्व साम्राज्य स्थापित करने में ईश्वर का आशीर्वाद प्राप्त न होने के कारण असफलता मिली, जबकि श्रेष्ठ रोमन जाति ईश्वर की प्रिय होने के कारण इस उद्देश्य में सफल हुयी।

(2) दांते के अनुसार न्याय व सत्य का निर्धारण सदैव द्वन्द्व और युद्ध से होता आया है। यह द्वन्द्व चाहे विचारों का हो या अस्त्रों द्वारा, विजेता का पक्ष ही सत्य व न्याय का पक्ष माना जाएगा। वह कहता है, "जो द्वन्द्व से प्राप्त होता है, वह न्याय से प्राप्त है।" (`What is acquired by duel is acquired by right') रोम ने अपनी सैनिक क्षमता के बल पर असाधारण विजयें प्राप्त कीं और इससे प्रमाणित हो जाता है कि उनका पक्ष सत्य व न्याय का पक्ष था। अपनी सैनिक विजयों द्वारा रोम ने विशाल साम्राज्य की स्थापना कर एकता व शान्ति कायम की। रोम के सम्राट अपनी संपूर्ण प्रजा को पुत्रवत् समझते थे। उन्होंने विश्व विजय के द्वारा विश्व कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया।

(3) अरस्तू को उद्धृत करते हुए वह कहता है कि कुछ लोग शासन करने के लिए पैदा होते हैं और शेष शासित होने के लिए। शासन करने की सामर्थ्य प्रकृति प्रदत्त होती है। प्रकृति ने शासन करने के लिए रोम के लोगों का चयन किया था अतः रोम ने एक विश्वव्यापी साम्राज्य की स्थापना की।

(4) विश्व-साम्राज्य कायम करने की रोम की सामर्थ्य को प्रमाणित करने के लिए दांते ने कुछ चमत्कारों का उल्लेख भी किया है। उदहरण के लिए, प्रसिद्ध इतिहासकार लिवी

(Livy) के हवाले से वह कहता है कि जब रोम का दूसरा सम्राट न्यूमा पोम्पिलियस देवताओं को बलि चढ़ा रहा था, तभी स्वर्ग से एक ढाल नीचे आकर गिरी। यह इस बात का प्रतीक थी कि देवता न्यूमा से प्रसन्न है व उसके साम्राज्य की निरन्तर रक्षा करेंगे।

(5) विश्व-साम्राज्य स्थापित करने का रोम का अधिकार ईसाई धर्म की कसौटी पर भी प्रमाणित होता है। दांते के अनुसार संपूर्ण मानव जाति के पापों का प्रायश्चित करने के लिए ईसा ने विशाल रोमन साम्राज्य में जन्म लेना उचित समझा और ऐसे साम्राज्य के अधिकारी पायलेट से दंड स्वीकार किया। इससे स्पष्ट है कि रोमन साम्राज्य के अधिकारों व कार्यों को ईसाई धर्म के संस्थापक से भी मान्यता प्राप्त हुई थी।

6.2.2 सम्राट की सत्ता का स्त्रोत

दांते न केवल रोमन साम्राज्य का सशक्त पक्षधर है, वरन् उसका विचार है कि तत्कालीन सम्राट हेनरी सप्तम भी उसी विश्वव्यापी साम्राज्य की श्रृंखला की अगली कड़ी है। सम्राट की सत्ता के स्त्रोत पर विचार करते हुए वह कहता है कि सम्राट को अपनी सत्ता सीधे ईश्वर से प्राप्त होती है, न कि चर्च या पोप से।

चर्च - राज्य संघर्ष के दौरान धर्मसत्तावादियों ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि पोप सर्वोच्च सत्ताधारी है एवं राज्य को अपनी सत्ता पोप से प्राप्त होती है। जिस प्रकार चंद्रमा को अपना प्रकाश सूर्य से प्राप्त होता है, उसी प्रकार राजा की सत्ता का स्त्रोत पोप है। दांते सूर्य एवं चंद्रमा के इस रूपक को अस्वीकार कर देता है, और कहता है कि इस संसार को प्रकाशित करने के लिए ईश्वर ने 'दो सूर्य' – राजसत्ता व धर्मसत्ता, बनाए हैं। एक सूर्य सम्राट है जो लौकिक मामलों में मनुष्य के मार्ग को प्रकाशित करता है। दांते का विचार है कि सार्वभौमिक सम्राट अपनी सत्ता सीधे ईश्वर से प्राप्त करता है, और अपनी शक्तियों के प्रयोग में वह किसी प्रकार चर्च पर निर्भर नहीं है।

दांते के अनुसार जिस प्रकार पोप धार्मिक मामलों में ईश्वर का प्रतिनिधि है, उसी प्रकार सम्राट लौकिक मामलों में ईश्वर का प्रतिनिधि है। इस प्रकार दोनों सत्ताएं ईश्वर की कृति हैं, अतः ईश्वर के एक प्रतिनिधि पोप को दूसरे प्रतिनिधि सम्राट को नियंत्रित व निर्देशित करने का कोई अधिकार नहीं है। दांते के अनुसार सम्राट को पोप का एक बड़े भाई के रूप में सम्मान करना चाहिए क्योंकि धार्मिक-आत्मिक जीवन सांसारिक जीवन से उच्चतर है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि सम्राट पोप के नियंत्रण में है।

दांते ने 'ओल्ड टेस्टामेंट' के उस दृष्टांत का भी खंडन किया जिसमें यह दर्शाया गया कि राजा सॉल को राजपद पर बैठाने व उससे हटाने वाले पैगम्बर सैमुअल थे। इसी दृष्टांत के आधार पर चर्च यह तर्क देता था कि राज सिंहासन पर सम्राट को बैठाना व हटाना चर्च का एक दैवीय दायित्व है। दांते ने कहा कि सैमुअल की एक विशेष स्थिति थी और वह एक पैगम्बर था। ईश्वर ने अपने उद्देश्यों को पूरा करने के लिए समय-समय पर ऐसे पैगम्बरों को भेजा है और उन्होंने ईश्वरीय आज्ञाओं के अनुसार कार्य किया है। परन्तु बाद के पोप उस विशेष कोटि में नहीं आते। वे मात्र प्रतिनिधि हैं और इसलिए सैमुअल ने जो कार्य किए, वह कार्य पोप नहीं कर सकते। पोप की उतनी व्यापक शक्तियाँ नहीं हो सकतीं। अतः उन्हें सम्राटों को राजपद देने या उससे हटाने का अधिकार नहीं है।

दांते ने धर्म सत्तावादियों के उस तर्क का भी खंडन किया जिसमें कहा गया कि जब पोप सिल्वेस्टर ने सम्राट कान्स्टेन्टाइन को कोढ़ से मुक्त कर दिया, तो कृतज्ञ सम्राट ने रोम का साम्राज्य पोप को दान कर दिया था। इतिहास में यह घटना 'कान्स्टेन्टाइन के दान' के रूप में

प्रसिद्ध है। इस घटना के आधार पर चर्चवादी यह तर्क देते थे कि राज्य चर्च की सम्पत्ति बन गया एवं राजाओं को राज्याधिकार चर्च से ही प्राप्त होगा। दांते ने इस तर्क को बेतुका बताते हुए कहा कि सम्राट के अधिकार संपूर्ण हैं और वह अपनी सत्ता का अपने और चर्च के बीच विभाजन नहीं कर सकता। रोमन विधिशास्त्र का हवाला देते हुए उसने कहा कि किसी सम्राट को अपनी सत्ता किसी अन्य को हस्तांतरित करने या उसे विभाजित करने का कोई वैधानिक अधिकार नहीं है। अतः सम्राट की शक्तियों को सीमित करने के लिए इस घटना को आधार नहीं बनाया जा सकता।

इस तर्क को कानूनी शब्दावली ने व्यक्त करते हुए दांते ने कहा 'क्षेत्राधिकार न्यायाधीश से पहले है।' (Jurisdiction is prior to judge) पहले क्षेत्राधिकार परिभाषित किया जाता है तब किसी पदाधिकारी की नियुक्ति होती है। साम्राज्य सम्राट से पहले है, अतः सम्राट के द्वारा साम्राज्य के स्वरूप को परिवर्तित नहीं किया जा सकता। इसलिए सम्राट कान्स्टेन्टाइन को इस बात का कोई अधिकार प्राप्त नहीं था कि वह पोप को अपना राज्य हस्तांतरित कर दे। यदि कोई राष्ट्र अपने राज्य को विभाजित या हस्तांतरित कर रहा है, तो वह वस्तुतः आत्मविनाश ही कर रहा है।

राजसत्ता पर धर्मसत्ता के नियंत्रण के विरुद्ध दांते ने यह तर्क भी दिया कि बाइबिल में चर्च को स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि वह लौकिक वस्तुओं से दूर रहे। सन्त मैथ्यूज ने कहा कि लौकिक सम्पत्ति या शक्ति का संग्रह चर्च की प्रकृति के विरुद्ध होगा, क्योंकि चर्च का कार्य क्षेत्र आत्मिक-नैतिक जीवन तक सीमित है। चर्च स्वर्ग के राज्य का माध्यम है, उसे सांसारिक एवं लौकिक सत्ता व शक्ति के प्रति उदासीन रहना चाहिए। अतः लौकिक साम्राज्य पर सम्राट का एकाधिकार है। चर्च को अपने कार्यों को सुचारू रूप से करने के लिए यदि राज्य की भौतिक व आर्थिक सहायता की आवश्यकता पड़ती है, तो वह आवश्यक सहायता ले सकता है। परन्तु वह सत्ता या सम्पत्ति का स्वामी नहीं हो सकता।

इस प्रकार दांते एक प्रखर राजसत्तावादी है, और राजसत्ता को ईश्वरीय कृति व देन मानता है। उसके अन्य काव्यों जैसे – 'इनफरनो', 'परगेटरी' आदि में भी उसका यह दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से विद्यमान है। उदाहरण के लिए, 'इनफरनो' में उसने जूलियस सीजर जो रोमन साम्राज्य के संस्थापकों में माना जाता है, को एक श्रेष्ठ मनुष्य के रूप में चित्रित किया और दिखाया कि वह नरक की आग से बच जाता है, जबकि सीज़र के विरोधियों जैसे ब्रूट्स व कैसियस को घोर नरक में जलते हुए चित्रित किया। दांते का यह स्पष्ट विचार था कि मानवीय जीवन के दो लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए ईश्वर ने दो सत्ताओं का सृजन किया और दोनों को अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र व पूर्ण अधिकार सम्पन्न बनाया। इसलिए सम्राट किसी चर्च या पोप का वशंवर्ती नहीं है, और विश्व में एकता व शांति स्थापित करने के लिए निर्बाध रूप से अपनी सत्ता का प्रयोग कर सकता है।

6.2.3 समीक्षा

दांते का राजदर्शन संकीर्ण एवं सीमित है। वह राजदर्शन के मूलभूत प्रश्नों के प्रति उदासीन है और उसकी रुचि अपने युग के ज्वलंत प्रश्न चर्च-राज्य संघर्ष तक सीमित है। वस्तुतः वह राजसत्ता का पैरोकार मात्र है। उसकी बौद्धिक संकीर्णता का एक अन्य प्रमाण यह है कि वह राष्ट्रीयता की नयी उभरती प्रवृत्ति को देख पाने में असमर्थ रहा और साम्राज्य के जीर्ण-शीर्ण विचार से चिपटा रहा। प्रसिद्ध विद्वान जेम्स बर्नहम के अनुसार वह अपने युग की राजनीतिक वास्तविकताओं को समझने में पूर्णतः विफल रहा। सार्वभौमिक राजतंत्र के जिस आदर्श का वह बढ़-चढ़कर प्रतिपादन कर रहा था वह अप्रासंगिक होता जा रहा था। प्रो. जार्ज सेबाइन के

अनुसार साम्राज्य का विचार मात्र कल्पना बन कर रह गया था। यह भी एक विचित्र विरोधाभास है कि यद्यपि दांते के चिंतन ने इटली के राष्ट्रवादियों को बहुत प्रेरित किया, किन्तु वह स्वयं राजनीति में राष्ट्रीयता के बढ़ते प्रभाव से अनभिज्ञ था।

सार्वभौमिक राजतंत्र के पक्ष में दिए गए उसके अनेक तर्क हास्यास्पद एवं बचकाने हैं। सार्वभौमिक सम्राट की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए उसने धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तों एवं ऐतिहासिक प्रसंगों को काफी तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया। रोमन साम्राज्य के प्रति उसका पूर्वाग्रह उसे सत्य से परे ले जाता है। उदाहरण के लिए, यदि रोमन साम्राज्य श्रेष्ठता का मूर्तरूप था, तो उसका पतन क्यों हुआ? सैनिक विजयों को यदि रोम पर दैवीय कृपा का परिणाम माना जाए तो क्या रोम के पराभव का कारण ईश्वर का कोप था? दांते ने जिस प्रकार सैनिक सफलता को न्याय व सत्य की कसौटी मान लिया, उसे स्वीकार कर पाना कठिन है।

दांते के राजदर्शन की एक अन्य विसंगति यह भी है कि सार्वभौमिक सम्राट के निरंकुश व अत्याचारी होने की संभावना को वह कतई नकार देता है। जब सम्राट पर धर्मसत्ता द्वारा आरोपित नैतिक-धार्मिक प्रतिबन्ध समाप्त हो जाएंगे तो उसके स्वेच्छाचारी होने की पूरी संभावना है। फिर यदि लार्ड एक्टन की यह उक्ति कि पूर्ण शक्ति व्यक्ति को पूर्णतः निरंकुश बना देती है, सत्य है तो सार्वभौमिक सम्राट एक खतरनाक अवधारणा है। दांते ने इस बात पर भी विचार नहीं किया कि सार्वभौमिक राजा की निरंकुशता को किस प्रकार रोका जाएगा?

दांते के राजदर्शन का मूल्यांकन करते हुए टामस वर्जिन ने कहा है कि उसका राजदर्शन एवरोवाद के दोहरे सत्य के सिद्धान्त का राजनीतिक पक्ष है।' (`It is infact a kind of political facet of the Averroistic double truth') लेकिन प्रसिद्ध विद्वान एटीन गिल्सन दांते को एवरोवादी नहीं मानते। उनका विचार है कि यद्यपि दांते ने राजसत्ता व धर्मसत्ता को समतुल्य व समकक्ष माना है, फिर भी उसने लौकिक जीवन से पारलौकिक जीवन की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है और कहा है कि राजसत्ता को पोप व चर्च को समुचित सम्मान देना चाहिए। दांते ने यह भी माना कि आध्यात्मिक सत्ता के प्रभाव से पूरी तरह बच पाना सम्राट के लिए संभव नहीं है। इस कारण, गिल्सन के अनुसार, मध्ययुगीन राजदर्शन में दांते को अत्यंत महत्वशाली स्थान प्राप्त हो जाता है।

6.3 मार्सिलियो

अन्य मध्ययुगीन राजनीतिक विचारकों की भांति मार्सीलियो के राजनीतिक चिंतन का उत्प्रेरक चर्च-राज्य संघर्ष ही था। इस विवाद में मार्सिलियो राजसत्तावाद का क्रान्तिकारी प्रतिपादक था। चर्च व पोप के विरुद्ध उसके दृष्टिकोण को निर्धारित करने में पेडुआ नगर, जो उस समय ज्ञान-विज्ञान का प्रतिष्ठित केंद्र था, के बौद्धिक वातावरण ने बड़ी भूमिका निभाई, जहाँ इहलोकवादी (Secular) प्रवृत्तियाँ बहुत फलफूल रही थीं। इसके अतिरिक्त दो समकालीन घटनाओं ने भी उसके राजसत्तावादी विचारों को पुष्ट करने में योगदान किया। इनमें एक घटना मूलतः धार्मिक थी और दूसरी राजनीतिक। 1322 में पोप जॉन ने फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय के सम्पत्ति-त्याग (Poverty) के सिद्धान्त को विधर्मी घोषित कर दिया और इस प्रकार पादरियों के लिए सम्पत्ति संग्रह का मार्ग प्रशस्त कर दिया। पोप के इस निर्णय की धर्माधिकारियों द्वारा घोर निन्दा हुयी। जर्मनी के शासक लुई जिसका पहले ही पोप से विवाद चल रहा था, ने एक दस्तावेज प्रकाशित किया जिसमें पोप पर आरोप लगाया गया कि वह ईसाई धर्म के मूल सिद्धान्तों से भटक गया है। लुई ने कहा कि ईसा व उनके शिष्यों ने धर्माधिकारियोंके लिए सादगी और अपरिग्रह के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। पोप का निर्णय ईसाई धर्म के सिद्धान्तों का खुला उल्लंघन है।

पोप धर्मभ्रष्ट हो गए हैं। लुई ने आग्रह किया कि चर्च की सामान्य परिषद बुलाकर पोप के इस कार्य पर विचार किया जाए। ईसाई जगत में लुई के इन विचारों को भारी समर्थन प्राप्त हुआ, और धारणा बनने लगी कि लुई की तरह यदि अन्य शासक भी धार्मिक क्षेत्र में व्याप्त पोप की मनमानी पर अंकुश लगाने का प्रयास करे तो ईसाई धर्म का शुद्धीकरण हो सकता है। इस घटना के साथ जुड़ा राजनीतिक पक्ष भी कम महत्वपूर्ण नहीं था। पोप जॉन ने बवेरिया (जर्मनी) के राजसिंहासन पर बैठने के लुई के अधिकार को अस्वीकार कर दिया था। लुई पोप के इस कार्य को अनाधिकार चेष्टा मानता था क्योंकि उसका तर्क था कि उत्तराधिकार के प्रश्न को तय करने का पोप को कोई अधिकार नहीं है।

लुई और पोप जॉन के संघर्ष का एक अन्य पहलू भी बहुत महत्वपूर्ण था। चर्च के विभाजन के बाद पोप फ्रांस के अविनॉन शहर में रहता था और एक प्रकार से फ्रांसीसी राजाओं की कठपुतली के रूप में कार्य करता था। सम्राट लुई पोप के कार्यों व घोषणाओं के पीछे फ्रांस के विस्तारवादी इरादों को देखता था। लुई व बवेरिया के कुलीन वर्ग को यह कतई बर्दाश्त नहीं था कि जर्मन राज्यों के मामलों में फ्रांस के राजा पोप की आड़ में हस्तक्षेप करे। इस प्रकार धार्मिक - राजनीतिक कारकों के घालमेल से लुई व पोप जॉन के बीच का विवाद काफी जटिल स्वरूप धारण कर चुका था।

सम्राट लुई व पोप जॉन के इस संघर्ष में मार्सिलियो की सहानूभूति लुई के साथ थी। मार्सिलियो जहाँ एक ओर चर्च एवं पोप को इटली की राजनीतिक दुर्दशा के लिए उत्तरदायी मानता था, वहीं दूसरी ओर चर्च के भ्रष्टाचार व पतन से बहुत उद्वेलित था। इन प्रवृत्तियों को नियंत्रित करने के लिए वह एक सशक्त राज्य की स्थापना को आवश्यक मानता था। मार्सिलियो का राजनीतिक चिंतन प्रखर राष्ट्रवाद की आधारशिला पर निर्मित है। इटली के विभाजन और विघटन के लिए वह चर्च व पोप को दोषी मानता है, और उनके प्रति उसके मन में वही आक्रोश व वितृष्णा है तो 16वीं सदी में मेकियावेली में दिखाई पड़ती है। प्रो. सेबाइन के अनुसार, वह दांते की तरह किसी सार्वभौमिक साम्राज्य का पैरोकार नहीं है, वह तो पोप के साम्राज्यवाद से क्षुब्ध और चिन्तित है जिसने इटली की दुर्गति कर डाली। मार्सिलियो राज्य की सर्वोपरिता का प्रबल पक्षधर है क्योंकि उसका स्पष्ट एवं दृढ़ विचार है कि राज्य एक पूर्ण व आत्मनिर्भर समुदाय है जिसके तत्वावधान में मनुष्य का लौकिक-पारलौकिक कल्याण संभव है।

मार्सिलियो का जन्म 1270 में इटली के पेडुआ शहर में एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। यद्यपि वह एक चिकित्सक था, परन्तु उसे दर्शन, धर्मशास्त्र व कानून का भी अच्छा ज्ञान था। पेरिस विद्यालय में एक विद्यार्थी और अध्यापक के रूप में उसने काफी वर्ष बिताए। वह पेरिस विश्वविद्यालय का रेक्टर भी रहा। उसकी पुस्तक 'डिफेन्सर पेसिस' (Defensor Pacis) सम्राट लुई के समर्थन में लिखी गयी थी और इसका उद्देश्य राज्य की सर्वोपरिता व श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना था। उसका देहान्त 1343 में हुआ।

मार्सिलियो के विचारों पर अरस्तू के दर्शन और एवरोवादी मान्यताओं का गहरा प्रभाव पड़ा। मार्सिलियो ने 'डिफेन्सर पेसिस' की प्रस्तावना में कहा है कि उसकी रचना अरस्तू की 'राजनीति' के उस भाग की पूरक है जहाँ अरस्तू ने क्रान्ति के कारणों पर विचार किया है। मार्सिलियो ने कहा कि अरस्तू ने यह परिकल्पना नहीं की थी कि चर्च अथवा धर्मसत्ता भी राज्यों में अस्थिरता व संघर्ष का बहुत बड़ा कारण होगा। मार्सिलियो का विचार था कि इस समस्या का उपचार यही है कि अरस्तू की तरह राज्य को सर्वोच्च एवं पूर्ण समुदाय माना जाए जिसके अंतर्गत मनुष्य का भौतिक एवं आत्मिक सभी प्रकार का कल्याण संभव है।

13वीं एवं 14वीं सदी में यूरोप में एवरोवादी मान्यताओं का भी काफी प्रभाव था जो मूलतः एक बुद्धिवादी दर्शन था। एवरोवाद दोहरे सत्य (Double truth) की धारणा का प्रतिपादन कर रहा

था। इसने बुद्धि एवं विश्वास को समकक्ष और एक दूसरे से स्वतंत्र माना। मानवीय बुद्धि और दर्शन शास्त्र मनुष्य का संपूर्ण कल्याण करने में सक्षम है। धर्म और विश्वास मनुष्य के पारलौकिक कल्याण में सहायक हो सकते हैं परन्तु इहलौकिक क्षेत्र में उनकी कोई भूमिका नहीं है। इस प्रकार एवरोवाद के मूलतः इहलोकवादी दृष्टिकोण का मार्सिलियो के विचारों पर गहरा प्रभाव देखा जा सकता है।

मार्सिलियो की प्रमुख राजनीतिक मान्यताओं का विवेचन निम्न प्रकार से किया जा सकता है –

6.3.1 राज्य सम्बन्धी विचार

मार्सिलियो के राज्य संबंधी विचारों पर अरस्तू का गहरा प्रभाव है। वह मानता है कि मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी है, और यही सामाजिकता की प्रवृत्ति विभिन्न समुदायों की उत्पत्ति का कारण है। मनुष्य की सामाजिकता की प्रथम अभिव्यक्ति परिवार है जिसका निर्माण स्त्री, पुरुष व बच्चों में होता है। कालान्तर में परिवारों से ग्राम और ग्रामों से राज्य का विकास हुआ। इस प्रकार मनुष्य अपूर्ण समुदायों से पूर्ण समुदाय की दिशा में विकसित होता है। राज्य सर्वोच्च एवं सर्वश्रेष्ठ समुदाय है जो संख्या की दृष्टि से विशाल एवं कार्यों व उद्देश्यों की दृष्टि से व्यापक होता है। राज्य श्रम विभाजन एवं कार्य विशेषीकरण के आधार पर संगठित होते हैं जहाँ विभिन्न क्षमताओं से युक्त मनुष्य विभिन्न प्रकार के कार्य करते हुए आत्मनिर्भर एवं पूर्ण जीवन को संभव बनाते हैं।

मार्सिलियो के अनुसार परिवार का संचालन उसके मुखिया के द्वारा होता है। वह परिवार के सदस्यों को अनुशासित रखते हुए एवं उनका मार्गदर्शन करते हुए कल्याण की ओर प्रवृत्त करता है। ग्राम व राज्य का भी इसी प्रकार शासक होता है। परन्तु जहाँ परिवार के संचालन में परिवार के मुखिया की इच्छा व निर्णय प्रधान होते हैं, वहीं ग्राम व राज्य का संचालन विवेकसंगत एवं न्यायपूर्ण कानूनों व नियमों से होता है। ग्राम अथवा राज्य मात्र शासक की इच्छा के आधार पर संचालित नहीं हो सकते हैं।

राज्य के उद्देश्य के बारे में वह अरस्तू के विचार से सहमत है कि राज्य जीवन के लिए अस्तित्व में आया और सद्जीवन की प्राप्ति उसका चरम उद्देश्य है। मार्सिलियो के अनुसार सद्जीवन के दो पक्ष हैं – लौकिक एवं पारलौकिक। लौकिक कल्याण की उपलब्धि के लिए सरकार का होना अति आवश्यक है। सरकार के अभाव में अराजकता फैल जाती है और समाज विघटन की ओर चला जाता है। अतः असामाजिक और आपराधिक गतिविधियों को रोकना सरकार का महत्वपूर्ण कर्तव्य है, और ऐसा करने के लिए राज्य का शक्तिशाली होना आवश्यक है। इस प्रकार जनता को शान्ति व सुरक्षा प्रदान करना एवं भौतिक आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करना राज्य का कर्तव्य है। मार्सिलियो का विचार है कि व्यक्ति के आत्मिक उद्धार एवं पारलौकिक कल्याण की जिम्मेदारी राज्य की है। राज्य को एक पुरोहित वर्ग की व्यवस्था करनी चाहिए जो धार्मिक उपदेशों व नैतिक शिक्षाओं के द्वारा मनुष्य का आध्यात्मिक कल्याण कर सके।

अरस्तू की तरह वह भी राज्य के 6 प्रमुख वर्ग मानता है – कृषक, शिल्पकार, साहूकार, सैनिक, प्रशासक व पुरोहित। मार्सिलियो के अनुसार इनमें से तीन वर्गों – सैनिक, शासक एवं पुरोहित की विशिष्ट स्थिति है और वे विशेष सम्मान के पात्र हैं। पर राज्य के सुचारू संचालन के लिए सभी छह वर्गों में सामंजस्य व सहयोग अति आवश्यक है। वह राज्य को एक सावयवी मानता है जिसका स्वास्थ्य एवं कल्याण सभी अंगों के पारस्परिक सहयोग पर निर्भर करता है।

6.3.2 शासन सिद्धान्त

मार्सिलियो अरस्तू द्वारा प्रतिपादित शासन के वर्गीकरण को स्वीकार करता है। परन्तु उसका विचार है कि राजा या शासक का निर्वाचन होना चाहिए। वंशानुगत शासन की तुलना में वह निर्वाचित शासन को श्रेष्ठ मानता है। शासक का निर्वाचन जनता अथवा उसके अधिसंख्यक भाग द्वारा किया जाना चाहिए। विविध राज्यों द्वारा शासक के निर्वाचन के लिए अपनी सुविधानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की पद्धति अपनायी जा सकती है। अन्य प्रणालियों की अपेक्षा वह निर्वाचित शासन को निम्न कारणों से श्रेष्ठ मानता है –

1. एक निर्वाचित शासक जन समर्थन व जन इच्छा से शासन करता है, अतः शासन अधिक स्थिर व कुशल होता है। शक्ति के बल पर कायम शासन प्रणाली या वंशानुगत शासन प्रणाली इन गुणों से रहित होती है।

2. वंश परम्परा पर आधारित शासन में इस बात की गारंटी नहीं होती कि शासक श्रेष्ठ ही होगा, जबकि निर्वाचन के द्वारा श्रेष्ठतम व्यक्ति को शासन का दायित्व सौंपा जा सकता है।

3. निर्वाचित राजा या शासक के निरंकुश होने की संभावना नहीं होती क्योंकि सदगुणी व श्रेष्ठ व्यक्ति ही निर्वाचन के द्वारा राजपद ग्रहण करेगा। निर्वाचित शासक अन्याय व अत्याचार से दूर रहेगा। जनता का भय और दबाव उन्हें निरंकुश होने से रोकता है।

4. निर्वाचित शासक जनकल्याण में प्रवृत्त रहता है। प्रजाजनों को न्याय मिलता है, उनकी उचित आवश्यकताएं पूरी हो जाती हैं, अतः वे विद्रोह करने या क्रान्ति करने को बाध्य नहीं होते। प्रायः वंशानुगत शासन में प्रजा के प्रति उपेक्षा का भाव देखने को मिलता है।

जहाँ मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन में राजा की सत्ता का स्रोत ईश्वर को माना जाता था, वहीं मार्सिलियो ने जनता को सत्ता का स्रोत माना। उसका विचार है कि शासक कार्यपालिका संबंधी शक्तियों का प्रयोग करता है। उसके कार्य व शक्तियाँ संवैधानिक कानूनों व अन्य विधियों जिनको जनता तय करती है, के अनुसार होने चाहिए। यदि शासक अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करे तो जन समुदाय को उसे सुधारने व पद से हटाने का अधिकार प्राप्त है।

6.3.3 विधि एवं विधि निर्माता

मार्सिलियो ने मुख्यतः दो प्रकार के कानून माने हैं –

दैवीय कानून एवं माननीय कानून। दोनों को परिभाषित करते हुए वह कहता है –

"दैवीय विधि ईश्वर का वह आदेश है जो इस संसार में मनुष्य के कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्धारण करता है लेकिन उसका परिणाम स्वर्ग में प्राप्त होता है।" (Divine law is a command of God directly about volutary acts of human beings to be done or avoided in this world but for the sake of attaining the best end in the world to come)

"मानवीय विधि राज्य के संपूर्ण नागरिकों या उसके अधिसंख्यक भाग का वह आदेश है जिसके द्वारा इस संसार में मनुष्य के कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्धारण किया जाता है और जिसके परिणाम भी इसी संसार में प्राप्त होते हैं। अर्थात् मानवीय विधि ऐसा आदेश है जिसका उल्लंघन करने वाले को राज्य के द्वारा दंडित किया जाएगा।" (Human law is a command of the whole body of citizens or of its prevailing part about voluntary acts of human beings to be done or avoided in this world for the sake of attaining best end in this world. I mean a command the transgression of which is enforced in this world by a penalty or punishment imposed on the transgressor.')

उक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि दैवीय या मानवीय विधि का अंतर वस्तुतः दण्ड के स्वरूप का अंतर है। दैवीय विधान का पालन या उल्लंघन करने वालों को पुरस्कार या दण्ड स्वर्ग में प्राप्त

होगा, और ईश्वर इसका निर्धारण करेगा। दैवीय विधान का उल्लंघन करने वालों को दंडित करने का अधिकार इस लोक में किसी सत्ता (जैसे चर्च) को प्राप्त नहीं है। मानवीय कानून का स्वरूप इससे नितान्त भिन्न है। मानवीय कानून का स्रोत ईश्वर नहीं है, वरन् जनता या उसका अधिसंख्यक भाग है। मानवीय कानून का पालन या उल्लंघन करने पर दण्ड एवं पुरस्कार देने का अधिकार राज्य को प्राप्त है। इस प्रकार मानवीय कानून जन-इच्छा का परिणाम है व उनका उल्लंघन राज्य द्वारा दंडनीय है। वह अपनी मानवीय कानून की अवधारणा में 'आदेश' (Command) और 'दण्ड' (Sanction) को बहुत महत्व प्रदान करता है, कानून विवेकपूर्ण एवं न्यायसंगत हो, यह पक्ष गौण है। इस दृष्टि से जैसा कि सेबाइन का विचार है, उसका विधि सिद्धान्त टामस एक्विनास की मान्यताओं के नितान्त विपरीत है क्योंकि एक्विनास ने विधि का मूल तत्व विवेक को माना है, 'आदेश' व 'दण्ड' की मान्यताएं गौण हैं।

मार्सिलियो ने मुख्यतः राज्य निर्मित कानून के स्वरूप पर ही विस्तार से विचार किया है। उसके अनुसार जनता या उसका अधिसंख्यक भाग ही विधि निर्माता (Legislator) होता है। जनता द्वारा लोगों के आचरण व कार्यों को निर्देशित करने के लिए जो नियम बनाए जाते हैं उन्हें कानून कहते हैं। विशेष परिस्थितियों में जनता इस कार्य को किसी समूह (Commission) को सौंप सकती है। कानून की यह धारणा यूनान के नगर-राज्यों व पुनर्जागरणकाल के इटली के नगर-राज्यों में प्रचलन में थी। मध्ययुग में भी यह माना जाता था कि संसद् वस्तुतः राज्य के संपूर्ण जनसमाज का लघु रूप है। मार्सिलियो ने जब यह कहा कि विधि का स्रोत जनता या उसका अधिसंख्यक भाग है, तो 'अधिसंख्यक भाग' (Prevailing Part) से उसका आशय मात्र संख्यात्मक बहुमत नहीं है। वह गुणात्मकता को भी समुचित महत्व देता है और उसका विचार है कि समाज को विधि निर्माण करते समय कुलीन और प्रभावशाली व्यक्तियों की राय को भी समुचित महत्व देना चाहिए। जनता या उसके अधिसंख्यक भाग द्वारा कानूनों को बनाने के पक्ष में वह निम्न तर्क देता है –

(i) समष्टि द्वारा बनाए गए कानून समष्टि का कल्याण करने वाले होंगे। साथ ही समष्टि द्वारा निर्मित विधियाँ अधिक विवेक संगत और दीर्घजीवी होंगी। एक व्यक्ति या गुट द्वारा बनाए गए कानून प्रायः वर्ग विशेष या व्यक्ति विशेष के हित के लिए ही बनाए जाते हैं। फिर सामूहिक विचार-विमर्श पर आधारित न होने के कारण उनकी विवेकशीलता प्रायः संदिग्ध ही रहती है।

(ii) समष्टि द्वारा बनाए गए कानूनों का पालन सहज रूप से होता रहता है। कानून जब जन इच्छा के परिणाम होते हैं तो उन्हें जनस्वीकृति आसानी से मिल जाती है। कानूनों का पालन करवाने के लिए बल प्रयोग आदि करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। अतः समाज व्यवस्थित व अनुशासित रूप से चलता रहता है।

मार्सिलियो जनप्रभुता (Popular Sovereignty) के सिद्धान्त का प्रतिपादक है। उसके अनुसार शासक अंततः जनता के प्रति उत्तरदायी है, और जन इच्छा की अवहेलना करने वाले शासक को प्रजा अपदस्थ करने का अधिकार रखती है। शासक की भूमिका अभिकर्ता (Agent) की है। इस दृष्टि से मार्सिलियो प्रतिनिधित्व की आधुनिक धारणाओं का प्रतिपादक है। डनिंग का विचार है कि दांते की अपेक्षा, मार्सिलियो 14वीं सदी की राजनीतिक वास्तविकताओं के अधिक नजदीक हैं। सीमित व संवैधानिक शासन की नवोदित प्रवृत्तियों को पहचानने व मुखरित करने में मार्सिलियो की महत्वपूर्ण भूमिका है, जबकि दांते सार्वभौमिक एवं सर्वशक्तिमान सम्राट के अप्रासंगिक होते जा रहे विचार को पुनर्जीवित करने में लगा था।

6.3.4 चर्च सम्बन्धी विचार

प्रो. जार्ज सेबाइन के अनुसार मार्सिलियो के राजनीतिक चिन्तन का मुख्य उद्देश्य पोप के

साम्राज्यवाद (Papal Imperialism) को ध्वस्त करना था, और चर्च को राज्य की अधीनता में लाने का उससे अधिक सशक्त प्रयास अन्य किसी चिंतक ने नहीं किया। मार्सिलियो के चर्च सम्बन्धी विचारों का विवेचन निम्न प्रकार से किया जा सकता है –

1. मार्सिलियो पादरी वर्ग को कोई विशेष स्थिति प्रदान करने का विरोधी है। राज्य के अन्य वर्गों में से एक पादरी वर्ग भी है जिसका कार्य धार्मिक एवं आध्यात्मिक है। अन्य वर्गों की तरह पादरी वर्ग भी राज्य के नियंत्रण में होना चाहिए, राज्य के कानूनों का पालन करना उनका कर्तव्य है, और ऐसा न करने पर अन्य नागरिकों की तरह राज्य उन्हें भी दंडित कर सकता है। पादरी वर्ग को राज्य के अंदर न तो कोई विशेषाधिकार प्राप्त हैं और न ही दंडात्मक शक्तियाँ। नागरिकों को पाप के लिए दण्ड स्वर्ग में ईश्वर द्वारा दिया जाएगा। पादरी वर्ग नागरिकों को उपदेश व चेतावनी द्वारा ईश्वरीय विधान का उल्लंघन न करने को कह सकता है। विधर्मियों व धर्मद्रोहियों को यदि दंडित करने की आवश्यकता पड़ती है, तो यह कार्य राज्य ही करेगा। किसी व्यक्ति को धर्म से बहिष्कृत करने का अधिकार भी राज्य का है, चर्च का नहीं। दैवीय विधियों का उल्लंघन करने का दंड परलोक में ईश्वर द्वारा दिया जाएगा, इस लोक में दण्डात्मक शक्ति केवल राज्य के पास है और राज्य के कानूनों के दायरे में पुरोहित वर्ग भी आता है। पादरी वर्ग का कार्य एक चिकित्सक जैसा है। वह परामर्श द्वारा मनुष्य का नैतिक-आत्मिक क्षेत्र में मार्गदर्शन कर सकता है, दुष्टों को प्रताड़ित कर सकता है, पाप पूर्ण आचरण के भावी परिणामों की ओर संकेत कर सकता है, परन्तु बल प्रयोग के द्वारा वह किसी को प्रायश्चित के लिए बाध्य नहीं कर सकता।

2. मार्सिलियो ने चर्च में सम्पत्ति संग्रह करने के अधिकार को भी अस्वीकार कर दिया। धार्मिक व आध्यात्मिक कार्यों को संपादित करने के लिए चर्च को जो सम्पत्ति या सामग्री चाहिए, वह राज्य उपलब्ध कराएगा, पर चर्च स्वयं सम्पत्ति का स्वामी नहीं बन सकता। राज्य को चर्च के पदाधिकारियों को नियुक्त करने का व चर्च की सम्पत्ति को नियंत्रित करने का पूरा अधिकार है। यदि चर्च के धर्माधिकारी अपने कर्तव्यों का उचित प्रकार से निर्वहन नही करते, तो राज्य को उन्हें पद से हटाने का अधिकार है। आवश्यकता पड़ने पर पोप को भी अपदस्थ किया जा सकता है।

3. मार्सिलियो ने चर्च की संगठनात्मक व्यवस्था जिसमें पोप को असाधारण स्थिति प्राप्त थी, को भी अपनी आलोचना का विषय बनाया। चर्च के संगठन में पोप की संप्रभुता का उसने खुली चुनौती दी और इसके लिए अनेक तर्क प्रस्तुत किए। पोप की सर्वोच्चता का खंडन करते हुए उसने कहा कि प्रारंभ में रोम के विशप से अन्य चर्चों के धर्माचार्य सलाह मशविरा कर लेते थे जिसके कारण यह माना जाने लगा कि पोप को अन्य चर्चों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त है। परन्तु परामर्श के आधार पर पोप को सर्वोच्चता प्राप्त नहीं हो जाती। उसने यह भी तर्क दिया कि सन्त पीटर का उत्तराधिकारी होने से भी पोप को कोई विशेष स्थिति प्राप्त नहीं हो जाती। ईसा सन्त पीटर सहित अपने सभी शिष्यों को समान प्रेम देते थे, और बाइबिल में ऐसा कहीं प्रतिपादित नहीं किया गया है कि पीटर को दूसरे शिष्यों पर कोई अधिकार प्राप्त था। मार्सिलियो ने ऐतिहासिक प्रमाण देकर यह सिद्ध करने की कोशिश की कि वस्तुतः सन्त पीटर कभी रोम गए ही नहीं थे और न ही वह रोम के चर्च के बिशप थे। मार्सीलियो ने कहा कि पोप, बिशप या अन्य धर्माचार्य समान हैं और उनमें छोटे बड़े का कोई भेद नहीं किया जाना चाहिए। अधिक से अधिक पोप को चर्च का मुख्य प्रशासक कहा जा सकता है। वस्तुतः मार्सीलियो सभी ईसाइयों को, चाहें वे पादरी हों अथवा गृहस्थ, समान मानता है। इस

दृष्टि से मार्टिन लूथर के इस तर्क कि 'सभी ईसाई पुरोहित हैं' (Priesthood of all Believers) का पूर्वाभास मार्सिलियो के विचारों में प्राप्त होता है।

मार्सीलियो ने ईसाई धर्म के कर्मकाण्ड को भी अस्वीकार किया है। उसका विचार है कि पाप मुक्ति के लिए ईसा पर विश्वास और प्रार्थना पर्याप्त है। इसी प्रकार वह बाइबिल को ही एकमात्र प्रामाणिक धर्मग्रन्थ मानता है। पोप व चर्च द्वारा घोषित अन्य दैवीय कानूनों को महत्ता को उसने स्वीकार करने से इंकार कर दिया। उसके अनुसार बाइबिल की शिक्षाएं मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक एवं पर्याप्त हैं। चर्च द्वारा घोषित अन्य नियम, संस्कार आदि मनुष्यकृत आडंबर हैं जिनका आत्मिक-धार्मिक कल्याण से कोई सम्बन्ध नहीं है। सेबाइन का विचार है कि मार्सिलियो की ये मान्यताएं वस्तुतः धर्मसुधार आंदोलन की आधार-भूमि तैयार करने वाली थी।

4. मार्सिलियो का एक महत्वपूर्ण विचार चर्च की सामान्य परिषद (General Council) का है। 13वीं एवं 14वीं सदी के अन्य विद्वानों की तरह वह चर्च में पोप की सत्ता को समाप्त कर 'सामान्य परिषद्' को प्रतिष्ठित करना चाहता था। उसने कहा कि धार्मिक प्रश्नों एवं विवादों का समाधान करने की शक्ति पोप के पास न होकर 'सामान्य परिषद्' के पास होनी चाहिए। बाइबिल या अन्य दैवीय कानूनों की व्याख्या और उन्हें स्पष्ट करने का अधिकार सामान्य परिषद का है। यह सामान्य परिषद विवेक (Reason) और अन्तर्प्रेरणा (Inspiration) के समन्वय से सही निष्कर्षों पर पहुंच सकेगी और मतभेदों का समुचित समाधान करेगी। वस्तुतः वह धार्मिक क्षेत्र में अपनी राजनीतिक मान्यताओं को प्रविष्ट कर देता है। जिस प्रकार राज्य में संपूर्ण जन समुदाय विधि का स्रोत है एवं सर्वोच्च है तथा शासक वर्ग उसका अभिकर्ता है, उसी प्रकार धार्मिक मामलों में ईसाई धर्म को मानने वालों की समष्टि सर्वोच्च है, और सामान्य परिषद् का स्वरूप कार्यकारिणी का है। विभिन्न प्रादेशिक भागों में रहने वाले सभी ईसाई अपने प्रतिनिधियों का चयन करेंगे व इन सभी प्रतिनिधियों से सामान्य परिषद् का गठन होगा। यह प्रतिनिधि चरित्रवान व धार्मिक - आध्यात्मिक मामलों के ज्ञाता होंगे। इस प्रकार चुनी गयी सामान्य परिषद् समय-समय पर बैठकें करेगी जिसमें धर्म की व्याख्या, विवादों का निपटारा, धर्म द्रोहियों की गतिविधियों को रोकने जैसे कार्य सम्पादित किए जाएंगे। पोप आदि सभी धर्माचार्य सामान्य परिषद के नियंत्रण में होंगे।

परन्तु मार्सिलियो सामान्य परिषद् को राज्य एवं शासक वर्ग के अधीन मानता है। परिषद् की बैठक बुलाना, इसकी सदस्य संख्या निर्धारित करना, परिषद् के निर्णयों को लागू करना आदि कार्य राज्य व राजा के क्षेत्राधिकार में आते हैं। इस प्रकार सामान्य परिषद् धार्मिक-आध्यात्मिक मामलों में सर्वोच्च है, परन्तु अंततः वह राजसत्ता से नियंत्रित व निर्देशित है। मार्सिलियो का विचार है कि राज्य में दो समानान्तर सत्ताएं नहीं हो सकतीं, और चर्च सीमित अर्थ में ही स्वायत्त है।

6.3.5 समीक्षा

मध्ययुगीन राजनीति में इहलोकवादी मान्यताओं का जितना मुखर प्रतिपादन मार्सिलियो ने किय, उतना संभवतः किसी अन्य विचारक ने नहीं। परन्तु मार्सिलियो के तर्कों में पैनापन तो है, पर कोई नवीनता नहीं है। मार्सिलियो ने लगभग वही तर्क दोहराये जो अन्य राजसत्तावादी दे चुके थे। समीक्षकों का यह भी विचार है कि उसके राज्य व शासन संबंधी विचार तत्कालीन इटली के नगर-राज्यों के संदर्भ में प्रतिपादित किए गए, और इस प्रकार उसके निष्कर्षों की सीमित उपयोगिता ही है। चर्च एवं राज्य के संबंधों का प्रतिपादन करते हुए वह चर्च को राज्य के अधीन ही नहीं कर देता, वरन् धार्मिक-आध्यात्मिक जीवन को लगभग अप्रासंगिक ही बना देता

है। जब वह विधि निर्माण का शक्ति जनता में या उसके अधिसंख्यक भाग में निहित होने की धारणा प्रतिपादित करता है, तो यह स्पष्ट नहीं कर पाता कि 'अधिसंख्यक भाग' से उसका क्या आशय है। मार्सिलियो द्वारा धार्मिक-आध्यात्मिक मामलों में सामान्य परिषद् को सर्वज्ञ एवं पूर्ण मानना भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि पोप का निर्णय गलत हो सकता है तो यह कैसे मान लिया जाए कि सामान्य परिषद् से कभी कोई गलती नहीं होगी? फिर, सामान्य परिषद् का विचार कभी व्यवहार में परिणत नहीं किया जा सका। मार्सिलियो यह समझने में असमर्थ रहा कि राष्ट्रीयता की प्रबल भावना जिन प्रतिद्वन्द्वियों को जन्म देती है, उसके कारण सामान्य परिषद् के लिए निर्वाचन कर पाना आसान नहीं होगा। सेबाइन के अनुसार, "चर्च में पोप की सर्वोच्चता को ध्वस्त करने में तो सामान्य परिषद् का विचार प्रभावी रहा, परन्तु मध्य युग में ईसाई जगत में एकता स्थापित करने के मामले में इस विचार का कोई असर नहीं हुआ।"

मध्ययुगीन राजदर्शन में मार्सिलियो को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। डनिंग के अनुसार वह मध्ययुगीन राजनीतिक चिंतन के मूल प्रवाह से नितान्त भिन्न दृष्टिकोण प्रतिपादित करता है। राजनीतिक चिंतन के इतिहास में उसके योगदान का उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है –

1. सेबाइन का विचार है कि "उसका राजनीतिक चिंतन मूलतः नगर-राज्य के राजदर्शन का पुनरोदय था।" (Essentially his political philosophy was a recrudescence of the theory of city-state') इस दृष्टि से यह अरस्तूवाद का शुद्धतम् संस्करण था। पर अंततः उसके राजनीतिक सिद्धान्त समझौतावादी ही है क्योंकि मार्सिलियो ने एक नागरिक की दो निष्ठाएं मान ली हैं, एक राज्य के प्रति एवं दूसरी धर्म के प्रति। यूनानी नगर - राज्यों के निवासी इस प्रकार के द्वन्द्व से मुक्त थे एवं उनकी एकमात्र एवं संपूर्ण निष्ठा राज्य के प्रति ही थी। इसलिए सेबाइन कहते हैं कि उसके आत्मनिर्भर राज्य को परलोकवादी चर्च के अभिकर्ता के रूप में भी कार्य करना पड़ता है। (`this self-sufficing human community is in the dangerous position of having to act as an agent of a super natural Church.')

2. मध्ययुगीन राजनीतिक चिंतन में मार्सिलियो संभवतः एकमात्र विचारक है जो कानून की प्रत्यक्षवादी धारणा का प्रतिपादन करता है। आस्टिन या केल्सन की तरह मार्सिलियो के लिए कानून संप्रभु का आदेश है जिसका उल्लंघन दंडनीय है। वह आदेश (Command) और दंड (Sanction) को कानून का मूलतत्व मानता है। वह कहता है कि यह आवश्यक नहीं कि कानून न्याय पर आधरित हो। प्रायः ऐसा देखने में भी आता है। इस प्रकार कानून को विवेक एवं न्याय से स्वतंत्र कर वह उसे शुद्ध प्रत्यक्षवादी दृष्टि से देखता है। मध्ययुगीन दर्शन में इस प्रकार के दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया गया। इस दृष्टि से वह आधुनिक विधि-शास्त्रीय मान्यताओं का प्रवर्तक है।

3. मार्सिलियो राजसत्तावादी है, पर वह शासक को असीमित शक्ति व संप्रभुता प्रदान नहीं करता। कानूनी दृष्टि से राज्य स्वायत्त एवं सर्वोच्च है, पर वह शासक की निरंकुशता का पक्षधर नहीं है। शासक की सत्ता पर वह नैतिक व प्राकृतिक प्रतिबन्ध स्वीकार करता है। उसके अनुसार किसी भी राज्य के अस्तित्व का आधार जनता या उसके अधिसंख्यक भाग की सहमति है। सत्ता का स्रोत संपूर्ण जनता है, शासक एक अभिकर्ता मात्र है। इस प्रकार वह राज्य एवं सरकार में स्पष्ट भेद करता है।

4. मार्सिलियो के प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त ने आधुनिक लोकतांत्रिक सिद्धान्त पर गहरा प्रभाव डाला। उसका यह विचार कि सामान्य परिषद् के लिए प्रतिनिधियों का चुनाव प्रादेशिक

आधार पर एवं जनसंख्या के अनुपात में होना चाहिए, नितान्त आधुनिक विचार है।

मार्सिलियो के राजनीतिक चिन्तन में अनेक आधुनिक मान्यताओं के स्पष्ट एवं प्रबल संकेत विद्यमान है। संवैधानिक शासन, प्रतिनिध्यात्मक प्रजातंत्र, राष्ट्रीयता, धर्म निरपेक्षवाद - आदि प्रवृत्तियाँ जिनसे आधुनिक राज़्य का निर्माण होता है, मार्सिलियो की मूलभूत मान्यताएं हैं। उसके विचारों में आधुनिक राज्य के आगमन की स्पष्ट पदचाप सुनाई पड़ती है। अर्नेक्ट बार्कर के शब्दों में "मार्सिलियो के चिन्तन में हम पुनः राज्य के प्रत्यावर्तन का संकेत पाते हैं।" (In the theory of Marsiglio we may trace the return of the State'.)

6.4. परिषदीय आन्दोलन

मध्य युग के उत्तरार्द्ध की एक महत्वपूर्ण धार्मिक घटना जिसके दूरगामी राजनीतिक परिणाम हुए, परिषदीय आन्दोलन था। परिषदीय आन्दोलन का मूल उद्देश्य चर्च के राजतंत्रीय स्वरूप को बदलकर उसका लोकतंत्रीयकरण करना था, अर्थात् पोप की सर्वोच्चता के स्थान पर ईसाइयों की सामान्य परिषद को ईसाई धर्म का सर्वोच्च निकाय बनाना था। परिषदीय आन्दोलन के प्रतिपादक वस्तुतः 14वीं सदी में मार्सिलियो ऑफ पेडुआ, विलियम ऑफ ओकम, जॉन ऑफ पेरिस के सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणत करना चाहते थे ताकि चर्च का एकीकरण एवं सुधार हो सके और उसकी पुरानी प्रतिष्ठा वापस लौट सके।

परिषदीय आन्दोलन के शुरू होने के लिए ईसाई धर्म की अन्तर्कलह उत्तरदायी थी। 1378 में चर्च में महान फूट (The Great Schism) उत्पन्न हुयी। ईसाई धर्म को नेतृत्व प्रदान करने वाला पोप का पद भी विवाद में पड़ गया। दो व्यक्तियों ने अपने को पोप घोषित कर दिया - इटली समर्थित अर्बन ने जिसकी राजधानी रोम थी और फ्रांस समर्थित क्लीमेंट ने जिसकी राजधानी फ्रांस में एविनॉन शहर में थी। इस घटना से चर्च में गंभीर फूट पड़ गयी व संपूर्ण ईसाई समाज दो भागों में विभक्त हो गया। इसके अतिरिक्त चर्च का 'भ्रष्टाचार और अनाचार अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुका था। चर्च के पतन के कारण उसकी विश्वसनीयता एवं प्रतिष्ठा काफी कम हो रही थी। सार्वभौम ईसाई समाज विघटन के कगार पर था क्योंकि चर्च के पतन का लाभ उठाकर विभिन्न राष्ट्रीयताओं के लोग अपने को अधिकाधिक स्वायत्त बनाने में लग गए। राष्ट्रीयता के आधार पर राज्य एवं चर्च दोनों संगठित होने लगे। इन खतरों से ईसाई समाज की रक्षा करने एवं सुधार द्वारा उसका शुद्धीकरण करने के लिए परिषदीय आन्दोलन प्रारंभ किया गया था।

परिषदीय आन्दोलन को नेतृत्व प्रदान करने वालों में जान वाइक्लिफ, जान हस, गर्सन एवं कूसावासी निकोलस का नाम उल्लेखनीय है। इस सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य पोप की निरंकुश सत्ता के स्थान पर चर्च की सर्वोच्चता का प्रतिपादन करना था। सामान्य परिषद चर्च की प्रतिनिधि सभा होगी और पोप उसके अधीन होगा। धार्मिक विषयों में निर्णय करने का अंतिम अधिकार इस सामान्य परिषद को होगा। चर्च को केवल आध्यात्मिक क्षेत्र तक ही अपने को सीमित रखना चाहिए और राजनीतिक प्रश्नों व मामलों से दूर रहना चाहिए। परिषदीय आन्दोलन के इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए समय-समय पर विभिन्न परिषदों का आयोजन किया गया। इनमें कान्सटेन्स की परिषद (1414-1418) और बेसिल की परिषद (1431-49) सर्वाधिक महत्वपूर्ण थी।

यद्यपि परिषदीय आन्दोलन लगभग 100 वर्षों तक चला और कभी-कभी परिषदों का आयोजन कर चर्च में सुधार करने का काफी प्रयास हुआ, परन्तु यह कोई विशेष सफलता प्राप्त न कर सका। इसकी एकमात्र उपलब्धि यही थी कि चर्च के विभाजन को समाप्त कर एकता स्थापित की गयी। चर्च के संगठनात्मक ढांचे में एवं उसकी कार्यप्रणाली में कोई मौलिक परिवर्तन कर

पाने में यह आन्दोलन सफल न हो सका।

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में परिषदीय आन्दोलन का महत्व निम्न कारणों से है –

1. परिषदीय आन्दोलन की असफलता ने चर्च के राजतंत्रात्मक ढाँचे को पुष्ट किया और चर्च में पोप की दैवीय स्थिति की मान्यता ने अंततः राजा के दैवीय अधिकार के सिद्धान्त की आधारशिला रखी। राजाओं व राजनीतिक विचारकों ने यह तर्क देना शुरू किया कि यदि धार्मिक मामलों में पोप सर्वेसर्वा है और ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है, तो लौकिक मामलों में राजा भी दैवीय अधिकार सम्पन्न है और उसकी सत्ता को जनता या जनता द्वारा चुनी संसद चुनौती नहीं दे सकती।

2. परिषदीय आन्दोलन ने जहाँ तात्कालिक रूप से राजा के दैवीय अधिकार के सिद्धान्त का मार्ग प्रशस्त किया, वहीं इसका दीर्घकालीन परिणाम संवैधानिक शासन एवं लोकतांत्रिक प्रवृत्तियों का पक्ष पोषण था। 16वीं व 17वीं सदी में राजा की निरंकुशता सत्ता का प्रतिवाद जनसहमति एवं जनप्रभुता के सिद्धान्तों के द्वारा किया गया, और ये सिद्धान्त परिषदीय आन्दोलन के परिणामस्वरूप ही विकसित हुए थे।

6.5 क्या मध्ययुग अराजनीतिक युग था?

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के विवेचकों एवं समीक्षकों के एक वर्ग का यह दृष्टिकोण रहा है कि मध्ययुग अंधकारपूर्ण युग था, उसमें दर्शन एवं राजदर्शन का नितान्त अभाव था एवं मानवीय सभ्यता के इतिहास में ये ठहराव की शताब्दियाँ थीं। डनिंग एवं लार्ड ब्राइस जैसे विद्वानों के विचार में मध्य युग अराजनीतिक (Unpolitical) था। डनिंग के अनुसार 'मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन चर्च-राज्य सम्बन्ध पर विचार करके चुक जाता है।' ('Medieval political philosophy is infact exhausted when it has propounded a theory as to the relation of secular to ecclesiastical authority)

मध्ययुगीन चिन्तन एवं दर्शन के प्रति यह नकारात्मक दृष्टिकोण वस्तुतः पुनर्जागरण काल की देन है। यह कहा गया कि मध्ययुग में धर्मशास्त्र का ही बोलबाला रहा, इस युग के चिन्तकों ने पारलौकिक विषयों के प्रतिपादन तक अपने को सीमित रखा एवं लौकिक विद्याओं की पूर्ण उपेक्षा की, और दर्शन के नाम पर मध्ययुग के पास ले-देकर पाण्डित्यवाद (Scholasticism) ही था जो मात्र शब्द जाल है। इन विद्वानों ने कहा कि मध्य युग में धर्मसत्ता ने मनुष्य की बुद्धि, तर्क शक्ति आदि को कैदी बना दिया। बुद्धि केवल धर्मशास्त्रीय मान्यताओं की सीमा रेखा के अन्दर घूमती रही। 'हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी' के लेखक एवं प्रसिद्ध विद्वान कोपल्स्टन का विचार है कि मध्ययुगीन चिन्तन के प्रति इस दृष्टिकोण के लिए बेकन और देकार्त जैसे दार्शनिक एवं पुनर्जागरण काल के मानववादी (Humanist) चिन्तक उत्तरदायी थे। बाद के विद्वानों ने इन्हीं विचारकों के चश्में से मध्ययुग को देखा, ठीक उसी प्रकार जैसे अरस्तूवादियों ने प्लेटो को सदैव अरस्तू की समीक्षा के संदर्भ में देखा। बेकन जैसे दार्शनिकों के मूल्यांकन को मध्ययुग को समझने का आधार नहीं बनाया जा सकता क्योंकि मध्ययुग के विषय में उनके निष्कर्ष महान दार्शनिकों के समुचित अध्ययन पर आधारित न होकर पांडित्यवादियों के अध्ययन पर आधारित थे जो पांडित्यवादी दर्शन से वस्तुतः भटक चुके थे और वाक्जाल के सहारे गंभीर विषयों से उलझना चाहते थे और बाल की खाल निकालना ही जिनका साध्य या दर्शन की परिभाषा थी।

मध्ययुग के स्वरूप को समझने में हीगल जैसे दार्शनिक ने भी गंभीर भूल की। हीगल ने कहा कि मध्ययुगीन दर्शन तो नाम का ही दर्शन है। हीगल जैसे दार्शनिकों ने भी यही तर्क दिया कि सभी मध्ययुगीन दार्शनिक धर्मशास्त्र जैसे अप्रासंगिक विषय की गिरफ्त में थे जिसके कारण

मध्ययुगीन चिन्तन नीरस हो जाता है। कोपल्स्टन ने विभिन्न तर्क देकर यह कहा है कि हीगल को तो मध्ययुग का ज्ञान ही नहीं था, और कुछ समकालीन विद्वानों की रचनाओं के सहारे उसने मध्ययुगीन दर्शन को समझने की थोड़ी चेष्टा मात्र की थी।

मध्ययुगीन दर्शन एवं राजनीतिक चिन्तन का गंभीर अध्ययन 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही प्रारम्भ हुआ। मारिस डि वुल्फ, एटीन गिल्सन, ग्रैबमैन, पेल्स्टर आदि विद्वानों के गंभीर एवं निष्पक्ष अनुशीलन एवं शोध के परिणामस्वरूप मध्ययुग के विषय में प्रचलित भ्रान्तियों व पूर्वाग्रहों का निराकरण संभव हुआ है। मध्य युग के प्रति एक संतुलित एवं विवेकसंगत दृष्टिकोण उभरा है। प्रसिद्ध राजनीति शास्त्री लियो स्ट्रास ने मध्य युग के चिन्तन को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। मध्य युग में दर्शन एवं राजनीतिक चिन्तन ठीक उसी प्रकार महत्वपूर्ण बना रहा जैसा कि अन्य किसी युग में। इसको निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है –

1. मध्य युग को अदार्शनिक और अराजनीतिक कहने के पीछे यह धारणा बद्धमूल है कि आधुनिक दर्शन और राजनीति ही सम्यक् दर्शन व राजनीति है, एवं आधुनिक विचार, अवधारणाएं एवं पद्धतियाँ ही प्रामाणिक और वैज्ञानिक हैं। मध्य युग में जगत और जीवन को देखने की अपनी विशिष्ट दृष्टि थी और मध्ययुगीन राजनीति, कला, साहित्य, विज्ञान आदि भी उसी का विस्तार है। यह दृष्टि ईसाई धर्मशास्त्र पर आधारित थी और मध्ययुगीन राजनीति भी इसी संदर्भ में प्रतिपादित एवं संचालित हुयी। मध्ययुग में राज्य एवं शासन की सभी मूलभूत समस्याओं पर व्यापक विचार विमर्श हुआ, विभिन्न स्तरों पर राजनीतिक संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं का विकास हुआ। यूनानी एवं रोमन राजनीतिक चिन्तन की बार-बार समीक्षा हुई। चर्च-राज्य सम्बन्ध जिसको कतिपय विद्वान मध्ययुगीन राजदर्शन का एकमात्र केन्द्रीय विषय मान बैठे हैं, पर भी खूब तर्क-वितर्क, खंडन-मंडन हुआ। अंतर केवल इतना है कि मध्ययुग में सम्पूर्ण वाद-प्रतिवाद एवं विचार मंथन ईसाई धर्म के विशाल चौखटे के अन्तर्गत होता रहा, जबकि आधुनिक विमर्श धर्मनिरपेक्षवाद और विज्ञानवाद के विशाल चौखटे के अंतर्गत होता है।

2. कतिपय विद्वान इस आधार पर मध्ययुगीन राजदर्शन को राजनीतिक चिन्तन मानने से इंकार करते हैं कि वह बाइबिल के प्रमाणवाद पर आधारित है, और इसलिए बुद्धिविरोधी है। मध्ययुगीन चिन्तन बुद्धि का विरोधी नहीं है, वरन् उसे बुद्धि पर अतिरंजित विश्वास पर आपत्ति है। उसका मानना है कि जीवन के कुछ सनातन सिद्धान्त एवं आदर्श हैं। वे मनुष्यकृत न होकर ईश्वर-प्रदत्त हैं। वे मानवीय बुद्धि के आधार एवं पथ-प्रदर्शक हैं। इन शाश्वत सत्यों को स्वीकार कर के ही मनुष्य व्यक्तिगत, सामाजिक एवं वैश्विक कल्याण की ओर प्रवृत्त हो सकता है। मध्ययुगीन चिन्तन धर्म, परम्परा, प्रज्ञा से अनुशासित बुद्धि को ही मनुष्य के सर्वतोमुखी कल्याण का साधन मानता है। आधुनिक राजनीतिक चिन्तन जो मूलतः बुद्धिवादी-अनुभववादी है, इस दृष्टिकोण को समझने एवं ग्रहण करने में असमर्थ है। जूलियस वाइनबर्ग का विचार है कि मध्ययुग में ईश्वरीय वाणी (Revelation) के संदर्भ में बुद्धि एवं अनुभव की भूमिका पर विचार हुआ है, पर बुद्धि या अनुभव को मनमाने तरीके से कभी दरकिनार नहीं किया गया।

3. मध्ययुग में दर्शन और राजनीतिक चिन्तन की विविध धाराएं प्राप्त होती हैं, और इन स्रोतों से ही अनेक एवं महत्वपूर्ण आधुनिक सिद्धान्तों का जन्म हुआ। एक ओर पांडित्यवादी चिन्तकों की समृद्ध परम्परा दृष्टिगोचर होती है तो दूसरी ओर बुद्धिवाद, अनुभववाद और रहस्यवाद की सशक्त धाराएं भी विद्यमान हैं। तर्कशास्त्र की विविध

विधाओं का उल्लेखनीय विकास भी मध्ययुग में प्राप्त होता है। यह कहना भी सत्य से परे होगा कि धर्मशास्त्रीय मान्यताओं ने प्राकृतिक विज्ञानों के विकास को अवरुद्ध कर दिया था क्योंकि अरस्तू तथा अन्य प्राचीन विचारकों के वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर निरंतर तर्क-वितर्क होता रहा। जीव विज्ञान एवं भौतिकी के कुछ क्षेत्रों में काफी महत्वपूर्ण खोजें हुईं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मध्ययुग दार्शनिक एवं राजनीतिक दृष्टि से काफी जीवन्त था। जिस प्रकार हर कालखण्ड में सकारात्मक और नकारात्मक, ऊर्ध्वगामी एवं अधोगामी, श्रेष्ठ एवं अश्रेष्ठ प्रवृत्तियाँ विद्यमान होती है, उसी प्रकार मध्ययुग का स्वरूप भी मिश्रित था। मध्ययुग न केवल प्राचीन चिन्तन एवं दर्शन की समीक्षा एवं समालोचना का युग था, वरन् इसमें मानवीय सभ्यता को सम्बल एवं ऊर्जा प्रदान करने वाले नए स्रोत भी फूटे।

6.6 सारांश

इस अध्याय में आपने दांते एवं मार्सिलियो ऑफ पेडुआ के राजनीतिक विचारों का अध्ययन किया, परिषदीय आंदोलन के स्वरूप को समझा और अंततः मध्ययुग को अदार्शनिक एवं अराजनीतिक माना जाए अथवा नहीं, इस बात का अध्ययन किया। मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में विभिन्न कारणों से इहलोकवादी दृष्टिकोण प्रबल हो रहा था, और दांते एवं मार्सिलियो के विचारों में इसका स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। दोनों विचारकों ने चर्च की महत्ता व आवश्यकता को स्वीकार किया, पर उसे सर्वोच्च मानने से इंकार कर दिया। उनका विचार था कि चर्च को केवल पारलौकिक कल्याण के दायित्व तक सीमित रहना चाहिए। सांसारिक जीवन पूर्णतः राज्य के नियंत्रण में होना चाहिए। वस्तुतः इनं विचारकों ने चर्च की भूमिका को इस प्रकार से व्याख्या की कि वह राजसत्ता के अधीन हो जाता है।

मार्सिलियो ने चर्च के संगठन को लोकतांत्रिक बनाने के लिए सामान्य परिषद के विचार का प्रतिपादन किया। इसका उद्देश्य चर्च में पोप की निरंकुशता को सीमित करना था। 15वीं सदी में यह विचार एक आंदोलन में विकसित हो गया। यही परिषदीय आंदोलन कालान्तर में धर्म सुधार आंदोलन का पूर्वज बना। यद्यपि परिषदीय आन्दोलन अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सका परन्तु इसने कुछ ऐसी मान्यताओं को स्थापित किया जो जनप्रभुता एवं लोकतंत्र के युग का सूत्रपात करती हैं।

मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन का यह मूल्यांकन कि वह राज्य - चर्च के सम्बन्धों की पहेली को ही सुलझाने में चुक गया, नितान्त भ्रामक है। मध्य युग अनेक महत्वपूर्ण विचारों, सिद्धान्तों व संस्थाओं का जन्मदाता है एवं प्राचीन युग व आधुनिक युग के राजदर्शन के बीच का एक अनिवार्य एवं विश्रामदायक पड़ाव।

6.7 उपयोगी पुस्तकें

1. डा. ब्रज किशोर झा – राजनीतिक चिन्तन का इतिहास

2. डा. गंगादत्त तिवारी – पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास

3. George Sebine – A History of Political Theory (हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध)

6.8 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. सार्वभौमिक राजतंत्र के पक्ष में दांते के तर्कों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
2. चर्च-राज्य सम्बन्धों पर मार्सिलियो के विचारों का विवेचन कीजिए।
3. मार्सिलियो एक इहलोकवादी (Secular) विचारक है।' स्पष्ट कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मार्सिलियो के राज्य सम्बन्धी विचार लिखिए।
2. परिषदीय आन्दोलन का राजदर्शन के इतिहास में क्या महत्व है?
3. राजदर्शन को दांते के योगदान का वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'दो सूर्यों' की मान्यता का प्रतिपादक कौन है?
   (अ) दांते
   (ब) आगस्टीन
   (स) पोप गेलेशियस
   (द) जान ऑफ पेरिस
2. मार्सिलियो के राजदर्शन पर किसका प्रभाव पड़ा?
   (अ) पाण्डित्यवाद
   (ब) एवरोवाद
   (स) नवप्लेटोवाद
   (स) रहस्यवाद
3. मार्सिलियो का राजदर्शन किसके विरुद्ध प्रतिक्रिया था?
   (अ) ईसाई धर्म
   (ब) पोप का साम्राज्यवाद
   (स) एवरोवाद
   (द) सार्वभौमिक राजतंत्र
4. परिषदीय आन्दोलन ने निम्न में से किस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया?
   (अ) पोप की सर्वोपरिता
   (ब) चर्च में लोकतंत्र
   (स) पांडित्यवाद
   (द) नास्तिकता

6.9 प्रश्नोत्तर

उत्तर 1. (अ) 2. (ब) 3. (ब) 4. (ब)

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

MAPS – 01
पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का इतिहास

खण्ड

3

आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भ

इकाई 7
पुनर्जागरण और धर्म-सुधार आंदोलन 5

इकाई 8
मैकियाविली 23

इकाई 9
जीन बोदां 45

विशेषज्ञ समिति

प्रो. देवेन्द्र प्रताप सिंह — अध्यक्ष
कुलपति
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

डॉ. आर.के. मणि त्रिपाठी — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

डॉ. एल.डी. ठाकुर — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रो. एस.एम. सईद — विषय विशेषज्ञ
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव — दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
रीडर, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. आर.के. बसलस — सचिव
कुलसचिव
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

कार्यक्रम संयोजक : डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, परामर्शदाता, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सम्पादन : प्रो. एस. के. द्विवेदी, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

PGPS-01 :– *पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का इतिहास*

लेखक मण्डल

खण्ड एकः प्रो. बी.के. तिवारी, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई

खण्ड दोः प्रो. राकेश कुमार मिश्र, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई

खण्ड तीनः डॉ. आशुतोष मिश्र, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई

खण्ड चारः प्रो. आलोक पंत, अध्यक्ष राजनीतिशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद 3 इकाई

खण्ड पाँचः डॉ. मुकुल अस्थाना, रीडर,राजनीतिशास्त्र विभाग, सेन्ट एन्ड्रूज पी.जी. कालेज, गोरखपुर 3 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।

दूरस्थ शिक्षा परिषद, नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित।

खंड 3 का परिचय : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भ

अपने पाठ्य-क्रम के इस खंड में आप एक महत्वपूर्ण काल-खंड से परिचित होंगे। यह काल-खंड मध्य युग और आधुनिकता की संयोजक कड़ी है, जिसको समझने के लिये हम दो आंदोलनों और दो प्रातिनिधिक विचारकों का अध्ययन करेंगे। यह स्पष्ट करना आवश्यक है इस सन्धि-काल की कतिपय महत्वपूर्ण घटनायें और प्रवृत्तियाँ फिर भी हमारे अध्ययन की सीमा से बाहर ही रह जायेंगी। राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय-राज्य, निरंकुश राजतंत्र, संप्रभुता, वाणिज्यिक पूंजीवाद, उपनिवेशवादी लूट और तीसरी दुनिया में मिशनरी धर्म-प्रचार जैसी महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों का हम सीधे अध्ययन नहीं करेंगे, लेकिन इन सबकी ऐतिहासिक-वैचारिक पृष्ठभूमि से परिचित अवश्य हो सकेंगे।

हमें यह भी याद रखना चाहिये कि किसी युग का अवसान अचानक नहीं होता और न ही उसके स्थान पर नये युग का आगमन ही अचानक होता है। काफी समय बाद जब हम देखते हैं तो यह युग-परिवर्तन अवश्य एक 'घटना' जैसा दिखता है और उस काल-खंड की 'घटनाएं' एक 'आंदोलन' जैसी दिखने लगती हैं। आप यह सावधानी रखिये कि पुनर्जागरण और धर्म-सुधार आंदोलन इसी अर्थ में 'आंदोलन' थे। इस खंड की पहली इकाई में आप इन दोनों आंदोलनों का परिचय प्राप्त करेंगे। पुनर्जागरण बौद्धिक और धर्म सुधार आंदोलन मूलतः धार्मिक आंदोलन था। अध्ययन की सुविधा के लिये हम पुनर्जागरण का प्रारम्भ 1450 में छापाखाना के प्रचलन और 1453 में कुस्तुन्तुनिया के पतन से मानते हैं। धर्म-सुधार आंदोलन का प्रारम्भ हम 1517 में मार्टिन लूथर के विरोध और 1529 में सम्पन्न स्पीयर सम्मेलन से मानते हैं। स्पष्ट है कि ये घटनायें मील के पत्थर या प्रकाश-स्तम्भ मात्र हैं, क्योंकि पूरी प्रक्रिया तो बहुत लम्बी और जटिल है। हम केवल अध्ययन को सुविधाजनक बनाने के लिये ही पहले से चली आ रही प्रवृत्तियों को दो आंदोलनों और तीन शताब्दियों में समेट देते हैं।

पहली इकाई में आप पुनर्जागरण और धर्म-सुधार का कालक्रमानुसार अध्ययन करेंगे। पुनर्जागरण ने शास्त्रीय यूनानी-रोमन सभ्यता के आदर्श को इतनी आक्रामकता से अपनाया कि 'मध्यकाल' शब्द ही अपमानजनक बन गया। पुनर्जागरणकालीन बुद्धिजीवी अविवेकी अतिरेक में मध्यकाल को ठुकराकर 'नवीन विद्या' का अंधानुकरण करने लगे। आज हम समझ रहे हैं कि समकालीन मानसिकता को ठुकराकर किसी कल्पित प्राचीन परिवेश को अपनाना असम्भव है, क्योंकि जीवन मूल्य और मानसिकता कोई भौतिक पदार्थ नहीं हैं। फिर भी, इतना अवश्य है कि पुनर्जागरणकालीन बुद्धिजीवियों ने इहलौकिक मानववादी मूल्यों को अपनाया, जिसके लिये हम उनके ऋणी रहेंगे।

धर्म सुधार आंदोलन प्रकटतः मध्ययुगीन पोपतंत्र के सार्वयूरोपीय लौकिक साम्राज्य के विरुद्ध राष्ट्रवादी विद्रोह था। पोपतंत्र ने मार्टिन लूथर के पहले के विरोधियों को सरलता से कुचल दिया था। लूथर के समय तक स्थिति बदल गयी। पोपतंत्र के विरुद्ध तमाम राष्ट्रीय शक्तियां एकजुट हो गईं।

इकाई 8 और 9 में आप इन आंदोलनों और इस युग में दो शीर्ष राजनैतिक विचारकों का अध्ययन करेंगे। मैकियाविली को हम आधुनिकता का अग्रदूत मानते हैं, क्योंकि उसने राज्य को पारम्परिक धार्मिक-नैतिक बंधनों से मुक्त करके सम्प्रभु बनाने का प्रयास किया। राज्य को सैद्धान्तिक स्तर पर सम्प्रभु बनाने का कार्य बोदां ने किया। ध्यान देने वाली बात है कि दोनों विचारक अपने देश की अराजक अवस्था का समाधान चाहते थे। इटली तो औपचारिक रूप से ही विखंडित था, जबकि फ्रांसीसी राज्य एकीकृत होने के बाद भी पुराने विशेषाधिकारों और तत्कालीन हिंसक धार्मिक संघर्षों के कारण विकलांग हो गया था। मैकियाविली और बोदां दोनों ने सशक्त राज्य की आवश्यकता का समर्थन किया।

इकाई – 7 : पुनर्जागरण और धर्म-सुधार आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 नामकरण की समस्या

7.3 आंदोलनों का काल-क्रम

7.4 पुनर्जागरण का राजनैतिक पक्ष

7.5 पुनर्जागरण की महत्वपूर्ण प्रवृत्तियां

7.6 पुनर्जागरणकालीन साहित्य, कला और विज्ञान

7.7 धर्म सुधार आंदोलन– पृष्ठभूमि और प्रारम्भिक आंदोलन

7.8 मुख्य घटनाएं

7.9 रेडिकल सुधारवाद और प्रति-सुधार आंदोलन

7.10 योगदान

7.11 राजनैतिक-आर्थिक पक्ष

7.12 धर्म-राज्य सम्बन्धों के रूप

7.13 सारांश

7.14 उपयोगी पुस्तकें

7.15 संबंधित प्रश्न : (क) दीर्घ (ख) लघु (ग) वस्तुनिष्ठ

7.16 प्रश्नोत्तर

7.0 उद्देश्य

(1) इस इकाई का उद्देश्य आपको दोनों आंदोलनों के ऐतिहासिक वृत्तांत से परिचित कराना है। इन आंदोलनों की कई प्रवृत्तियों और उसके कई शीर्षस्थ व्यक्तियों का संदर्भ आपके पूरे अध्ययन में बार-बार आता रहेगा। इस इकाई के अध्ययन से आपको इन संदर्भों को समझने में सहायता मिलेगी।

(2) इस इकाई में आपको यह समझाने का प्रयास किया जाएगा कि किस प्रकार पुनर्जागरण से वैज्ञानिक विश्व-दृष्टि का विकास हुआ।

(3) धर्म राजनीति पर गहरा प्रभाव रखती है। सुधार-आंदोलन से आपको ज्ञात होगा कि धर्म किस प्रकार समाज-राज्य के विभाजन और एकीकरण में सहायक हो सकता है।

7.1 प्रस्तावना

पुनर्जागरण और धर्म-सुधार आंदोलन को सामान्यतः मध्यकाल और आधुनिककाल की संयोजक कड़ी माना जाता है। इन युगान्तरकारी आंदोलनों से ही आधुनिक युग की महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों का अंकुरण हुआ। इनके अध्ययन से हमको उत्तरमध्यकालीन और आधुनिक विचारों की पृष्ठभूमि

स्पष्ट होगी। दोनों के काल और प्रभाव-क्षेत्र में अंतर है। इसके अतिरिक्त यह अंतर भी है कि पुनर्जागरण बौद्धिक और अपेक्षाकृत अराजनैतिक था, जबकि धर्म-सुधार धार्मिक और राजनैतिक आंदोलन था। पुनर्जागरण रचनात्मक आंदोलन था, जबकि प्रारम्भिक चरण में धर्म सुधार आंदोलन विध्वंसात्मक ही रहा। धार्मिक मतान्धता के दौर के दुष्परिणामों को देखने के बाद ही यूरोपीय मानस ने धार्मिक सहिष्णुता और धर्म-निरपेक्षता को स्वीकार किया।

पुनर्जागरण का प्रारम्भ कतिपय एतिहासिक घटनाओं से इटली में हुआ । इसका सबसे बड़ा योगदान यह रहा कि इसने मध्ययुगीन धार्मिकता को अनदेखा करते हुए इहलौकिकता को प्रोत्साहित किया। यह लौकिकवाद मानववाद, व्यक्तिवाद, सुखवाद, धर्म-निरपेक्षता, आनुभविकता, कार्यकरणात्मकता जैसी प्रवृत्तियों में परिलक्षित हुआ, जिसको हम मोटे तौर पर वैज्ञानिक दृष्टि के नाम से जानते हैं। यह भी महत्वपूर्ण बात है कि यह वैज्ञानिक विश्व-दृष्टि साहित्य, संगीत, भौतिकी, खगोल-शास्त्र जैसे सभी विषयों में अभिव्यक्त हुई। इस आंदोलन ने धर्म और राजनीति में सीधे हस्ततक्षेप नहीं किया, लेकिन चूंकि इसने पूरी मानसिकता को ही परिवर्तित करने का प्रयास किया, इसलिए हम इसको युगान्तरकारी मानते हैं।

पुनर्जागरण के विपरीत धर्म-सुधार आंदोलन सीधे धर्म से और इस प्रकार राजनीति से जुड़ा था। इसने समाज के बड़े वर्ग को प्रभावित किया। इसके प्रारम्भ में तो कहा गया कि धार्मिक मामले में व्यक्तिगत विवेक, आत्मिक पवित्रता और विकल्प चुनने की स्वतंत्रता होनी चाहिये। कर्मकांड, मठवाद, धन लिप्सा और कठोर सांगठनिक नियंत्रण का विरोध किया गया। बहुत शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि वास्तव में इन तर्कों का प्रयोग मात्र प्रचार के लिये किया गया था। धर्म-सुधार के समर्थक और विरोधी जनतंत्रात्मक मानवीय मूल्यों के समान विरोधी थे। अंतर मात्र इतना था कि आंदोलन के समर्थक राष्ट्रवाद, व्यापारिक पूंजीवाद और निरंकुश राजतंत्र के भी समर्थक थे और इन्हीं स्वार्थों के कारण उन्होंने आंदोलन खड़ा किया। इससे स्पष्ट होता है कि धर्म-सुधार आंदोलन प्रमुखतः एक राजनैतिक-आर्थिक आधार वाला आंदोलन था और हम इसका अध्ययन इसी दृष्टि से करेंगे।

7.2 नामकरण की समस्या

विस्तार में जाने से पहले यह उचित होगा कि हम इन आंदोलनों के कालक्रम और इनकी कतिपय महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों को संक्षेप में समझ लें। पहली बात इन आंदोलनों के नामकरण से सम्बन्धित है। प्रायः इन दोनों शब्दों को लेकर विवाद हुआ है। पुनर्जागरण शब्द में यह मान्यता निहित है कि उसके पहले का समाज सोया हुआ, अर्थात् अज्ञानता के अंधकार में डूबा हुआ था और फिर पुनर्जागरण-काल में वह समाज जागरूक हुआ। यहाँ तक तो फिर भी ठीक है, लेकिन इसके फ्रेंच मूल के अंग्रेजी शब्द – **रिनांसा** – में अन्तर्निहित अवधारणा इससे भी आगे जाती है। 'रिनांसा' का अर्थ है– पुनर्जन्म। किसी समाज में 'रिनांसा' होने का मन्तव्य यह है कि (1) वह समाज बौद्धिक दृष्टि से मृत था, (2) ज्ञान के प्रसार के अर्थ में उसका जन्म हुआ, और (3) चूंकि यह पुनर्जन्म था, इसलिये समाज का यह जागरूक रूप वस्तुतः प्राचीन प्रवृत्तियों का ही पुनर्प्रकटीकरण था। आज इन तीनों मान्यताओं पर प्रश्न-चिह्न लगाया जा रहा है, विशेषकर तीसरी मान्यता पर। आधुनिक दृष्टि में प्राचीन (यूनानी-रोमन) विचार के लिये सम्मान है, लेकिन मध्यकाल को सर्वथा अंधकारमय भी नहीं माना जाता। फिर अगर पुनर्जागरण प्राचीन प्रवृत्तियों का पुनर्प्रकटीकरण मात्र था, तब तो पुनर्जागरण को प्रतिक्रियावादी मानना पड़ेगा और उसे किंचित् नकारात्मक दृष्टि से देखना पड़ेगा। सच्चाई यह है कि पुनर्जागरण काल में कई प्रवृत्तियां ऐसी थीं, जिनके मूल को प्राचीन यूनानी-रोमन इतिहास में ढूंढ़ा ही नहीं जा सकता था। जैसे वाणिज्यिक उपनिवेशवाद, इस्लामी अवधारणाएं आदि। साथ ही पुनर्जागरण काल की कुछ प्रवृत्तियां शास्त्रीय प्रवृत्तियों की विरोधी ही थीं– जैसे शास्त्रीय भाषाओं के स्थान पर राष्ट्रीय भाषाओं और राष्ट्र-राज्यों का विकास। इसी प्रकार **सुधार आंदोलन** का नामकरण भी विवादास्पद

है। एक तो स्वयं इसाइयों का बहुसंख्यक वर्ग अर्थात् कैथोलिक समुदाय इस आंदोलन को नकारात्मक मानता है। सच्चाई तो यह है कि इस सुधार-आंदोलन के विरोधियों ने ही नहीं, स्वयं समर्थकों ने जितना रक्तपात किया और जिस संकीर्ण मानसिकता का परिचय दिया, वह आधुनिक यूरोप के लिये गर्व का विषय नहीं हो सकता।

इन आंदोलनों के अध्ययन में हमको यह सावधानी भी रखना चाहिये कि इनकी सीमाओं को अनावश्यक रूप से फैलाया न जाये। सामान्यतः यह देखा गया है कि पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी की सभी प्रवृत्तियों को पुनर्जागरण-सुधार आंदोलन के खाते में डाल दिया जाता है। राष्ट्रवाद, उपनिवेशवाद, व्यापारिक पूंजीवाद और धर्म-निरपेक्षता की प्रवृत्तियां इसी काल से विकसित होती दिखती हैं। एक प्रश्न यह है कि इन प्रवृत्तियों को पुनर्जागरण और सुधार-आंदोलन से किस तरह जोड़ा जाये। दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि ये महत्वपूर्ण प्रवृत्तियां इन आंदोलनों का कारण थीं या इन आंदोलनों का परिणाम थीं। कई बार तो ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रवाद, व्यापारिक पूंजीवाद और उपनिवेशवाद की प्रवृत्तियां पुनर्जागरण और सुधारणा से कहीं अधिक महत्वपूर्ण और स्थायी सिद्ध हुयी हैं। पुनर्जागरण का प्रभाव आंशिक रूप से ही स्थायी हुआ और सुधार-आंदोलन के विवाद का भी शीघ्र ही स्थायी समाधान हो गया। दूसरी ओर राष्ट्रवाद, पूंजीवाद और धर्म-निरपेक्षता की प्रवृत्तियां आज भी उतनी ही प्रबलता के साथ उपस्थित हैं। जैकब बर्कहार्ट जैसे इतिहासकारों की मान्यता है कि व्यापारिक पूंजीवाद ने पुनर्जागरण को जन्म दिया। सम्भवतः व्यापारिक पूंजीवाद ने ही कालांतर में राष्ट्रवाद को प्रबल किया और इसी नवोद्भूत राष्ट्रवाद ने उत्तरी यूरोप के राजतंत्र, मध्यवर्ग और बोर्जुआ को पोप के साम्राज्यवादी नियंत्रण से मुक्त होने की प्रेरणा दी, जो सुधारणा के रूप में हमारे सामने आया। इस तरह देखने पर स्पष्ट होगा कि पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के युगान्तरकारी परिवेश में पुनर्जागरण और सुधारणा के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ था और इन सबकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया से ही आधुनिक युग आया है।

पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी की समस्त युगान्तरकारी प्रवृत्तियों को पहले संक्षेप में कालक्रमानुसार समझना अत्यन्त आवश्यक है। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि पुनर्जागरण और सुधारणा कोई विशिष्ट घटनायें मात्र नहीं थीं। ये आंदोलन जैसी सघन प्रक्रियाएं थीं, जिनके बीच-बीच में महत्वपूर्ण घटनायें घटीं, जिनको हम मील का पत्थर मानकर पूरे आंदोलन की रूपरेखा बनाते हैं। चूंकि पुनर्जागरण और सुधारणा मूलतः प्रक्रियाएं थीं, इसलिये ये धीरे-धीरे विकसित होती रहीं और फिर पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में कुछ ऐतिहासिक घटनाओं के रूप में सामने आईं। इस तरह पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में इन प्रकृतियों का प्रकटीकरण मात्र हुआ। मुख्य घटनाओं को हमें मात्र मील का पत्थर मानना चाहिए। महत्व पूरी प्रक्रिया को ही मिलना चाहिए।

7.3 आंदोलनों का काल-क्रम

पुनर्जागरण और सुधार-आंदोलन का कालक्रम समझना आवश्यक है। हम कतिपय घटनाओं के सुविधाजनक सरलीकरण से इन आंदोलनों को समझते हैं। इससे यह लाभ तो अवश्य है कि एक मोटी रूपरेखा हमारे सामने बनी रहती है। पुनर्जागरण का प्रकटीकरण 1450 और 1453 की दो घटनाओं से अधिक स्पष्टता से हुआ। 1450 में जर्मनी में गुटेनबर्ग द्वारा हटाये जा सकने वाले टाइप से मुद्रण की घटना प्रकाश में आयी, यद्यपि सम्भवतः ठीक इसी प्रकार की छपाई थोड़ा पहले से हो रही थी। इसी प्रकार सन् 1400 से विकसित हो रही तुर्कों की शक्ति 1453 में उस समय सफल होकर एक घटना के रूप में सामने आयी, जब उन्होंने निर्णायक रूप से कुस्तुनतुनिया को जीतकर बाइजेन्टियम के पूर्वी (आर्थोडॉक्स) ईसाई साम्राज्य को ध्वस्त कर दिया। कुस्तुनतुनिया के यूनानी विद्वान एड्रियाटिक पार करके इटली आ गए। इन दोनों घटनाओं ने पुनर्जागरण की प्रक्रिया को जन्म नहीं दिया, बल्कि प्रकट किया और प्रबल बनाया। इसी तरह सुधार आंदोलन का प्रकटीकरण वैसे तो 1409, 1414-18 और 1431-49 में पीसा,

कान्स्टेन्स और बेसेल के परिषदीय-आंदोलनों में हो चुका था, लेकिन वह प्रबलतम रूप में मार्टिन लूथर के 'प्रोटेस्ट' से आया, जिस कारण से सुधारणा को प्रोटेस्टैण्ट (प्रतिवाद) कहा जाता है। वैसे तो लूथर ने वास्तविक 'प्रोटेस्ट' सर्वप्रथम 1517 में विटेनबर्ग के चर्च में अपनी 95 थीसिस चिपकाकर ही कर दिया था लेकिन सामान्यतया उस 'प्रोटेस्ट' को प्रथम माना जाता है, जो 1529 के स्पीयर सम्मेलन में सम्राट चार्ल्स पंचम के विरुद्ध (और लूथर के पक्ष में) जर्मन सामंतों-राजाओं ने किया था।

7.4 पुनर्जागरण का राजनैतिक पक्ष

पुनर्जागरण एक प्रखर बौद्धिक आंदोलन था। इस बौद्धिकता ने उसे सीमित भी कर दिया। क्षेत्र, वर्ग और विषय की दृष्टि से पुनर्जागरण सीमित ही रहा। क्षेत्र की दृष्टि से देखें तो पायेंगे कि वह मूलतः और मुख्यतः इटली में ही केन्द्रित रहा। उत्तरी यूरोप में भी वह स्पेन और पुर्तगाल को प्रभावित न कर सका और कृषि-प्रधान व्यवस्था के कारण फ्रांस भी उससे अधिक प्रभावित नहीं हुआ। फ्रांस में थोड़ा प्रभाव इसलिये पड़ा, क्योंकि वह इटली में सदैव राजनैतिक हस्तक्षेप करता था। आल्प्स के पार के दक्षिणी यूरोप में पुनर्जागरण अधिक असरदार नहीं रहा। जर्मनी की सामन्तवादी व्यवस्था पुनर्जागरण के प्रतिकूल रही। कुछ विद्वानों ने जर्मनी से शुरू हुये सुधार आंदोलन को ही पुनर्जागरण का परिवर्तित रूप माना है। वस्तुतः मेलेन्क्थान के अतिरिक्त वहां इन दोनों को जोड़ने वाली और कोई कड़ी नहीं है। यह सच है कि प्रायः पूरे यूरोप में ही बौद्धिक गतिवधियां बढ़ी थीं, लेकिन इन सबको पुनर्जारण से सीधे जोड़ना विवादास्पद होगा।

राजनीति शास्त्र के छात्रों के लिये विशेष महत्व की बात यह है कि पुनर्जागरण का राजनैतिक प्रभाव नगण्य ही रहा। अगले अध्याय में हम देखेंगे कि मैकियाविली ने अपने 'डिस्कोर्सेज' में ठीक इसी बात पर कितना दुख प्रकट किया है। वह तो पुनर्जागरण की सघनम सक्रियता के समय और स्थान पर ही उपस्थित था। फिर भी उसने देखा कि पुनर्जागरण का राजनीति, प्रशासन और विधि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सच तो यह है कि पुनर्जागरण के इस अराजनैतिक स्वरूप पर चिंता भी केवल मैकियाविली को ही हुयी। हम अगले अध्याय में मैकियाविली के संदर्भ में पुनर्जागरण के राजनैतिक निहितार्थों की विस्तृत चर्चा करेंगे। यहां हम संक्षेप में मात्र इतना कहना चाहेंगे कि पुनर्जागरण का राजनीति और राजनीति-शास्त्र पर प्रभाव मुख्यतः दो कारणों से पड़ा। एक तो यह कि पुनर्जागरण ने हमारी पूरी चिंतन-प्रणाली को, अर्थात् एक प्रकार से पूरी विश्व-दृष्टि को ही बदल दिया। हमारी विश्व-दृष्टि अनुभवात्मक, निगमनात्मक, लौकिक, व्यक्तिवादी, तार्किक और धर्म-निरपेक्ष हो गयी। स्वाभाविक रूप से इसका प्रभाव राजनीति और राजनैतिक चिंतन पर पड़ा। दूसरी बात यह थी कि पुनर्जागरण ने जिस प्राचीन हेलेनिक-रोमन प्रतिमान को महिमामंडित किया, उसमें धर्म सदैव राज्य के अधीन रहा था। राज्याश्रित धर्म का यह पैगनवादी प्रतिमान सम्राट् कान्स्टेन्टाइन के ईसाई बन जाने से टूटा और फिर पूरे मध्यकाल में धर्म राजनीति पर हावी रहा। इस प्रकार पुनर्जागरण ने राज्याश्रित धर्म का शास्त्रीय रूप प्रस्तुत किया। किन्हीं कारणों से पुनर्जागरण का यह रूप पुनर्जागरण-काल के शासकों-विचारकों को प्रभावित न कर सका। फिर जो थोड़ा प्रभाव पड़ा भी, वह सुधार-आंदोलन की प्रचण्ड धार्मिकता ने धो दिया। सुधार-आंदोलन में भयंकर रक्तपात हुआ और इसमें कोई भी पक्ष धर्म-निरपेक्षता की बात नहीं कर रहा था। हर पक्ष अपने कट्टर धार्मिक विचारों को राज्य पर थोपना चाहता था। इस तरह पुनर्जागरण का जो थोड़ा प्रभाव राजनीति पर पड़ सकता था, सुधार आंदोलन के कारण वह भी धूमिल हो गया।

यह स्पष्ट है कि राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से पुनर्जागरण का (कम से कम सुधार आंदोलन की तुलना में) कोई विशेष महत्व नहीं है। उसका अध्ययन मानव-चेतना के व्यापक विस्तार की दृष्टि से करना चाहिये। पुनर्जागरण का मुख्य प्रभाव तो कलाओं और विज्ञानों पर पड़ा। सुधार-आंदोलन का मूल विषय भी राजनीति न होकर धर्म था, लेकिन चूंकि धर्म राजनीति पर सदैव सीधा प्रभाव

डालता है, इसलिये सुधार-आंदोलन राजनैतिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है।

कालक्रम की दृष्टि से पुनर्जागरण मध्ययुग का अंत है, लेकिन बौद्धिक दृष्टि से वह मध्यकालीन मानसिकता के विरुद्ध विद्रोह भी है। उस समय के एक इतिहासकार फ्लैवियो बियांडो ने सर्वप्रथम सन् 410 से 1410 के काल को मध्यकाल बताकर मानसिकता के परिवर्तन की ओर संकेत किया। बुद्धिजीवियों में मध्यकालीन मूल्यों को ठुकराने और उसके स्थान पर प्राचीन यूनानी-रोमन आदर्शों को अपनाने की प्रबल प्रवृत्ति दिखने लगी। विल दूरां ने लिखा है कि पुनर्जागरण एक 'विशिष्ट काल-खंड' नहीं था, बल्कि एक 'विशिष्ट जीवन शैली' थी। पंद्रहवीं सदी तक आते-आते यह 'विशिष्ट जीवन शैली' कम से कम इटली में एक 'सामान्य बौद्धिक शैली' बन गयी। हम देख चुके हैं कि 1450 और 1453 की दो घटनाओं ने इसको और बल दिया। सन् 1450 में सचल टाइप से छपाई की शुरुआत यद्यपि जर्मनी में हुयी थी, लेकिन शीघ्र ही 1466 में रोम में भी प्रेस खुल गया। 1500 में फ्रैंकफर्ट में एक विशाल पुस्तक-प्रदर्शनी आयोजित की गयी। फिर भी, इन मामलों में नेतृत्व इटली का ही रहा। धर्म-युद्धों से लौटे योद्धा और कुस्तुनतुनिया से भागे यूनानी बुद्धिजीवी भी इटली में ही बस गये।

इटली उसी प्रकार से स्वाभाविक रूप से पुनर्जागरण का केंद्र बना, जिस स्वाभाविक रूप से वह धर्म-योद्धाओं और बाइजेंटाइनी बुद्धिजीवियों की शरण-स्थली बना। उस समय का यूरोप भूमध्यसागर-केन्द्रित था। इस भूमध्यसागरीय व्यापार पर इटली का नियंत्रण था। इटली की नगर-राज्य प्रणाली ने व्यापारियों को बहुत लाभ दिया, यद्यपि इस प्रणाली ने इटली को राजनैतिक रूप से बहुत निर्बल भी बनाया। इटली में सामंतवाद की निर्बलता ने भी व्यापारियों को प्रबल बनाया। लारेंजो मेडिसी जैसे व्यापारी नगर-राज्यों का लाभ सरलता से उठा सकते थे। वे फ्रांस की व्यापारिक चुनौती को समाप्त करके एकाधिकारवादी वाणिज्यिक पूंजीवाद के प्रणेता बन गये। इसके अतिरिक्त पुनर्जागरण को प्रोत्साहन देने में पोपतंत्र का भी योगदान रहा। पोप का धार्मिक साम्राज्य पूरे यूरोप में था। उसने रोम की बेटिकन पहाड़ियों पर अपनी राजधानी के अलंकरण में पुनर्जागरण के अधिकांश शीर्ष स्थापत्यकारों और शिल्पियों को सेवायोजित किया। पोप निकोलस पंचम (1447-55) और पियस द्वितीय (1458-64) ने पुनर्जागरण को प्रोत्साहित किया। पियस द्वितीय तो पोप बनने के पहले सिल्वियस नाम से एक बुद्धिजीवी के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था। इटली लैटिन भाषा, साहित्य और सभ्यता का उद्गम, मानक और केंद्र था और वह स्थिति उस समय भी बनी हुयी थी। वह रोमन सभ्यता का केंद्र था और जब उसके स्थान पर ईसाइयत आयी, तो पोपतंत्र के सहारे इटली ईसाइयत का भी केंद्र बन गया। सच तो यह है कि पोपतंत्र ने रोमन साम्राज्य के ढांचे को ही उठा लिया था। पुनर्जागरण ने प्राचीनता को आदर्श बनाया। उस प्राचीन सभ्यता के भव्य अवशेष रोम में थे। आधुनिक इतालवी लैटिन का अपभ्रंश है। इस तरह प्राचीनता और (तत्कालीन) मध्यकालीनता– दोनों परिप्रेक्ष्य में इटली यूरोप के शीर्ष पर था।

7.5 पुनर्जागरण की महत्वपूर्ण प्रवृत्तियां

इटली स्वाभाविक रूप से लैटिन सभ्यता का केंद्र था। कुस्तुन्तुनिया से भागे यूनानी बुद्धिजीवियों ने लैटिन सभ्यता में यूनानी सभ्यता को जोड़ा, जिससे पुनर्जागरण की केन्द्रीय प्रवृत्ति– शास्त्रीयतावाद का जन्म हुआ। (इसके पहले यूनान से आये अरस्तूवाद को आगस्टाइन से जोड़कर टामस एक्विना आदि ने पाण्डित्यवाद (स्कालैस्टिसिज्म) का प्रारूप बनाया था।) शास्त्रीयतावाद प्राचीनता के प्रति प्रेम का प्रतीक है। यह पुनर्जागरण को मध्यकाल से अलग करता है। पुनर्जागरण में जिसे नवीन ज्ञान ('न्यू लर्निंग') कहा गया, वह मुख्यतः शास्त्रीयतावादी प्राचीन ज्ञान ही था। पुनर्जागरण ने मध्ययुग को, या सिसरो और पेट्रार्क के बीच के काल को 'अंधकार युग' बना दिया। जिओर्जियो वसारी ने मध्यकालीन स्थापत्य के लिये 'गोथिक' शब्द का प्रयोग करके 'गोथिक' शब्द को भी 'मध्यकाल की तरह एक अपमानजनक शब्द बना दिया।

गोथिक शैली 'असभ्य जर्मनों' की भदेस, घमण्डी और भड़कीली स्थापत्य शैली मान ली गयी। इसमें अलंकरण का अतिरेक, भाले जैसे चुभने वाले शिखर और भव्यता के नाम पर भयावहता का दोष देखा गया। पेलाडियो ने इसके स्थान पर 'बरोक' शैली का विकास किया।

पुनर्जागरण का शास्त्रीयतावाद मध्यकालीन मानसिकता के विरुद्ध विद्रोह का प्रतीक था। शीघ्र ही यह विद्रोह भी एक रूढ़ि और पाखंड बन गया। पुनर्जागरण काल के बुद्धिजीवी, कलाकार और वैज्ञानिक मध्यकाल को ऐसे नकारने लगे, जैसे मध्यकाल हुआ ही न हो और प्राचीनकाल के बाद सीधे पुनर्जागरण काल आ गया हो। पुनर्जागरण काल के वैज्ञानिक अपने शोध को सीधे प्राचीन यूनान से जोड़ते थे। कलाकारों ने मध्यकालीन योगदान जैसे तुकांत कविता, शीशों पर चित्रकारी, ग्रिगोरियन संगीत और ईसाई संतों के प्रतीकात्मक चित्रण को सिरे से नकार दिया। इस तरह पुनर्जागरण कालीन बुद्धिजीवियों ने उत्साह के अतिरेक में इतिहास के तारतम्य को तोड़ दिया। वास्तविकता में यूरोपीय मध्यकाल ने अपने गैर-ईसाई अतीत को अस्वीकार नहीं किया था, सिर्फ उसका ईसाईकरण किया था। इस मध्ययुग ने अरस्तू और वर्जिल को लगभग ईसाई ही बना दिया। पुनर्जागरण ने प्राचीनता से ईसाइयत का आवरण हटाकर प्राचीन बौद्धिकता को वास्तविक रूप में प्रस्तुत किया। पुनर्जागरण का यह बड़ा योगदान है।

पुनर्जागरण ने ईसाई मान्यताओं की उपेक्षा करके एक प्रकार से एक नयी विश्व-दृष्टि को ही जन्म दिया। इस विचार-पद्धति को हम मानववादी, व्यक्तिवादी और लौकिकतावादी नाम देते हैं। पुनर्जागरण ने मानवतावाद पर नहीं, मानववाद पर जोर दिया और यही विचार आगे व्यक्तिवाद के रूप में विकसित हुआ। इसकी चर्चा हम मैकियाविली के अध्याय में भी करेंगे। यहां हम इसके अराजनैतिक आयाम पर ही ध्यान केंद्रित करेंगे। पुनर्जागरण ने यूनानी सोफिस्टों की तरह ही मनुष्य को एकमात्र मानदंड माना। वे धर्म-विरोधी नहीं थे, लेकिन धार्मिक भी अधिक नहीं थे। सामान्यतः पुनर्जागरण ने धर्म की उपेक्षा ही की। इस कारण से उनके चिंतन में मानववाद और प्रखर रूप से सामने आया। मानववाद के साथ मानविकी (ह्यूमेनिटीज़) को भी महत्व मिला। सामान्यतया मानविकी में शास्त्रीय भाषाओं के व्याकरण के स्थान पर साहित्य को महत्व दिया गया और धार्मिक इतिहास के स्थान पर लौकिक ('प्रोफेन') इतिहास पर जोर दिया गया। मानविकी के विशेष अध्ययन के लिये विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त अकादमियों की भी स्थापना की गयी।

शास्त्रीयतावाद, मानववाद, व्यक्तिवाद और मानविकी को पुनर्जागरण में महत्व मिला, किंतु शीघ्र ही अविवेकी अन्धानुकरण और अतिरेक के कारण उसके दुष्परिणाम भी सामने आने लगे। यह कहा जा सकता है कि पुनर्जागरण ने मध्यकाल की निंदा करने में तो तर्क का प्रयोग किया, लेकिन उसके विकल्प में जिन प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया, उनमें भी कोई प्रबल तर्क नहीं था। शास्त्रीयतावाद मुख्यतः अतार्किक प्रवृत्ति थी। समकालीन समाज में शास्त्रीयतावाद उतना ही असामयिक था, जितना कि मध्यकालीन मानसिकता। शास्त्रीयतावाद ने सुदूर अतीत को पुनर्जीवित करने का असफल प्रयास किया। पेट्रार्क (1304-1374) इतालवी भाषा का श्रेष्ठ कवि था, लेकिन उसे अपनी लैटिन रचनाओं पर ही गर्व था। शीघ्र ही राष्ट्रीय भाषाओं ने विकसित होकर शास्त्रीय भाषाओं को विस्थापित करना शुरू कर दिया। मानववाद शीघ्र ही धर्म-सुधार आंदोलन की आंधी में तिनके की तरह तिरोहित हो गया। सुधार-आंदोलन ने धर्मान्धता, पारलौकिकता और अतार्किक आध्यात्मिक अनुभूति को महत्व दिया। धर्म-सुधार आंदोलन ने इस प्रकार न केवल मानववाद को, बल्कि पूरे पुनर्जागरण को ही नकार दिया। हमें यह भी याद रखना चाहिये कि सुधार आंदोलन पुनर्जागरण की तुलना में कहीं अधिक व्यापक, उग्र और हिंसक था। पुनर्जागरण के मूल्यों ने अतिरेक में जाकर कई विकार भी दिये। प्रायः सभी विचारक मानते हैं कि निषेधवाद, उपभोगवाद, वासनात्मक इहलौकिकता, साम्राज्यवादी लूट, अनियंत्रित-अमर्यादित प्रतिद्वन्दिता, नग्न प्रकृतिवाद और मूल्यहीनता आदि को पुनर्जागरण से प्रबल प्रोत्साहन मिला। इसी आशय से पुनर्जागरण को 'एज़ ऑफ बास्टर्ड्स एण्ड एडवेन्चर्स' कहा गया है। हम कह चुके हैं कि पुनर्जागरण ने मानवतावाद को नहीं, बल्कि व्यक्तिवादी रुझान वाले मानववाद को अपनाया।

धार्मिक-नैतिक बंधनों से कटा हुआ यह 'मानव' विकास-क्रम में पशुता से मात्र एक कदम ही आगे था। वैसे भी पुनर्जागरण युग में अन्वेषकों, सट्टेबाजों, निवेशकों, समुद्री लुटेरों, पतित पोपों और अर्ध-अपराधी व्यापारियों का ही प्रभुत्व था। इनकी दृष्टि में नैतिकता निर्बलता का पर्यायवाची था। पुनर्जागरण द्वारा प्रोत्साहित मानविकी भी अधिक समय तक लोकप्रिय नहीं रह सकी। शीघ्र ही मानविकी को भी मध्यकालीन विषयों की तरह से मनोरंजक किन्तु अनुपयोगी मानकर उपेक्षित किया जाने लगा और उसके स्थान पर राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र जैसे विषयों का अध्ययन शुरू हुआ।

अब हम संक्षेप में पुनर्जागरण काल के कतिपय शीर्ष-पुरुषों की चर्चा करेंगे। इनके साहित्यिक, बौद्धिक, कलात्मक और वैज्ञानिक योगदानों के लिए हम ऋणी रहेंगे। फिर भी हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि साहित्यिक और कलात्मक योगदान तो सीधे पुनर्जागरण से जुड़ता है, लेकिन अधिकांश बौद्धिक और वैज्ञानिक गतिविधियों को पुनर्जागरण से न जोड़कर व्यापारिक पूंजीवाद से जोड़ना कहीं अधिक तार्किक होगा। वस्तुतः व्यापारिक पूंजीवाद ने ही अन्वेषण, गणित, भौतिकी आदि को उपयोगी बनाकर प्रोत्साहित किया। व्यापारिक पूंजीवाद और निरंकुश राजतंत्रों ने कई वैज्ञानिक खोजों और गणितीय स्थापनाओं को प्रशासन-संचालन, दुर्ग-निर्माण और वित्तीय-प्रबंध आदि में प्रयुक्त किया। दूसरी ओर पुनर्जागरण से सीधा जुड़ाव तो कला और साहित्य का ही था। इस कला का प्रयोग अधिकांशतः तो इटली और फ्रांस में ही हुआ। यह उचित होगा कि हम इन सर्वांगीण उपलब्धियों के लिये पुनर्जागरण के स्थान पर पुनर्जागरण-काल शब्द का प्रयोग करें।

7.6 पुनर्जागरणकालीन साहित्य, कला और विज्ञान

सर्वप्रथम हम पुनर्जागरणकाल की बौद्धिक-साहित्यिक उपलब्धियों की चर्चा करेंगे। शास्त्रीयतावाद के कारण उस-काल में कई प्राचीन 'लुप्त' पुस्तकें प्रकाश में आयीं। इसमें फर्मीकस की गणित की, टैसिटस की इतिहास की और सिसरो की वक्तृता की पुस्तकें सम्मिलित हैं। शास्त्रीयतावादी समझ के कारण ही लॉरेन्जो वेला यह सिद्ध कर सका कि कान्स्टेन्टाइन का 'दान पत्र' वस्तुतः जाली दस्तावेज है। इसी दस्तावेज के आधार पर पोप अपने को रोम का लौकिक सम्राट बताते रहे थे। साहित्यिक क्षेत्र में पुनर्जागरण की प्रथम अभिव्यक्ति दांते (1265-1321) की 'डिवाइन कॉमेडी' में हुयी। पूर्णतः धार्मिक होने के बाद भी उसने एक अद्‌भुत निश्छलता से अपने असफल प्रेम का बयान किया। समाज के नैतिक पतन पर उसकी चिंता बहुत मार्मिक थी। दांते ने तो प्रेरणा दी थी, उसके उत्तराधिकारियों– पेट्रार्क (1304-1374) और बोकाशियो (1313-1375) ने उसे परिपक्व बनाया। पेट्रार्क को 'दि स्कॉलर' माना गया है। उसने प्रेम और प्रकृति के अनछुए आयामों पर सानेट लिखे और लैटिन साहित्य को पुनर्स्थापित किया। उसका मित्र बोकाशियो गद्यकार होने के कारण अधिक सम्प्रेष्य था। उसने धर्मतंत्र के पाखंड पर निशाना साधा। उसने प्रामिथियस के मिथक का आधुनिकीकरण करते हुये दिखाया कि ज्ञान सर्वथा प्रशंसनीय है, भले ही उसके लिये चोरी क्यों न करना पड़े।

पुनर्जागरण के साहित्य के शीर्ष पर इरेस्मस (1466-1536) का नाम आता है। वह वास्तव में पूरे यूरोप को सम्बोधित कर सका। सम्भवतः वह पहला पूर्णकालिक पेशेवर लेखक भी था। उसने हास्य को व्यंग्य तक पहुंचाया और इस प्रकार मुख्यतः धर्मतंत्र की कमजोरियों को उजागर किया। उसने ईसाई धर्मतंत्र के प्रचलित स्वरूप को चुनौती तो नहीं दी, लेकिन उसको अन्दर से ठीक करने की प्रेरणा अवश्य दी। 'एडेजेस' 'प्रेज ऑफ फॉली' और 'कलोक्वीज' उसकी लोकप्रिय रचनाए हैं। उसने 'हैंडबुक ऑफ क्रिश्चियन थॉट .....' में ईसाईयत के मृत हो चुके पाण्डित्यवाद पर प्रहार किया। पुनर्जागरण के अन्य महान लेखकों में इंग्लैंड के सर टामस मोर ('यूटोपिया'), ज्याफ्री चॉसर और शेक्सपीयर का नाम प्रमुख है। 'यूटोपिया' प्लेटोवादी आदर्श राज्य की पुनर्रचना का आधुनिक प्रयास है और इस रूप में वह राजनीतिशास्त्र के लिए विशेष

उपयोगी है। जहां तक शेक्सपीयर की बात है, वह पुनर्जागरण तो क्या, किसी भी काल, विचार, विद्या या व्यवस्था के परे हैं। फ्रांस में रेबिलस और मांटेगन का नाम प्रमुख है। स्पेनिश साहित्यकार सर्वेण्टीज का 'दान क्विकज़ोट' आज भी इस वायवी व्यक्तित्व की वजह से लोकप्रिय है। सर्वेण्टीज ने मध्यकालीन शूरवीरता और अभिजात्यवाद पर तीखा व्यंग्य किया है।

पुनर्जागरणकाल की बौद्धिक रचनाओं में हमारे लिये मैकियाविली और बोदां का तो विशेष महत्व है। उस समय के राष्ट्रीय साहित्य में धार्मिक ग्रन्थों का पर्याप्त महत्व है। इसमें बाइबिल का लूथर द्वारा जर्मन अनुवाद और क्रेन्मर की 'बुक ऑफ कामन प्रेयर' शामिल है। क्रेन्मर की पुस्तक ब्रिटिश चर्च की आधिकारिक पुस्तक है। उस समय के लेखन में एक प्रवृत्ति यह थी कि लेखक प्रायः शास्त्रीयता के साथ राष्ट्रीय गौरव के विषयों को मिलाने का प्रयास करते थे। उदाहरण के लिये वे वास्को डि गामा या धर्म-योद्धाओं के अभियानों का आख्यान लेते थे, लेकिन उसके प्रस्तुतीकरण के लिए प्राचीन यूनानी लेखकों की शैली को अपनाते थे।

जैसा हम देख चुके हैं, पुनर्जागरण का सबसे सीधा, स्थायी, सकारात्मक और सघन प्रभाव कलाओं पर पड़ा और उसमें भी स्थापत्य, तक्षण और चित्रकला सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहे। वेटिकन का सेंट पीटर का गिरिजाघर और फ्लोरेंस का मेडिसी प्रासाद आज भी उसकी उपलब्धियों का प्रमाण देता है। इस काल के कलाकार बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न थे। माइकेल एन्जेलो (1475-1564) और लियोनार्ड डि विन्सी (1452-1519) ने कला के प्रत्येक क्षेत्र में योगदान किया। सेंट पीटर के गिरिजाघर के निर्माण में एंजेलो के अतिरिक्त राफेल, पेलाडियो और ब्रामेंट ने भी सहयोग दिया। एंजेलो की अमर कृतियों में प्रमुख हैं– फ्लोरेंस में खड़ी डेविड की विशाल प्रतिमा, वेटिकन में पोप के महल की छत के भित्ति-चित्र और 'लास्ट जजमेंट' शीर्षक वाली उसकी भव्य रचना। एंजेलो की तरह दि विन्सी भी बहुमुखी प्रतिभा का धनी था। वह संगीतकार, लेखक, अभियंता और दार्शनिक भी था। उसने एक महत्वपूर्ण शिष्य-परम्परा भी बनायी। उसने उत्तरी इटली में एक नहर और मिलान में एक किले का निर्माण भी करवाया। फिर भी पूरा विश्व उसकी दो महान रचनाओं को सौन्दर्यात्मक आस्वाद का अक्षय स्रोत मानता रहा है। 'मोना लिजा' की मुस्कान अभी भी आकर्षित करती है और 'लास्ट सपर' के जीसस, जूडास और अन्य अनुयायियों के भाव अभी भी उस घटना को जैसे पुनर्जीवित कर देते हैं। इटली की महान कलाओं से फ्रांस के फ्रांसिस प्रथम ने भी प्रेरणा ली। आधुनिक फ्रांस की तीन महान संस्थाओं का स्थापत्य और उसकी संकल्पना उसी समय की है। ये संस्थाएं हैं– लूब्रे (संग्रहालय), बिबिलोथिक नेशनेल (पुस्तकालय) और कॉलेज डि फ्रांस (विद्यालय)।

पुनर्जागरण को प्राचीनता से संगीत और चित्रकला से अपेक्षाकृत कम प्रेरणा मिली। इसका कारण स्पष्ट था। संगीत संरक्षित नहीं किया जा सकता था, इसलिए प्राचीन संगीत प्रेरणा प्रदान करने के लिये उपलब्ध ही नहीं था। प्राचीन काल में भित्ति-चित्र और तक्षण-कला तो थी, लेकिन स्वतंत्र रूप से लकड़ी या कैनवास आदि पर चित्रण करने, अर्थात् इज़ल चित्रण का प्रचलन नहीं था। इस तरह पुनर्जागरण में इन क्षेत्रों में, और तैल-चित्रण में नये सिरे से ही काम करना पड़ा। उस काल के अन्य चित्रकारों में जर्मनी के अल्ब्रेक्त ड्यूरर और हान्स होलबिन, नीदरलैंड के रेम्ब्रां तथा फ्लैंडर्स के वेन डायक प्रमुख हैं। संगीत के क्षेत्र में भी कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गए। पुराने वाद्य-यंत्रों में थोड़ा सुधार करके वायलिन तथा पियानो (हाप्सीकॉर्ड) तैयार किया गया। संगीत के मुद्रण की व्यवस्था हुयी। ओरटोरिये और ऑपेरा की विधायें तैयार हुयीं। धुनों का नया वर्गीकरण किया गया। जान बुल ने वह धुन बनायी, जिस पर बाद में इंग्लैण्ड का राष्ट्र-गीत बनाया गया।

पुनर्जागरण में प्राकृतिक विज्ञानों में महत्वपूर्ण योगदान हुए। इनका महत्व मात्र इतना ही नहीं है। विज्ञान से कहीं अधिक महत्व वैज्ञानिक दृष्टि का है, क्योंकि वास्तव में निगमनात्मक, संशयवादी, आनुभाविक, प्रयोगात्मक, कार्यकारणात्मक वस्तुनिष्ठ और योगात्मक वैज्ञानिक पद्धति ने ही हमारी

पूरी चिंतन-प्रणाली को बदलकर हमें आधुनिक बनाया। सामान्यतया विज्ञान प्रौद्योगिकी के रूप में हमारे लिए उपयोगी बनता है, लेकिन वैज्ञानिक दृष्टि तो हमको अंदर से बदल देती है। उस काल में ब्रिटिश चिंतकों– रोजर बेकन और फ्रांसिस बेकन तथा फ्रांस के देकार्त ने संशयवादी वैज्ञानिक दृष्टि को आगे बढ़ाया। यूरोप के संदर्भ में पुनर्जागरणकालीन विज्ञान का यह योगदान भी रहा कि उसने ईसाइयत पर भी प्रश्न चिह्न लगा दिया। हमें यह याद रखना चाहिये कि यूरोप में सत्रहवीं शताब्दी में चुड़ैलों के नाम पर हजारों निरीह महिलाओं की हत्या की गयी। 1563 में इंग्लैंड की संसद ने कानून बनाकर इसको वैधता प्रदान की थी। 1623 में पोप ग्रिगोरी पंद्रह ने आदेश जारी करके इसे कैथोलिक देशों में प्रतिबंधित करवाया, लेकिन प्रोटेस्टैंट देशों में चुड़ैल हत्या (विच हंटिंग) नये जोश से जारी रही। बोदां जैसे विधिवादी विचारक ने इसके समर्थन में पुस्तिका लिखी। सत्रहवीं सदी के यूरोप में इतनी अज्ञानता, असहिष्णुता और अन्धविश्वास का माहौल था। इसलिये विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टि के योगदान को ठीक तरह से समझना चाहिये, क्योंकि अंततः इसी दृष्टि ने यूरोप को शीघ्र ही आधुनिकता के शिखर पर पहुंचा दिया। हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टि को अंधविश्वासी यूरोप में कितना संघर्ष करना पड़ा होगा।

पुनर्जागरणकालीन विज्ञान की सबसे विख्यात, हिंसक और युगान्तरकारी लड़ाई भूकेन्द्रित सौर मंडल की टॉलेमिक अवधारणा के विरुद्ध हुयी। द्वितीय शताब्दी के इस यूनानी विचारक की मान्यता को ईसाइयत ने अपने धर्मशास्त्र में शामिल कर लिया था। इस तरह यह कहना कि पृथ्वी गोल है और वह सूर्य के चक्कर लगाती है, ईसाइयत के विरुद्ध धर्म-द्रोह (हेरेसी) हो गया। वैसे पाइथागोरस पहले ही सूर्य-केन्द्रित व्यवस्था का विचार रख चुके थे, लेकिन पुनर्जागरण में इसे प्रस्तुत करने का साहस कोपरनिकस (1473-1543) ने ही किया। उसने इसे अपने जीवन के अंतिम वर्ष में प्रकाशित किया। उसकी धारणा का अध्ययन करने के लिए टाइको ब्राहे के नेतृत्व में बाल्टिक सागर के एक द्वीप में वेधशालाओं, प्रयोगशालाओं, पुस्तकालय, मुद्रणालय आदि के साथ पूरा एक नगर ही बना दिया गया। ब्राहे के उत्तराधिकारी केप्लर (1571-1630) ने यहीं कोपरनिकस की मान्यता को सिद्ध किया। भूकेन्द्रित अवधारणा के ताबूत में आखिरी कील इटालवी वैज्ञानिक गैलीलियो (1564-1642) ने ठोंकी। गैलीलियो पर धर्म-न्यायालय ने 1616 में रोक लगाई। 1632 में उसे दंडित किया गया।

पुनर्जागरणकालीन विज्ञान में गैलीलियो के योगदान और भी हैं। उसने दूरबीन का परिष्कार किया, वायु-तापमापन की व्यवस्था बनायी और पेंडुलम सिद्धांत बनाया। उसने पादुआ विश्वविद्यालय में अपने भाषणों से विज्ञान को लोकप्रिय बनाया। उस काल की गणित बहुत अपर्याप्त थी। यूरोपीय गणित यूनानी अंकगणित-रेखागणित तथा अरबी बीजगणित तथा अंक प्रणाली तक सीमित थी। पुनर्जागरण ने इसमें लागरिथ्म, दशमलव प्रणाली, अवकलन, त्रिकोणमिति और गणितीय चिह्नों को जोड़ा। चिकित्सा-विज्ञान में पुनर्जागरण ने हिप्पोक्रेटस और गेलेन के आगे कदम रखा। वेसेलियस ने गेलेन की मान्यताओं पर प्रश्न चिह्न लगाया और शल्य क्रिया को नाइयों के सुपुर्द करने की परम्परा को भी तोड़ा। युस्टाचियो और फैलोपियो नाम के दो इटालवी प्रोफेसरों ने शारीरिकी में योगदान किया, जो उन अंगों के नामकरण के कारण चिर-स्थायी हो गया है। पैरासेल्सस नाम के एक स्विस ने शरीर की रासायनिक क्रियाओं का ज्ञान किया। 1628 में विलियम हार्वे ने रक्त संचार प्रणाली का पता लगाया। भूगोल में नीदरलैंड के मर्केटर ने पृथ्वी को नक्शे पर समझाने के लिए अक्षांश-देशांतर की व्यवस्था की। पुनर्जागरण कालीन विज्ञान का उपसंहार गौरवपूर्ण ढंग से न्यूटन (1642-1727) के साथ किया जा सकता है, जिन्होंने विज्ञान और गणित में अतुलनीय योगदान तो किया ही, साथ ही ब्रह्मांड को समझने की दृष्टि भी दी। कालांतर में उसे शास्त्रीय भौतिकी कहा गया, जिसके अनुसार विश्व एक घड़ी की तरह सुव्यवस्थित नियमों पर चलता है। प्रकृति की इसी संप्रभु स्वसंचालित व्यवस्थाबद्धता की ओर संकेत करके इसाइयत की अवहेलना करने के आरोप में जिओर्डिनो ब्रूनो को 1600 में रोम में

UGEN 010V 98

आग से जलाकर मार डाला गया था।

7.7 धर्म-सुधार आंदोलन–पृष्ठभूमि और प्रारम्भिक आंदोलन

यूरोप में पुनर्जागरण की गति अभी धीमी नहीं हुयी थी, जब धर्म-सुधार का एक नया आंदोलन खड़ा हो गया। दूसरे अर्थ में हम सुधार आंदोलन को पुनर्जागरण का समकालीन या पूर्ववर्ती भी मान सकते हैं। इसका आधार यह है कि 1517 में लूथर के विद्रोह से शुरू हुआ सुधार आंदोलन, अपेक्षाकृत निर्बल ढंग से दो शताब्दी पहले से ही चल रहा था। 1409 से 1449 के बीच परिषदीय आंदोलन के तीन महत्वपूर्ण सम्मेलन हो चुके थे। ठीक इसी प्रकार की मांगों को लेकर चौदहवीं सदी में वाल्डेन्सेस, एपास्टलिकन्स और लोलार्ड्स जैसे धार्मिक समूह अस्तित्व में आ चुके थे। पोपतंत्र के विरोध में इंग्लैंड में वाइक्लिफ (1320-1384) और फिर उससे प्रेरणा प्राप्त करके बोहेमिया में जॉन हस बौद्धिक माहौल तैयार कर चुके थे। इस तरह लूथर द्वारा शुरू किया सुधार आंदोलन दो शताब्दी पुराने आक्रोश की अभिव्यक्ति ही था। इसी अर्थ में वाल्डेन्सेस को धर्म सुधार की 'सौतेली संतान' और वाइक्लिफ को सुधार का 'मार्निंग स्टार' कहा जाता है। लूथर के पहले के प्रतिवादों को पोपतंत्र ने आसानी से कुचल दिया। लूथर के समय स्थिति बदल चुकी थी। सुधारवादी पोपतंत्र के बराबर रक्तपात कर सकते थे। युद्ध दोतरफा हो गया था।

सुधार आंदोलन के राजनैतिक पक्ष पर हमारा विशेष ध्यान रहेगा, लेकिन इसके लिये भी इसकी पृष्ठभूमि संक्षेप में समझना आवश्यक है। हम संक्षेप में आंदोलन के जन्म, उसकी महत्वपूर्ण घटनाओं और उसकी सीमित सफलता के कारणों को देखने के बाद उसके राजनैतिक विचार का अध्ययन करेंगे।

मध्ययुग का पोपतंत्र वास्तविकता में एक लौकिक सार्व-यूरोपीय साम्राज्य ही था। पोप सम्राटों की तरह से ही भ्रष्ट और भोगी हो गए थे। परिषदीय आंदोलन में बुद्धिजीवियों ने प्रयास किया था कि बिशपों की सामान्य परिषद् द्वारा पोप पर नियंत्रण किया जाए। यह आंदोलन 1500 तक समाप्त हो गया। पोप अपने को कैथोलिकों के समक्ष 'सम्प्रभु पादरी' 'ईश्वर का सहायक' और 'स्वर्ग की चाभी' का स्वामी सिद्ध कर चुका था, जिसे धरती पर 'खोलने और बांधने' का एकछत्र अधिकार था। मध्य युग तक आते-आते वह अप्रत्यक्षतः यूरोप की 20% भूमि का स्वामी बन चुका आ। इसका उपभोग वह मेट्रोपोलिटन या आर्च बिशप के उच्चतम पद से लेकर पेरिश पादरियों के निम्नतम पद की एक विस्तृत शृंखला द्वारा करता था। वह स्वयं धार्मिक कर (टाइथ) लगाता था, जबकि उसकी सम्पत्तियों (बेनीफाइस) पर किसी प्रकार का कर नहीं लगाया जाता था। हर यूरोपीय राज्य के भीतर पोप का एक समांतर स्वतंत्र राज्य बन चुका था, जो अवसर आने पर राज्यों को चुनौती दे सकता था।

मध्यकालीन यूरोप की शिक्षा पर भी पोपतंत्र के मठों का नियंत्रण था। उसके पादरी मनुष्य के जन्म से (बपतिस्मा) मृत्यु (होली अन्कशन) तक सभी संस्कारों के एकमात्र पुरोहित होते थे। सामान्य धार्मिक मतभेद (हेरेसी) होने पर भी किसी को धर्म से बहिष्कृत (एक्सकम्यूनिकेट) किया जा सकता था। चूंकि राज्य पोपवादी धर्म को लागू करने के लिए प्रतिबद्ध था, इसलिये पोपतंत्र का विरोधी व्यक्ति या वर्ग अनिवार्यतः दमन का शिकार होता था। वाल्डेन्सेस अल्पाइन घाटी की प्राकृतिक बाधा के कारण बच गये, जबकि पुनर्बपतिस्मावादियों (एनाबैप्टिस्ट) को कई बार देश बदलना पड़ा। कैथोलिक कट्टरपंथियों ने वाइक्लिफ की लाश को खुदवाकर कूड़े में फिंकवा दिया, जान हस को जला दिया और ऐसे ही एक सुधारक सावोनरोला (1452-98) को फांसी पर चढ़ा दिया।

पुनर्जागरण की मानववादी धर्म-निरपेक्ष चेतना ने भी पोपतंत्र के विरोध का आधार तैयार किया। 'न्यू टेस्टामेंट' के अनुवादों से ईसाईयत के मूल स्वरूप से लोगों का परिचय बढ़ा।

पुनर्जागरण के लेखकों– इरेस्मस, कॉलेट और टामस मोर आदि ने ईसाइयत की मूल शिक्षाओं

और वर्तमान धर्म के भ्रष्ट भटकाव पर विस्तार से लिखा। ऐतिहासिक सत्य भी यही था। ईसा मसीह 'न्यू टेस्टामेंट' में दया, करुणा और स्वैच्छिक निर्धनता के प्रतीक बन कर उभरते हैं। वस्तुतः प्रारम्भिक ईसाइयत ने इन्हीं सिद्धांतों के प्रचार से और स्वयं वैसा आचरण करके ही लोकप्रियता पायी थी। कान्स्टेन्टाइन के ईसाई बनने के बाद स्थिति बदल गयी। फिर ईसाइयत को रोम का लौकिक शासन मिल गया। पोप सम्राट् बन गया। वह धार्मिक पद बेचने लगा। वैसे भी पूरे यूरोप के बड़े धार्मिक पद इटली के लोगों को मिलते थे। ये अधिकारी रोम में ही भोग-विलास और दरबारी राजनीति करते थे। नियमतः सभी पुजारियों को ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता था, लेकिन व्यवहार में कई पोपों के अवैध पुत्र हुये थे। यह सारा भ्रष्टाचार उन्मोचन-पत्रों (इन्डलजेन्सेज़) के द्वारा नाटकीय रूप में आया, जो सुधारवादी क्रांति का तात्कालिक, प्रत्यक्ष और लोकप्रिय कारण बना।

हम देख चुके हैं कि मध्ययुग में पोप ने धर्म पर एकाधिकार कर लिया था, जबकि सिद्धान्ततः वह अधिक से अधिक रोम का बिशप मात्र था। 1300 में पोप ने उन्मोचन-पत्र बेचना शुरू किया। उसने दावा किया कि इस पत्र को खरीद कर कोई भी व्यक्ति सीधे पापमुक्त होकर स्वर्ग जायेगा, क्योंकि पोप उस व्यक्ति के पाप को अपने 'पुण्य के खजाने' से कुछ पुण्य निकालकर समाप्त कर देगा। पहले तो इस पत्र की खरीददारी पर कुछ शर्तें भी थीं और इन्हें निश्चित अवधि में निर्गत किया जाता था। फिर इनको सरकारी बांड की तरह से कमीशन के साथ बाजार में बेचा जाने लगा। 1517 में लूथर ने इसी बिंदु पर विद्रोह का बिगुल बजाया।

लूथर के समय तक स्थिति बहुत बदल चुकी थी। कुछ इतिहासकार मानते हैं कि कैथोलिकवाद पर भूमध्यसागरीय जातियों के एकाधिकार के विरुद्ध उत्तरी यूरोप की असभ्य जातियों ने सुधारवादी क्रान्ति को भड़काया। इतना तो अवश्य सत्य है कि उत्तरी यूरोप का प्रभावशाली वर्ग पोपतंत्र के विरुद्ध हो गया था और पोप को चुनौती देने भर की शक्ति भी प्राप्त कर चुका था। जर्मनी, इंग्लैंड आदि के शासक और सामंत पोपतंत्र के प्रभाव को कम करना चाहते थे। वहां के बोर्जुआ और मध्यवर्ग के लोग भी इसके पक्ष में थे। फिर इन सभी प्रभावशाली वर्गों की दृष्टि विशाल धार्मिक सम्पत्तियों पर भी थी। स्वयं लूथर ने 'जर्मन अभिजनों के नाम पत्र' में यही प्रेरणा दी थी। इंग्लैंड के हेनरी अष्टम (शासनकाल 1509-47) ने धार्मिक सम्पत्तियों को छीनकर कुछ अपने पास रखा और शेष को चतुराई से प्रभावशाली वर्गों में बांट दिया। इसके अतिरिक्त कैथोलिकवाद में ब्याज पर प्रतिबंध होने से भी व्यापारिक पूंजीवाद का रास्ता रुका था। सुधारवादियों ने ब्याज को वैध ठहराया। इंग्लैंड की रानी इलिज़ाबेथ प्रथम (शासन 1558-1603) ने 10% ब्याज को उचित बनाने के लिए 1571 में कानून बनाया। इन्हीं आधारों पर मैक्स वेबर ने सुधारवादी भावना ('प्रोटेस्टैण्ट इथिक्स') को पूंजीवाद की प्रेरणा बताया है।

7.8 मुख्य घटनाएं

अब हम संक्षेप में सुधारवादी क्रांति की मुख्य घटनाओं पर ध्यान देंगे। मार्टिन लूथर को तो 'सुधारवाद का अग्रदूत' कहा ही जाता है। उसने 1517 में विटेनबर्ग चर्च से विद्रोह प्रारम्भ किया। हमें याद रखना चाहिये कि उसके विद्रोह को अधिकांश जर्मन सामंतों और शासकों का समर्थन था। इसलिये उसने पोप के आदेश को 1520 में विटेनबर्ग के बाजार में जला दिया। उसने कई विवादास्पद पुस्तिकाओं के द्वारा अपने विचारों को सामने रखा। 'लिबरेशन ऑफ क्रिश्चियन मैन' में उसने पादरीवाद पर प्रहार किया। उसके अनुसार 'प्रत्येक ईसाई पादरी है और मुक्ति के लिए किसी कर्मकांड की भी आवश्यकता नहीं है। मनुष्य कितना भी सत्कार्य क्यों न करे, वह ईश्वर के सामने तो पापी ही रहेगा। इसलिये मुक्ति का एकमात्र उपाय यही है कि मनुष्य श्रद्धा और पश्चाताप के द्वारा ईश्वर की आराधना करे।' लूथर के इन उपदेशों से दक्षिण जर्मनी के किसानों ने विद्रोह कर दिया। वे अपनी अर्ध-दास वाली विपन्नता से त्रस्त थे। लूथर ने उनके दमन का आह्वान किया। उसने लिखा– 'इन विद्रोहियों को खुलेआम या गुप्त रूप से,

गला घोंटकर या चाकू से या काटकर मार डाला जाये'। इस विद्रोह में लगभग पचास हजार किसान मारे गये। इसके साथ ही दक्षिण जर्मनी में लूथर का सुधारवाद घृणा का पात्र बन गया। लूथर के विचारों की अधिकारिक व्याख्या मेलंक्थान ने की, जो लूथर का सहयोगी था। सुधारवाद के प्रश्न पर जर्मनी के शासकों की दो सभाएं स्पीयर में हुयीं। 1529 में उसकी अंतिम सभा में सुधारवादी शासक खुलकर विद्रोह पर उतर आये। जर्मनी में दोनों गुटों में युद्ध हुआ। अंततः 1555 में आग्सबर्ग में यह समझौता हुआ कि हर शासक अपने क्षेत्र में अपने धर्म को लागू कर सकता है। यह समझौता 1618 में टूट गया, जिसके बाद तीस वर्षीय युद्ध हुआ।

लूथर के विचारों को स्विट्जरलैंड के ज्यूरिक और अन्य जर्मन भाषी कैंटनों में ज्विंगली (1484-1531) ने फैलाया। यहां भी सुधारवाद लैटिन प्रभुत्व के विरुद्ध जर्मन राष्ट्रवाद की ही अभिव्यक्ति था। यहां भी 1529 में गृह-युद्ध शुरू हुआ, जिसमें 1531 में ज्विंगली की मृत्यु हुयी। ज्विंगली ने भी कर्मकांडों का प्रबल विरोध किया। उसने 'होली मॉस' में घटित होने वाले 'द्रव्यांतर' (ट्रान्ससब्सटैन्शियेशन) का विरोध किया। कैथोलिकों के बीच यह संस्कार (सैक्रामेंट) सर्वाधिक जादुई, वैभवपूर्ण, विवादास्पद और व्ययसाध्य रहा था। इसी के नाम पर कैथेड्रल खड़े किये गये थे। जर्मनी और स्विट्जरलैंड के जर्मनों के बीच फैले सुधारवाद को सर्वाधिक शानदार सफलता स्कैण्डेनेविया में मिली। यहां के प्रायः सभी राजतंत्रों ने सुधारवाद के सहारे चर्च पर अपना अधिकार जमा लिया। इसमें नार्वे के फ्रेडरिख प्रथम और स्वीडन के गुस्टावस का नाम प्रमुख है।

स्विट्जरलैंड के फ्रेंच भाषी क्षेत्रों में सुधारवाद को बढ़ावा देने का काम फ्रांस से आये विचारक जान काल्विन (1509-1564) ने किया। उसने जिनेवा में अपना धर्मतंत्रीय शासन स्थापित कर लिया। उसके शासन में मामूली बातों पर भी मृत्युदंड दिया जाता था। उसके दमन की एक शर्मनाक मिसाल यह है कि उसने शरण में आये हुये एकत्ववादी (यूनिटेरियन) सुधारक– माइकेल सर्वेटस को जिंदा जलवा दिया। इसके बावजूद कई कारणों से उसका सुधारवाद काफी लोकप्रिय हुआ। उसके सुधारवादी संस्करण को इंग्लैंड में प्योरिटन, स्कॉटलैंड और हालैंड में प्रेसबिटेरियन और फ्रांस में ह्यूजनॉट कहा जाता है। स्कॉटलैंड और हालैंड में प्रेसबिटेरियनवाद शासकीय धर्म बन गया। फ्रांस में भी वह बहुत प्रबल रहा, जैसे हम बोदां के अध्याय में देखेंगे। काल्विनवाद के सभी संस्करण अत्यधिक आक्रामक थे। इसी कारण से उसे 'प्रोटेस्टैण्ट पोप' कहा जाता है। स्कॉटलैंड में काल्विनवाद का प्रसार जॉन नाक्स (1505-72) ने किया। उसने जिनेवा में रहकर काल्विन से प्रेरणा प्राप्त की थी। उसने स्काटलैंड लौटकर रानी मेरी स्टुअर्ट (शासन 1561-67) को अपने नैतिक आक्रमणों का शिकार बनाया। उसने काल्विन के राजतंत्र विरोधी विचारों को और आगे बढ़ाया, जिसको अंततः फ्रांसीसी काल्विनवादियों अर्थात् ह्यूजनाट्स ने चरम पर पहुंचा दिया।

इंग्लैंड में सुधारवाद शासक हेनरी अष्टम की एक निजी समस्या के कारण सफल हो सका। हेनरी अष्टम अपनी रानी कैथरीन को तलाक देना चाहता था। पोप राजनैतिक कारणों से इसकी अनुमति नहीं दे सकता था। 1531 में उसने पोप के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। उसने क्रेन्मर को कैण्टरबरी का आर्कबिशप बनाकर एक प्रकार से राष्ट्रीय चर्च (एंग्लीकनवाद) ही बना दिया। उसने कैथोलिकों और प्रोटेस्टैण्टों– दोनों वर्गों का समान क्रूरता से दमन किया। उसने टामस मोर और जान फिशर जैसे महापुरुषों को मरवा डाला। वह कैथोलिकों का सिर कटवाता था और प्रोटेस्टैंटों को आग में जलवाता था। उसने इंग्लैंड के मठों की विशाल सम्पत्तियों को जब्त कर लिया। उसके पुत्र एडवर्ड षष्ठ के शासनकाल (1547-53) में एंग्लिकन चर्च और सशक्त बना। चर्च के कर्मकांड बहुत सरल कर दिये गए, जो बाद में एपिस्कोपलवाद की विशेषता बन गया। चर्च की मूर्तियों और साज-सज्जा को नष्ट कर दिया गया। प्रायः सभी क्षेत्रों के सुधारकों ने मूर्तिभंजन का यह काम काफी जोश के साथ किया। इंग्लैंड में वेदी (आल्टर) के स्थान पर सीधी-सादी 'टेबुल' की व्यवस्था की गयी। इस अभियान को उसके बाद आयी रानी मेरी ट्यूडर (शासन 1553-58) ने इसी उग्रता से पलट दिया। उसे इसीलिए 'ब्लडी मेरी' का नाम दिया

गया। उसका और उसकी मां का स्पेन के कट्टर कैथोलिक राज परिवार से सीधा सम्बन्ध था। उसकी मां के मामले से ही इंग्लैंड में इस हिंसक युग का आरम्भ हुआ था। मेरी ने आर्कबिशप क्रेन्मर को जला कर मरवा दिया। 1558 में उसकी मृत्यु के बाद स्थिति फिर बदली। एलिजाबेथ प्रथम (शासन 1558-1603) ने इंग्लैंड को निर्णायक रूप में इंग्लिकन बना दिया। उसने संसद से 39 अनुच्छेदों वाले एक कानून को पारित करके ब्रिटिश चर्च की अधिकारिक व्याख्या प्रस्तुत की। उसके सामने अंतिम कैथोलिक प्रतिरोध 1588 में स्पेनिश शासक फिलिप द्वितीय के अर्माडा अभियान के रूप में आया। इस विजय ने इंग्लैंड को पोपतंत्र से सदैव के लिये मुक्त कर दिया।

7.9 रेडिकल सुधारवाद और प्रतिसुधार आंदोलन

उत्तरी जर्मनी, उत्तरी नीदरलैंड, स्कॉटलैंड, इंग्लैंड, स्कैंडेनेविया और (पांच जंगली केंटनों के अलावा) स्विट्जरलैंड में सुधारवाद को एक प्रकार से निरपवाद राजनैतिक सफलता प्राप्त हुई। अब हम संक्षेप में उन सुधारवादी अभियानों का संदर्भ, लें, जो (परिभाषिक शब्दावली में) 'सेक्ट' ही बन कर रह गये, 'चर्च' नहीं बन पाये। आध्यात्मिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से ये रेडिकल विचारक सुधारवाद की मूल भावना के अधिक निकट थे। ईसा मसीह के जीवन और प्रारम्भिक ईसाइयत की निर्मलता, सादगी, सेवा-भावना और निर्धनता को इन्होंने अपेक्षाकृत अधिक निष्ठा से अपनाया। इनमें एक समूह इंजीलवादियों और पुनर्बपतिस्मावादियों का था। इसके प्रणेताओं में थामस मूंजर (1489-1525), जॉन लीडेन (1510-36) और मेनो सिमन्स (1492-1559) के नाम प्रमुख हैं। इनका मानना था कि धर्म आंतरिक अनुभूति है, जिससे हृदय परिवर्तन ('कन्वर्जन') होता है। उस स्थिति में ही वह सच्चा ईसाई बनता है, इसलिए उसी समय उसका बपतिस्मा होना चाहिये। इस 'दूसरे बपतिस्मा' की अवधारणा के कारण इन्हें पुनर्बपतिस्मावादी (एनाबैप्टिस्ट) कहा गया। राबर्ट ब्राउन नामं के एक एंग्लिकन पुजारी ने समूहवादी (कांग्रीगेशनिस्ट) चर्च की स्थापना की। उसकी धारणा थी कि श्रद्धालुओं के समुदाय स्वतंत्रता से स्वनिर्मित स्वारोपित संविदाओं का पालन करें और स्वयं ही अपने धार्मिक आचारों का अनुपालन करें। रेडिकल सम्प्रदायों में एक प्रमुख वर्ग एकत्ववादियों का था। इसका कठोर रूप फ्रांसिस डेविड (1510-79) ने प्रस्तुत किया, जिसमें केवल ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया। इसमें थोड़ा संशोधन करके सर्वेटस, सोशिनस और आर्मिनस ने ईसा मसीह की पूजा की व्यवस्था की और इस प्रकार इसे लोकप्रिय बनाया। अन्धविश्वासी यूरोप में इन रेडिकल समूहों का क्रूरता से दमन किया गया। मूंजर को तो हेस के लूथरवादी शासक ने ही मरवा दिया, जबकि सर्वेटस को स्वयं काल्विन ने जलवा दिया। फ्रांसिस डेविड जेल में मरा। जान लीडेन को कैथोलिकों ने मार डाला। प्रारम्भिक सुधारवादियों को तो पोपतंत्र ने कुचला लेकिन इन रेडिकल सुधारवादियों को कुचलने में पोपतंत्र के अतिरिक्त लूथरवादी-काल्विनवादी-एंग्लिकन सुधारवादियों ने भी कोई संकोच नहीं दिखाया।

सुधारवाद की प्रतिक्रिया में पोपतंत्र ने प्रतिसुधारवादी अभियान चलाया। पोप पॉल तृतीय (1534-49) ने इस आत्मरक्षात्मक अभियान को आक्रामक बना दिया। उसके नेतृत्व में दो आक्रामक कार्य हुए। एक तो 1534 में जेसुइट भ्रातृत्व की स्थापना और दूसरा 1542 में धर्म न्यायालय की स्थापना। इग्नेशियस लायोला ने जेसुइयों के संघ की कल्पना ऐसी तलवार के रूप में की थी, जिसकी 'मूंठ पोप के हाथ में' थी। जेसुई कट्टर कैथोलिक थे और धर्म प्रचार के लिए लालच, बल प्रयोग और धोखेबाजी का प्रयोग सैद्धान्तिक रूप से भी उचित मानते थे। उन्होंने चीन, अमेरिका, अफ्रीका और वेस्ट इंडीज में कैथोलिक धर्म का प्रचार किया। इन्होंने शिक्षा पर भी पर्याप्त ध्यान दिया। पोपतंत्र ने इस अवधि में धर्म-न्यायालयों के द्वारा भी बहुत दमन किया। पोप किसी भी पुस्तक को प्रतिबंधित (इन्डेक्सिंग) कर सकता था। प्रतिबंध (इंटरडिक्शन) और धर्म-च्युति (एपोस्टेसी) का भी खुले हाथ से प्रयोग हुआ।

प्रतिवादात्मक कार्रवाई में पोपतंत्र ने कुछ सकारात्मक परिवर्तन भी किये। बाइबिल का प्रामाणिक लैटिन संस्करण (वल्गेट) निकाला गया, पुजारियों की शिक्षा के लिए सेमिनरियों की व्यवस्था की गयी, राष्ट्रीय भाषाओं में प्रार्थनाओं-प्रवचनों की अनुमति मिली और उन्मोचन-पत्रों की बिक्री नियंत्रित की गयी। धर्माधिकारियों की नियुक्ति में मर्यादाओं का पालन होने लगा। प्रतिसुधार आंदोलन को व्यवस्थित करने के लिए ट्रेंट में 1545 से 1565 तक गम्भीर विचार-मंथन किया गया। सैद्धान्तिक रूप से तो पोप ने सुधारवादियों के किसी भी आग्रह को स्वीकार नहीं किया। व्यावहारिक रूप से अवश्य पोप निर्बल हो गया। कैथोलिक शासकों ने भी पोप की निर्बलता का लाभ उठाकर राष्ट्रीय धर्मतंत्र को अपने अधीन कर लिया। फ्रांस के शासक ने 1516 में पोप से यह अधिकार औपचारिक रूप से अपने हाथ में ले लिया।

7.10 योगदान

सुधार और प्रतिसुधार के इस संक्षिप्त ऐतिहासिक आख्यान के बाद हम इसके प्रभाव और योगदान की चर्चा करेंगे। सामान्यतः सुधार आंदोलन के योगदान को बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया जाता है। हम आधुनिकता की अन्यान्य प्रतिनिधिक प्रवृत्तियों को सुधार आंदोलन का योगदान बता देते हैं। व्यक्तिगत स्वतंत्रता, समानता, धर्म-निरपेक्षता और धार्मिक सहिष्णुता आदि को सुधारवादी देन माना जाता है। कतिपय सुधारवादियों ने प्रतिवाद की प्रारम्भिक परिस्थितियों में ऐसे आदर्श सामने रखे भी थे, लेकिन सुधारवाद को शीघ्र ही स्थानीय राजतंत्रों का सहारा लेना पड़ा। इस गठजोड़ से अंतर मात्र इतना ही हुआ कि ईसाइयत का राष्ट्रीयकरण हो गया। सुधारवादियों के मन में लोकतंत्र, सहिष्णुता या समानता के लिए अधिक सम्मान नहीं था। प्रायः सभी सुधारवादी मानते थे कि (1) धर्म की उनकी व्याख्या ही सही है और (2) उस विशिष्ट विचार को लागू करने के लिए बल प्रयोग आवश्यक है। अपने बचाव के लिये वे यह अवश्य कहते थे कि बल प्रयोग 'अस्थाई कार्रवाई' है, जिसे विवशता में किया जा रहा है। ज्विंगली के अकेले अपवाद के अतिरिक्त सभी सुधारवादी मनुष्य के प्रति घृणा का ही भाव रखते थे। लूथर मनुष्य को 'साक्षात् शैतान' मानता था। ईसाइयत की मूल धारणा में भी मनुष्य को पापी ही माना गया है। सुधारवादियों की इस मानसिकता से लोकतंत्र को समर्थन नहीं मिल सकता था। सुधारवादी समानता की भावना के समर्थक भी नहीं थे।

हम यह मान सकते हैं कि सुधारवादी क्रांति की दो शताब्दियों के बाद यूरोप में लोकतंत्र, सहिष्णुता और समानता का भाव काफी प्रबल हो गया। अगर इसमें सुधारवाद का योगदान था, तो वह अप्रत्यक्ष और आंशिक था। सुधारवादियों ने सायास ऐसा नहीं किया था– वैसा परिस्थितियों के दबाव में हुआ। सुधारवादी और कैथोलिक जहां-जहां अल्पसंख्यक थे, वहां वे लोकतंत्र और सहिष्णुता के समर्थक हो गए। इसीलिए सर्वाधिक क्रूर सुधारवादी काल्विनवादी लोकतंत्र के सबसे बड़े समर्थक बने, क्योंकि उन्हें स्कॉटलैंड, इंग्लैंड और फ्रांस में अल्पसंख्यक बनकर रहना पड़ा। जान नॉक्स ने काल्विन के विचारों से लोकतंत्र समर्थक कुछ भाग निकाल कर विकसित किया। काल्विन ने अपवादतः हीनस्थ दंडाधिकारियों ('इन्फीरियर मैजिस्ट्रेट') द्वारा शासक के विरोध करने और 'कान्जिस्ट्री' नामक एक प्रतिनिधिक सभा द्वारा जनभावनाओं को अवसर देने की बात कही थी। इन मामूली बातों को ही बढ़ा-चढ़ा कर काल्विनवादियों ने लोकतंत्र का समर्थन किया। काल्विनवादियों द्वारा जिनेवा और बाद में स्कॉटलैंड में और प्यूरिटनों द्वारा मेसाचुसेट्स में दमन करने में संकोच नहीं किया गया।

सुधारवादी क्रान्ति के बाद यूरोप में सहिष्णुता का नहीं, धार्मिक मतान्धता का दौर आया। सहिष्णुता का भाव किसी भी पक्ष के मन में नहीं था। फिर भी विवशता हो गयी थी। उदाहरण के लिए फ्रांस में हेनरी चतुर्थ द्वारा 1598 में नान्तेस की घोषणा द्वारा सहिष्णुता को शासकीय नीति बनाना पड़ा। वहां के प्रोटेस्टेण्ट अल्पसंख्यक इतने शक्तिशाली हो गये थे कि उनको समाप्त नहीं किया जा सकता था। इसी तरह अन्य कई देशों में भी, विवशता में ही,

अल्पसंख्यकों और बहुसंख्यकों के बीच सहिष्णुता की यह समझदारी बनी।

7.11 राजनैतिक-आर्थिक पक्ष

सुधार और प्रतिसुधार आंदोलन में धर्म का तत्व तो प्रबल था ही, लेकिन हमें उसके राजनैतिक-आर्थिक पक्ष को भी कम करके देखना नहीं चाहिये। राजनैतिक पक्ष में हम प्रमुखतः निरंकुश राजतंत्रों और नवजात राष्ट्रवाद को और आर्थिक पक्ष में हम व्यापारिक पूंजीवाद तथा तेजी से फैल रहे मध्य वर्ग को सम्मिलित करते हैं। मुद्रणालयों के प्रसार, नये व्यापारिक मार्गों की खोज और पुनर्जागरण कालीन चेतना ने भी इस क्रांति में सहयोग किया। राजनैतिक पक्ष के विश्लेषण में निम्न तथ्यों पर ध्यान दिया जाना चाहिये–

(1) इस पूरे क्रान्तिकारी दौर में पूर्वी आर्थोडॉक्स चर्च शांत रहा। इसका सीधा कारण यह था कि इस चर्च ने शुरू से ही राष्ट्रीयता की भावना से समझौता कर लिया था। जब कुस्तुनतुनिया में टर्की के सुल्तान का ग्रीक पैट्रिआर्क पर नियंत्रण अधिक बढ़ गया, तब 1582 में स्लावों ने अपने लिये मास्को में नया पैट्रिआर्क बना लिया। इस तरह आर्थोडॉक्स चर्च राष्ट्रवाद और नस्लवाद का सम्मान करता रहा।

(2) हमने देखा है कि पोपतंत्र ने प्रारम्भिक सुधारवादियों को सरलता से कुचल दिया। परवर्ती रेडिकल सुधारवादी भी क्रूरतापूर्वक मारे गये। केवल मुख्यधारा के सुधारवादी ही सफल हुये। इसका कारण यह था कि जब अन्य वर्गों के सुधारवादी केवल 'हेरेसी' (धर्म द्रोह) तक सीमित थे, मुख्य धारा के सुधारवादियों को हेरेसी के धार्मिक तत्व के साथ, पोपविरोधी शासकों का राजनैतिक समर्थन ('शिज्म') भी मिला। धर्मद्रोह अकेले होता तो पोप से नहीं लड़ सकता था।

(3) समग्र सुधारवादी आंदोलन मोटे तौर पर राष्ट्रीय और भाषाई आधार पर ही चला। सुधारवाद जर्मनी, इंग्लैंड, फिनलैंड, स्कॉटलैंड, स्वीडन और डेनमार्क आदि की राष्ट्रीय पहचान बन गया।

(4) कैथोलिक धर्म सिद्धान्तः सार्वभौम रहा, लेकिन व्यवहार में वह भी राष्ट्रीयकृत हुआ। पोलैंड और लिथुआनिया ने जर्मनी के विरुद्ध और आयरलैंड ने इंग्लैंड तथा स्कॉटलैंड के विरुद्ध अपनी राष्ट्रीय पहचान बनाये रखने के लिए कैथोलिक धर्म को बनाये रखा। इटली तो पोपतंत्र का केंद्र था ही। स्पेन और पुर्तगाल ने कैथोलिक धर्म को मुस्लिमों के विरुद्ध प्रयुक्त करके अपनी राष्ट्रीय अस्मिता को लोकप्रिय बनाया। फ्रांस के शासक ने पोप से लिखित रूप से अधिकार प्राप्त करके राष्ट्रीय पहचान को सशक्त बनाया।

(5) सुधार-प्रतिसुधार क्रान्तियों का राजनैतिक पक्ष कितना प्रबल था, इसका उदाहरण यह भी है कि हर देश में सुधार-प्रतिसुधार के उसी पक्ष की विजय हुई, जो राजतंत्र के साथ था। इसीलिये इन आंदोलनों के बाद पूरे यूरोप में निरंकुश राजतंत्रों का युग आया। इसका एक कारण यह भी था कि धार्मिक विवादों से उत्पन्न हुयी हिंसा और अराजकता के कारण राजतंत्र स्वाभाविक रूप से राष्ट्रीय एकता का प्रतीक बन गया और इसी रूप में लोकप्रिय भी हुआ।

7.12 धर्म-राज्य के सम्बन्धों के रूप

विवेचना के अंत में हम सुधारवाद के एक महत्वपूर्ण राजनैतिक पक्ष पर विचार करेंगे। सुधारवाद ने कोई राजनैतिक सिद्धांत नहीं दिया। जैसा कि सेबाइन ने लिखा है– 'हमारे पास कोई

प्रोटेस्टेंट राजनैतिक सिद्धांत नहीं है।' फिर भी सुधारवाद ने राज्य और धर्म के बीच सम्भावित सम्बन्धों के कई प्रारूप प्रस्तुत किये। हम इनमें से कुछ की चर्चा करेंगे–

(1) **राज्य और धर्म के एकाकार होने का विचार**– (ज्विंगलीवाद) यह प्राचीन यूनानी नगर-राज्यों की व्यवस्था थी और ज्विंगली ने इसे ज्यूरिच के नगर राज्य पर लागू भी किया। प्रसिद्ध प्राचीन पंक्ति इसका सूत्रवाक्य है– 'नगर राज्य भी है और चर्च भी'।

(2) **राज्यविरोधी, राज्यनिरपेक्ष या राज्यरहित धर्म का विचार**– (रेडिकल सुधारवाद और प्रमुखतः पुनर्बपतिस्मावाद) इसी विचार के कारण इस वर्ग का सफलता से दमन हो सका।

(3) **धर्म राज्य का एक विभाग है**– (एंग्लिकनवाद या एपिस्कोपलवाद)– इसमें शासक ही उच्चतम धर्माधिकारी होता है। धार्मिक कर्मकांड सरकारी कार्यक्रम की तरह होते हैं। इसका सूत्र वाक्य है– 'बिशप नहीं, तो राजा नहीं' (शासक जेम्स)। इसका आशय यह है कि शासक विशप के माध्यम से ही धार्मिक व्यवस्था को नियंत्रित करके शासक बना रह सकता है।

(4) **राज्याश्रित धर्म का विचार-(लूथरवाद)**– लूथरवाद की यह मौलिक मान्यता नहीं थी, किन्तु यह शीघ्र ही इसी रूप में आ गया और सफल हुआ। इसका सूत्र वाक्य है– 'शासक आवश्कतावश बिशप बनते हैं'– लूथर के इस कथन का अभिप्राय यह है कि सिद्धान्ततया सही न होने पर भी व्यावहारिक दबाव के कारण अन्ततः शासक ही सक्षम धर्माधिकारी होता है।

(5) **धर्माश्रित राज्य का विचार**– (काल्विनवाद) यह आदर्श धर्मतंत्र (थियोक्रेसी) का विचार है, जिसे काल्विन ने और उसके अनुयायी प्यूरिटनों ने लागू भी किया। इसी कारण काल्विन को 'प्रोटेस्टेंट पोप' कहा जाता है। इस विचार के अनुसार धर्म के आधार पर ही राज्य की सदस्यता मिलती है। इस तरह धर्म द्रोह राजद्रोह हो गया। इसका सूत्र वाक्य है– 'राज्य मुक्ति का बाहरी साधन है' (काल्विन)। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य को मुक्ति तो धर्म से मिलेगी लेकिन राज्य का गठन मात्र इसलिये किया गया है, ताकि वह इस कार्य में चर्च की सहायता कर सके।

7.13 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से आपको दो महत्वपूर्ण आंदोलनों का ज्ञान हुआ होगा। जिस मानसिकता को हम आधुनिक मानव का सहज गुण मानते हैं, वह वस्तुतः इतनी सहज नहीं है। पुनर्जागरण के पूर्व का मध्यकालीन यूरोप अपवादतः ही धर्म से हटकर सोच पाता था। पुनर्जागरण के पश्चात् भी धर्म का प्रभाव कितना गहरा था, इसको हम धर्म सुधार आंदोलन में देख चुके हैं। धर्म के आधार पर ही क्षेत्रों का विभाजन हुआ और (फ्रांस जैसे) जिन क्षेत्रों में ऐसा नहीं हुआ, वहां फिर समाज का ही विभाजन हो गया। यह सामाजिक विभाजन हिंसक था। सम्भवतः आज का एक सामान्य यूरोपीय भी इस हिंसा, मतान्धता और निरंकुशता की कल्पना नहीं कर पाएगा।

पुनर्जागरण ने समाज और व्यक्ति के नये रूप की कल्पना की, यद्यपि उसकी प्रेरणा प्राचीन थी। धर्म सुधार आंदोलन ने इस कल्पना शक्ति का प्रयोग धर्म और राज्य के क्षेत्र में किया। परिणामस्वरूप धर्म और राज्य दोनों राष्ट्रीय हो गये। इस तरह इस आंदोलन ने राष्ट्र-राज्य की एक सर्वथा नयी इकाई को जन्म दिया, जो आधुनिक विश्व की सम्प्रभु इकाई है। एक प्रकार से इसने धर्म को निर्बल ही किया। इस आंदोलन के प्रणेताओं ने धर्म और राज्य के सम्बन्धों

के प्रायः सभी सम्भावित स्वरूपों की कल्पना की। प्रायः इन्हीं रूपों को हम आज भी प्रचलित हुआ पाते हैं।

7.14 उपयोगी पुस्तकें

1. मैक्स वेबर– दि प्रोटेस्टेंट इथिक एंड स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म (अनुवाद-टालकॉट पार्सन्स), लंदन, 1930
2. चाडविक ओवेन– दि रिफारमेशन (बाल्टीमोर, 1964)
3. जे डब्लू एलेन– ए हिस्ट्री आफ पालिटिकल थाट इन सिक्सटींथ सेंचुरी (लंदन, 1951)
4. जार्ज एल हंट (सम्पादित)– काल्विनिज्म एंड दि पोलिटिकल आर्डर (फिलाडेल्फिया, 1965)

7.15 संबंधित प्रश्न

(क) दीर्घ प्रश्न

1. पुनर्जागरण की प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।
2. पुनर्जागरण और सुधारवाद के मुख्य योगदान का विवरण दीजिए।
3. सुधार आंदोलन की धाराओं और उनके विचारों का विश्लेषण कीजिए।

(ख) लघु प्रश्न

1. शास्त्रीयतावाद और मानववाद का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
2. पोपतंत्र के प्रभाव पर प्रकाश डालिए।
3. पोपतंत्र के विरुद्ध सुधारवादियों के मुख्य तर्कों को परीक्षण कीजिए।

(ग) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. पुनर्जागरण का आदर्श था—
   (क) प्राचीन रोम और यूनान,
   (ख) प्राचीन फ्रांस और इंग्लैंड,
   (ग) पुर्तगाल और स्पेन,
   (घ) इनमें से कोई नहीं।
2. लूथर के विद्रोह का तात्कालिक कारण था—
   (क) पोप द्वारा लूथर को मृत्यु दंड देना,
   (ख) उन्मोचन पत्र की बिक्री,
   (ग) जर्मनी में कृषक विद्रोह,
   (घ) लूथर द्वारा स्वयं पोप बनने में असफल होना।
3. काल्विन के अनुसार—
   (क) राज्य धर्म के अधीन है,
   (ख) धर्म राज्य के अधीन है,

(ग) दोनों अपने-अपने क्षेत्रों में संप्रभु हैं,

(घ) कहीं राज्य धर्म के ऊपर है और कहीं धर्म राज्य के ऊपर है।

7.16 प्रश्नोत्तर

1- (क), 2- (ख), 3- (क)

इकाई-8: मैकियाविली

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 जीवन-वृत्त

8.3 मैकियाविली की कृतियां

8.4 राजनैतिक स्थापनाओं का आधार

8.5 राजनीति, धर्म और नैतिकता

8.6 शासन के प्रकार-राजतंत्र और गणतंत्र

8.7 राष्ट्रीय सेना और राष्ट्रवाद की वैचारिक पृष्ठभूमि

8.8 शासनकला, कुशल शासक के गुण

8.9 मैकियाविली का मूल्यांकन

8.10 सारांश

8.11 उपयोगी पुस्तकें

8.12 संबंधित प्रश्न
(क) दीर्घ
(ख) लघु
(ग) वस्तुनिष्ठ

8.13 प्रश्नोत्तर

8.0 उद्देश्य

(i) इस अध्ययन के द्वारा आप आधुनिक विश्व की सर्वाधिक महत्वपूर्ण इकाई-सम्प्रभु राज्य के वैचारिक आधार से परिचित हो सकेंगे। यह स्पष्ट होगा कि किस प्रकार से राज्य ने अपनी सम्प्रभु शक्ति के मार्ग के अवरोधों को दूर करने का प्रयास किया।

(ii) इस अध्ययन से आप यथार्थवादी सोच से परिचित हो सकेंगे। मैकियाविली यथार्थवाद को अति तक ले जाता है। इस अतिवाद का अधिक महत्व नहीं है, लेकिन हमारे लिए उसकी मौलिक स्थापनाओं का महत्व बना हुआ है। वस्तुतः वैसी तमाम मान्यताएं यथार्थवाद की सीमा से बाहर निकलकर आधुनिक राजनैतिक चिंतन की आधारभूत अवधारणाओं में सम्मिलित हो गयी हैं।

8.1 प्रस्तावना

डनिंग ने मैकियाविली को 'अपने समय का शिशु' कहा है। उसने अपने समय के प्रबलतम वैचारिक आंदोलन अर्थात् पुनर्जागरण का सर्वाधिक प्रामाणिक प्रतिनिधित्व किया है। आपने पिछली इकाई में पुनर्जागरण का अध्ययन किया है। मैकियाविली पुनर्जागरण के धर्म-निरपेक्ष चिंतन का एक श्रेष्ठ उदाहरण है। उसने मध्यकालीन मानसिकता से निकलकर लौकिक जीवन के विश्लेषण को अपना लक्ष्य बनाया। वासना, महत्वाकांक्षा, आक्रामकता और यहाँ तक कि हिंसा और दुराचार को भी मैकियाविली ने सहज मानवीय संवेग माना।

मैकियाविली के विचारों में ही हमें सर्वप्रथम राष्ट्रवाद और सम्प्रभुता की दस्तक सुनायी देती है, यद्यपि उस समय इसे अनसुना कर दिया गया। इसी पृष्ठभूमि से ही आधुनिक विश्व की सर्वाधिक महत्वपूर्ण इकाई – राजनैतिक शब्दावली में 'सम्प्रभुता' – अर्थात् राष्ट्र-राज्य का जन्म हुआ। तत्कालीन परिस्थितियों में उपलब्ध राजनैतिक इकाइयां निष्प्रभावी होती जा रही थीं। ये इकाइयां थीं – पवित्र रोमन साम्राज्य, सामंतवाद और व्यवसायिक क्षेत्र में श्रेणियां (गिल्ड)। इनके स्थान पर राष्ट्रीय - राज्य का आधार तैयार हो रहा था। मैकियाविली पहला विचारक है, जिसने राष्ट्रीयता के आधार पर एकीकरण की आवश्यकता का अनुभव किया।

मैकियाविली के युग में दक्षिणी यूरोप में राष्ट्रवादी भावना फैल रही थी। एक विद्वान के अनुसार तत्कालीन इटली "प्रोटेस्टेण्टवाद, पूंजीवाद और राष्ट्रवाद की मदिरा से वंचित था।" हम देखेंगे कि मैकियाविली ने इस समस्या के समाधान के लिये कितनी एकाग्रता और उग्रता से विचार किया है। तत्कालीन इटली के एकीकरण में पोपतंत्र बाधक था। मैकियाविली ने सशक्त राज्य के निर्माण और उसके संरक्षण के मार्ग में आने वाली किसी भी नैतिक या धार्मिक बाधा को स्वीकार नहीं किया। उसका मानना था कि कोई सशक्त शासक ही ऐसा कर सकता है। उसका समग्र चिंतन ही उस शासक की आवश्यकता का प्रतिपादन करने का गम्भीर प्रयास है।

8.2 जीवन वृत्त

पश्चिमी राजनैतिक विचारकों की परम्परा में मैकियाविली एक विचित्र विचारक के रूप में हमारे सामने आता है। यह विचित्रता बहुत कुछ उसके युग और उसके देश की थी, जिसने उसके विचारों को यथार्थवाद के चरम पर पहुंचा दिया। इसी अर्थ में सेबाइन ने लिखा है कि उसके विचार "नितान्त स्थानीय और नितान्त युगीन" थे। किसी दूसरे देश और किसी दूसरे काल में वैसा अमानवीय प्रकार का यथार्थवादी चिंतन अस्वाभाविक ही होता। इस परिप्रेक्ष्य में हमको मैकियाविली के जीवन-वृत्त और परिवेश पर अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से ध्यान देना होगा।

मैकियाविली का जन्म 1469 में इटली के फ्लोरेन्स में एक वकील के परिवार में हुआ था। वह युग यूरोप में पुनर्जागरण का था और फ्लोरेन्स उस बौद्धिक आंदोलन का केन्द्र था। दांते और बोकाशियो वहीं के थे। फिर पुनर्जागरण का सर्वाधिक सक्रिय पोप जूलियस द्वितीय भी स्थानीय राजनीति में प्रभावी था। पुनर्जागरण युग के ईसाइयत-विरोधी विचारों को मैकियाविली ने आत्मसात किया। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि पूरे यूरोप में कुछ समय पहले ही परिषदीय आंदोलन असफल होकर समाप्त हो चुका था। इस आन्दोलन की असफलता ने पोप और यूरोपीय राजतंत्रों को फिर अनियंत्रित बना दिया था। इसके अतिरिक्त एक बड़े आंदोलन की सुगबुगी थी, जिसका प्रभाव उसकी मृत्यु के बाद ही सामने आया। इसे हम सुधार और प्रति-सुधार आंदोलन के नाम से जानते हैं। प्रोटेस्टेंट सुधार आंदोलन ने राजतंत्रों को शक्ति दी, तो कैथोलिक प्रति-सुधार आंदोलन ने पोप को प्रभावी बनाया। वस्तुतः क्रिया-प्रतिक्रिया की इस कड़ी ने धर्म को राजनीति से फिर जोड़ दिया और एक प्रकार से मैकियाविली के विचारों को लगभग दो शताब्दी तक निष्प्रभावी बना दिया। सम्भवतः इस कारण से भी उसके धर्म, नैतिकता और राजनीति सम्बन्धी विचार बहुत विचित्र लगे और काफी समय तक कुख्यात भी रहे। काफी समय तक एक सामान्य यूरोपीय मस्तिष्क यह सोच भी नहीं सकता था कि राजनीति से धर्म ही नहीं, नैतिकता को भी बाहर निकाल देना चाहिये या यह सम्भव है। यह प्रश्न उठाना ही सम्भव नहीं था। ठीक इसी संदर्भ में मैकियाविली एक विचित्र विचारक के रूप में सामने आता है। यही वैचारिक नव्यता उसकी कुख्याति का कारण बनी। सम्भवतः आधुनिक युग में ही उसका तटस्थ मूल्यांकन हो सका है।

जैसा मौलिक विचारकों के साथ प्रायः होता है, मैकियाविली भी बहुत व्यवस्थित प्रकार से शिक्षित न हो सका। उसके प्रारम्भिक जीवन में फ्लोरेन्स का शासन मेडिसी परिवार के एक सशक्त सदस्य– लॉरेन्जो के हाथ में था, जिससे मैकियाविली को भी प्रेरणा प्राप्त हुयी। 1492

में उसकी मृत्यु के बाद वहां गणतंत्र स्थापित हुआ, जो 1512 में समाप्त हुआ। हुआ यह था कि पोप जूलियस द्वितीय ने फ्रांस को इटली से बाहर खदेड़ दिया था और उसके परिणामस्वरूप फ्लोरेन्स में भी सत्ता-परिवर्तन हुआ। विजयी पोप ने वहां के गणतंत्र को समाप्त करके मेडिसी परिवार के वर्गीय शासन को फिर स्थापित कर दिया। अपने नगर के गणतंत्रीय शासन में मैकियाविली को विदेश विभाग में महत्वपूर्ण पद प्राप्त हुआ और बाद में वह युद्ध-परिषद् में भी रहा। इन अधिकारिक दायित्वों के कारण उसे 23 बार राजनयिक कार्यों से रोम, पेरिस आदि जाना पड़ा। उसने राजनीति को निकट से देखा और उसमें भाग भी लिया। इस प्रकार उसका लेखन काफी प्रामाणिक बन सका। 1512 में गणतंत्र के साथ ही मैकियाविली का सक्रिय राजनैतिक-राजनयिक जीवन भी समाप्त हो गया।

सत्ता-परिवर्तन के प्रारम्भिक दौर में तो उसे षड्यंत्र के आरोप में कारावास और यंत्रणा भी सहनी पड़ी। उसके पश्चात् उसने अपनी पुरानी स्थिति पाने का बहुत प्रयास किया; किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। बाद में सांत्वना के तौर पर कार्डिनल डि मेडिसी ने उसे फ्लोरेन्स का इतिहास लिखने का काम दिया। कार्डिनल डि मेडिसी बाद में पोप क्लीमेंट सप्तम बना। क्लीमेंट की निकटता से मैकियाविली को लाभ नहीं हुआ, क्योंकि शीघ्र ही 1527 में इटली पर जर्मन जातियों ने आक्रमण करके पोप क्लीमेंट को बन्दी बना लिया। चूंकि फ्लोरेन्स में मेडिसी परिवार का अल्पतंत्रीय शासन पूर्ववर्ती पोप के दबाव के कारण ही आया था, इसलिये इस बार पोप क्लीमेंट के पतन से मेडिसियों का भी पतन हो गया। इसके साथ ही मैकियाविली भी पूर्णतः निराश हो गया। यह वाकई बहुत विचित्र बात थी कि 1512 में मेडिसी अल्पतंत्र आने पर उसे गणतंत्र का समर्थक मानकर प्रताड़ित किया गया और 1527 में गणतंत्र आने पर उसे मेडिसी परिवार का समर्थक मानकर सत्ता से बाहर ही रखा गया। फिर से महत्वपूर्ण पद प्राप्त करने की उसकी सभी कोशिशें बेकार हो गईं। यह बात इसलिये भी विचित्र लगती है क्योंकि जैसा कि विल दूरां ने लिखा है, मैकियाविली को लाभ लेने के लिये सीजर बोर्गिया या अन्य किसी प्रभावशाली व्यक्ति की प्रशंसा या निन्दा करने से कोई परहेज नहीं था। ऐसा भी नहीं था कि उसे गणतंत्र या राजतंत्र में से किसी से विशेष लगाव या दुराव रहा हो। वस्तुतः उसने एक ही काल-खंड में लिखी अपनी सर्वाधिक प्रसिद्ध दो पुस्तकों– 'दि प्रिन्स' और 'डिस्कोर्सेज'–में क्रमशः राजतंत्र और गणतंत्र को स्वाभाविक व्यवस्था मानकर ही विचार-मंथन किया है। इसके बाद भी वह विशेष रूप से 1512-1527 के मेडिसी अल्पतंत्रीय शासन में अधिक दुःखी रहा। वह विचार में ही नहीं अपने व्यवहार में भी अनैतिक रहा। इसके बाद भी वह जीवन में कोई बड़ा पद नहीं पा सका और सामान्य उपलब्धियों को भी पर्याप्त समय तक सुरक्षित न रख सका। 1527 में गणतंत्र से कोई लाभ न पा सकने की निराशा उसके लिये प्राणघातक सिद्ध हुयी और वह इसी कुण्ठा के साथ 1527 में दुनिया से विदा हुआ।

8.3 मैकियाविली की कृतियां

उसकी सर्वाधिक प्रसिद्ध पुस्तकें "दि प्रिन्स" और "डिस्कोर्सेज" हैं, जिनको उसने क्रमशः 1513 और 1518 में समाप्त किया। दोनों की रचना मेडिसी परिवार के अल्पतंत्रीय शासन के दौरान हुयी। वैसे भी दोनों का रचना-काल एक ही है। जैसा सेबाइन ने कुछ प्रशंसात्मक प्रकार से लिखा है, इन दोनों पुस्तकों में उसने विचित्र एकाग्रता के साथ अपनी केन्द्रीय चिन्ता– राज्य के परिरक्षण– पर ही लिखा है। उसका एकाग्र मन कहीं भी एक क्षण के लिये भटकता नहीं है। इस आधारभूत समानता के बाद भी दोनों पुस्तकें परस्पर इतनी भिन्न हैं कि किसी नये पाठक को स्वाभाविक रूप से यह लगेगा कि दोनों पुस्तकों के लेखक न केवल अलग-अलग हैं, बल्कि एक दूसरे के कट्टर विरोधी भी हैं! 'प्रिन्स' वर्तमान पर केन्द्रित है और 'डिस्कोर्सेज' भूत पर। 'प्रिन्स' में वर्तमान के कई शासकों का नाम छिपाकर थोड़ा पहले के शासकों के प्रायः अनैतिकतापूर्ण कृत्यों के दृष्टान्त हैं और इन सब कृत्यों के लिये उसके मन में अपार सम्मान

दिखता है। 'डिस्कोर्सेज' शास्त्रीय रंग की रचना है। उसका पूरा शीर्षक है– 'डिस्कोर्सेज ऑन फर्स्ट टेन बुक्स ऑफ टाइटस लिवियस'। इससे स्पष्ट है कि वह इस पुस्तक में लिवियस या लिवी की रोमन इतिहास की महान रचना पर टीका लिख रहा है। स्पष्टतः पहली पुस्तक एक पतनशील समाज के लिये है और दूसरी पुस्तक मानवीय इतिहास के एक स्वर्ण-युग पर है। पहली में अल्पतंत्रीय और दूसरी में गणतंत्रात्मक व्यवस्था के लिये समर्थन मिलता दिखता है। 'प्रिन्स' नये बने राज्य के लिये आवश्यक सुझाव देता है, जिसमें अनैतिकता को राजनैतिक आवश्यकता कह कर प्रचारित किया गया है। 'डिस्कोर्सेज' में इसके विपरीत राजनीति की रचनात्मक शक्ति का मनोरम चित्रण है। मानो वह उन शास्त्रीय यूनानी विचारकों की परम्परा की पुस्तक हो, जो राजनीति और नागरिकता जैसी अवधारणाओं को सर्वोच्च सम्मान देते थे।

इन दोनों पुस्तकों के इन विरोधी तेवरों के बाद भी इन दोनों में कहीं एक आधारभूत वैचारिक ऐक्य भी है। इसी से स्पष्ट होता है कि इसमें लेखक के मन में "ऊपरी विरोधाभास हो सकता है लेकिन बहुत गहराई में तार्किक तारतम्य है। प्रो० हेल के शब्दों में 'डिस्कोर्सेज' के बिना 'प्रिन्स' ऐसे है, जैसे डेनमार्क के राजकुमार के बिना हैमलेट"। दोनों को एक क्रम में, एक ही विचार-श्रृंखला के दो चरणों के रूप में देखना चाहिये। अन्तर केवल इतना है कि "प्रिन्स" अराजक काल के लिये है और "डिस्कोर्सेज" सामान्य समय के लिये। दोनों का उद्देश्य राज्य की रक्षा है। यह साध्य सर्वोच्च है। अगर सामान्य ढंग से यह पूरा होता हो, तो अच्छा है। अन्यथा समाज का सर्वस्व इसका साधन बन सकता है। कोई भी नैतिक मूल्य इतना पवित्र नहीं है कि वह राज्य की रक्षा के रास्ते में रोड़ा बन सके। दोनों पुस्तकों की आधारभूत अवधारणा यही है। "प्रिन्स" को उसने ड्यूक लारेन्जो मेडिसी को समर्पित किया था। पुराने लारेन्जो मेडिसी का हमनाम यह शासक पूर्णतः अक्षम था। हो सकता है कि लेखक ने चाटुकारिता की हो। फिर भी पुस्तक के अन्तिम अध्याय में उसने जिस निर्मल भाव से इतालवी राष्ट्रवाद का यशगान किया है, वह पूरी पुस्तक को "डिस्कोर्सेज' जैसा ही मनोरम बना देता है। "प्रिन्स" में वर्तमान प्रभावी है। सम्भवतः इसलिये यह पुस्तक कई विद्वानों के अनुसार राजनैतिक सिद्धान्त की नहीं, बल्कि कूटनीति की है। पुस्तक में प्रवाह है। सूत्रों में चटपटे ढंग से कहे गये नाटकीय वाक्य हैं। पुस्तक का आकार भी छोटा है। एक सामान्य व्यक्ति भी इसको एक बार में ही न केवल पढ़ सकता है, बल्कि समझकर बहुत से मुहावरेदार सूत्र याद भी कर सकता है। "डिस्कोर्सेज" में वह अतीत की गहराई में उतर कर सत्य की खोज करता है। उसने लिखा है कि हम प्राचीन कलाकृतियों के पीछे पागल रहते हैं। हमारा स्वास्थ्य-विज्ञान प्राचीन चिकित्सकों के ज्ञान का निचोड़ ही है। हमारी विधियां प्राचीन न्यायशास्त्रियों के निर्णयों का संकलन हैं। जब बात राज्य और नागरिक विषयों की आती है, तब हम पूरे इतिहास को भूल जा जाते हैं। हमको अनुकरण के लिये कोई उदाहरण ही नहीं मिलता। वह इसका दोष ईसाई संस्कारों पर डालता है, जिसके कारण हम इतिहास पढ़ कर भी "उससे कुछ सीखना नहीं चाहते। मानो वह कठिन ही नहीं, असम्भव भी हो। मानो आकाश, सूर्य, प्राकृतिक तत्व और मानव ने अपने नियामक-नियमों और अपनी शक्तियों को परिवर्तित कर लिया हो और वे वैसे नहीं रह गये जैसे पहले थे।"

मैकियाविली की अन्य पुस्तकें भी पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं। पुनर्जागरण के, अनुकूल ही उसकी रुचियां वैविध्यपूर्ण थीं। उसकी एक पुस्तक फ्लोरेन्स के इतिहास पर है, जिसे उसने कार्डिनल मेडिसी के आदेश पर लिखा था। उसकी एक पुस्तक "दि आर्ट ऑफ वार" है। इस पुस्तक को थोड़ा फेर-बदल करके कई लेखकों ने अपने नाम से प्रकाशित किया था। उसने काफी कवितायें लिखीं, दो कॉमेडी और एक कहानी भी लिखी। उसकी कहानी– बेलफेगोर और उसका एक नाटक–मेन्डागोला– काफी लोकप्रिय हुआ। उसका यह नाटक पाठकों और दर्शकों में बहुत चर्चित रहा। इसकी विषय-वस्तु पुनर्जागरण के उन्मुक्त वासनात्मक समाज को बहुत आकर्षक लगी। इसका नायक वस्तुतः खलनायक है। वह अपनी वासना को पूरा करने के लिये एक भले परिवार को धोखा देता है और तब तक धोखा देता रहता है, जब तक उस महिला को अपनी

वासना का शिकार बनाने में सफल नहीं हो जाता। ईसाइयत की कठोर यौन-वर्जनाओं को तोड़ कर निकले पुनर्जागरणकालीन यूरोपीय समाज की यह एक प्रामाणिक प्रस्तुति थी। इसमें "वर्जित फल" खाने के अपराध के आनन्द का वर्णन था। इस अर्थ में मैकियाविली का साहित्य समाज का दर्पण था।

8.4 राजनैतिक स्थापनाओं का आधार – मानव-चरित्र का नैराश्यपूर्ण चित्रण

मैकियाविली सैद्धान्तिक स्थापनाओं में अधिक रुचि रखने वाला विचारक नहीं था। उसकी दृष्टि उपयोग और उपभोग पर ही केन्द्रित थी। फिर भी उसने अपनी मान्यताओं को सैद्धान्तिक आधार देने का अनमना और औपचारिक-सा प्रयास किया है। सभी विश्लेषकों में इस निष्कर्ष पर सहमति है कि एक ही अवधारणा पर पहुंचने के बाद भी मैकियाविली में हॉब्स जैसी तार्किकता, व्यापकता और मनोवैज्ञानिक गहराई नहीं है। वस्तुतः मैकियाविली में ऐसे नीरस काम के लिये धैर्य भी नहीं है। सभी पूर्ववर्ती और परवर्ती यथार्थवादी विचारकों की तरह उसने भी अपने यथार्थवाद का ढांचा मानव जाति में अन्तर्भूत खलनायकत्व पर खड़ा किया है। ईसाइयत का विरोधी होने के बाद भी वह इस मामले में उसके साथ है। मनुष्य के अस्तित्व को ही "आदिम पाप" मानने की धार्मिक प्रवृत्ति उसमें भी है। प्रायः उसने मनुष्य का नकारात्मक और नैराश्यपूर्ण चित्रण ही किया है। सामान्यतया वह शास्त्रीय यूनानी विचारों का समर्थक है और "डिस्कोर्सेज" उस भावना का प्रकटीकरण है। उस पुस्तक में वह कहीं-कहीं मनुष्य के चरित्र के दोनों पक्षों को उजागर भी करता है। फिर भी अधिकांश स्थानों पर वह केवल मानव-मन के अंधेरे आयामों को ही उद्घाटित करता है। वह यह नहीं मानता कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से सामाजिक प्राणी है। अगर वह समाज और राज्य में अनुशासित रहने को तत्पर है तो यह उसके स्वार्थों के ही कारण है। यह भी सच है कि इसमें किसी प्रकार का दैवी दण्ड भी नहीं है, जैसा राजत्व को दैवी सिद्धान्त के समर्थक और बाद में ईसाई विचारक मानते थे। कुल मिलाकर मैकियाविली मनुष्य, समाज और राज्य के बीच के सम्बन्धों को स्वार्थ और मात्र स्वार्थ के आधार पर ही व्याख्यायित करता है।

मैकियाविली के अनुसार मनुष्य "सामान्यतः कृतघ्न, स्वार्थी, सनकी, अविश्वसनीय, भयाकुल और लोभी" होता है– उसके सुधार में तो समय और श्रम लगता है, किन्तु उसके पतन में तनिक देर भी नहीं लगती। वह प्रेम करता है, उस समय भी और घृणा या युद्ध करता है, उस समय भी– उसके सभी कार्यों का कारण उसके स्वार्थ ही होते हैं। उसमें अच्छाई के लिए कोई सहज आकर्षण नहीं होता। उसके अनुसार लोग अपने स्वार्थ के "छलावे में ही भागते रहते हैं, जो कि प्रायः उनके विनाश का कारण बनता है।" वे उस नेता को पसंद करते हैं जो सामान्य हित की नहीं, बल्कि उनके मायावी लाभ की बात करता है। यह स्थिति केवल आम लोगों की नहीं है। यहां तक कि चतुर व्यक्ति भी अपना वास्तविक लाभ नहीं समझ पाते, क्योंकि स्थिति लगातार बदलती रहती है। यह समझ पाना बहुत कठिन है कि परिवर्तित परिस्थितियों में क्या करना उचित होगा।

मैकियाविली के अनुसार मनुष्य कतिपय संवेगों का संकुल है। वह इन संवेगों का विवरण इस प्रकार देता है– पहला संवेग नव्यता के प्रति आकर्षण है। यह ललक इतनी प्रबल है कि मनुष्य यहां तक कि अपनी समृद्धि तक से उब जाता है। मनुष्य में भय और प्रेम के मनोभाव भी पर्याप्त प्रबल होते हैं। इसलिये "अपने लिये भय पैदा करने वाले और अपने लिये प्रेम पैदा करने वाले– दोनों प्रकार के व्यक्तियों का समान प्रभाव होगा, यद्यपि प्रेम पैदा करने वाले की अपेक्षा भय पैदा करने वाले का लोग अपेक्षाकृत आसानी से अनुकरण और आज्ञापालन करेंगे।"

इसी क्रम में मैकियाविली धन के प्रति आकर्षण और ईर्ष्या के मनोभाव का संदर्भ देता है। इसी

तरह मनुष्य सहजतः महत्वाकांक्षी भी होता है। यह भाव इतना प्रबल होता है कि "व्यक्ति चाहे जिस ऊँचाई पर क्यों न पहुंच जाये, यह उसके मन से बाहर नहीं निकलता है। इसका कारण यह है कि प्रकृति ने मनुष्य को कुछ इस प्रकार बनाया है कि वह सब पाने की इच्छा करता है, किन्तु असफल रहता है– पाने की इच्छा, पाने की क्षमता से सदैव अधिक रहती है। इसके परिणामस्वरूप उसे अपनी उपलब्धियों और स्वयं से असंतोष होता है। इससे उसकी नियति में परिवर्तन होता है– कुछ लोग और पाना चाहते हैं और कुछ लोगों को भय होता है कि उन्हें उनकी उपलब्धियों से वंचित किया जा सकता है। इस का अन्त वैमनस्य और युद्ध में होता है।" मनुष्य में स्वतंत्रता की इच्छा भी होती है। कुछ में यह विकृत होकर दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित करने की इच्छा तक बढ़ जाती है। यहां मैकियाविली एक महत्वपूर्ण टिप्पणी करता है। उसके अनुसार समस्या यह नहीं है कि सभी व्यक्ति दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित करने की प्रबल इच्छा रखते हैं। सामान्यतया सामान्य व्यक्ति तो अपने सीमित संसार की सुरक्षा पा जाने पर ही संतुष्ट हो जायेंगे। समस्या यह है कि सामान्य परिस्थितियों में किसी को विश्वास नहीं होता कि उसके छोटे-मोटे, नितान्त निर्विवाद प्रकार के अधिकारों की सुरक्षा हो सकेगी। सरल ढंग से यही रास्ता है कि व्यक्ति स्वयं इतना सबल हो जाये कि अपने अधिकारों की सुरक्षा स्वयं कर सके। बात शुरू यहीं से होती है, लेकिन शीघ्र ही यह निश्छल-सी इच्छा दूसरों के दमन तक पहुंच जाती है। मैकियाविली यहां गणतंत्र को इस बात का श्रेय देता है कि इस व्यवस्था में लोगों को अपने अधिकारों की रक्षा की आश्वस्ति मिलती है। फ़िर भी इतिहास में अधिकारों की सुरक्षा अपवाद ही है। इसलिए वह लिवी का एक बहुत मार्मिक उदाहरण देता है। लिवी ने लिखा है कि स्थिति ऐसी बन जाती है कि अगर मनुष्य दमन से बचना चाहता है तो यह आवश्यक है कि वह दूसरों का दमन करे– स्वयं स्वतंत्र रहना चाहता है तो आवश्यक है कि दूसरों को परतंत्र बनाये।

इस तरह हम देखते हैं कि मैकियाविली ने मनुष्य को मुख्यतः नकारात्मक नजरिये से ही देखा है। प्राचीन काल में अवश्य उसे कतिपय मानवीय सद्गुणों के दर्शन हुये। वह स्वयं लिखता है कि वर्तमान में निराशा भूत को आकर्षक बना देती है। सम्भवतः मैकियाविली स्वयं के बारे में ही लिख रहा था। गणतंत्र की श्रेष्ठता को वह स्वीकार करता है, क्योंकि उसमें मनुष्य को थोड़ी सुरक्षा रहती है। यह व्यवस्था अपवाद है। इस तरह सामान्य स्थिति में और वर्तमान युग में मैकियाविली मानव स्वभाव को किसी प्रकार की उदात्त ऊंचाई नहीं देता है। इस परिवेश में तो मनुष्य अपने निकृष्टतम रूप में ही आयेगा। उसके प्रसिद्ध सूत्र इसी रूप को प्रस्तुत करते हैं– "मनुष्य सामान्यतः कृतघ्न, स्वार्थी, सनकी, धोखेबाज, भयग्रस्त और लोभी होता है।" "मनुष्य अपने पिता के हत्यारे को माफ कर सकता है, लेकिन अपनी पैतृक सम्पत्ति से वंचित करने वाले को वह कभी क्षमा नहीं करेगा।" "मनुष्य को यह ज्ञात नहीं होता कि अपनी इच्छाओं पर कब लगाम लगाई जाए।" "मनुष्य में अच्छाई की सामान्य प्रवृत्ति नहीं होती।" आदि, आदि।

8.5 राजनीति, धर्म और नैतिकता

मैकियाविली की सर्वाधिक ख्याति या कुख्याति उसके धर्म और नैतिकता सम्बन्धी विचारों के कारण है। निश्चित रूप से उसके विचार राजनैतिक चिन्तन की परम्परा में विचित्र हैं, लेकिन यह भी सच है कि विश्लेषकों ने उसे और विचित्र बना दिया है। उदाहरण के लिए उसने धर्म को राजसत्ता के अधीन किया जिसको लेकर विश्लेषकों ने बहुत निष्कर्ष निकाले हैं। सत्य यह है कि प्राचीन यूनानी और ईसाइयत के प्रभावशाली होने के पहले रोमन व्यवस्थाओं में धर्म राजनीति से स्वायत्त नहीं था। प्राचीन यूनानी नगर-राज्यों के बारे में तो प्रसिद्ध उक्ति ही है– "नगर राज्य भी था और गिरिजाघर भी।" ईसाइयत के संगठित धर्म ने यूरोपीय इतिहास में पहली बार राजसत्ता को अपने अधीन रखने का प्रयास किया और कान्स्टेन्टाइन के बाद उसे सफलता भी

मिलने लगी। अन्यथा उसके पहले पैगन धर्मों में इतना बिखराव रहा था कि वह राजसत्ता को कभी कोई चुनौती नहीं दे सका। मध्ययुगीन विचारकों में मार्सिलियो आफ पादुआ और विलियम आफ ओकम जैसे विचारकों की संख्या कम नहीं थी, जो लगभग ऐसे ही विचारों का प्रतिपादन कर रहे थे। इस तरह मैकियाविली के धर्म सम्बन्धी विचारों में नितान्त अनोखापन नहीं है– अनोखापन मैकियाविली के विचारों की उग्रता और स्पष्टता में है। यह भी विचित्र है कि वह अपने लक्ष्य के रास्ते में किसी प्रकार का अवरोध स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है। नैतिकता-सम्बन्धी विचारों में नव्यता अवश्य है– वह भी मुख्यतः इस बात पर है कि वैसा बड़बोलापन और किसी विचारक में नहीं दिखता। सम्भवतः उसके इस बड़बोलेपन से ही रूसो जैसे विचारकों को ऐसा लगा कि मैकियाविली अनैतिकता का इतना खुला समर्थन करके वस्तुतः ऐसी अवस्थाओं का भण्डाफोड़ करना चाहता था। इसमें कुछ सच्चाई अवश्य है, क्योंकि मैकियाविली के विचारों से सबसे अधिक असुविधा उन समकालीन निरंकुश शासकों को हुई, जिनको वास्तव में इससे प्रसन्नता होनी चाहिए थी। इन्हीं शासकों ने मैकियाविली की पुस्तक का खण्डन करने के लिये पुस्तकें भी लिखीं और प्रायोजित भी करवाया।

पहले मैकियाविली के नैतिकता सम्बन्धी विचारों को देखते हैं। प्रत्यक्षतः अनैतिकता के समर्थन में लिखने के कारणों को देखना भी समीचीन होगा। जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है, मैकियाविली के विचारों की सबसे बड़ी तात्कालिक प्रेरणा इटली का एकीकरण था। हम जानते हैं कि राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया पूरे आधुनिक इतिहास में कितनी कष्टप्रद, कितनी क्रूर, किन्तु उसके साथ ही कितनी अनिवार्य रही है। स्वयं इटली के एकीकरण के प्रणेता काउण्ट कावूर ने लिखा है कि इस कार्य के लिये हमने जिन साधनों का प्रयोग किया है, अगर वैसा हमने निजी जीवन में किया होता, तो हम बहुत पतित जीवन के दोषी होते। मैकियाविली की अनैतिकता का एक औचित्य और आधार तो यह है। अगर इटली का बिखराव न होता तो भी वैसा चिन्तन अस्वाभाविक नहीं होता, क्योंकि व्यवहार में राजनीति मैकियाविली के विचारों से बहुत अलग नहीं रही है। मैकियाविली ने एक बार अपने को "राज्य का चिकित्सक" मान लिया। उसके बाद उसके सारे अनैतिक विचार राज्य को बचाने के संदर्भ में समीचीन ही लगते हैं। चिकित्सक की चिन्ता यह नहीं है कि बीमार व्यक्ति या इस संदर्भ में बीमार राज्य स्वस्थ्य होकर क्या करेगा। चिकित्सक की चिन्ता मात्र इतनी है कि रोगी को मरने से कैसे बचाया जाए। मैकियाविली रोगी राज्य का चिकित्सक है। इसी अर्थ में गैटिल ने लिखा है– "मैकियाविली ने राज्य का सिद्धान्त नहीं अपितु राज्य के संरक्षण का सिद्धान्त दिया है।"

एक सामान्य व्यक्ति की तरह मैकियाविली भी नैतिक चिन्ताओं से मुक्त नहीं है। अपने कई पत्रों में उसने अपनी निर्धनता को अपनी ईमानदारी का प्रमाण बताया है। निजी जीवन और नागरिक जीवन में भी शुचिता का वह प्रबल समर्थक है। वह प्राचीन नगर राज्यों और रोमन गणराज्य का प्रशंसक है, क्योंकि उन व्यवस्थाओं में नागरिक अपने दायित्वों को निष्ठापूर्वक निभाते थे। उसे इस बात का बहुत दुःख था कि उसके समय में लोगों में नागरिक चेतना कम हो गई है। उसके अनुसार कोई नागरिक कुछ भी हो, नागरिक होने के नाते उसे अपने राजनैतिक कर्तव्यों को अवश्य पूरा करना चाहिए। आगे हम देखेंगे कि उसने भाड़े के सिपाहियों की भर्त्सना करते हुए कितनी भावना से नागरिकों को अपने राज्य की रक्षा करने का समर्थन किया है। 'डिस्कोर्सेज' में उसके विचारों की उदात्तता रूसो की भूमिका बनाती हुई दिखती है। अन्तर इतना है कि 'डिस्कोर्सेज' का राज्य स्वस्थ दिखता है, जबकि 'प्रिन्स' का राज्य रोगी दिखता है। मैकियाविली की अनैतिकता इस रोगी राज्य को जीवित बनाए रखने का प्रयास है।

मैकियाविली ने अपने फ्लोरेन्स के सावनोरेला के नैतिक राज्य के पतन से सबक सीखा। वह विशेष अनुभव न हुआ होता तो भी यह समझना कठिन नहीं था कि राजनीति नैतिक नियमों के अधीन नहीं चलती। वह बार-बार नैतिकता का गुणगान करते हुए लिखता है कि अगर राजनीति में भी ऐसा होता तो कितना अच्छा होता "लेकिन जो शासक ऐसा करेगा, वह आत्मरक्षा की नहीं बल्कि अपने विनाश की तैयारी करेगा।" यहां आकर वह नैतिक प्रतिमानों को दो वर्गों में

बांट देता है। एक तो पारम्परिक नैतिकता है, जो निजी जीवन के लिये प्रासंगिक है। इस पारम्परिक नैतिकता का पालन नागरिकों को भी अपने राजनैतिक दायित्वों के संदर्भ में करना चाहिये। इस वर्ग की नैतिकता से हम परिचित हैं। मैकियाविली बहुत स्पष्ट है कि राज्य के संचालन में नैतिकता के दूसरे मानदण्ड हैं। यहां साध्य है– राज्य का संरक्षण। वह कहीं बहुत विस्तार से यह नहीं लिखता कि इस लक्ष्य में ऐसा क्या है कि उसके सामने फिर और कोई लक्ष्य नहीं बचता, उसको पाने के लिये कुछ भी अनैतिक नहीं है। सम्भवतः वह मान लेता है कि राज्य का जीवित बचे रहना इतना महत्वपूर्ण लक्ष्य है कि उसके बारे में कुछ लिखना समय नष्ट करना होगा। इस लक्ष्य को वह परम और स्वयंसिद्ध सत्य मान लेता है। अब अगर यह सैद्धान्तिक स्थापना ठीक है तो उसके आगे– उस साध्य को पाने के साधनों पर उसकी टिप्पणियां समझी जा सकती हैं। यहां वह यूनानी सोफिस्टों की विचार-प्रणाली को अपनाता है। सामान्य यूनानी चिन्तन में सद्‌गुण– वर्चू– का निर्धारण इस बात से होता था कि उस इकाई का ध्येय, लक्ष्य या उद्देश्य क्या है। कुल्हाड़ी का उद्देश्य लकड़ी काटना है। उसका सद्‌गुण उसके घातक पैनेपन में है। थ्रेसीमाकस जैसे सोफिस्टों ने इस अवधारणा को इस तरह व्याख्यायित किया कि मनुष्य का सद्‌गुण सुखी रहना है। राजनीति में यह सद्‌गुण प्रभुत्व स्थापित करने और उसका लाभ लेने में है। मैकियाविली मान लेता है कि राज्य का संरक्षण प्रमुखतम लक्ष्य है। स्थिति साफ हो जाती है– "शासक को राज्य की सुरक्षा को अपना परम लक्ष्य बनाना चाहिये। इसके लिये वह जिन साधनों का प्रयोग करेगा, वे सदैव आदरणीय माने जायेंगे और वे व्यापक रूप से प्रशंसा के पात्र होंगे।" अगर राज्य का लक्ष्य अपना संरक्षण है तो सम्भवतः प्लेटो और अरस्तू को भी मैकियाविली के इस अद्‌भुत 'प्रिन्स' को "सद्‌गुणी" मानने में कोई नैतिक हिचक नहीं होती।

मैकियाविली राज्य के लिये धर्म को भी एक साधन की ही तरह देखता है। सेबाइन समेत कई विद्वानों के विश्लेषण से यह संकेत मिलता है मानो वह धर्म को इस आधार पर तिरस्कृत या निंदित करता है कि धर्म पारलौकिक धारणा है। वस्तुतः वह धर्म के लौकिक आयामों से अच्छी तरह परिचित है और इसीलिये वह धर्म को राज्य के संचालन का साधन बनाना चाहता है। वह धर्म को बहुत सम्मान देता है। यह बात अवश्य है कि यह सम्मान एक साधन के तौर पर है– उसकी दृष्टि में धर्म का स्वतंत्र सम्मान नहीं है। राजनीति से स्वतंत्र धर्म तो उसकी दृष्टि में घातक हो जायेगा। यह ठीक यूनानी धारणा ही है। इसी धारणा से प्रभावित होकर रूसो ने बाद में नागरिक धर्म का प्रतिपादन किया। इस तरह देखें तो हम पाएंगे कि उसके पहले और बाद में भी ऐसे विचार आए हैं। मैकियाविली अपनी उग्रता के कारण ही अलग सा दिखता है। वह धर्म के साधनात्मक प्रयोग को अत्यन्त आक्रामकता से प्रस्तुत करता है। उसने राज्य में नैतिकता और धर्म को समाहित या विलीन कर दिया। धर्म का यह प्रयोग पूरे पैगनवाद में हुआ है। राजत्व का दैवी सिद्धान्त राजनीति का सबसे पुराना सिद्धान्त माना जा सकता है। इस सिद्धान्त की अवधारणा राजत्व को परम धार्मिक मान्यता देकर प्रकारान्तर से धर्म को ही राज्य पर निर्भर बना देती है। जब राजत्व स्वयं ईश्वर का लौकिक या पार्थिव अवतरण है, तो स्वाभाविक रूप से ईश्वरीय विधानों की व्याख्या भी शासक ही करेगा।

जैसा हम देख चुके हैं, मैकियाविली की विचित्रता उसकी स्पष्टवादिता और आक्रामकता में है। इस सम्बन्ध में मुरे की बहुत सटीक टिप्पणी है– "मैकियावली दूरदर्शी नहीं, स्पष्टदर्शी है। वह यह नहीं देख सकता था कि चीजें कैसी हो सकती हैं। वह मात्र यह देख सकता था कि चीजें कैसी हैं।" वह धर्म के आध्यात्मिक आयामों को या तो देख ही नहीं सकता था या उसे वह राजनैतिक मामलों में अप्रासंगिक मानता था। हम सेबाइन को उद्‌धृत कर ही चुके हैं कि वह ऐकान्तिक एकाग्रता से राजनीति पर ही सोचता है और किसी विषय पर विचलित नहीं होता। समाज की पवित्रतम धारणाएं भी उसके सामने राजनीति के साधन के रूप में ही आती हैं। जहां तक धर्म के साधनात्मक प्रयोग की बात है, वह इसके प्रबलतम प्रभाव से अच्छी तरह से परिचित है। वह विस्तार से दिखाता है कि किस प्रकार से नूमा ने धर्म का प्रयोग करके असभ्य

रोमनों को केवल अपने समय के लिये ही नहीं, बल्कि अगली कई शताब्दियों तक असाधारण रूप से अनुशासित और आज्ञापालक बना दिया। इस कारण से रोमन गणतंत्र ने बड़ी सफलताएं पाईं। नागरिकों में अपने गणतंत्र या अपने विधानों के लिये भले ही कम सम्मान रहा हो, लेकिन विवशता में ली गई अपने शपथ के कारण आज्ञापालन करते थे। कइ बार नागिरकों ने अपमानित होने और अनिच्छा होने पर भी आज्ञापालन किया क्योंकि वे राज्य के विधानों से नहीं, ईश्वर के सामने ली गई शपथ से डरते थे।

रोमन इतिहास से वह निष्कर्ष निकालता है कि धर्म "किसी नागरिक समाज को सर्वाधिक आवश्यक और आश्वस्तकारी समर्थन प्रदान करता है।" धर्म ने "सेना को नेतृत्व देने, जनता को एकजुट करने, उसे सदाचरण के लिये प्रेरित करने और दुष्टों को कलंकित करने" में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उसने लिखा है कि लाइकरगस और सोलोन समेत सभी श्रेष्ठ विधिनिर्माताओं ने अपने विधानों को जनता में स्वीकृति दिलवाने के लिए दैवी प्राधिकार का प्रयोग किया है। अगर धर्म का आश्रय न लिया जाता तो चाहे जितनी श्रेष्ठ विधियां होतीं, जनता में उनको उतनी सहज और व्यापक स्वीकृति न मिलती। मैकियाविली ने दिखाया है कि किस प्रकार से शासकों ने अच्छे उद्देश्य के लिये झूठे चमत्कारों का सहारा लिया है और जनता ने चमत्कारों को सहज भाव से स्वीकार भी कर लिया। वह टाइटस विलियस के एक उदाहरण का संदर्भ देता है। रोमन सेना ने वेइ नगर पर आक्रमण किया। जूनो के मन्दिर में मूर्ति के सामने उन्होंने पूछा कि क्या वह अर्थात् अधिष्ठात्री देवी रोम चलेंगी। कई सैनिकों ने माना कि देवी ने "हां" कहा है और कई ने माना कि देवी ने स्वीकृति में सिर हिलाया है। इस तरह उन्होंने पहले से चाहे गये उत्तर की संगति में ही व्याख्या कर ली। रोमन शासकों ने ऐसी व्याख्याओं को बढ़ा-चढ़ा कर अपने लाभ के लिये प्रयुक्त किया। रोमन शकुन की व्याख्या भी इसी प्रकार से करते थे। सेना अपने अभियान के पहले पवित्र पक्षियों के संरक्षक-पोलारियों के पास जाकर देखती थी कि पक्षी दाने को ठीक से खाते हैं या नहीं। अगर युद्ध करना लाभप्रद होता था। तो वे "इसकी वांछित व्याख्या कर लेते थे।" वह कहता है कि शकुन की पूरी व्यवस्था का "एकमात्र उद्देश्य" ही यही था कि लाभप्रद कार्यों के लिए धार्मिक स्वीकृति ले ली जाये।

इसी क्रम में मैकियाविली अपने समय के अरागोन के फर्डिनाण्ड का उदाहरण देता है। धर्म का धूर्ततापूर्ण प्रयोग करके इस निर्बल और नगण्य राज्य का यह शासक पूरे स्पेन का राजा बना। उसने स्पेनिश मुस्लिमों-मूरों-का विनाश किया, अफ्रीका तक आक्रमण किया। उसने फ्रांस और इटली पर भी आक्रमण किया। इस सबके बाद भी वह ईसाइयों के बीच अपने समय का सर्वाधिक लोकप्रिय शासक बना। उसने अपनी जनता को "अपने अभियानों में इतना व्यस्त रखा कि जनता को उसकी तटस्थ आलोचना का अवसर ही नहीं मिल सका।"

हम देख रहे हैं कि मैकियाविली रोमनों की पैगन धार्मिक मान्यताओं का प्रशंसक है, क्योंकि उन मूल्यों से राज्य को शक्ति मिलती है। पैगनवाद राज्य को चुनौती नहीं देता। यही कारण है कि वह ईसाइयत का प्रबल विरोधी दिखता है। हमने देखा है कि उस युग के ईसाई संगठन ने इतालवी राष्ट्र के निर्माण की सम्भावना को रोक दिया था। प्रायः सभी ईसाई समाजों में यह संगठन राज्य के समान्तर खड़ा था। सत्य तो यह है कि ईसाई संगठन रोमन साम्राज्य के ठीक समान्तर बनाया ही गया था। यहां तक कि नामकरण तक उसी प्रकार से हुए थे। मैकियाविली इन बिन्दुओं पर तो नहीं कहता है, लेकिन कुछ अन्य मामलों में वह प्रखर आलोचना करता है। सम्भव है कि तत्कालीन परिवेश में कुछ बातें कहना खतरनाक रहा हो। ईसाइयत से उसकी शिकायत यह थी कि उसने इस लोक पर परलोक का भारी बोझ लाद दिया। उसके पहले के धर्मों ने अपने अनुयायियों को इस संसार को सम्मान देने का पाठ पढ़ाया। वे "इस विश्व के वैभव और सांसारिक उपलब्धियों को महत्व देते थे।" उनकी शिक्षा और उनके संस्कारों में यही भाव था और उनके कर्मकाण्डों में भी "उग्रता और ऊर्जा" भरी रहती थी। वे पशुओं की बलि देते थे। पूरे कर्मकाण्ड से उनके अवचेतन में हिंसा, उपभोग और जिजीविषा भर जाती थी। वे अपने सेनानायकों और विजिगीषु शासकों को महिमामंडित करते थे। दूसरी ओर ईसाई संस्कार

"सज्जनता, सौम्यता और विनम्रता" का पाठ सिखाते हैं। उनसे चिन्तनशील, सात्विक जीवन की प्रेरणा मिलती है। वह लिखता है– "पैगनवाद विजय की शिक्षा देता था। हमारा धर्म महान कार्य करने की अपेक्षा महान कष्ट सहने की शिक्षा देता है।" मैकियाविली विशेषतः ईसाइयत के विनम्रता और दीनता के संस्कारों को समाज में लिये घातक मानता है। उसके अनुसार "इससे दुष्टों को दुष्टता का अवसर मिलता है, क्योंकि उन्हें ज्ञात हो जाता है कि सज्जन लोग उनकी दुष्टता का प्रतिकार नहीं करेंगे। सच्चा ईसाई शान्ति के लिये आक्रामक को अवसर देता है और आक्रान्ता को यह कायरता लगती है। आक्रान्ता और अधिक आक्रामक हो जाता है। शान्ति का प्रयास और अधिक अशान्ति को जन्म देता है।" सेबाइन ने लिखा है कि मार्सिलियो ऑफ पादुआ ने "डिफेन्सर पेसिस' में ईसाई मान्यताओं को पारलौकिक मान कर उससे स्वतंत्र नैतिक तार्किक मूल्यों की स्थापना पर जोर दिया, जबकि मैकियाविली ने इसी आधार पर ईसाई मूल्यों की निन्दा की। यह सत्य है, लेकिन हमको ध्यान देना चाहिये कि वह ईसाइयत के इन्हीं मूल्यों का विरोधी है। सामान्यतया वह धर्म के सामान्य संस्कारों का विरोधी नहीं है। जैसा कि डनिंग ने लिखा है कि मैकियाविली धर्म-विरोधी और नैतिकता-विरोधी नहीं है बल्कि धर्म-निरपेक्ष और नैतिकता-निरपेक्ष– "अरिलीजियस" और "नान-मॉरल" है।

यह उचित होगा कि हम दूसरे विषय पर आने के पहले मैकियाविली के धर्म और नैतिकता सम्बन्धी विचारों के विशिष्ट पहलुओं का संक्षेपण कर लें। 1. वह पहला विचारक नहीं है जिसने धर्म को राज्य के अधीन किया। किन्तु वह इस मामले में पहला है कि उसने शासन के हर प्रकार में धर्म को अधीन किया। गणतन्त्र में भी धर्म स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिए। 2. उसने संगठन के रूप में और धर्म के रूप में ईसाइयत की आलोचना की। 3. राज्य के नैतिक उद्देश्यों की व्याख्या करना तो दूर, उसने उसका संदर्भ तक देने की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया। 4. राजनैतिक मामलों में अनैतिकता का इतना मुखर समर्थन करने वाले गिनती के कुछ विचारकों में वह सम्भवतः शीर्ष पर है। 5. वह यह बताने का कष्ट नहीं करता कि धर्म जैसे प्रबल संस्कारों का राजनैतिक नियन्त्रण कैसे हो सकता है– विशेषतः जब वह धर्म ऐतिहासिक रूप से स्थापित हो और संगठनात्मक रूप से भी सशक्त हो। 6. इन विचारों में वह – फॉस्टर के शब्दों में अपने युग के दो आन्दोलनों में केवल एक अर्थात् पुनर्जागरण का ही प्रतिनिधित्व करता है, सुधार आन्दोलन का नहीं।

8.6 शासन के प्रकार— राजतंत्र और गणतंत्र

मैकियाविली ने राजनैतिक विचारों की परम्परा का पालन करते हुए शासन का वर्गीकरण किया है। इस विषय में उसने विस्तार से केवल उसी पक्ष पर लिखा है जिसमें उसकी रुचि है। वर्गीकरण को उसने अरस्तू से लिया है। अरस्तू ने तीन प्रकारों पर प्रकाश डाला है। ये हैं– राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और मर्यादित जनतन्त्र। इन तीनों के भ्रष्ट रूप हैं– निरंकुशतन्त्र, अल्पतन्त्र और जनतन्त्र। अरस्तू का यह वर्गीकरण राजनीति-वैज्ञानिकों के लिये आधार-सामग्री बन गई। पालीबियस और सिसरो जैसे रोमन विद्वानों ने इनके मिश्रित रूपों का समर्थन किया। यहां तक मैकियाविली स्वीकार कर लेता है। वस्तुतः इन सैद्धान्तिक स्थापनाओं में उसकी बहुत दिलचस्पी नहीं है। इन मान्यताओं में वह मामूली परिवर्तन करता है। एक तो वह कुलीनतन्त्र और विशेषतः ग्रामीण कुलीनतन्त्र को बहुत निकृष्ट मानता है। इसके पीछे उसका यह विश्वास है कि कुलीनतन्त्र और विशेषतः ग्रामीण कुलीनतन्त्र किसी प्रकार का आर्थिक योगदान नहीं करते। मध्यकालीन यूरोप में नये अभिजात्य इन जन्मगत कुलीनों का स्थान ले रहे थे। औद्योगिक पूंजीवाद के पहले की अवस्था अर्थात् वणिक पूंजीवाद का जन्म हो चुका था। फ्लोरेन्स के व्यापारी शक्तिशाली हो चुके थे। मैकियाविली इसी परिप्रेक्ष्य में पुराने वर्गतन्त्र का विरोध करता है। वैसे भी उसका विश्वास है कि "कुलीन सदैव अनर्जित धन का उपभोग करते हैं। इस उपभोग का वे कोई प्रतिफल नहीं देते, इसलिये वे नागरिक शासन के शत्रु सिद्ध होते हैं।" इसके अतिरिक्त मिश्रित व्यवस्था का समर्थन करने के बाद भी वह उसके लिये किसी तरह का राजनैतिक प्रबन्ध नहीं करता। यह

स्पष्ट नहीं होता कि मिश्रित व्यवस्था कैसे सम्भव हो पाएगी।

प्रारम्भ से ही वह शासन के दो रूपों पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है। राजतन्त्र और गणतन्त्र दोनों को वह अलग-अलग स्वीकार करता है। 'प्रिन्स' में वह राजतन्त्र का और 'डिस्कोर्सेज' में वह गणतन्त्र का समर्थक दिखता है। इन दोनों का समर्थन इतनी एकाग्रता से करता है कि यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि उसकी अपनी वरीयता क्या है। विश्लेषकों ने मान लिया है कि उसकी अपनी कोई निजी प्राथमिकता नहीं है। उसकी दिलचस्पी मात्र इसमें है कि राज्य का संरक्षण और विस्तार हो। इसी को इंगित करते हुये डनिंग की टिप्पणी है कि उसका ध्येय राज्य का विस्तार है और इसी ध्येय के लिए वह राजतन्त्र का और गणतन्त्र का अध्ययन करता है। अन्तर केवल इतना है कि नवजात राज्य और अराजकताग्रस्त राज्य के लिये वह राजतन्त्र को स्वीकार करता है, जबकि स्थापित ओर सुसंगठित-सुव्यवस्थित राज्य के लिये वह गणतन्त्र को श्रेष्ठ मानता है।

सर्वप्रथम हम राजतन्त्र के समर्थन में उसके विचारों को देखेंगे। निश्चित रूप से वह इस मनोदशा में समकालीन इटली को अधिक गम्भीरता से ले रहा होता है। वह समकालीन नेपल्स और मिलान में फैले भ्रष्टाचार का उदाहरण देता है। उसके अनुसार फ्रांस और स्पेन में भी वैसा ही पतन है और वहां की जनता का भी नैतिक स्तर अपेक्षाकृत ऊंचा नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि "वहां दोनों के पास राजा हैं, जो देश को न केवल अपने गुणों से एक किए हुए हैं बल्कि इसमें अभी तक अपेक्षतया शुद्ध रूप से संरक्षित राजत्व के संस्थानों का भी योगदान लिया जाता है।" इसके आगे वह लिखता है– "नये शासक के पक्ष में इतनी सारी बातें हैं कि मेरे विचार से आज से अधिक इस व्यवस्था की आवश्यकता कभी नहीं थी।" इन पंक्तियों के साथ वह 'प्रिन्स' को समाप्त करता है। इससे स्पष्ट है कि इटली जैसे भ्रष्ट समाज के लिये वह राजत्व को सम्भवतः एकमात्र विकल्प मानता है। एक अर्थ यह भी निकल सकता है कि वह इस भावनात्मक उद्‌बोधन से मेडिसी परिवार की चाटुकारिता कर रहा था। हो सकता है कि दोनों निष्कर्ष सही हों। मैकियाविली रूसो की तरह ही प्राचीन गणतन्त्रों का भावुक समर्थक है। ऐसी स्थिति में उसके सामने राजत्व का समर्थन करने में नैतिक और तार्किक अड़चनें आती हैं। नैतिक आयाम को वह अनदेखा कर देता है और तार्किक समाधान के लिये मात्र इतना कहकर चुप हो जाता है कि प्राचीन काल के लोग स्व-शासन में सक्षम थे।

मैकियाविली अपने देश के भ्रष्ट माहौल में राजतन्त्र का समर्थन अवश्य करता है, लेकिन उसके श्रेष्ठतम विचार गणतन्त्र के लिये ही सुरक्षित हैं। राजतन्त्र का समर्थन करने की स्थिति में भी वह उसे मर्यादित करने का समर्थन करता है। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में उसने एक पैम्फलेट लिखकर तत्कालीन शासकों– पोप लियो दशम् और कार्डिनल गिउलियो डि मेडिसी से यह अनुरोध किया था कि वे तत्कालीन व्यवस्था के गणतान्त्रिक प्राविधानों को पुनर्जीवित और पुनर्प्रतिष्ठित करें। उस समय मेडिसी परिवार अनौपचारिक रूप से अल्पतन्त्रीय शासन चला रहा था, यद्यपि राज्य की प्राचीन गणतान्त्रिक व्यवस्थाओं को थोड़ा महत्व मिला हुआ था। मैकियाविली की चिंता यह थी, चूंकि ये धार्मिक नेता विवाह नहीं कर सकते थे, इसलिये इनके बाद अव्यवस्था फैल सकती थी। उसे यह उचित लगा कि समय रहते गणतन्त्र स्थापित हो जाए। इसके अतिरिक्त जब वह विधि-निर्माताओं की बात करता है, तो साथ ही यह भी स्पष्ट करता है कि यह अस्थायी व्यवस्था है और स्थायी विकल्प तो यही है कि व्यक्ति के स्थान पर विधि का शासन हो। विधि का शासन गणतन्त्र में ही सम्भव है। यहां वह यह सावधानी रखने की सलाह देता है कि आपात्काल में गणतन्त्र को अधिनायकवादी व्यवस्था में परिवर्तित करने का प्राविधान होना चाहिये, ताकि संकट से दृढ़ता से निपटा जा सके। इसके अतिरिक्त वह गणतन्त्र को भी सतत् विस्तारशील बने रहने की सलाह देता है। गणतन्त्र में विस्तार अपेक्षाकृत कठिन ही होता है। मैकियाविली इस समस्या के लिये कामनवेल्थ का सुझाव देता है, जिससे उसका आशय ऐसे गणराज्यों के ढीले परिसंघ से है जिसमें विस्तार करने की सैनिक शक्ति एकत्रित हो जाये। यह अवश्य है कि विस्तार के प्रति अपने आग्रह को वह छोड़ नहीं पाता। यहां तक कि

वह यूनानी नगर-राज्यों को इसी आधार पर रोमन गणतन्त्र से हीन मानता है, क्योंकि यूनानी नगर-राज्यों में विस्तार की प्रवृत्ति नहीं थी। प्लेटो आदि विस्तार को "व्याधिग्रस्त राज्य का लक्षण" मानते थे। इसके विपरीत मैकियाविली राज्यों को "विस्तार या विनाश" का ही विकल्प देता है। इस मनःस्थिति में वह निश्चित रूप से समकालीन अराजक परिस्थितियों से अत्यधिक प्रभावित दिखता है।

राजतन्त्र के प्रति अनुराग के उदाहरणों की तुलना में उसका गणतन्त्र के प्रति अनुराग कहीं अधिक प्रामाणिक और प्रबल दिखता है। ऐसे उदाहरण बहुत काव्यात्मक और मार्मिक बन पड़े हैं जैसे वह उसकी आत्मा की आवाज हो। व्यक्तिगत रूप से भी उसे गणतन्त्र में ही अपनी राजनयिक प्रतिभा दिखाने का अवसर मिला था। वह रोम की महानता का श्रेय उसकी गणतान्त्रिक व्यवस्था को देता है। एथेन्स आततायी-तन्त्र से मुक्त होने की एक शताब्दी में ही महानता के शिखर पर पहुंच गया। इसका कारण यह है कि "राज्य को किसी महान् व्यक्ति की समृद्धि नहीं, बल्कि सामान्य समृद्धि ही बनाती है और सामान्य हितों को गणतन्त्र से बेहतर और कोई व्यवस्था सुरक्षित नहीं करती।" उसके अनुसार गणतन्त्र में कुछ लोगों को हानि भी होती है तो उसका विशेष कुप्रभाव इसलिए नहीं पड़ता, क्योंकि उससे कहीं अधिक संख्या में लोग लाभान्वित होते हैं।

गणतन्त्र की प्रशंसा में वह आगे लिखता है कि "केवल गणतान्त्रिक नगर और देश ही महानता हासिल कर सकते हैं।" इसका कारण इस व्यवस्था की स्थिरता, न्यायिकता, व्यापकता और लोकप्रियता है। इस व्यवस्था में लोग अधिक निष्ठा और लगन से काम करते हैं, क्योंकि उन्हें इस बात का विश्वास होता है कि उनके श्रम का पुरस्कार उनको और उनकी संतानों को मिलेगा। उनके बच्चे "स्वतन्त्र नागरिक माने जाएंगे, दास नहीं।" बच्चों का जीवन उनके अभिभावकों की स्थिति से अधिक उनकी अपनी निष्ठा, प्रतिभा, प्रतिबद्धता और परिश्रम से आगे बढ़ेगा। उसके अनुसार "गणतन्त्रों में सम्पत्ति असाधारण रूप से बढ़ती है, क्योंकि लोगों को भरोसा होता है कि वे उसका उपभोग शान्ति से कर सकेंगे। इसलिये वे आपस में निजी और सार्वजनिक दोनों प्रकार की सम्पत्ति बढ़ाने के लिये होड़ करेंगे।" देश की जनसंख्या भी बढ़ेगी, क्योंकि लोग विवाह और संतानोत्पत्ति में दिलचस्पी लेंगे। मैकियाविली के लेखन से लगता है कि लोगों में अपने परिवार की महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार का भय भी रहता धा, क्योंकि उसने कई बार गणतन्त्र के इस लाभ का संदर्भ दिया है।

मैकियाविली ने कई स्थानों पर दोनों व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया है और इन सभी में उसने गणतन्त्र को निरपवाद और निर्विवाद रूप से राजतन्त्र से श्रेष्ठ पाया है। उसके अनुसार अगर व्यवस्था में नियंत्रण का प्राविधान न हो तो दोनों व्यवस्थाएं भ्रष्ट हो जायेंगी, लेकिन सामान्य धारणा के प्रतिकूल मैकियाविली मानता है कि "राजाओं में यह दुर्गुण जनता की तुलना में अधिक स्वाभाविक है।" उसके अनुसार उसका निष्कर्ष उस स्थिति में भी सच है, जब राजा में असाधारण क्षमता हो। प्रतिभाशाली राजा की उपलब्धियां सामान्यतया उसकी अपनी होती हैं और राज्य को उसका विशेष लाभ नहीं मिलता। उल्टे यह हो सकता है कि शासक अपनी जनता को उससे इसलिये वंचित करना चाहे, क्योंकि उसे विद्रोह का भय हो– भले ही उसकी विजयों का वास्तविक श्रेय जनता का ही हो। "जनता में निर्णय लेने की क्षमता शासक से अधिक होती है। सही ही कहा गया है कि जनता की वाणी वस्तुतः ईश्वर की वाणी है।" जनतन्त्र के निर्णयों में जनता भी सम्मिलित रहती है, इसलिये उसका आधार व्यापक होता है। राज्य की रक्षा के लिये लोग अधिक सतर्क रहते हैं। इसमें आन्तरिक अशान्ति और बाहरी आक्रमण का खतरा भी कम होता है। संकट-काल में व्यवस्था में आवश्यक लचीलापन रहता है, जो राजतन्त्र में सम्भव नहीं है। मैकियाविली तो यहां तक कहता है कि जनता में समस्याओं का पूर्वानुमान करने की कोई अद्भुत और अतीन्द्रिय शक्ति होती है। वह अपना अच्छा और बुरा समझ लेती है। जनसभाओं में वक्ताओं के भाषण से वे अच्छा विकल्प ढूंढ़ लेते हैं। वे अपने अधिकारियों का निर्वाचन सही ढंग से कर लेते हैं। कई बार उनका निष्कर्ष त्रुटिपूर्ण रहा है

लेकिन "शासक अपनी वासनाओं के कारण कहीं अधिक त्रुटिपूर्ण रहे हैं।" उसके अनुसार जनता तो फिर भी अपने अधिकारियों के चुनाव में कोई मानदण्ड अपनाती है, जबकि राजा के मानदण्डों में "कुख्याति और भ्रष्टाचार हजारों प्रकार से सम्मिलित हो जाता है।"

8.7 राष्ट्रीय सेना और राष्ट्रवाद की वैचारिक पृष्ठभूमि

मैकियाविली सैनिक मामलों का भी विशेषज्ञ था। युद्ध-कला पर लिखी उसकी पुस्तक काफी लोकप्रिय रही थी। पूरे यूरोप में उसकी काफी नकल की गई। उसका प्रसिद्ध वाक्य है– "धन से सेना नहीं मिलती बल्कि अच्छी सेना से धन मिलता है।" उसके इस सारगर्भित वाक्य में राष्ट्रीय सेना से सम्बन्धित उसके महत्वपूर्ण विचारों का परिप्रेक्ष्य समाहित है। इसी संदर्भ में उसके विचारों में राष्ट्रवाद की मंद ध्वनि सुनाई देती है, यद्यपि राष्ट्रवाद को स्थापित होने में अभी दो शताब्दियों का समय और बाकी था। सैन्य-शक्ति की प्रबल आवश्यकता का अहसास उसे 1500 में फ्रांस की राजनयिक यात्रा के दौरान हुआ। फ्लोरेन्स फ्रांस की सहायता से रोम के पोप का विरोध कर रहा था। पेरिस में उसे लुई द्वादश के दरबार में फ्लोरेन्स की निर्बल सैनिक-शक्ति के कारण अपमानित होना पड़ा। फ्लोरेन्स धनी गणतन्त्र था लेकिन उसकी सेना निर्बल थी। प्रभावशाली व्यापारी सत्ता में थे। उनके लिये सेना भी व्यापार जैसा ही एक उपक्रम था। इसलिए उन्होंने धन से पेशेवरों की सेना बनाई थी। मैकियाविली का उपर्युक्त वाक्य इसी संदर्भ को संकेतित करता है। फ्रांसीसियों के लिये इस सेना का कोई महत्व नहीं था। इसलिये उन्होंने मैकियाविली के फ्लोरेन्स को "सर निहिलो" अर्थात् "श्रीमान् शून्य" का नाम दिया था।

इस सम्बन्ध में एक और महत्वपूर्ण घटना का संदर्भ लेना चाहिये। 1499 में फ्लोरेन्स ने पिसा को चार साल के प्रयास के बाद कमजोर करने में सफलता हासिल की थी। फ्लोरेन्स के पास भाड़े की सेना थी जिसका नेतृत्व पाउलो विटेली नामक एक समर्थ और अत्यन्त मंहगे मर्सीनरी सेनानायक के हाथ में था। माना जाता था कि 1499 के इस अभियान में जब फ्लोरेन्स की इस किराये की सेना ने पिसा को निर्णायक रूप से घेर लिया था और पिसा समर्पण की तैयारी कर रहा था, उसी समय विटाली ने सेना को वापस लौटा लिया। इस निर्णय का औचित्य किसी को स्पष्ट नहीं था। फ्लोरेन्सवासियों को लगा कि विटाली ने उसके साथ धोखा किया है। विटाली को फांसी पर चढ़ा दिया गया। मैकियाविली उस अभियान का प्रमुख संचालक था। उसने पूरी घटना के पीछे के सत्य को तो स्पष्ट नहीं किया लेकिन उस घटना से एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष अवश्य निकाला। वह यह था कि राज्य के पास अपनी प्रतिबद्ध, प्रशिक्षित और पूर्णकालिक सेना अवश्य होनी चाहिए। उसके इस विचार का स्वतंत्र महत्व है, साथ ही राष्ट्रीय सेना का यह विचार उसके राष्ट्रवादी विचार की प्रस्तावना के तौर पर भी महत्वपूर्ण है।

किराये की सेना की आलोचना करते हुये वह लिखता है कि वह "अनुपयोगी और खतरनाक" है। उससे शासक को न तो स्थिरता मिलेगी और न ही सुरक्षा। ऐसे सैनिक केवल मित्रों के बीच ही वीर होते हैं और शत्रुओं के समक्ष कायर सिद्ध होते हैं। "वे युद्ध से बचना चाहते हैं। जब तक वे युद्ध से बचे रहते हैं, केवल उसी समय तक वे राज्य को पराजय से बचा पाते हैं। उनको किसी के प्रति कोई निष्ठा नहीं होती– सिवाय उस मामूली धन के, जो उन्हें प्रदान किया जाता है। इस मामूली धन के बदले उनसे प्राण-निछावर करने की आशा की जाती है।" जब युद्ध न हो रहा हो, वे आपकी सेना में शामिल होने के लिये लालायित रहते हैं। जब युद्ध होता है तो खिसक जाते हैं।" उसने साफ लिखा है कि इटली की वर्तमान दुर्दशा का एकमात्र कारण यह है कि उसने कई वर्षों से अपनी रक्षा का कार्य इन किराये के सैनिकों को दे दिया है। इटली इसी कारण से फ्रांस के चार्ल्स के सामने खड़ा भी नहीं हो सका। उस समय इटलीवासियों में यह बात प्रचलित थी कि उनके देश में पाप बढ़ गया था, जिसके दण्डस्वरूप उसे यह पराजय मिली थी। मैकियाविली कहता है कि यह सच है लेकिन इटलीवासियों का पाप यह था कि उन्होंने किराये की सेना से अपनी मातृ-भूमि की रक्षा करने की कोशिश की था। राज्य को अपने सभी समर्थ युवकों को अनिवार्य सैनिक प्रशिक्षण दिलवाना चाहिए। मैकियाविली

राष्ट्रीय सुरक्षा के मामले में बहुत भावुक हो जाता है। उसने लिखा है कि इसी कमजोरी के कारण लोम्बार्डी को लूटा गया, नेपल्स और टस्केनी के राज्यों का दोहन किया गया। मैकियाविली के इस योगदान को एकीकृत इटली राष्ट्र में बहुत सम्मान से स्वीकार किया जाता है।

इतालवी राष्ट्रवादी मैकियाविली को राष्ट्रवाद का प्रणेता मानते हैं और उसकी अनैतिकता को राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया का आवश्यक अंग मान कर अनदेखा करने का प्रयास करते हैं। हम देख चुके हैं कि मैकियाविली के समय तक राष्ट्रवाद का भौतिक आधार तेजी से तैयार हो रहा था, लेकिन उसको परिपक्व होने में अभी दो शताब्दियों का समय शेष था। इस तरह मैकियाविली में राष्ट्रवाद देखना वर्तमान के अनुसार इतिहास की व्याख्या करने की त्रुटि मानी जायेगी। इतिहास को समझने में यह त्रुटि प्रायः होती है। इसका भावनात्मक कारण समझा जा सकता है। वस्तुतः मैकियाविली युगीन परिस्थितियों के कारण देशभक्त-पैट्रियट-ही हो सकता था, राष्ट्रभक्त-नेशनलिस्ट-कदापि नहीं। उसके समय तो यह स्थिति थी कि पांचों क्षेत्र दूसरे क्षेत्रों को "असभ्य" मानते थे और रोमन साम्राज्य के वास्तविक उत्तराधिकार पर अपना एकाधिकार मानते थे। मैकियाविली पूरे इटली की दुर्दशा से चिंतित था–इतालवी राष्ट्रवादियों के लिये यही पर्याप्त था। राष्ट्रीय सेना जैसे उसके विचारों को भी इसी भावनात्मक प्रबलता के साथ याद किया जाता है। उसके जन्म की चौथी शताब्दी के अवसर पर स्थापित किये गये उसके स्मारक की भाषा से सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि आधुनिक युग में हमको सामान्य से लगने वाले विचार इटली के लोगों के लिये उतने सामान्य नहीं थे–

"भाड़े की सेनाओं के स्थान पर
अपनी नियति का आत्म-नियन्त्रक
एकीकृत और सशस्त्र इटली
द्वारा समर्पित, यह स्मारक
राष्ट्रीय एकता के निर्भीक और पैगम्बरी प्रणेता
निकोलस मैकियाविली को
3 मई, 1864 को, उनकी चौथी जन्म-शताब्दी पर।"

8.8 शासन-कला, कुशल शासक के गुण

मैकियाविली ने 'प्रिन्स' शासक को सलाह देने के लिये ही लिखा था। वह इस पुस्तक के द्वारा फ्लोरेन्स के शासक-परिवार – मेडिसियों के निकट आना चाहता था। इस उद्देश्य में तो वह असफल ही रहा लेकिन उसके विचार आगामी शताब्दियों तक प्रासंगिक रहे। पश्चिमी परम्परा में राजनीति का ऐसा नग्न-चित्रण अनोखा है।

मैकियाविली के समय की राजनैतिक परिस्थितियां अराजक ही मानी जाएंगी। उस समय की इटली को ऐसे लौह-पुरुष की प्रतीक्षा थी, जो इंग्लैण्ड के हेनरी सप्तम, हेनरी अष्टम, या फ्रांस के लुइ द्वादश की तरह कठोरता से अराजकता को समाप्त कर सके। उस समय की एक घटना का मैकियाविली पर बहुत प्रभाव पड़ा। वह इस घटना का प्रत्यक्षदर्शी था। माना जाता है कि उसी घटना से मैकियाविली पर सीजर बोर्गिया का निर्णायक प्रभाव पड़ा और उसने 'प्रिन्स' के काल्पनिक कुशल शासक के रूप में उसी को प्रतिमान बनाया। घटना 1502 की है। तत्कालीन पोप का अवैध पुत्र– सीजर बोर्गिया–पोप के पुराने प्रदेशों को फिर से जीतने की कोशिश में लगा हुआ था। उसके इस प्रयास में उसके चार सेनानायकों की भूमिका संदिग्ध थी। उसने सेनीगेलिया में उन चार असंतुष्ट अधिकारियों को समझौते का आश्वासन देकर वार्ता के लिए आमंत्रित किया। भोज के बीच में ही उसने इन चारों को गिरफ्तार कर लिया। उनमें से दो

की हत्या तो उसने वहीं कर दी और बाकी दो को मार डालने के लिए बाहर भेज दिया। "सेनीगेलिया हत्या-कांड" के नाम से कुख्यात इस घटना ने बोर्गिया को अनैतिक भले ही सिद्ध किया हो, लेकिन इसके साथ ही उसकी क्रूरता को भी स्थापित कर दिया। आगामी वर्षों में उसका विरोध असम्भव हो गया। मैकियाविली ने बोर्गिया का नाम नहीं लिया है लेकिन हैनीबाल और फर्डीनाण्ड की क्रूरता को उसने उनकी उपलब्धियों जैसा माना और प्रशंसित किया है।

क्रूरता को राजनैतिक गुण मानने के कारण मैकियाविली कुछ विचित्र-सा दिखता है। उसके लिये तो यह यथार्थवादी सोच की प्रामाणिक पहचान है– "शासक के लिये यह सीखना आवश्यक है कि वह अच्छा बनने से कैसे बचे'। इसका कारण वह स्पष्ट करता है– "चूंकि मेरा उद्देश्य जिज्ञासु को कुछ उपयोगी ज्ञान देना है, इसलिये यह उचित होगा कि मैं चीजों को वैसे प्रस्तुत करूं, जैसे वे हैं, न कि जैसे उनको होना चाहिए। बहुतों ने ऐसे गणतन्त्रों और शासनों का स्वप्न देखा है, जो वास्तव में कभी अस्तित्व में आए ही नहीं। मनुष्य को कैसा होना चाहिए और वह कैसा है, इन दोनों में इतना अन्तर है कि जो कैसा होना चाहिए के पक्ष में कैसा है का तिरस्कार करता है, वह अपने संरक्षण का नहीं बल्कि अपने विनाश का रास्ता तैयार करता है।"

राजनैतिक आवश्यकता के अन्तर्गत क्रूरता को स्वीकार करना एक बात है लेकिन मैकियाविली कई बार क्रूरता का महिमा-मंडन करता दिखता है। उसके विचारों में क्रूरता के औचित्य पर भी चर्चा नहीं हुई है। वह सिर्फ इतनी सावधानी दिखाता है कि क्रूरता एक साथ की जानी चाहिए ताकि प्रजा को यह अपवाद जैसा याद आए। अगर क्रूरता प्रतिदिन की बात हो जाए, तो "शासक को सदैव अपने हाथ में चाकू लेकर खड़े रहना पड़ेगा।" इसके विपरीत उसे जनता को लाभ "धीरे-धीरे देना चाहिये, ताकि प्रजा उसका आनन्द अच्छी तरह से ले सके।" क्रूरता हो या उदारता, मैकियाविली के अनुसार शासक को ऐसी व्यवस्था अवश्य कर लेनी चाहिये कि दुर्दिनों में भी उसे जनता की सद्भावना पर निर्भर न रहना पड़े। मैकियाविली अपने सिद्धान्तों का परीक्षण उस स्थिति में करता है, जब शासक किसी स्वतन्त्र राज्य पर अधिकार करता है। मैकियाविली निःसंकोच कहता है कि ऐसे राज्य को नष्ट करना ही ठीक होगा। उसके अनुसार उस राज्य पर नया शासक चाहे कितना भी उपकार क्यों न करे और उस राज्य की स्वतन्त्रता नष्ट हुए कितना समय भी क्यों न बीत गया हो, उस राज्य में विद्रोह की आशंका सदैव रहेगी– "उस स्वतन्त्र राज्य का शासक अगर उस राज्य को नष्ट नहीं करता, तो उसे अपने विनाश की तैयारी कर लेनी चाहिए।"

मैकियाविली क्रूरता के साथ दृढ़-निश्चय को भी अत्यावश्यक गुण मानता है। निर्णय में अनावश्यक विलम्ब समस्या को और अधिक जटिल बनाता है– "समस्याएं हेक्टिक बुखार की तरह होती हैं ..... शुरू में उन्हें पहचानना कठिन लेकिन समाप्त करना आसान होता है। अगर समय से उनका समाधान नहीं किया गया तो फिर उनको पहचानना आसान लेकिन ठीक करना कठिन हो जाता है।" वह रोमनों के दृढ़-निश्चय का उदाहरण देता है। रोमन कभी दूरवर्ती समस्या को भी अनदेखा नहीं करते थे। अगर उनको लगता था कि इसको अनदेखा करने से अभी तो "विलम्ब का लाभ" मिल जायेगा लेकिन आगे उन्हें युद्ध लड़ना पड़ेगा और वह भी अपने देश में, तो वे यह पसन्द करते थे कि अभी दूसरे देश में युद्ध लड़ कर समस्या से सीधे निपट लिया जाए। इसी मानसिकता से उन्होंने यूनान जाकर फिलिप और एन्टियोकस से युद्ध किया। वह कहता है कि "विलम्ब करने से लाभ या हानि दोनों हो सकती थी, इसलिये आत्म-बल के आधार पर त्वरित निर्णय करना ठीक रहता है। अगर नियति में कुछ बुराई है तो भी शासक उसको ठीक कर सकता है ..... उग्र होना सावधान होने से बेहतर है ..... नियति एक महिला है.....उस पर नियन्त्रण करने के लिये उसे पीटना और विवश करना आवश्यक है।"

मैकियाविली प्रायः पाखंड का समर्थन करता है लेकिन कहीं-कहीं वह दृढ़-निश्चय करने और उसकी सार्वजनिक सूचना को ठीक मानता है। दो शासकों के बीच युद्ध की स्थिति में वह

चाहता है कि शासक किसी एक पक्ष को अपने समर्थन की खुली घोषणा कर दे। तटस्थता शासकों के बीच कायरता या अनिर्णय का प्रमाण मानी जाती है। अच्छा हो कि वह एक का सच्चा मित्र और दूसरे का उदार शत्रु माना जाए। यह आवश्यक है कि जनता उसके कठोर रूप से परिचित रहे। सदैव आशंका बनी रहती है कि उसकी "दयालुता का दुरुपयोग" किया जाएगा ....."अत्यधिक दयालुता से प्रायः उद्दण्डता को बढ़ावा मिलता है, अनाचार बढ़ जाता है, राज्य का भय समाप्त हो जाता है। व्यवस्था बनाये रखने के लिये आवश्यक है कि लोगों में शासन का भय रहे।"

मैकियाविली उदाहरणों के द्वारा कठोरता और उदारता का तुलनात्मक अध्ययन करता है। हैनीबाल कठोरता और स्पेन का सिपियो उदारता के उदाहरण हैं। उसका विश्वास है कि उदार शासक का प्रशासन और उसकी सेना अनियन्त्रित हो जाती है और उनके अत्याचार के कारण उदार शासक का शासन जनता के लिए अन्ततः कठोर शासक से भी कहीं अधिक कठोर हो जाता है। सिपियो ने अपनी उदारता के कारण अपने युग में ही नहीं, बल्कि इतिहास में भी अपना नाम अमर कर लिया। लेकिन "उसकी उदारता उसकी सेना के सन्दर्भ में उसकी महान कमजोरी सिद्ध हुई।" उसकी सेना ने बेलगाम होकर स्पेन में विद्रोह कर दिया। फैबियस मैक्सिमस ने प्रशासिका के सम्मेलन में उसे रोमन मिलीशिया को भ्रष्ट और अनुशासनहीन बनाने का दोषी ठहराया। उसकी सेना ने कई स्थानों पर भयंकर लूट-पाट की। दूसरी ओर हैनीबाल ने अपनी विशाल सेना को नियन्त्रित रखा, जबकि उसकी सेना में कई देशों के सैनिक थे।

अभी हम देखेंगे कि वह शासकीय उदारता और जनता के स्वैच्छिक स्नेह को भी पर्याप्त महत्व देता है। उसकी चिन्ता यह है कि जनता का स्वैच्छिक स्नेह शासक के अधिक नियन्त्रण में नहीं है, जबकि जनता में भय बनाये रखना शासक के वश में है। यह अवश्य है कि उसे जनता के बीच घृणित होने से बचना चाहिए। उसे विशेषतः महिलाओं से दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिए। कई स्थानों पर वह प्रेम और भय का तुलनात्मक अध्ययन करता है। प्रश्न है कि दोनों में किसको अधिक महत्व मिलना चाहिए ..... "उत्तर है– शासक को प्रयास करना चाहिए कि जनता उससे प्रेम भी करे और भयभीत भी रहे, लेकिन प्रायः दोनों एक साथ नहीं दिखते। इसलिये अगर चुनाव करना हो तो शासक को भय ही चुनना चाहिए।" प्रेम भरोसेमन्द भावना नहीं है। जनता शासक के साथ उस समय तक रहती है, जब तक उसका लाभ रहता है और आपदा सामने नहीं आ जाती। आपदा के आने के साथ ही जनता की निष्ठा जाती रहती है। अगर शासक ने केवल जनता के स्नेह पर विश्वास करके अन्य प्रकार की सुरक्षाएं नहीं बना रखी हैं, तो वह असुरक्षित है। "मनुष्य जिससे भयभीत रहते हैं, उसकी आज्ञा की अवहेलना करने में संकोच दिखाएंगे, लेकिन जिससे वे स्नेह करते हैं, उसकी अवहेलना करने में उन्हें अधिक असुविधा नहीं होती.....क्योंकि प्रेम का निर्वाहन प्रतिबद्धताओं की शृंखला से होता है, जिसे स्वार्थी होने के कारण मनुष्य अपने लाभ की स्थिति में तोड़ देता है, लेकिन भय का निर्वाहन दण्ड से होता है, जो कभी भी निष्प्रभावी नहीं होता।" वह आगे लिखता है..... "शासक के लिये यह कितना अच्छा होता कि वह चतुराई के स्थान पर निष्ठा और सच्चरित्रता को अपना सकता। हमारे समय का अनुभव तो यह बताता है कि उन्हीं शासकों ने कुछ महान काम किये हैं, जिन्होंने निष्ठा को किनारे रख कर काम किया और चतुराई से जनता को दिग्भ्रमित कर दिया और अन्ततः उनको पराभूत कर दिया, जो निष्ठा को अपना आधार बनाए हुए थे।"

मैकियाविली मानवीय गुणों के साधनात्मक और प्रदर्शनात्मक महत्व से परिचित है। लेकिन शासक को केवल बाहरी तौर पर ही मानवीय गुणों का प्रदर्शन करना चाहिए। उसे जनता को आश्वस्त करना चाहिए कि उसे प्रजा की समृद्धि से ईर्ष्या नहीं है और जनता निश्चिन्त होकर धनार्जन कर सकती है। जनता को यह भी लगना चाहिये कि शासक और सशक्त होकर जनता को और अधिक सुरक्षित करेगा। शासक का यह सकारात्मक दायित्व है कि वह वार्षिक सम्मेलनों, सामूहिक भोजों और मनोरंजन के विविध कार्यक्रमों के आयोजन से जनता को अपने पास आकर

अपने मानवीय गुणों से परिचित करने का अवसर दे। नगरों का विस्तार हो गया है। शासक को नगर के हर क्षेत्र से अपना सम्पर्क रखना चाहिए। जनता का लगाव संकट के समय उसकी सुरक्षा करता है। ऐसे संकट अस्थायी ही होते हैं। लोकप्रिय शासक बाहरी आक्रमण में पराजित होने की स्थिति में भी सत्ता में बना रहता है। उसे आन्तरिक अशान्ति की आशंका भी कम ही होती है। वह लिखता है..... "यदि राजा लोकप्रिय है तो षड्यन्त्र की सामान्य घटनाएं उसको सत्ता-च्युत नहीं कर पातीं। प्रायः उसके प्रति घातक षड्यन्त्र उसके प्रति व्यापक घृणा के कारण रचे जाते हैं।" सामान्यतः षड्यन्त्रकारी उसी समय ऐसी योजना बनाते हैं, जब उन्हें यह विश्वास होता है कि सत्ता-परिवर्तन की स्थिति में जनता उनके किसी विकल्प को शासक मान लेगी। फ़िर षड्यन्त्र की सफलता के लिये काफी संख्या में लोगों का सम्मिलित होना भी आवश्यक है। राजा के अलोकप्रिय होने की स्थिति में ही षड्यन्त्रकारियों को इतना व्यापक समर्थन मिल पाएगा। मैकियाविली इस संदर्भ में अपने समय के शासक हैनीबाल के पितामह वेनेटी वोग्लियो का उदाहण देता है। लोकप्रियता के बावजूद षड्यन्त्रकारी कान्नेस्वी उसके पूरे परिवार की हत्या करने में सफल हो गया– केवल उस परिवार का एक शिशु-जॉन ही बच सका। जनता ने षड्यन्त्रकारियों के पूरे वंश को नष्ट कर दिया और जॉन का पूरा पालन-पोषण किया। वयस्क होने पर जॉन को ससम्मान सत्तासीन किया गया। मैकियाविली यहां राजनीति का एक मानवीय और मार्मिक पक्ष प्रस्तुत कर रहा है। अपनी मानसिकता के अनुरूप ही वह यहां भी घृणित राजा के लिये भी सुझाव प्रस्तुत कर देता है..... "ऐसे राजा के लिये अच्छा होगा कि वह भयग्रस्त होने की अपेक्षा सतर्क रहे।"

शासक का लोकप्रिय होना उसके दीर्घकालीन हितों को संरक्षित करता है। इस संदर्भ में वह सुझाव देता है कि शासक को यथासम्भव अलोकप्रिय कामों में सीधे उलझने से बचना चाहिये। उसके पास बड़ी संख्या में अधीनस्थ अधिकारी होते हैं, जिनके ऊपर वह अलोकप्रिय कामों का दायित्व डाल सकता है। वह यश अपने पास रखे और अपयश को अधीनस्थ प्रशासन पर डाल दे। वह इस संदर्भ में समकालीन फ्रांस के शासकों का उदाहरण देता है। उन पर जागरूक जनमत का दबाव बढ़ता जा रहा था। समस्या यह थी की वे सामन्तों के सहारे ही शासन कर सकते थे। सामन्त सामूहिक रूप से राजा पर प्रभावी हो जाते थे। राजाओं ने शक्ति-संतुलन के लिये तृतीय सभा– थर्ड इस्टेट– की स्थापना करके जनता को प्रतिनिधित्व दिया। इस प्रकार वह जनता और सामन्तों के संघर्ष में सीधे सामने आने से बच गया। जनाक्रोश उस पर नहीं बल्कि सामंतों पर केन्द्रित हो गया।

मैकियाविली आर्थिक मामलों में शासक को मध्यमार्गी बनने की सलाह देता है। उसकी कुछ मान्यताएं सूत्रबद्ध हैं। उदाहरणतः "यदि आप नये शासक हैं, तो उदार बनिए। स्थापित शासक के लिए उदार होना अच्छा नहीं है।"..... "शासक को चाहिए कि वह लूट के धन में उदार और अपने कोष के मामले में कृपण रहे।" आर्थिक मामले में शासक को अपव्यय और कृपणता के अतिवादों से बचना चाहिये। उदारता की नीति पर शासक अधिक दिन चल नहीं सकता। अधिक दिन तक उदारता दिखाने का अनिवार्य परिणाम यह होगा कि या तो कोष खाली हो जाएगा या फिर जनता को भारी कर देना पड़ेगा– दोनों स्थिति राज्य के लिये घातक होंगी। वह मानता है कि सीजर की स्थिति भी यही होती लेकिन मृत्यु के कारण उसे यह कष्ट नहीं हुआ। मैकियाविली अपने समय के शासक–पोप जूलियस द्वितीय का उदाहरण देता है। इस शासक ने पोप का पद खरीदने के लिये दोनों हाथों से धन लुटाया लेकिन फ्रांस के साथ युद्ध लड़ने में उसे अपनी नीति बदलने के लिये विवश होना पड़ा।" शासकों का मूल दुर्गुण अपव्यय ही है।..... इसलिये शासक को चाहिये कि वह अपव्ययी नहीं, मितव्ययी बने। मितव्ययिता से उसे बहुत लोकप्रियता नहीं मिलेगी, लेकिन वह अलोकप्रिय भी नहीं बनेगा। प्रजा के बीच उसकी गणना कम से कम आततायी राजाओं में नहीं होगी।"

मैकियाविली कुशल शासक के लिये मानवीय ही नहीं, पाशविक गुणों की आवश्यकता का भी समर्थन करता है। उसके अनुसार विधि का प्रयोग मानवीय और बल का प्रयोग पाशविक है।

विधि का प्रयोग असफल होने पर बल का प्रयोग होना चाहिए। "शासक को मानव और पशु– दोनों का अच्छा प्रयोग करने की कला का ज्ञान होना चाहिए।" प्राचीन समय में राजकुमारों को शिरॉन अर्थात् नरपशु के पास प्रशिक्षण के लिये भेजा जाता था। "शिक्षक को मनुष्य और पशु बनाने के रूपक का अर्थ यह बताना है कि शासक दोनों के गुणों के बिना शासन नहीं कर पायेगा।" तर्क को आगे बढ़ाते हुये वह अब पशुओं में भी शेर और लोमड़ी का चुनाव करता है। शेर बहादुर है लेकिन शिकारियों के जाल में फंस जाता है। दूसरी ओर लोमड़ी चालाक होने पर भी भेड़िये से अपना बचाव नहीं कर पाती।..... "इसलिये शासक को जाल से बचने के लिये लोमड़ी की चालाकी और भेड़िये से बचने के लिये शेर का शौर्य आत्मसात करना चाहिये।" वह स्पष्ट कहता है कि शासक को अपने आश्वासनों को उसी समय तक पूरा करना चाहिये, जब तक ऐसा करना उसके लिए लाभप्रद हो। "ऐसे शासक को अपने आश्वासन तोड़ने के लिये कभी रंगीन बहानों की कमी नहीं पड़ेगी।" वह ठीक अपने अद्भुत अंदाज में कहता है..... "धोखा देने वाले को ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं होगी, जो धोखा खाने के लिए तैयार बैठे हैं।" जनता बड़े षड्यन्त्र को समझने की क्षमता से वंचित होती है। उसे बाहरी रूप से ही संतोष हो जाता है। इसलिये शासक को प्रयास करना चाहिये कि जहां तक सम्भव हो, धार्मिक कर्मकांडों और राजनैतिक संस्थाओं के बाहरी रूप को बनाये रखे– भले ही उन संरचनाओं की आत्मा को उसने अपने स्वार्थ में समाप्त ही क्यों न कर दिया हो।

जनता बाहरी आवरण को हटाकर वास्तविकता को समझ नहीं पाती। इसलिये पाखंड शासक का महान गुण है। उसे बाहरी तौर पर ही धर्म का साक्षात् रूप बनना चाहिए। कुछ ज्ञानी व्यक्ति इस पाखंड को अवश्य ही समझ जाएंगे लेकिन उसके कठिन विश्लेषण को समझने में जनता को विशेष रूचि नहीं रहेगी। फिर प्रशंसा के शोर में आलोचना की कमजोर आवाज दब जाएगी।..... "लोगों को साधन में नहीं, सिद्धि में दिलचस्पी रहती है। राजा को इसका अपवाद नहीं बनना चाहिए।" वह अपनी मान्यताओं की पुष्टि के लिये एक समकालीन शासक का उदाहरण देता है। नाम न लेने पर भी स्पष्ट है कि वह पोप जूलियस द्वितीय का संदर्भ दे रहा है....." उसने धर्म का लबादा ओढ़ रखा है। उसने अपने को शांति और ईमानदारी का मसीहा सिद्ध कर रखा है। सच यह है कि अगर इन दोनों में से वह एक गुण को भी अपने जीवन में अपनाता तो उसे अपने सम्मान और अपनी सत्ता–दोनों से हाथ धोना पड़ता।

8.9 मैकियाविली का मूल्यांकन– सम्प्रभुता, राष्ट्रवाद, धर्म-निरपेक्षता और यथार्थवाद

मैकियाविली के विचार मध्यकाल के सांध्य-काल में आये, जब राजनैतिक चिन्तन पर ईसाई धार्मिकता होवी थी। परिस्थिति अभी भी ऐसी नहीं थी कि राजनैतिक चिन्तन स्वतंत्र स्थान पा सकता। सच तो यह है कि बुझते दिये की लौ में पहले से कहीं अधिक रोशनी दिखने वाली थी। सुधार और प्रतिसुधार आन्दोलनों ने एक बार फिर धर्म को राजनीति का केन्द्रीय प्रश्न बना दिया। दो शताब्दी बाद अवश्य ही कम से कम यूरोप में धर्म-निरपेक्षता निर्णायक रूप से विजयी हुई और इस पुराने हिंसक संघर्ष का समापन राजनीति की स्वायत्तता तथा धर्म के सीमांकन के साथ हो गया। मैकियाविली की स्पष्टवादिता उस समय के स्थापित नैतिक परिवेश के लिये उपयुक्त नहीं थी। इसलिये वह सर्वत्र निन्दित हुआ। उसकी सलाह को महत्व देने को कोई तैयार नहीं था। स्थिति यह थी कि यही प्रश्न उठ गया कि क्या वह शुभ-चिन्तक की तरह सुझाव दे रहा है या वास्तव में प्रच्छन्नतः शासकों को बेनकाब कर रहा है। रूसो समेत लोकप्रिय सम्प्रभुता के कई समर्थक यह मानते हैं कि मैकियाविली वास्तव में गणतन्त्रवादी ही था और उसके अनैतिक विचार वस्तुतः तत्कालीन यूरोपीय धर्मतन्त्र और राजतन्त्र को बेपर्दा करते हैं। आधुनिक युग में हम धर्म और राजनीति के अन्तःसम्बन्धों पर उसके विचारों को एक महत्वपूर्ण योगदान के रूप में सहजतः स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में डनिंग की टिप्पणी सम्भवतः

अधिकांश आधुनिक विद्वानों के निष्कर्ष को समाहित करती है कि "प्रिन्स सबसे महान रचना है, जिसने मध्ययुगीन चिन्तन पद्धति का पूर्णतया परित्याग किया है।" कोकर ने भी कुछ इसी प्रकार की टिप्पणी की है..... "मैकियाविली ने अपने निष्कर्षों के प्रमाण के लिये कभी धार्मिक ग्रन्थ का सहारा नहीं लिया। दूसरे उसने राजनैतिक मान्यताओं के परीक्षण के लिये धार्मिक, आध्यात्मिक या सामाजिक आचार-विचार को आश्रय नहीं बनाया है।" फ्रेडरिक पोलाक के अनुसार "मैकियाविली द्वारा प्रदर्शित नैतिकता के प्रति उदासीनता वैज्ञानिक प्रकार की निरासक्ति का ही उदाहरण है।"

मैकियाविली और उसके तत्कालीन समर्थक-विरोधी सभी के साथ यह समस्या थी कि धर्म के साथ नैतिकता भी एकाकार थी। धर्म को अलग करने का सीधा अर्थ नैतिकता से भी हाथ धोना था। वैकल्पिक नैतिक प्रतिमान गढ़ सकना किसी एक व्यक्ति या एक वर्ग या यहां तक कि एक शताब्दी के वश की बात नहीं होती। इसलिये हम मैकियाविली की असफलता को समझ सकते हैं। इस संदर्भ में वह मात्र यही संकेत करके अपने नैतिक उहापोह से उबरने का प्रयास करता है कि राजनीति राज्य की रक्षा की कला है और संरक्षण के समस्त साधन इस कला के "सद्गुण" हैं।

मैकियाविली को श्रेय दिया जाता है कि उसने सर्वप्रथम आधुनिक अर्थ में राज्य– लि स्टेटो– का प्रयोग किया है। उसके चिन्तन में भ्रूण-रूप में ही सही, आधुनिक राज्य के सभी चार अनिवार्य अंगों– क्षेत्र, जनसमुदाय, शासन और सम्प्रभुता का विवरण मिलता है। उसने राज्य की सम्प्रभुता में रोड़ा बने धर्मतन्त्र और नीचे से उसको खींचने वाले सामन्तवाद को हटाने का प्रयास किया। सम्प्रभुता शब्द का प्रयोग किये बिना उसने सम्प्रभुता की स्पष्टतम परिभाषा प्रस्तुत की। नियति ने चाहा होगा कि इसका औपचारिक श्रेय बोदां को मिले, अन्यथा मैकियाविली के पूरे लेखन को अगर एक पंक्ति में संक्षेपित किया जाये तो वह यही है कि राज्य सम्प्रभु है। उसके लेखन का यही निचोड़ है। उसके अनुसार राज्य के रास्ते में कोई नहीं आ सकता। उसे कोई संस्था, कोई नैतिक निष्ठा बांध नहीं सकती। अपनी नैतिकता का निर्धारण वह स्वयं करता है। राज्य एक स्वतन्त्र संसार है। उसके संचालक नियम उसके द्वारा ही निर्मित हैं। इसलिये आवश्यकतानुसार वह इसमें परिवर्तन कर सकता है। "राज्य की आवश्यकता" नैतिकता का अंतिम, परम तर्क है। इसके ऊपर, इससे परे कुछ भी नहीं है। प्रादेशिक सम्प्रभु राज्य की यह सबसे प्रथम और स्पष्टतम छवि है। यह भी स्पष्ट है कि यह राज्य न तो साम्राज्य के अव्यावहारिक रूप से विस्तृत आधार पर और न ही सामन्तवादी क्षुद्रतम इकाई के आधार पर बन सकता है। यह सम्प्रभु राज्य राष्ट्रवाद के आधार पर ही खड़ा हो सकता है। एक विद्वान के अनुसार "यद्यपि मैकियाविली कहीं औपचारिक या निर्णायक रूप से नहीं कहता, लेकिन वह स्पष्टतः सम्प्रभुता और उसके साथ ही उससे जुड़ी राष्ट्रीय प्रादेशिक राज्य की अवधारणा की ओर इंगित करता है। वह अपेक्षाकृत स्वायत्त इकाइयों के जटिल पद-सोपान वाले सामन्तवादी विचार को भी पूर्णतः निरस्त कर देता है। इसके स्थान पर वह एक ऐसी सर्व-शक्तिमान केन्द्रीय सत्ता की कल्पना करता है, जो अपने क्षेत्र में आने वाली सभी गतिविधियों का एकाधिकारवादी नियन्त्रक है।..... वस्तुतः सम्प्रभुता आधुनिक राजनीति की समस्या है। इस अवधारणा ने निर्णायक रूप से मध्य युग को समाप्त करके ऐसे राज्य के अध्ययन के लिये मार्ग प्रशस्त किया, जो अपनी औद्योगिक पूंजीवादी संरचना के कारण अत्यधिक विकसित हो गया है।" सम्प्रभुता की अवधारणा को और अधिक स्पष्ट करने का कार्य बोदां, ग्रोशस और आस्टिन ने किया। राज्य के महत्व को आधुनिक युग में फिर से पहचाना गया। हीगल, बोसांके, ग्रीन और ब्रेडले जैसे परवर्ती आदर्शवादी विचारकों ने इसी विचार को आगे बढ़ाकर उसे पृथ्वी पर ईश्वर का अवतरण तक बता दिया।

शासन की यान्त्रिकता का विश्लेषण करते हुये मैकियाविली ने राजनीतिशास्त्र को कुछ महत्वपूर्ण विचारों से समृद्ध किया है। यह सत्य है कि ऐसा करते हुये वह एक विचारक से कहीं अधिक एक कूटनीतिक इतिहासकार जैसा दिखता है। वह यथार्थवाद का प्रथम विस्तृत विचार प्रस्तुत

करता है। मैक्सी के अनुसार "मैकियाविली ऐसा विचारक था, जिसके विचारों को सिद्धान्ततः सार्वभौम रूप से विरोध का सामना करना पड़ा, लेकिन व्यवहार में उसको अत्यधिक नियमितता के साथ अपनाया गया।" यथार्थवाद की परम्परा ही पड़ गयी कि उसे सर्वत्र मानव-चरित्र के नकारात्मक चित्रण पर आधारित किया गया। हॉब्स और मार्गेन्थ्यू भी इसके अपवाद नहीं है।

उसके यथार्थवाद में कई तार्किक असंगतियां हैं, जिन पर हम संक्षेप में विचार करेंगे। 1. उसके यथार्थवाद का सैद्धान्तिक पक्ष बहुत निर्बल दिखता है। सच तो यह है कि वह केवल एक दिशा में सोचने के कारण सत्य के सर्वांगीण सौंदर्य से अपरिचित ही रह गया। उसने यथार्थ का नहीं, वास्तविकता का ही दर्शन किया। सैद्धान्तिक निर्बलता के कारण ही उसका चिन्तन कई मामलों में काफी असंगत दिखा। वास्तव में वह राज्य के स्थान पर शासन का ही विश्लेषण करता रहा। वह राजनीति-शास्त्र का नहीं, राजनीति का विचारक बन कर रह गया। शासन के सीमित क्षेत्र में भी वह मात्र उसके संरक्षण की समकालीन चिन्ता में लगा रहा। जैस सेबाइन ने लिखा है कि इस मामले में उसकी एकाग्रता अद्‌भुत है..... वह इसके अतिरिक्त और कुछ सोचता ही नहीं। उसका वैचारिक-विश्व शासन के संरक्षण तक ही सीमित है। 2. सैद्धान्तिक कमजोरी के कारण वह मानव-चरित्र के चित्रण में अनावश्यक रूप से नकारात्मक हो गया। यह उचित होता कि वह ऐसी व्यापक सैद्धान्तिक स्थापना करने का प्रयास ही नहीं करता। उसके इस प्रयास से यह भी समस्या आयी कि ऐसा पाशविक मानव-स्वभाव गणतन्त्र के अनुकूल कैसे हो सकेगा। वह यूनानी और रोमन गणराज्यों का प्रशंसक था। हाब्स ने सर्वत्र अधिनायकवाद का समर्थन करके अपने को तार्किक असंगति से बचा लिया। मैकियाविली अपनी गणतान्त्रिक सोच के कारण समस्या में फंसा दिखता है। अगर मनुष्य प्राकृतिक रूप से इतने निकृष्ट होते हैं, तो वे प्राचीन गणराज्यों में इतने नैतिक शासन के संचालन में कैसे समर्थ हुए ? मैकियाविली इस प्रश्न को मात्र इस अगम्भीर टिप्पणी से टाल देता है कि प्राचीन युग के मनुष्य कुछ दूसरे प्रकार के थे। अगर हजार साल में मानव-चरित्र इतने बुनियादी ढंग से बदल सकता है, तो फिर मानव-चरित्र में सब कुछ परिवर्तनशील है और कोई भी सिद्धान्त मानव चरित्र की नकारात्मकता के आधार पर नहीं बनाया ज़ा सकता है। 3.एक समस्या सभी यथार्थवादी विचारकों के साथ है, लेकिन मैकियाविली के साथ अधिक है। यथार्थवादी विचारक वास्तविकता के विश्लेषण का दावा करते हैं, किन्तु वे शासकों को बहुत सलाह भी देते हैं। मैकियाविली से मार्गेन्थ्यू तक सलाहकार की भूमिका में सामने आते हैं। मैकियाविली का सर्वाधिक प्रसिद्ध रूप यही है। प्रश्न यह है कि यथार्थवादी विचारक "चाहिए" शब्द का इतना प्रयोग क्यों करते हैं, जबकि स्वयं उनके अनुसार राजनीति सदैव से ही इसी प्रकार हुई है ?

मैकियाविली कई नवीन विचारों का प्रणेता सिद्ध हुआ है। आधुनिक युग की पूर्व-पीठिका अर्थात् पुनर्जागरण का वह प्रातिनिधिक विचारक है। लियो स्ट्रास ने मैकियाविली को 'दुष्टता का शिक्षक' कहा है, लेकिन इसी के साथ उसे 'आधुनिकता का अग्रदूत' भी माना है। सहज रूप से आधुनिक विचार-पद्धति के कई महत्वपूर्ण सूत्र उसी के लेखन में पहली बार दृष्टिगत हुए हैं। राज्य के गणतान्त्रिक रूप की विवेचना करते हुये वह आर्थिक कारकों को समुचित महत्व देता है। मिश्रित शासन में शक्ति संतुलन के लिये भी वह मुख्यतः आर्थिक कारकों को महत्व देता है। राजनीति के आर्थिक कारकों की व्याख्या करने के कारण वह मार्क्स का पूर्वगामी पथ-प्रदर्शक बन गया है, यद्यपि उसके इस प्रभाव को अधिक महत्व नहीं दिया गया है। राज्य के महत्व को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने के कारण वह परवर्ती आदर्शवादी विचारकों को एक सशक्त वैचारिक आधार प्रदान करता है। यद्यपि वह स्वयं व्यावहारिक प्रसंगों में इतना व्यस्त है कि वह राज्य के महत्व को कोई सैद्धान्तिक आधार देने में अधिक समय नहीं दे पाता। विद्वानों ने उसे व्यक्तिवाद, संघीय राज्य-व्यवस्था, राज्य-विस्तार की अनिवार्यता आदि के विचारों के लिये भी काफी महत्व दिया है। निश्चित रूप से उसके विचारों को आधुनिक युग में सही परिप्रेक्ष्य में रखा जा सका है। अपने आप में यह इस बात का परिचायक है कि वह अपने समय से कितना आगे की सोच रहा था।

8.10 सारांश

पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि में मैकियाविली के अध्ययन से आपको आधुनिक युग के वैचारिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का ज्ञान हुआ होगा। उसने असाधारण रूप से राजनैतिक चिंतन को मध्यकालीन धार्मिकता से अलग कर लिया। यह कार्य तत्कालीन मानसिकता के इतना विपरीत था कि उस समय तो मैकियाविली के विचार को उपेक्षित और निंदित ही किया गया। दो शताब्दी बाद यह धर्म-निरपेक्ष विचार यूरोपीय राजनीति में प्रभावी हुए। मैकियाविली के नैतिकता सम्बन्धी विचार वैसी व्यापक स्वीकृति नहीं पा सके। फिर भी इससे मैकियाविली का महत्व कम नहीं होता। पारम्परिक नैतिकता की अवहेलना के पीछे का उसका मंतव्य आज भी मान्य है। मैकियाविली का मंतव्य राज्य को सम्प्रभु बनाना था। स्पष्टतः पारम्परिक नैतिक प्रतिमान राज्य को बांध नहीं सकते। मैकियाविली ने यथार्थवाद का मार्ग प्रशस्त किया। उसका सैद्धान्तिक आधार निर्बल दिखता है, लेकिन इसके बाद भी उसकी मान्यताएं हमें राजनीति की समझ बढ़ाने में सहायता देती हैं।

8.11 उपयोगी पुस्तकें

1. एलेन एच गिलबर्ट– मैकियाविली'ज प्रिन्स एण्ड इट्स फोररनर्स (ड्यूक विश्वविद्यालय, 1938)
2. जॉन मार्ले– मैकियाविली (लंदन, 1897)
3. लुइ डायर– मैकियाविली एण्ड माडर्न स्टेट (बोस्टन, 1904)
4. जे आर हेल– मैकियाविली एण्ड रिनांसा इटली (टीच योरसेल्फ हिस्ट्री सीरीज, 1961)
5. हर्बर्ट बटरफील्ड-स्टेटक्राफ्ट ऑफ मैकियाविली (1940)
6. डब्लू जे एलेन– ए हिस्ट्री ऑफ पालिटिकल थॉट इन दि सिक्सटींथ सेंचुरी (लंदन, 1928)

8.12 संबंधित प्रश्न

(क) दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. "प्रिन्स एक सफल शासन की तकनीक का विवेचन करता है" – मैक्सी के इस कथन का विश्लेषण कीजिए।
2. "धर्म किसी भी नागरिक समाज को अत्यन्त आवश्यक और आश्वस्तकारी समर्थन प्रदान करता है।" मैकियाविली की यह मान्यता उसके विचारों में कितनी स्पष्ट होती है ?
3. मैकियाविली द्वारा शासक को दिये गए सुझावों की समीक्षा कीजिये।
4. मानव-चरित्र के नकारात्मक चित्रण के गुण-दोष पर प्रकाश डालते हुए मैकियाविली के यथार्थवादी विचार का विश्लेषण कीजिए।

(ख) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. "राज्य या तो विस्तार करे या नष्ट हो जाए"– मैकियाविली की इस मान्यता की समीक्षा कीजिए।
2. निजी और सार्वजनिक जीवन के "सद्गुणों" के दोहरे प्रतिमानों की अवधारणा की आलोचना कीजिए।

3. मैकियाविली द्वारा शासन-संचालन में उदारता और क्रूरता की तुलनात्मक समीक्षा पर प्रकाश डालिए।

(ग) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. कुशल शासक के लिये मैकियाविली ने किस रूपक का प्रयोग किया है–
   (अ) शेर और लोमड़ी का,
   (ब) हाथी और भेड़िए का,
   (स) खरगोश और कछुए का,
   (द) शेर और बकरी का।
2. फॉस्टर के अनुसार मैकियाविली प्रतिनिधित्व करता है–
   (अ) पुनर्जागरण का,
   (ब) सुधार आन्दोलन का,
   (स) परिषदीय और सुधार आन्दोलन का,
   (द) पुनर्जागरण और सुधार आन्दोलन का।
3. मैकियाविली के "डिस्कोर्सेज" का केन्द्र है–
   (अ) मध्यकालीन पोपतन्त्र,
   (ब) प्राचीन रोमन और यूनानी व्यवस्थाएं,
   (स) सार्वभौम ईसाई समाज,
   (द) समकालीन इटली।
4. मैकियाविली के "प्रिन्स" का कल्पित शासक इनके निकट है–
   (अ) ईसा मसीह,
   (ब) सावनेरोला,
   (स) सीजर बोर्गिया,
   (द) राजा सिपियो।

8.13 प्रश्नोत्तर

1. अ, 2. अ, 3. ब, 4. स।

इकाई : 9 जीन बोदां

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 व्यक्तित्व और कृतित्व

9.3 तत्कालीन परिस्थितियां

9.4 राज्य के जन्म का 'परिवारवादी' सिद्धांत

9.5 राज्य के लक्ष्य

9.6 सम्प्रभुता की अवधारणा

9.7 सम्प्रभुता की सीमाएं

9.8 राज्य का चरित्र

9.9 विस्तृत राज्य के लिए 'नागरिकता' का अनुकूलन

9.10 क्रान्ति–कारण और निवारण

9.11 धार्मिक सहिष्णुता की नीति का प्रतिपादन

9.12 बोदां का योगदान

9.13 सारांश

9.14 उपयोगी पुस्तकें

9.15 संबंधित प्रश्न
(क) दीर्घ (ख) संक्षिप्त (ग) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

9.16 प्रश्नोत्तर

9.0 उद्देश्य

1. इस अध्याय से आपको स्पष्ट होगा कि आधुनिक राज्य की सबसे आधारभूत अवधारणा– संप्रभुता– को बोदां ने किस प्रकार परिभाषित किया। आधुनिक राज्य को हम सहजतः सम्प्रभु मान लेते हैं, लेकिन बोंदां के समय तक ऐसा नहीं था। इस अवधारणा को स्पष्ट करने और व्यापक स्वीकृति दिलवाने की प्रक्रिया जटिल और लम्बी थी। इस अध्याय से आप इस पृष्ठ भूमि से परिचित हो सकेंगे।
2. सम्प्रभुता की तरह धर्म-निरपेक्षता को हम आधुनिक राज्य का सहज गुण मान लेते हैं। इस अध्याय से हमें स्पष्ट होगा कि, यहां तक कि यूरोप में भी, धर्म निरपेक्ष राज्य बहुत भीषण संघर्ष के बाद ही स्थापित हो सका है। बोदां को पढ़कर हम समझ सकेंगे कि किस प्रकार धार्मिक मतान्धता के दुष्परिणामों से बचने के लिये राज्य को धर्म-निरपेक्ष बनाने की आवश्यकता का अनुभव किया गया।

9.1 प्रस्तावना

पिछले दो अध्यायों में आपने मध्ययुग के अवसान की पृष्ठभूमि को समझा है। आधुनिक युग की कुछ प्रवृत्तियों को मैकियावली ने कहीं अधिक उग्रता के साथ अपनाया है। इसके बाद भी

आप पायेंगे कि बोदां मैकियाविली से अधिक आधुनिक और सामयिक है। तत्कालीन फ्रांस की समस्याओं के समाधान के लिए उसने संप्रभुता और धार्मिक सहिष्णुता के विचार दिए। कालान्तर में यही दो विचार आधुनिक राज्य के भवन के बुनियादी पत्थर बने। बोदां की विशेषता है कि उसने सामयिक समस्याओं का सैद्धान्तिक समाधान प्रस्तुत किया। इस प्रकार उसका योगदान स्थायी सिद्ध हुआ, क्योंकि लगभग उसी प्रकार की समस्याओं से सभी यूरोपीय राज्य जूझ रहे थे।

बोदां के समय का फ्रांस अराजकता की चपेट में था। पुराने विशेषाधिकारों ने राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित कर रखा था। अभी इस समस्या का समाधान हुआ भी नहीं था कि धर्म-सुधार आंदोलन ने फ्रांस में एक नया गृह-युद्ध छेड़ दिया। ईसाइयों के बीच से ही प्रोटेस्टेण्टों का एक नया प्रभावशाली और उग्र वर्ग खड़ा हो गया। ईसाइयों के दोनों वर्ग राज्य को अपने दमन का साधन बनाना चाहते थे। इस संघर्ष में हिंसा और प्रमुख व्यक्तियों की हत्या का दौर भी चला। बोदां ने राज्य को सम्प्रभु बनाकर पुराने विशेषाधिकारों के समापन का औचित्य स्थापित किया। उसने राज्य को धार्मिक मतवाद की संकीर्णता से भी ऊपर किया। अगर आप बोदां के प्रत्यक्षतः नीरस से दिखने वाले विचारों को समझने का प्रयास करेंगे तो आप को ज्ञात होगा कि बहुधा जटिल व्यावहारिक समस्याओं का समाधान सैद्धान्तिक स्तर पर ही निकल पाता है। बोदां ने प्राकृतिक विधि की नवीन व्याख्या भी की। उसने राजनैतिक संदर्भ में भौगोलिक, आर्थिक और चारित्रिक कारकों के प्रभाव का भी अध्ययन किया। इस पूरे कालखंड का वह प्रतिनिधिक विचारक है।

9.2 व्यक्तित्व और कृतित्व

राजनैतिक विचारों में मध्ययुग को निर्णायक रूप से समाप्त करने वाले जीन बोदां के जीवन में नीरस लेखन और सक्रिय राजनीति का विचित्र संयोग दिखता है। डब्लू० टी० जोन्स के अनुसार उसके लेखन से कई बार भ्रम होता है कि उसका लेखक कोई तटस्थ पर्यवेक्षक रहा होगा। यह भी सच है कि उसकी शिक्षा विख्यात टाल्यूज विश्वविद्यालय में हुई थी। वह बाद में उसी विश्वविद्यालय में विधि का शिक्षक रहा। विधि और न्यायशास्त्र की पांडित्यपूर्ण विवेचना के कारण उसके लेखन में कई बार अनावश्यक नीरसता और दुहराव आ गया है। इसी कारण से सेबाइन की यह टिप्पणी सटीक बैठती है कि बोदां में "असाधारण निर्लिप्तता" दिखती है, जबकि उस युग के अधिकांश लेखक समकालीन समस्याओं में डूबे दिख रहे थे। एक अर्थ में यह बोदां की विशिष्टता भी है, क्योंकि वास्तव में वह भी समकालीन समस्याओं से ही जूझ रहा था–व्यक्तिगत रूप से भी और लेखन में भी। इसके बाद भी उसमें यह क्षमता थी कि उसने बहुत कुछ कालजयी चिन्तन किया। जोन्स ने लिखा है कि "बोदां सबसे कम पढ़े जाने वाले, किन्तु सबसे अधिक उद्धृत किये जाने वाले राजनैतिक विचारकों में एक है। उसे प्रायः इसलिये उद्धृत किया जाता है क्योंकि सम्प्रभुता की उसकी अवधारणा आधुनिक मान्यता का पूर्व-रूप प्रस्तुत करती है। उसका अध्ययन कम इसलिये किया जाता है, क्योंकि उसकी पुस्तक-'रिपब्लिक'-राजनैतिक निबन्धों में सर्वाधिक बड़बोलेपन, दुहराव और विरोधाभासी लेखन की एक मिसाल है।"

बोदां पर्याप्त शिक्षित व्यक्ति था लेकिन वह बहुत व्यावहारिक व्यक्ति भी था। टाल्यूज विश्वविद्यालय उसकी महत्वाकांक्षा के अनुपात में छोटा था, इसलिये वह कुछ समय बाद ही पेरिस आकर वकालत करने लगा। कुछ समय के भीतर ही उसने फ्रांस के तत्कालीन शासक–हेनरी तृतीय से निकटता बना ली। वह हेनरी का सलाहकार बनने में सफल हुआ। इसी के साथ उसने अपना स्वतन्त्र राजनैतिक स्थान भी बना लिया, जिसकी सबसे ऊंची उपलब्धि सन् 1576 में हुयी, जब वह ब्लोई में आयोजित संसद में तृतीय वर्ग के प्रतिनिधि के तौर पर शामिल हुआ। यह वर्ष उसके लिये बहुत महत्वपूर्ण रहा। इस वर्ष वह संसद में जनता के

प्रतिनिधि के रूप में कैथोलिक कट्टरपंथियों के संगठन-लीग-के उस प्रस्ताव को सदन में पराजित करवाने में सफल हुआ, जिसके पारित होने का अर्थ यह होता कि कैथोलिक सम्प्रदाय फ्रांस का राजधर्म हो जाता। इस तरह फ्रांस गृह-युद्ध में फँस जाता क्योंकि फ्रांस में प्रोटेस्टैण्ट सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या भी बहुत थी और वे इस निर्णय को स्वीकार नहीं करते। इसी वर्ष बोदां की सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुस्तक–सिक्स बुक्स कन्सर्निंग रिपब्लिक–प्रकाशित हुई।

बोदां के व्यक्तित्व और कृतित्व पर तत्कालीन फ्रांस के राजनैतिक संकट की छाया देखी जा सकती है। व्यक्तिगत रूप से उसने हेनरी की धार्मिक सहिष्णुता की नीति का समर्थन किया। 1576 के ब्लोई अधिवेशन में उसने गीसेज के नेतृत्व में संगठित कैथोलिक कट्टरपंथियों का सफलतापूर्वक विरोध किया। इस प्रकार से वह शासकीय नीति का समर्थन ही कर रहा था, लेकिन कतिपय अन्य कारणों से वह शासक की दरबारी राजनीति में असफल हो रहा था। परिणामस्वरूप वह लाओं नगर के दण्डाधिकारी के पद पर कार्य करने के लिए राजधानी से बाहर हो गया। वहां उसने सहसा अपनी निष्ठाओं में परिवर्तन करके कैथोलिक कट्टरपंथियों का समर्थन करना शुरू कर दिया। बोदां का यह मत-परिवर्तन उसके विचार और पीछे के पूरे राजनैतिक जीवन के ठीक विपरीत था। सम्भवतः एक सामान्य राजनैतिक व्यक्ति की तरह उसने भी अपने विचारों को किनारे करके अवसर का लाभ उठाने का प्रयास किया था। उस समय तक कैथोलिक लीग बहुत सशक्त हो चुकी थी। बोदां को लगा कि कैथोलिक लीग का शासन अश्वयम्भावी है, इसलिए उसने लीग का समर्थन किया। वह 1576 में "रिपब्लिक" में लिख चुका था कि राष्ट्रीय एकता के लिये कभी असहिष्णुता की नीति को भी अपनाना पड़ सकता है। अर्थात् महत्व सहिष्णुता या असहिष्णुता का नहीं, बल्कि राष्ट्रीय एकता का है और सहिष्णुता एक साधन मात्र है। लेकिन बोदां को यह मत-परिवर्तन महंगा पड़ा। 1590 में उसके घर पर छापा पड़ा और उसके पास से कई "निन्दनीय पुस्तकें" बरामद हुईं। इस प्रकार बोदां ने अपनी निष्ठाओं में पुनः परिवर्तन किया और 1593 में सहिष्णुता की नीति को फिर से अपना लिया। शासकीय नीति तो पहले से ही यही थी। उसकी मृत्यु 1593 में हुई और उसी के थोड़ा बाद सहिष्णुता का समर्थक हेनरी चतुर्थ शासक बना।

बोदां की सर्वाधिक प्रसिद्ध पुस्तक "रिपब्लिक" है, जिसमें उसने सम्प्रभुता के अपने महत्वपूर्ण विचार को प्रस्तुत किया है। बोदां ने प्रायः सभी विषयों पर गम्भीर लेखन किया है। अंग्रेजी में उसकी पुस्तकों के सम्पादन का कार्य काफी बाद में हुआ, इसलिये भी अन्य पुस्तकों को अधिक महत्व नहीं मिल सका। 1569 में उसने "रिस्पान्स" लिखी, जो राजनैतिक अर्थशास्त्र पर बिल्कुल प्रारम्भिक पथ-प्रदर्शक पुस्तक मानी जाती है। 1566 की उसकी एक पुस्तक "ए मेथड ऑफ इजी अण्डरस्टैण्डिंग ऑफ हिस्ट्री" या "मेथोडस" प्रकाशित हुई। बोदां समकालीन स्थितियों से किस प्रकार से प्रभावित होता था, इसका अनुमान इस तथ्य से लग सकता है कि "मेथोडस" में वह शासक को बहुत सीमित अधिकार देता है, लेकिन दस वर्ष बाद "रिपब्लिक" लिखते हुए वह सम्प्रभुता की धारणा को पूरी तरह विकसित करके शासक को बहुत अधिकार देता है। इस विचार परिवर्तन का कारण सम्भवतः यह है कि उसे तत्कालीन परिस्थितियों में सशक्त शासक की आवश्यकता का अनुभव हो गया था।

बोदां पर प्रारम्भ में ईसाई धर्म-ग्रन्थ के बाद सर्वाधिक प्रभाव प्लेटो का पड़ा था, जिसका ज्ञान उसे फ्रांस के नव-प्लेटोवादियों से हुआ था। धर्म की सकारात्मक भूमिका और राज्य के लक्ष्य के बारे में वह प्लेटो से प्रभावित हुआ है। उसके ग्रन्थ का शीर्षक इसी की ओर इंगित करता है। फिर भी उस पर सबसे स्थायी प्रभाव निरपवादतः अरस्तू का पड़ा था। अध्ययन-पद्धति, विषय-वस्तु और वैचारिक अभिनति उसे अरस्तू का शिष्य बनाती है। सेबाइन के शब्दों में "बोदां ने अपने लिये यह महत्वकांक्षी लक्ष्य रखा कि वह आधुनिक युग को वैसे व्याख्यायित करे, जैसा प्राचीन युग को अरस्तू ने किया था। यद्यपि यह महत्वाकांक्षा सफल नहीं मानी जा सकती, लेकिन उसकी पुस्तक को महान ख्याति प्राप्ति हुई।" उसके अनुसार वह अरस्तू की तरह का विस्तृत विश्लेषण नहीं कर सका। फिर भी उसने सम्प्रभुता को राजत्व के दैवी सिद्धान्त से

निकाल कर स्वतन्त्र और लौकिक आधार प्रदान करके राजनीति-शास्त्र को समृद्ध किया। जैनेट ने भी "आधुनिक अरस्तू" बनने की उसकी महत्वाकांक्षा को असफल माना है, जबकि डनिंग उसको इस बात का श्रेय देते हैं कि उसने इस तरह राजनैतिक विचारों को "कम से कम बाहरी रूप से एक विज्ञान का स्वरूप" प्रदान किया।

बोदां ने अरस्तू की तरह ही शासन और राज्य के विविध रूपों का अध्ययन करने का प्रयास किया। उसकी पद्धति भी बहुत व्यावहारिक थी। उसने बहुत श्रम से अपनी शोध-सामग्री को व्यवस्थित और वर्गीकृत किया। कई स्थानों पर उसने अरस्तू से आगे जाकर अरस्तू के बाद हुए परिवर्तनों को इतिहास के माध्यम से रेखांकित किया। मूलतः वह भी अरस्तू की तरह तुलना, पर्यवेक्षण और वर्गीकरण पर जोर देता है। फिर वह इसके आगे जाकर इतिहास और विधि का आश्रय लेता है। डनिंग ने कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से उसे "आधुनिक अर्थ में इतिहास के दर्शन का प्रतिपादक" बता दिया है। इस प्रशंसा में इतनी सत्यता अवश्य है कि उसने विधि और विधि की व्याख्या में इतिहास का आश्रय लिया, जबकि उसके समय के विधि-वेत्ता रोमन विधि से आगे जाने के लिये तैयार नहीं थे। इस नव्यता के कारण उसे अपने समय के विधिशास्त्रियों की आलोचना का शिकार बनना पड़ा। बोदां की मान्यता थी कि इतिहास के विस्तृत अध्ययन के द्वारा ही समाज के क्रमबद्ध विकास और उसमें से राजनैतिक समुदाय अर्थात् राज्य के विकास का ज्ञान हो सकता है। वह इसी प्रकार परिवार और अन्य "हीनतर समुदायों" के विकास का अध्ययन करता है। उसके ऐतिहासिक अध्ययन में समस्या यह है कि वह इतिहास के आवरण में मनमाने निष्कर्ष निकालने के लिये तर्क का सहारा लेता है। राज्य के विकास तक का उसका वृत्तान्त वस्तुतः ऐतिहासिक नहीं बल्कि तार्किक है–जैसा हमने परवर्ती सामाजिक समझौता सिद्धान्त में देखा है।

9.3 तत्कालीन परिस्थितियां–निर्बल केन्द्र, साम्प्रदायिक विद्वेष और सम्प्रभु शासक की आवश्यकता

जैसा हम देख चुके हैं, बोदां अपने समय की समस्याओं से व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों प्रकार से निपट रहा था। उस समय के फ्रांस की स्थिति अराजकता के निकट पहुंच रही थी। इसका निदान निर्णायक रूप से फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति के बाद ही हो सका। फ्रांस की तत्कालीन स्थिति पर जे० डब्लू० एलेन की टिप्पणी है..... "देश के प्रत्येक भाग में केन्द्रीय शासन के कार्य पर धार्मिक, सामन्ती, क्षेत्रीय और सामुदायिक विशेषाधिकारों और परम्पराओं का रोड़ा लगा रहता था। थोड़ा-बहुत जो केन्द्रीय प्रशासन का ढांचा था भी, वह अत्यधिक अक्षम और पर्याप्त रूप से अनियन्त्रित था। विधि प्रान्तों के हिसाब से नहीं, कई बार नगरों के हिसाब से बदलती रहती थी।" फ्रांस के शासक बहुत प्रयास कर रहे थे कि सामन्ती विकेन्द्रीकृत व्यवस्था का केन्द्रीयकरण करके फ्रांस को एक राष्ट्रीय प्रादेशिक राज्य बनाया जाए, लेकिन उस समय तक फ्रांसीसी शासक "वास्तविक रूप से सत्तासीन शक्ति न होकर, सत्ता के लिये प्रयासशील और आक्रामक शक्तिमात्र था।"

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि फ्रांस में सामन्ती स्वायत्तता अभी प्रभावशाली थी। उससे भी विकट समस्या धार्मिक, या एकदम सही शब्दावली में साम्प्रदायिक थी, जिसने एलेन के शब्दों में गृह-युद्ध की स्थिति पैदा करके "केन्द्रीय प्रशासन को व्यवहारतः लुप्त ही कर दिया और फ्रांस को तोड़ दिया।" इस तरह हमारे विश्लेषण में साम्प्रदायिक समस्या को भी महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए। बोदां ने धार्मिक सहिष्णुता पर बहुत विस्तार से लिखा है, क्योंकि तत्कालीन फ्रांस इसी समस्या के कारण अराजकता की लपेट में आ गया था। ईसाई यूरोप में प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदायों ने क्षेत्रीय आधार पर संगठित होकर सार्वभौम ईसाइयत की धारणा और पोप के नियन्त्रण को चुनौती दी थी। उत्तर के क्षेत्रों में प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय लगभग राष्ट्रीय चर्च की हैसियत पा चुके थे। इंग्लैण्ड, जर्मनी, स्कॉटलैण्ड,स्विट्जरलैण्ड और स्कैण्डीनेवियन देश

प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय के स्थानीय रूपों को पूर्णतः अपनी चुके थे। इससे उनकी राष्ट्रीय एकता को और समर्थन मिला, जबकि उसके पहले पोप कैथोलिक मान्यताओं के आधार पर उनकी राजनीति को विकृत कर रहा था। अब इन देशों के शासकों ने धर्म पर अपना प्रभावी नियन्त्रण स्थापित कर लिया। इटली और स्पेन जैसे कैथोलिक देशों में समस्या बनी रही। स्वयं इटली में इसके क्या दुष्परिणाम हुए, यह हम मैकियाविली के अध्याय में देख चुके हैं। फ्रांस की स्थिति सबसे दुर्भाग्यपूर्ण थी, क्योंकि वहां प्रोटेस्टेण्टों और कैथोलिकों दोनों की संख्या पर्याप्त थी। कैथोलिक कट्टरपंथी गीसेज के नेतृत्व में अपनी साम्प्रदायिक मान्यताओं को एकमात्र राजकीय धर्म के रूप में स्थापित करना चाहते थे। यह संघर्ष कितना विकट था, इसका अनुमान इसी से लग सकता है कि इसके दोनों शीर्ष नेता–राजा हेनरी तृतीय और गीसेज की हत्या हुई। सेंट बार्थोलोम्यू के हत्याकांड में प्रोटेस्टेण्ट शिकार बने। इस समस्या का पर-राष्ट्रीय आयाम यह था कि स्थानीय सामन्त स्पेन के कैथोलिक कट्टरपंथी फिलिप द्वितीय के साथ गठबन्धन करके फ्रांसीसी शासक को निर्बल बनाने का प्रयास कर रहे थे। बोदां के समय में एक बार यह स्थिति बनी कि कैथोलिक कट्टरपंथी विजय के निकट आ गए। इस स्थिति में भी समस्या का एक हिंसक समाधान निकल सकता था। फ्रांस को यह विकल्प नहीं मिल सका।

फ्रांस के बुद्धिजीवियों में इस समस्या के समाधान को लेकर दो विकल्पों पर विचार हो रहा था। समस्या मुख्यतः धार्मिक थी, लेकिन समाधान निश्चित रूप से राजतंत्र के वैकल्पिक रूपों से ही निकल सकता था। प्रोटेस्टेण्ट, जिन्हें फ्रांस में ह्यूजीनॉट्स कहा जाता था, यह चाहते थे कि राजतन्त्र सशक्त न हो, क्योंकि सशक्त राजतन्त्र उनका दमन कर सकता था। इस विचार के बौद्धिक समर्थकों को मोनार्कोमैक्स कहा जाता था। दूसरा वर्ग राजतन्त्र को सशक्त बनाने में ही राष्ट्रीय एकता को निहित मानता था। राजत्व के माध्यम से ही देश का एकीकृत प्रशासन सम्भव है। प्रोटेस्टेण्टों के स्वाभाविक भय के निराकरण के लिये इस वर्ग ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति को सशक्त राजत्व के समान ही महत्व दिया। बोदां इन मध्यमार्गी बुद्धिजीवियों–पोलिटिकस समूह–का सबसे मुखर प्रवक्ता सिद्ध हुआ। उनके अनुसार राजनैतिक एकता के लिये धार्मिक अनेकता को भुला देना ही ठीक होगा। इसका निहितार्थ यह था कि फ्रांस में धार्मिक विभाजन को स्थायी मान लिया जाए। आज यह बात सामान्य लगती है, लेकिन सोलहवीं सदी के फ्रांसीसी कैथोलिकों के लिए यह समझौता बहुत विवादास्पद और यहां तक कि "पापपूर्ण" था। इस समझौते का अर्थ यह था कि "पापी प्रोटेस्टेण्टों की मुक्ति का अभियान" समाप्त हो जाता। साम्प्रदायिक सोच के कैथोलिकों के लिये यह पतन की पराकाष्ठा थी। प्रोटेस्टेण्ट भी अपने बहुमत वाले देशों में कैथोलिकों से कोई श्रेष्ठ या संयमित व्यवहार नहीं करते थे। इस वैचारिक पृष्ठ-भूमि वाले यूरोप और विशेषतः फ्रांस में संयम की बात करना विवादास्पद था। बोदां ने इस समस्या के समाधान के लिये एक अत्यन्त विस्तृत योजना बनाई। हम आगे देखेंगे कि किस प्रकार उसने राज्य को समाज से विकसित किया और फिर सम्प्रभु की संकल्पना से शासक को युक्त किया। इस प्रक्रिया में उसने शासन को भी शासक से अलग करके केवल महत्वपूर्ण मामलों के लिए ही शासक अर्थात् सम्प्रभु की आवश्यकता का औचित्य बताया। इसमें एक समस्या यह हुई कि इतनी विस्तृत और महत्वाकांक्षी योजना के लिए उसके पास आवश्यक धैर्य नहीं था। इस कारण उसके लेखन में क्षोभजनक भटकाव, दुहराव और अन्तर्विरोध आ जाता है।

9.4 राज्य के जन्म का "परिवारवादी" सिद्धान्त और राज्य की सर्वोपरिता का औचित्यीकरण

बोदां "रिपब्लिक" के पहले अध्याय में ही कुछ गर्व से राज्य की परिभाषा देकर अपने विश्लेषण का प्रारम्भ करता है। वह दावा करता है कि राज्य को ठीक तरह से परिभाषित करने का श्रेय उसको जाना चाहिए, क्योंकि उसके पूर्ववर्तियों ने प्रायः तो राज्य को परिभाषित ही नहीं

किया और अपवादतः अगर किसी ने यह बौद्धिक व्यायाम किया भी, तो वे राज्य के मर्म को सही प्रकार से समझ नहीं सके। उसकी परिभाषा के दो रूप अनुवादों की भिन्नता के कारण मिलते हैं। अधिकतर अनुवाद फ्रांसीसी और लैटिन के माध्यम से आए और बोदां की भाषा की जटिलता के कारण यह स्थिति हुई है। फिर भी दोनों परिभाषाएं तत्वतः एक ही हैं.....

1. "राज्य परिवारों और उनके समान हितों की सर्वोच्च सम्प्रभुता वाली वैधानिक सरकार है।"

2. "राज्य परिवार और उनके समान कृत्यों का ऐसा संगठन है, जिसका शासन एक सर्वोच्च शक्ति और विवेक के साथ होता है।"

बोदां अब राज्य के विकास का क्रम निर्धारित करता है। इसकी रूपरेखा अरस्तू और रोमन मान्यताओं से मिलकर बनी है, जिसमें उसने समयानुकूल थोड़ा परिवर्तन किया है। राज्य के विकास को परिवार से जोड़ने का कार्य अरस्तू ने किया था। इसी नैसर्गिक इकाई ने आगे विकसित और विस्तृत होकर पहले गांव और छोटे समुदायों का रूप लिया और अन्त में अपने विकास की अन्तिम अवस्था अर्थात् राज्य 'पोलिस' का स्वरूप प्राप्त किया। बोदां ने इस सामान्य वृतान्त में दो बड़े गुणात्मक संशोधन किए। एक तो वह प्राचीन यूनानी सिद्धान्त में सर्वमान्य इस मान्यता का विरोध करता है कि इस प्रकार से निर्मित राज्य को परिवार की तरह ही नैसर्गिक समुदाय मानना चाहिए। दूसरी बात यह है कि वह परिवार को "प्रारम्भिक राज्य" और राज्य को "अन्तिम परिवार" मानकर उसी प्रकार से पूर्णतः सर्वाधिकार प्राप्त सम्प्रभु की अधीनता में रखता है। वह लिखता है कि "परिवार राज्य की तरह है..... उसमें केवल एक शासक और एक स्वामी ही हो सकता है। अगर उसमें कई व्यक्तियों को अधिकार प्राप्त हो जाएगा, तो आदेशों के कई स्रोत हो जाएंगे, आदेशों में परस्पर विरोध हो जाएगा और पूरा परिवार लगातार अशान्ति में डूबा रहेगा।"

बोदां के अनुसार परिवार "व्यक्तियों का ऐसा समूह है, जो 'पैटर फेमेलिया' अर्थात् गृह-स्वामी की सर्वोच्च शक्ति के अधीन कार्य करता है।" बोदां परिवार में चार प्रकार के सम्बन्धों के बारे में विचार करता है। प्रथम दो सम्बन्ध पति-पत्नी और पिता तथा उसके बच्चों के बीच के हैं। उसके बाद के दो सम्बन्ध स्वामी-परिचर तथा स्वामी-दास के हैं। स्वामी-परिचर के सम्बन्ध में बोदां कुछ नहीं कहता, क्योंकि इस सम्बन्ध में अधिकार का कोई विवादास्पद प्रश्न नहीं है। स्वामी-दास के सम्बन्ध में भी अधिकार का कोई महत्वपूर्ण प्रश्न नहीं है, लेकिन नैतिक दृष्टि से यह सम्बन्ध अनुचित है। उसके अनुसार युद्ध में पराजित वर्ग से ही ऐतिहासिक रूप से दास वर्ग का जन्म हुआ। कालान्तर में दासत्व एक व्यवस्था ही बन गयी। समाज के ढांचे में दासता घुल-मिल गयी। दासत्व के बिना समाज की उत्पादन-प्रणाली का सुचारु-संचालन कर पाना कठिन हो गया। बोदां दासत्व को इस प्रकार से परम्परागत मानता है। निश्चित रूप से यह प्राकृतिक नहीं है और इसका नैतिक आधार सबल नहीं है। वह दासत्व का समर्थक नहीं है। व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन का वह कोई औचित्य नहीं देखता, किन्तु उसका मानना है कि दासों को कुटीर-कलाओं में प्रशिक्षित करके सेवायोजित किया जाना चाहिए।

परिवार में अधिकार का प्रश्न पति-पत्नी और पिता तथा उसके बच्चों के बीच उठ सकता है। बोदां पति और पिता की स्थिति में गृह-स्वामी को पूर्ण और परम अधिकार प्रदान करता है। इसके समर्थन में वह रोमन विधि और धर्म-शास्त्रों का उद्धरण देता है। एक प्रकार से वह ईसाई धर्म-शास्त्र की इस मान्यता को पूरी तरह से स्वीकार कर लेता है कि पिता को घर में और "सृष्टि के पिता" को पूरी सृष्टि के सम्बन्ध में परम अधिकार प्राप्त है। हम देखेंगे कि इन दोनों पिताओं के परम अधिकारों पर जोर देने के पीछे उसका प्रमुख उद्देश्य यह था कि इन्हीं के साथ वह शासक को 'राज्य का पिता' बनाकर परम अधिकार यानी सम्प्रभुता दिलवाना चाहता था। इस कारण से वह गृह-स्वामी के अधिकारों के औचित्य को सिद्ध करने के लिए लम्बी तर्क-शृंखला बनाता है। गृह-स्वामी को अपनी पत्नी पर भी उसी प्रकार से निरपेक्ष और असीमित अधिकार प्राप्त हैं, जिसके लिये वह अरस्तू का तर्क लेता है। कुल-मिलाकर वह गृह-स्वामी को

घर का सम्प्रभु बना देता है। बाद में जब वह परिवार से राज्य का निर्माण करने का सिद्धान्त स्थापित करेगा, तो परिवार के प्रमुख की तरह ही राज्य के प्रमुख को भी सम्प्रभु बना देगा।

परिवार प्राथमिक और प्रमुखतम सामाजिक इकाई है। कालान्तर में मनुष्य की अन्य आवश्यकताओं के लिये अन्य संगठनों का विकास हुआ और कई व्यावसायिक संगठनों का निर्माण किया गया। मनुष्य ने अपनी सामाजिक, सुरक्षात्मक, आर्थिक, धार्मिक और अन्य बहुआयामी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कई संगठनों, संस्थाओं और निगमों का विकास या निर्माण किया। इनका गठन कभी रक्त-सम्बन्ध, कभी पारस्परिक सहमति और कभी निगमितीकरण के द्वारा होता है। ये संगठन प्रत्यक्षतः तो नागरिक संगठन हैं लेकिन अपने महत्व के कारण इनको नैसर्गिक माना जा सकता है। इनमें स्वैच्छिकता का भाव भी है। फिर भी बोदां के लिये ये संगठन हीनतर, निम्नतर और माध्यमिक संगठन ही हैं, क्योंकि विकास-यात्रा का चरम तो राज्य ही है।

बोदां परिवार के ढांचे को ही विस्तृत रूप देता है। उसका एक तर्क यह है कि प्राकृतिक नियमानुसार तृष्णा पर विवेक का शासन होना चाहिए। इस आधार पर वह परिवार में गृह-स्वामी और राज्य में शासक के असीमित अधिकारों का औचित्य सिद्ध करता है। वह परिवार की परिभाषा में सम्पत्ति को अन्तर्निहित मानता है। परिवार के साथ वह सम्पत्ति को अधिकांश स्थानों पर जोड़ना नहीं भूलता है, बल्कि सम्पत्ति को अलग लिखने के पीछे उसका आशय मात्र इस बिन्दु को स्पष्ट करना ही है। प्रश्न यह है कि वह परिवार को अपने राजनैतिक विमर्श में इतना महत्व क्यों देता है। सेबाइन के अनुसार इस मामले में "उसके तर्क की अपेक्षा उसका मंतव्य सरलता से समझा जा सकता है।" अपने धार्मिक और शुद्धतावादी संस्कार के कारण वह परिवार की पवित्रता और उसके पारम्परिक पितृसत्तात्मक ढांचे की उपयोगिता से अभिभूत था। वह परिवार को वैयक्तिक और राज्य को सार्वजनिक या सामूहिक निकाय मानता है। वह इन दोनों के अधिकार-क्षेत्रों को एकदम स्पष्ट रूप से चिन्हांकित करना चाहता था, ताकि इन दो महत्वपूर्ण संस्थाओं में विवाद होने की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति न आए। इससे भी महत्वपूर्ण आशय यह था कि सम्पत्ति को राज्य के अधिकार से बचाया जाए। सम्भवतः यह पहले से कहीं अधिक महत्वपूर्ण कारण था। उसकी भाषा से यह आभास होता है। रोमन मान्यता थी कि 'घर की देहरी पर राज्य का अधिकार समाप्त हो जाता है।' परिवार और सम्पत्ति को सार्वजनिक क्षेत्र में नहीं डालना चाहिए। इंस तरह से वह प्लेटो और अपने समकालीन विचारक सर थामस मूर और एनाबेपटिस्ट समूह की मान्यताओं का विरोध करता है। उसके अनुसार "सम्पत्ति परिवार की है, सम्प्रभुता शासक और उसके दण्डाधिकारियों की।" लॉक ने इस विचार को आगे बढ़ा कर सम्पत्ति के अलंघ्य अधिकार को और अधिक परिष्कृत किया। दोनों में यह अन्तर है कि बोदां ने यह अधिकार परिवार के प्रमुख को दिया, अर्थात् यह प्रस्थितिगत अधिकार माना, जबकि लॉक ने इसे व्यक्तिगत अधिकार माना। अधिकार की अलंघ्यता पर दोनों की सहमति है।

बोदां ने परिवार के बाद के नागरिक संगठनों की महत्वपूर्ण भूमिका को ठीक ढंग से रेखांकित किया है। यह विकास-यात्रा राज्य पर समाप्त होती है, लेकिन दिलचस्प बात यह है कि वह राज्य के जन्म को स्वैच्छिक या नैतिक नहीं मानता है। राज्य का जन्म संघर्ष, युद्ध और हिंसा जैसी अप्रिय और असामान्य घटनाओं के द्वारा हुआ है। इन संघर्षों के लम्बें और अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण दौर में छोटे शासक बड़े शासकों के अधीन हुए, पराजित वर्ग सामूहिक रूप से दास बना और पूरा समाज कुल मिलाकर एक राजनैतिक समुदाय यानी राज्य बन कर एक शासक के अधीन हुआ। इससे बोदां को यह सुविधा अवश्य हुई कि वह राज्य के जन्म से दैवी सिद्धान्त को बाहर करने में सफल हो सका। इस प्रकार से यह समयानुकूल समायोजन था। समस्या यह हुई कि वह अन्य कोई संतोषजनक वैकल्पिक व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर पाया। वह सामाजिक संविदा का भी सहारा नहीं लेता, जो उसके समय भी भ्रूण-रूप में प्रचलित थी। रोमन गणतन्त्र की लोक-सम्प्रभुता की अवधारणा के लिए भी उसके मन में कोई आकर्षण नहीं दिखता। समस्या राज्य के आज्ञानुपालन के औचित्य की थी। यह राजनीति-शास्त्र की मौलिक समस्या रही है, जिसे वह चाह कर भी अनदेखा नहीं कर सकता था। प्राचीन यूनानी विचारकों ने राज्य को

समाज से अलग ही नहीं किया। इस कारण से राज्य उनके लिये एक नैसर्गिक संगठन बना रहा, जिसके आज्ञानुपालन के औचित्यीकरण की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। वह तो मनुष्य की सहज सामाजिकता का प्रकटीकरण था। बोदां ने राज्य को समाज से अलग करके यह समस्या स्वयं खड़ी की। फिर राज्य को नैसर्गिक न मानकर इस समस्या को और विकट बनाया। इस समस्या का और अधिक गम्भीर आयाम यह है कि वह नैतिक मान्यताओं को स्वभावतः स्वीकार करता है। इसलिये उसे वह विकल्प भी नहीं मिल सका, जो हॉब्स के लिये उपलब्ध था। वह विकल्प यथास्थितिवाद और डार्विन वाली नैतिकता-रहित अतिजीविता को स्वीकार करने का था। स्पष्ट था कि बोदां इसको स्वीकार नहीं कर सकता था। वह कहता तो है कि राज्य का जन्म शक्ति से हुआ लेकिन वह मात्र शक्ति को राज्य का आधार नहीं मानता। वह स्पष्ट कहता है कि मात्र शक्ति से "डाकुओं के गिरोह बनते हैं, राज्य नहीं।" इस समस्या से निपटने के लिये वह "विधिसंगत सरकार" और फिर विधि को "प्राकृतिक नियम की संगति" में बैठाने की बात करता है, लेकिन समस्या सुलझने के स्थान पर और उलझ जाती है। इस सम्बन्ध में डब्लू० टी० जोन्स की व्याख्या कुछ इस प्रकार है। उनके अनुसार बोदां "विधि और व्यवस्था में अंतर करता है।" बोदां केवल शक्ति के आधार पर संगठित शासन को – चाहे वह डाकुओं का गिरोह हो या कोई शासक – केवल व्यवस्था के अंतर्गत रखता है। बोदां इस मौलिक ईसाई मान्यता का दृढ़ समर्थक है कि आदम के पतन के साथ आयी मानव-जाति पापी और वासनात्मक आवेगों के सामने बहुल निर्बल है। इसको व्यवस्थित रखने के लिये राज्य की दण्डात्मक शक्ति आवश्यक है। फिर भी वह सम्प्रभु का सम्मान उन्हीं शासकों को देता है, जो व्यवस्था से आगे जाकर विधि की स्थापना करते हैं। विधि को वह सर्वत्र प्राकृतिक नियमों की संगति में देखता है।

9.5 राज्य के लक्ष्य

अपने विद्वत्तापूर्ण स्वभाव के अनुकूल ही बोदां राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में चर्चा का प्रारम्भ ही पारिभाषिक समस्याओं से करता है। यहां भी वह दम्भपूर्ण घोषणा करता है कि प्राचीन परिभाषाओं का सार "बहुत कम और बहुत अधिक" निष्कर्षों को समाहित करता है। प्राचीन मान्यताओं के अनुसार राज्य का उद्देश्य लोगों को "सद्गुणी और सुखी जीवन" प्रदान करना था। बोदां का यह विचार तो सही है कि प्राचीन छोटे और सरल नगर-राज्यों के उद्देश्य वर्तमान साम्राज्यवादी, बड़े और जटिल राज्यों के लिए अनुपयोगी और अव्यावहारिक होंगे। राज्य के सावयविक एकता के सिद्धान्त की तरह वह भी राज्य के उच्चतर और निम्नतर गुणों को व्यक्ति की तरह ही देखता है। चाहे व्यक्ति हो या राज्य, दोनों के दो 'सद्गुण' होंगे – निम्नतर शारीरिक सद्गुण और उच्चतर आत्मिक सद्गुण। राज्य का निम्नतर, शारीरिक और बोदां के अनुसार "द्वितीयक गुण" उसकी और उसके निवासियों की "समृद्धि, जलवायु, जल, खनिज सम्पदा, किलाबन्दी, भूमि की उर्वरता आदि" को सुनिश्चित करने में निहित है। बोदां राज्य के आत्मिक गुणों पर एक अत्यंत अनावश्यक चर्चा में उलझ जाता है। यूनानी विचार में यह उद्देश्य नागरिकों को सुखी, सद्गुणी और श्रेष्ठ जीवन प्रदान करता है। बोदां आलोचना करते हुए कहता है कि "सुख और सद्गुण दोनों इतने विरोधी हैं कि दोनों को एक साथ प्राप्त करना बहुत कठिन है।" उसका आशय है कि सद्गुणी लोग प्रायः असफल और इसलिए दुःखी रहते हैं। इस प्रकार वह राज्य के इन उद्देश्यों को अव्यावहारिक मानता है। इसके विकल्प में वह राज्य का जो नया आत्मिक उद्देश्य निर्धारित करता है, वह तो पहले से भी कहीं अधिक अव्यावहारिक और किंचित् हास्यास्पद प्रतीत होता है। यह नया उद्देश्य है – चिन्तन। राज्य निवासियों को ऐसी परिस्थितियाँ प्रदान करे कि "मनुष्य प्राकृतिक घटनाओं के कार्य-कारण संबंधों की तलाश करे.....फिर इस प्रारम्भिक अवस्था के आगे बढ़कर चिन्तन के पंख लगाकर समग्र सृष्टि के संगीतमय तादाम्य को देखे ..... उसके मन के अन्दर इस महान रचना के रचयिता और प्रथम कारण को पाने की शाश्वत इच्छा हो....।"

9.6 सम्प्रभुता की अवधारणा

सम्प्रभुता की अवधारणा को स्पष्ट करने का श्रेय बोदां को जाता है। एक अस्पष्ट विचार के तौर पर यह धारणा राजनीति के लिए नयी कदापि नहीं है। हमने पिछले अध्याय में देखा है कि बिना किसी सैद्धान्तिक आधार के भी मैकियाविली व्यवहारतः अपने "प्रिन्स" को सम्प्रभु के निकट पहुंचा देता है। मैकियाविली का शासक राजनैतिक छल-कपट से यह शक्ति प्राप्त करता है। बोदां ने इसे एक सैद्धान्तिक आधार दिया। मैक्लवेन के अनुसार रोमन विधि में गेअस ने 'प्रोटेस्टाज' का प्रयोग सम्प्रभुता के समानार्थ ही किया था। 'इम्पीरियम' की धारणा भी इसी प्रकार की थी। रोमन साम्राज्य के अन्तिम दिनों तक सैद्धान्तिक रूप से यह मान्यता प्रचलित रही कि सम्राट् चाहे जितना भी शक्तिशाली क्यों न हो, उसे यह शक्ति (इम्पीरियम) प्रथमतः और वैधतः जनता से ही प्राप्त होती है। मैक्लवेन ने बोदां की सम्प्रभुता को रोमन प्रोटेस्टाज और इम्पीरियम का सम्मिलन माना है।

सम्प्रभुता की परिभाषा देते हुए बोदां एक बार फिर – और इस बार बिल्कुल औचित्यपूर्ण ढंग से - यह दावा करता है कि "यद्यपि सम्प्रभुता वह मुख्य गुण है, जो राज्य को अन्य मानव-समुदायों से पृथक् करता है, फिर भी किसी राजनैतिक विचारक अथवा विधिशास्त्री ने इसे परिभाषित नहीं किया।" इसमें कोई संदेह नहीं है कि उसकी कालजयी ख्याति सम्प्रभुता की व्याख्या पर ही टिकी हुई है। सम्प्रभुता आधुनिक राज्य का मौलिक गुण है और इसलिये बोदां आधुनिक राजनैतिक विचारधारा का अग्रगामी लेखक माना जाता है। उसकी परिभाषा के अनुसार "सम्प्रभुता समस्त नागरिकों और प्रजाजनों के ऊपर वह सर्वोच्च शक्ति है, जो किसी विधि द्वारा सीमित नहीं है"।

बोदां की इस परिभाषा पर विचार करने के पहले इसकी पृष्ठभूमि समझना आवश्यक है। इससे यह स्पष्ट होगा कि इस अत्यन्त जटिल और तकनीकी विषय पर लिखने का कारण बहुत व्यावहारिक था और इस कारण से उसे इतनी ख्याति भी मिली। हम प्रस्तावना में तत्कालीन फ्रांस की अराजक स्थिति का अवलोकन कर चुके हैं, जिसके कारण फ्रांस की केन्द्रीय सत्ता समाप्त सी हो गयी थी। साम्प्रदायिक संघर्ष तो प्रोटेस्टेण्ट वर्ग के उदय के साथ-साथ सामने आया, लेकिन इसके पहले के कई संघर्ष फ्रांस को इतिहास से मिले थे, जिनको फ्रांसीसी लोग "प्राचीन व्यवस्था" का नाम देते हैं। यह व्यवस्था इतनी जटिल और असाध्य-सी हो गयी थी कि इसका समाधान एक शताब्दी बाद हिंसक फ्रांसीसी क्रान्ति के द्वारा ही हो पाया। कह सकते हैं कि एक विचार के तौर पर बोदां ने समस्या की गम्भीरता को देखा और समाधान की एक वैचारिक-व्यवस्था प्रस्तुत की। हम देखेंगे कि वह इस समाधान में अपने बौद्धिक वर्ग 'पोलीटिकस' का प्रतिनिधित्व कर रहा था। इसके लिये वह बहुत दूर से समस्या को पकड़ता है और फिर अत्यन्त कष्टसाध्य पद्धति से चार चरणों में समाधान प्रस्तुत करता है–1. समाज और समाज के अन्य नागरिक संगठनों से राज्य को पृथक करना। 2. राज्य से शासन को अलग करना और शासन के स्तर पर भिन्नता की अनुमति देना और 3. राज्य को एकीकृत रूप में देखना, जिसके लिये सम्प्रभुता की अवधारणा प्रस्तुत करना, और 4. इस एकीकृत राज्य के एकीकृत सम्प्रभु के तौर पर शासक को प्रस्तुत करके समग्र फ्रांस की एकता को स्थापित करना। निश्चित रूप से इस प्रयास में बोदां ने असाधारण बौद्धिक क्षमता का प्रदर्शन किया है। उसकी ख्याति पूर्णतः उचित है।

हम देख चुके हैं कि वह समाज से राज्य को अलग करता है। जहां तक राज्य का सम्बन्ध है, वह निवासियों से सम्प्रभु और प्रजा के मूलतः और प्रमुखतः राजनैतिक रिश्ते से ही मिल सकता है। निवासियों के अन्य सम्बन्ध राज्य के लिये आत्यन्तिक नहीं हैं। निवासियों के अन्य प्रकार के रिश्तों से समुदाय बनेंगे, राज्य नहीं। सेबाइन के शब्दों में "राज्य वहीं होगा, जहां नागरिक एक सार्व सम्प्रभु की अधीनता में रहते हैं।" बोदां के अपने समय की समस्या से इस अवधारणा का सम्बन्ध स्पष्ट है। वह एक पोलिटिकस के रूप में यह निवेदन कर रहा है कि

यद्यपि राजनैतिक समुदाय धार्मिक आधार पर बँटा हो सकता है और सामन्ती, पारम्परिक और वर्गीय विशेषाधिकार भी बचे हो सकते हैं, लेकिन सार्व सम्प्रभु की अधीनता का यह राजनैतिक बन्धन अपने आप में पर्याप्त हो सकता है।" शासन के वर्गीकरण पर आकर हम देखेंगे कि वह अगले चरणों में राज्य से शासन को भी अलग करके एकीकृत सम्प्रभु राज्य की कल्पना करता है।

बोदां सम्प्रभुता की धारणा को मूलतः औपचारिक और विधिक रूप में प्रस्तुत करता है। इस रूप में भी वह सम्प्रभु को ईश्वरीय शक्ति का पार्थिव प्रतीक बना देता है, यद्यपि हमने देखा है कि बोदां का एक बड़ा योगदान राजत्व के इस दैवी सिद्धान्त को निरस्त करना ही था। इसे हम उसकी प्रशंसा और आलोचना दोनों मान सकते हैं कि उसने लौकिक आधार पर भी दैवी शक्ति के समान सशक्त शासक की कल्पना कर ली। एक स्थान पर स्वयं वह अपने लौकिक सम्प्रभु को दैवी बना देता है..... "चूँकि पृथ्वी पर केवल भगवान को छोड़कर सम्प्रभु शासक से शक्तिशाली और कोई नहीं है और ईश्वर ने मनुष्यों पर शासन करने के लिये अपने व्यवस्थापक के तौर पर सम्प्रभुओं की स्थापना की है..... इसलिये जो भी अपने सम्प्रभु शासक की अवहेलना करता है, वह ईश्वर की ही अवहेलना करता है। शासक ईश्वर की ही पार्थिव प्रतिमा है।"

सम्प्रभु की परिभाषा की व्याख्या करते हुये बोदां उसे शाश्वत या सतत् और निरपेक्ष या परम बताता है। सतत् से तात्पर्य यह है कि सम्प्रभु की शक्ति पर समय का कोई प्रतिबन्ध नहीं लग सकता और परम का अर्थ है कि उस पर क्षेत्राधिकार का प्रतिबन्ध नहीं लग सकता। एक स्थिति ऐसी है कि जनता ने किसी शासक को कुछ समय के लिये परम शक्ति प्रदान किया। क्या इस प्रकार से शक्तिमान हुए शासक को इस परिभाषा के अन्तर्गत सम्प्रभु माना जा सकता है? इस परिभाषा के आधार पर उसे सम्प्रभु नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उस पर एक निश्चित समय का प्रतिबन्ध लगा हुआ है। ऐसी स्थिति में यह प्रतिबन्ध लगाने वाला वर्ग ही सम्प्रभु होगा और इसका नियतिकालिक उपयोग करने वाला शासक उसका अभिरक्षक होगा। बोदां प्राचीन यूनान में विधि-निर्माताओं की स्थिति पर विचार करता है। यूनान में ऐसी परम्परा थी। एथेन्स में यह शक्ति सोलोन और स्पार्टा में यह शक्ति लाइकरगस को प्रदान की गयी थी। बोदां इन प्रसिद्ध प्रसंगों का उदाहरण देकर यह सिद्ध करता है कि अधिकार का प्रत्यायोजन हो सकता है, सम्प्रभुता का नहीं। ऐसे विधायकों की शक्ति का उद्गम और अन्तिम रूप से विलीनीकरण जनता की शक्ति में ही होना है। फिर यह पूरा क्रम पूर्व-निर्धारित है। प्रारम्भ में जनता की इच्छा से ही यह प्रक्रिया प्रारम्भ हुई और अन्ततः जनता की स्वीकृति से ही इसको औचित्य प्राप्त हुआ। इसलिये निर्विवादतः इन दोनों मामलों में जनता ही सम्प्रभु हुई और दोनों विधायक, बोदां के शब्दों में, "जनता के आयुक्त और अभिकर्त्ता" हुए। इस प्रकार सम्प्रभुता असंचारणीय अर्थात् अदेय है। अगर शासक की विधियों की घोषणा संसद, सीनेट या अन्य किसी विधायी संस्था द्वारा होती है, तो मात्र घोषणा करने से ही वह विधायी संस्था सम्प्रभु नहीं हो जाती। बोदां के अनुसार विधायी संस्था की यात्रिकता इसलिये आवश्यक हुई ताकि शासक की मृत्यु के पश्चात् उस विधि की वैधता पर प्रश्नचिह्न न लगाया जाए।

सम्प्रभु की निर्णायक या अद्वितीय पहचान क्या है? उसके अनुसार "यह पहचान है..... जनता को उसके वर्ग के अनुसार और सामूहिक रूप से विधि प्रदान करने की शक्ति, जिसके लिए सम्प्रभु को अपने अतिरिक्त अन्य किसी की अनुमति की आवश्यकता नहीं हो।" बोदां यहां दो बातों पर विशेष ध्यान देता है। एक तो विधि पर और दूसरा इस बात पर कि उसे अपने अतिरिक्त किसी अन्य की अनुमति की आवश्यकता नहीं है। बोदां का प्रशिक्षण एक विधिशास्त्री के रूप में हुआ था। इसलिये स्वाभाविक तौर पर वह विधि के निर्माण और निरस्तीकरण के अधिकार को ही सम्प्रभुता का सार मानता है....." विधि बनाने और उसे निरस्त करने के अधिकार में ही सम्प्रभु के शेष सभी अधिकार और प्रमाण समाहित हैं। अगर हम संक्षेप में कहें, तो वस्तुतः यही आत्यन्तिकतः सम्प्रभु की पहचान है। सम्प्रभु के अन्य विविध और विशिष्ट

अधिकार विधि सम्बन्धी इसी प्राथमिक अधिकार के आयाम या उपयोग हैं। वह इनमें से कुछ अधिकारों का वर्णन करता है। इनमें से प्रमुख हैं–युद्ध और शान्ति की घोषणा करना, अन्तिम सर्वोच्च न्यायालय का कार्य, मुद्रा का मूल्य-निर्धारण करना, निवासियों पर कराधान आदि, आदि। उसका दूसरा आग्रह यह है कि सम्प्रभु को विधायी कार्य के लिये किसी की अनुमति की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए।

विधिक रूप से यह स्पष्ट है कि अगर उसे किसी अन्य की अनुमति की आवश्यकता पड़ेगी तो वह अनुमति-प्रदाता या तो स्वयं सम्प्रभु होगा या कम से कम शासक की सम्प्रभुता का भागीदार होगा। सम्प्रभु की संकल्पना में ही सर्वोपरिता, समग्रता, एकात्मकता, पूर्णता, आत्यन्तिकता और अविभाज्यता सन्निहित है।

9.7 सम्प्रभुता की सीमाएं

अभी तक बोदां सम्प्रभु की स्थिति का मूल्यांकन वैधानिक दृष्टि से कर रहा था। यहां तक उसे यथार्थ से किसी प्रकार का समझौता करने की बाध्यता नहीं थी। हम जानते हैं कि वह विधिशास्त्री होने के अतिरिक्त एक कुशल राजनीतिज्ञ भी था। उस पर व्यावहारिकता का दबाव भी था। राज्य की सम्प्रभु-शक्ति पर कई प्रतिबन्ध तो उसने अपनी इच्छा से लगाए हैं। ऐसी स्थिति में उसे यह भी चिन्ता नहीं होती कि वह अपने सम्प्रभु को वैधतः विरोधाभासी और किंचित् हास्यास्पद स्थिति में डाल रहा है। हम देख चुके हैं कि उसने राज्य के विकास-क्रम में ही परिवार को निर्णायक महत्व दिया है। इस कारण से परिवार राज्य के भीतर 'स्वायत्त राज्य' का दर्जा पा जाते हैं। परिवार का प्रमुख परिवार के भीतर सम्प्रभु हो जाता है। बोदां ने इस प्रकार राज्य के एक सम्प्रभु के समान्तर और कभी-कभी उसके विरुद्ध परिवार-प्रमुखों के रूप में लाखों सम्प्रभु खड़े कर दिए हैं। हमने देखा है कि 'पैटर फेमिलियास' से भी अधिक चिन्ता उसे पारिवारिक सम्पत्ति की है। सम्भवतः गृह-स्वामी की चिन्ता के पीछे भी उसकी वास्तविक चिन्ता सम्पत्ति की ही है। वह स्पष्ट मानता है कि सम्प्रभु परिवार-प्रमुखों की सहमति के बिना करारोपण नहीं कर सकता। वस्तुतः इस प्रकार बोदां तत्कालीन फ्रांस और इंग्लैण्ड की एक महत्वपूर्ण समस्या पर अपने विचार प्रस्तुत कर रहा है। फ्रांस के तृतीय वर्ग या थर्ड स्टेट्स के विधायी सदन-स्टेट्स-जनरल के सदस्य होने के नाते भी वह इस समस्या की गम्भीरता से परिचित था। सम्प्रभु पर यह सीमा लगाकर वह सम्प्रभु को पूर्णतः अपंग बना देता है और इस प्रकार अपनी सम्प्रभुता की अवधारणा को भी कमजोर कर देता है। पहली बात तो यह है कि सम्प्रभु पर उसके द्वारा लगाये गये अधिकांश प्रतिबन्धों में यह सबसे ठोस और स्पष्ट है, जिसकी व्याख्या में किसी को कोई असुविधा नहीं होगी। अन्य प्रतिबन्ध जैसे प्राकृतिक विधि आदि की व्याख्या में फिर भी विवाद या भ्रम की सम्भावना हो सकती है। दूसरी बात यह है कि बोदां को यह बिल्कुल स्पष्ट रहा होगा कि सम्प्रभु पर निवासियों से बिना पूछे करारोपण न कर सकने के प्रतिबन्ध का सम्प्रभु की वैधानिक और वास्तविक स्थिति पर कितना सांघातिक प्रहार होगा। वह प्रत्यक्ष कर के दरवाजे तो सम्प्रभु के लिये एकदम ही बन्द कर देता है, जबकि अप्रत्यक्ष कर के लिये वह सम्प्रभु को थोड़े अधिकार देता है। वह स्वयं मुद्रा और लोकवित्त पर पुस्तक लिख चुका था। दूसरी ओर वह सम्प्रभु के अधिकार की यह विशेषता मानता है कि उसे विधि के लिए किसी की अनुमति या सहमति नहीं चाहिए। सम्पत्ति पर कर लगाने के लिये अनुमति की बाध्यता की बात कह कर वह सम्प्रभु पर सम्भवतः सबसे प्रभावशाली नियंत्रण लगा देता है। बाद में लॉक ने भी सम्पत्ति को प्रमुखतम अधिकार के तौर पर प्रतिष्ठित किया, लेकिन उसके तर्क में थोड़ा फर्क है। एक तो वह सम्प्रभु को आद्यन्त एक संवैधानिक संतुलित परिप्रेक्ष्य में ही प्रस्तुत करता है। दूसरा अन्तर यह है कि यद्यपि वह भी सम्पत्ति को शासक के अधिकार से बचाने के लिये बोदां जितना ही व्यग्र है, फिर भी वह इसे अकेले अधिकार के तौर पर प्रस्तुत नहीं करता। लॉक के अनुसार राज्य का अधिकार-क्षेत्र तो नितान्त निजी क्षेत्र के पूरे विस्तार में ही नहीं है और सम्पत्ति उसी निजी क्षेत्र में आती है।

बोदां के अनुसार सम्प्रभु समकालीन संवैधानिक विधियों से भी सीमित हो जाता है। सम्प्रभु राज्य के किसी क्षेत्र को हस्तान्तरित नहीं कर सकता। संवैधानिक विधियों पर उसका आग्रह इसलिए भी है, क्योंकि उसके अनुसार उन्हें सम्प्रभु ने नहीं बनाया है। वे सम्प्रभु के अस्तित्व के पहले से थीं। सम्प्रभु की संकल्पना में ही उनका सम्मान निहित है। उन्हें अवमानित करने का अर्थ स्वयं सम्प्रभु को अवमानित करना होगा। ऐसा प्रतिबन्ध लगाने के पीछे परम्पराओं के प्रति उसका लगाव भी परिलक्षित होता है। उस समय की संवैधानिक विधियां एक प्रकार की परम्पराएं ही थीं। उन्हें वह 'लेगिस इम्पिरी' का नाम देता है। उसका संकेत मुख्यतः तत्कालीन फ्रांस की कुछ सर्वमान्य संवैधानिक विधियों की ओर था। सैलिक विधि के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र को ही शासनाधिकार मिलता था और महिलाओं को उत्तराधिकार से वंचित किया जाता था। युगीन मानसिकता ही ऐसी थी कि इसके उल्लंघन को जनता स्वीकार नहीं करती। इस तरह इसे स्वीकार करना एक व्यावहारिक बात थी। बोदां कहना चाहता है कि सम्प्रभु अपने समय से आगे नहीं जा सकता। इस तरह यह सीमा भी सम्प्रभु को स्वीकार करनी पड़ेगी। यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि सामान्यतः बोदां सम्प्रभु को अन्य कम महत्वपूर्ण परम्पराओं के लिए बाध्य नहीं मानता। उसके अनुसार..... "विधियों का उद्‌गम शासक से है और परम्पराओं का सामान्य जनता से।..... विधि परम्परा को निरस्त कर सकती है, किन्तु परम्परा किसी विधि को निरस्त नहीं कर सकती।..... संक्षेप में, परम्पराओं की शक्ति उनकी स्वीकार्यता मात्र में है और उस समय तक है, जब तक शासक उनके प्रचलन को उचित मानता है।"

सम्प्रभु पर एक सीमा अन्तर्राष्ट्रीय विधियों की भी है। यद्यपि यह कोई बड़ा प्रतिबन्ध नहीं है, क्योंकि इनको मानने या न मानने के मामले में वह शासक को कतिपय छूट देता है। उदाहरणार्थ सम्प्रभु को यह देखना चाहिये कि कहीं किसी गठबन्धन या संधि की किसी प्रतिबद्धता को स्वीकार करने से राज्य का अहित तो नहीं हो रहा है और क्या उन प्रतिबद्धताओं को शेष सम्बन्धित राज्य वैसा ही सम्मान देंगे। अगर शासक को विश्वास है कि पर-राष्ट्रीय अनुबंध क्षतिकारक हैं तो वह उनके अनुपालन के लिये बाध्य नहीं है। एक उदाहरण दासता का है, जिसे उस समय के यूरोप में व्यापक स्वीकृति मिली हुई थी। इस तरह दासता परम्परा भी थी और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मान्य भी। बोदां इसको अमान्य करने का सुझाव देता है। यहां यह महत्वपूर्ण बात है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय अनुबन्धों को बड़ी सीमा तक बाध्य मानता है, जबकि उस समय तक पर-राष्ट्रीय मामलों में घोर अराजकता और अनैतिकता व्याप्त थी। उनको इतना महत्व देना भी तत्कालीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में बहुत उल्लेखनीय मानना चाहिए। ऐसा माना जाता है कि उसने इस प्रकार के विचारों के द्वारा पचास वर्ष बाद आये ह्यूगो ग्रोशस के लिये अन्तर्राष्ट्रीय विधि के दरवाजे खोले।

बोदां ने अन्य स्थानों पर प्रसंगानुसार सम्प्रभु पर कुछ मर्यादाएं लगाई हैं, जिन पर उसने स्वयं बहुत गम्भीरता से विचार नहीं किया है। उदाहरण के लिये सम्प्रभु जनता से किये गये अपने आश्वासनों से बाध्य है। इसी तरह वह लिखता है कि सम्प्रभु दण्डाधिकारियों के मृत्यु-दंड के निर्णय को निरस्त नहीं कर सकता। इनकी वह संक्षिप्त और अस्पष्ट सी व्याख्याएं करता है। इन सबसे उसकी सम्प्रभुता की परिभाषा विकृत, विरोधाभासी और अतार्किक हो जाती है। उसकी संकल्पना में सबसे बड़ी असंगति की चर्चा हम अब कर रहे हैं। वह असंगति प्राकृतिक विधियों की सीमा से आती है, जो वह अपने सम्प्रभु पर बड़ी निष्ठा और बड़े मनोयोग से, किन्तु साथ ही बड़े लापरवाह तरीके से लाद देता है। हम निष्ठा और मनोयोग को विशेषण इसलिए लगा रहे हैं, क्योंकि वह प्राकृतिक विधि से अभिभूत दिखता है। वह राज्य के जन्म से ही और विधि की कल्पना के मूल में ही प्राकृतिक विधि को डाल देता है। शायद ही कहीं ऐसा हुआ हो कि उसने इन संदर्भों में प्राकृतिक विधि को एक पल के लिए, अपवादतः ही भुला दिया हो। प्रश्न यह है कि प्राकृतिक विधि से उसका क्या आशय है। सेबाइन के अनुसार "बोदां प्राकृतिक विधि को सुनिश्चित करने की कठिनाई को गम्भीरता से नहीं लेता, क्योंकि उसके अनुसार प्राकृतिक विधि तो अत्यधिक स्पष्ट और निश्चित है।" सम्भवतः बोदां अगम्भीर नहीं था। वह

अपने लेखन में कहीं भी अगम्भीर नहीं रहा। वह नीरस और बोझिल हो सकता है, अगम्भीर नहीं। प्राकृतिक विधि को वह "सूर्य की भांति चमकदार" कहकर टाल देता है। इसका कारण यह है कि प्राकृतिक विधि को सीमांकित करना वास्तविक रूप से कठिन है। वह इतना विस्तृत है कि उसे विधि की तरह संहिताबद्ध करना असम्भव है। उसमें पूरी सभ्यता का इतिहास समाहित हो जाएगा। बोदां के सामने समस्या यह थी कि एक ओर तो वह सम्प्रभु को एक निष्णात विधि-वैज्ञानिक की तरह एक पंक्ति में ही परिभाषित कर देता है और दूसरी ओर उस पर ऐसी प्राकृतिक विधि की सीमा लाद देता है, जिसका अनुभव हो सकता है, अभिव्यक्ति नहीं। उसकी सम्प्रभुता और प्राकृतिक विधि में समायोजन सम्भव ही नहीं है।

बोदां की सम्प्रभुता पर प्राकृतिक विधि का बोझ ही नहीं है। यह तो बोदां का अपना योगदान है। इसके साथ ही तत्कालीन फ्रांस में व्याप्त वैधानिक अराजकता भी इसमें आकर मिल जाती है। हम पहले देख चुके हैं कि तत्कालीन फ्रांस में प्राचीन व्यवस्था के अवशेष बहुत भ्रम पैदा कर रहे थे। बोदां शासक के सलाहकार, स्टेट्स-जनरल के सदस्य और सक्रिय राजनीतिज्ञ की स्थिति में और फिर अपने बुरे दिनों में दण्डाधिकारी की स्थिति में फ्रांस की इस अराजक स्थिति को देख चुका था। उसने ऐसे कई दृष्टान्त भी दिए हैं। ऐसी एक घटना का वह जिक्र करता है, जिसका ज्ञान उसे नार्मण्डी के प्रशासनिक सुधार के काम के दौरान हुआ। वहां के दण्डाधिकारी ने एक अपराधी को मृत्यु-दंड दे दिया, जबकि वहां का चर्च अपराधी को दंड-मुक्त करने को अपना विशेषाधिकार मानता था। इस मामले पर चर्च ने सीधे फ्रांस के राजा पर दबाव बनाया और वहां के दंडाधिकारियों को अत्यंत अपमानजनक स्थिति में पहुंचा दिया।

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि धार्मिक, सामन्ती, व्यावसायिक और क्षेत्रीय मान्यताएं कहीं-कहीं विधि से भी भारी पड़ रही थीं। यह कह पाना कठिन था कि किस परिस्थिति में कौन सी परम्परा, मान्यता या विधि प्रभावी होगी। सबमें भयावह घालमेल था। नैतिकता का तर्क भी कम प्रभावशाली नहीं था। इसमें संदेह नहीं कि अन्ततः फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति से ही इस अराजकता का अन्त हुआ। दिलचस्प बात यह है कि स्वयं बोदां इस समस्या की गम्भीरता से परिचित था। जैसा हमने कई स्थानों पर देखा, वह बड़े गर्व से इस बात का उल्लेख करता है कि वह अवधारणाओं को पहली बार इतना स्पष्ट करने वाला विचारक है। उसके इस योगदान को स्वीकार किया गया है। इसके बाद जब वह स्वयं अवधारणाओं की अस्पष्टता से उत्पन्न अराजकता का शिकार हुआ दिखता है, तो यही मानना चाहिए कि उसका स्पष्ट वैधिक व्यक्तित्व उसके युग और स्वयं उसके अस्पष्ट नैतिक मानदण्डों की छाया से ग्रस्त हो गया। फिर स्वयं उसके अपने निजी धार्मिक आग्रह थे, कुछ राजनैतिक और आर्थिक स्वार्थ थे, जिनके कारण उसने सम्प्रभु को वैधिक रूप से सम्प्रभु बनाने के बाद फिर कतिपय कठिन प्रतिबन्धों के अधीन कर दिया।

सेबाइन ने बोदां की सम्प्रभुता और उसकी सीमाओं के बीच की असंगति की व्याख्या इस प्रकार की है....."वस्तुतः बोदां के दो लक्ष्य थे, जो किसी तर्क के कारण नहीं, बल्कि परिस्थितियों के कारण एक साथ थे। वह मुकुट की शक्तियों को बढ़ाना और सुरक्षित करना चाहता था, क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों में वैसा वांछित था, लेकिन इसके साथ वह एक दृढ़ संविधानवादी भी था, जो प्राचीन व्यवस्था की संस्थाओं को भी बनाये रखना चाहता था।" बोदां का विश्वास था कि जब तक फ्रांस राष्ट्र-राज्य के रूप में विकसित नहीं हो जाता, कम से कम उस समय तक देश के सामने एकमात्र विकल्प यही है कि राजत्व को एकीकृत देश का प्रतीक बना कर सशक्त बनाया जाए। सेबाइन के अनुसार यह समस्या बोदां की अध्ययन पद्धति से भी पैदा हुई है। बोदां ने लिखा है कि इतिहास का अध्ययन दर्शन-शास्त्र के साथ होना चाहिए। इतिहास से तथ्य मिलते हैं और दर्शन-शास्त्र उसे व्याख्यायित करने का तर्क प्रदान करता है। इसी आधार पर वह मैकियाविली की आलोचना करता है कि मैकियाविली ने इतिहास को दर्शन से अलग करके अनैतिकता को प्रोत्साहित किया।..... "राजनैतिक दर्शन की यह अवधारणा वह अरस्तू से प्राप्त करता है और यह मानना चाहिए कि उसने अपने युग के किसी लेखक से कहीं

अधिक विस्तार से इस कार्य का विचार किया। दुर्भाग्य से उसकी उपलब्धियां उसकी योजना जैसी नहीं रहीं।'' इस व्याख्या को सम्प्रभुता की उसकी परिभाषा और उसकी सीमा की असंगति के संदर्भ में भी देखा जा सकता है। इतिहास और समकालीन घटनाओं से वह राजत्व को लेता है और इस सजीव राजत्व को वह दर्शन, विधि और तर्क के ढांचे में बैठाना चाहता है.....'' एक दृश्यमान शासक को किसी न्यायिक अवधारणा की पद्धति में डालना आसान नहीं है। उसकी पद्धति में इतिहास और दर्शन का तथ्यात्मक विकास और तार्किक विश्लेषण का समायोजन होना था।..... बोदां सम्भवतः एक ऐसी योजना बना रहा था, जो असम्भव की सीमा तक कठिन था। डब्लू० टी० जोन्स ने इस असंगति को दूसरी दृष्टि से देखा है। उनके अनुसार, ''यह समस्या उन सभी राजनैतिक विचारकों के सामने आयेगी, जो शक्ति से ऊपर किसी अन्य नैतिक मानदंड पर विश्वास करते हैं।'' इस व्याख्या के अनुसार यह समस्या मैकियाविली और हॉब्स के सामने नहीं आ सकती थी, जबकि बोदां के बाद रूसो और लॉक को भी इस समस्या का सामना करना पड़ा।

9.8 राज्य का चरित्र, राज्य-शासन सम्बन्ध और शासन के प्रकार

बोदां के पहले शासन के वर्गीकरण और उनके कई रूपों के मिश्रण के बारे में काफी विचार हो चुका था। बोदां की विशेषता यह है कि उसने इन प्रचलित सिद्धान्तों को स्वीकार तो किया, लेकिन इन्हें शासन की विशेषताएं मानकर राज्य को इस मिश्रण से अलग कर दिया। हम देख चुके हैं कि उसने राज्य को शासन से अलग कर लिया था। राज्य तो सदैव एकीकृत ही रहेगा, जबकि शासन का स्वरूप मिश्रित हो सकता है। सेबाइन के शब्दों में ''एक सच्चे राज्य की पहचान के तौर पर एकीकृत वैधिक प्रमुख को सैद्धान्तिक रूप से स्थापित करके बोदां ने अत्यधिक स्पष्टता के साथ उसे शासन के रूपों के प्राचीन सिद्धान्त से जोड़ दिया।''

बोदां के अनुसार ''सम्प्रभुता की स्थिति से राज्य के स्वरूप का निर्धारण होता है। यदि वह एक शासक में स्थित है, जो राज्य राजतांत्रिक हुआ..... यदि सम्प्रभु शक्ति में जनता की भागीदारी है, तो हम उसे लोकप्रिय राज्य कहेंगे..... यदि इस सर्वोच्च शक्ति में लोगों के केवल एक भाग का अधिकार है, तो हम इसे अभिजात्यतंत्र कहेंगे। इन अन्तरों को समझना महत्वपूर्ण है, क्योंकि हमको इन तीनों प्रकार के राज्यों में एक ही प्रकार के विधानों की अपेक्षा नहीं करना चाहिए।'' बोदां की परिभाषा से स्पष्ट है कि वह अपने समय की परिस्थितियों से निपटने के लिये सम्प्रभुता का एकीकृत स्वरूप बनाये रखना चाहता है और व्यावहारिक कार्यों के लिये वह शासन को मिश्रित करने के लिये तत्पर है। शासन मात्र यंत्र है, जिसके माध्यम से राज्य अपनी नीतियां लागू करता है। उसने स्वयं सुझाव दिया है कि राजतंत्रीय राज्य के साथ लोकतांत्रिक शासन सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था है..... ''यह सभी सम्भावित प्रकार के राजतंत्रों में सबसे आश्वस्तकारी राजतंत्र है।'' इस विकल्प के चुनाव के पीछे भी तत्कालीन परिस्थितियां ही थीं। उसी की ओर संकेत करते हुये वह कहता है कि यदि सम्प्रभुता शासक के पास है और सामाजिक वर्गों अर्थात् स्टेट्स के सुझाव उस पर बाध्यकारी नहीं हैं, तो उसे राजतंत्री राज्य मानना चाहिए, जैसा कि उसके अनुसार तत्कालीन फ्रांस और इंग्लैंड में था।

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट है कि सम्प्रभुता का विभाजन नहीं हो सकता और चूंकि राज्य का निर्माण सम्प्रभुता से होता है, इसलिए मिश्रित राज्य भी नहीं हो सकता। किन्तु राज्य के रूप हो सकते हैं। थोड़ा भ्रम सेबाइन के इस वाक्य से हुआ है..... ''राज्य के रूप नहीं हो सकते, यद्यपि शासन के रूप हो सकते हैं।''। स्वयं सेबाइन आगे चलकर राज्य के रूपों की चर्चा करता है। वस्तुतः सेबाइन का आशय मात्र इतना है कि सम्प्रभुता के एक स्थान पर ही होने के कारण राज्य का रूप सदैव निश्चित ही रहेगा। उसमें मिश्रण की सम्भावना नहीं है। बोदां यह सलाह देता है कि सम्प्रभुता निश्चित रूप से शासक के पास रहे और शासन का विकेन्द्रीकरण हो।

उसमें सभी वर्गों–स्टेट्स और निगमित संस्थाओं की भागीदारी रहे। वह मूलतः यथास्थितिवादी विचारक था। धर्मतान्त्रिक, सामन्तवादी, प्रादेशिक, व्यापारिक और अन्य निगमित संस्थाओं के विशेषाधिकारों को समाप्त करना उस परिस्थिति में सम्भव नहीं था। बोदां बस इतना करता है कि इन वर्गों को वह शासन में समायोजित करके एक संतुलन और न्यायपरक स्थायित्व स्थापित करता है। इस प्रसंग में यह भी दृष्टव्य है कि वह जनता के वर्गों को निगमित संस्थाओं के समकक्ष ही रखता है। उसका प्रयास है कि इन प्राचीन विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखते हुए भी फ्रांस को एकसूत्र में बांधने के लिये राजत्व को ऐकान्तिक स्थान दिलाया जाए। इस प्रकार हमारे सामने दो और महत्वपूर्ण प्रसंग आते हैं, जिन पर हम आगे चर्चा करेंगे। इसमें एक तो शासन का स्वरूप है और दूसरा सम्प्रभु के आदर्श प्रारूप के तौर पर राजत्व की अवधारणा। हमने देखा है कि समकालीन परिस्थितियों के दबाव में बोदां शक्तिमान सम्प्रभु की अवधारणा बनाता है, किन्तु उसका 'पोलीटिकस' समूह संविधानवादी या मर्यादित राजनीति का समर्थक था। एक बार राजत्व को प्रतिष्ठित करने के बाद बोदां इसी कारण उस पर इतने प्रतिबन्ध लगाता है, और दूसरी ओर वह ऐसे शासन की कल्पना करता है, जो सम्प्रभु के दैनन्दिन हस्तक्षेप से मुक्त रहे। आदर्श रूप में सम्प्रभु केवल अत्यन्त सैद्धान्तिक स्तर पर ही, वह भी नीति-निर्माता के तौर पर ही कार्य करता है। वास्तविक कार्य तो सरकार के पास है, जो पर्याप्त जनतांत्रिक है– जनतान्त्रिक इस अर्थ में कि उसमें समाज के अभिजन और सामान्य जन सभी अपना योगदान करते हैं। वह अपनी सैद्धान्तिक स्थापना का परीक्षण एक ठोस उदाहरण से करता है। प्रश्न यह है कि क्या राजा को न्यायिक निर्णय और दण्ड प्रदान करने का अधिकार है? वह स्वयं मानता है कि "स्वयं हमारे विचार की सामान्य व्याख्या के अनुसार इसका उत्तर स्पष्ट रूप से सकारात्मक है, क्योंकि जब राजा विधि का उद्‌गम है और समस्त प्रजा के जीवन और सम्पत्ति का रक्षक है, तो न्यायिक निर्णय का काम भी राजा का होना ही चाहिए.....बहुत लोगों के लिए इसके उत्तर में कोई संशय होना ही नहीं चाहिए, क्योंकि सभी प्राचीन विचारक इस विषय पर एकमत हैं कि राजा के अस्तित्व का यही औचित्य है कि वह अपनी प्रजा से न्याय करता है।" इस पृष्ठभूमि की आवश्यकता इसलिए है, क्योंकि सामान्य धारणा के विरुद्ध वह शासक को इस कार्य या अधिकार से वंचित करता प्रतीत होता है। उसका कहना है कि शासक के पास इस कार्य के कुशल निष्पादन के लिये वांछित विद्वत्ता नहीं होती। फिर उसके लिये यह अच्छा होगा कि वह समाज के किसी भी वर्ग के लिये घृणा का पात्र न बने। न्याय का कार्य सदैव से विवादास्पद रहा है। इस कार्य में शासक कितनी भी निष्पक्षता क्यों न रखे, दण्डित व्यक्ति से जुड़े लोग शासक के निंदक हो जाएंगे। इसलिए शासक को यह कार्य तो अपने न्यायाधिकारियों तथा दण्डाधिकारियों से ही करवाना चाहिए। सम्प्रभु को सदैव प्रसन्नताजनक और लाभदायक कार्य में ही सम्मिलित होना चाहिए–जैसे जनता को सम्मान, पुरस्कार, पेंशन आदि देने का काम। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्प्रभु को अत्यधिक सम्मान देने के बाद भी बोदां वस्तुतः सम्प्रभु को संसदीय प्रणाली वाला राज्याध्यक्ष जैसा प्रतीकात्मक शासक–स्वर्णि, शून्य– बनाना चाहता है। हमने प्रारम्भ में ही देखा है कि वह सम्प्रभु को पारिवारिक सम्पत्ति पर किसी प्रकार के कराधान के अधिकार से वंचित करता है। अब वह सम्प्रभु को बहुत सौम्य ढंग से न्यायाधिकार से भी वंचित कर देता है।

बोदां शासन के महत्वपूर्ण कार्यों से सम्प्रभु को अलग कर देता है। उसे इस बात से कोई लेना-देना नहीं है कि सम्प्रभुता शासक में है या अभिजनों या जनता में निहित है। सम्प्रभु कोई भी हो, उसे परिषदों और न्यायालयों के काम में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। बोदां दरबारी चाटुकारों की भर्त्सना करता है, "जो सम्प्रभु से यह अनुरोध करते रहते हैं कि उसे अपने पंजे दिखाने चाहिए या उसके कान में यह बात भरते रहते हैं कि उसकी मात्र एक भंगिमा या एक दृष्टि भी विधि और उद्‌घोषणा के बराबर है, इसलिये उसके शासन में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जिसके निर्णय को शासक बदल न सके। ऐसी सलाह देकर शासक की शक्ति बढ़ाने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति अपने सम्प्रभु को वास्तव में बहुत हानि पहुंचाते हैं।"

ये शासकीय कार्य वस्तुतः राज्य की "अधीनस्थ शक्तियां" हैं, जिनको राज्य की सर्वोच्च शक्ति द्वारा अधिगृहीत नहीं किया जाना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि राज्य सम्प्रभुता की "विशिष्ट अद्वितीय शक्तियों" को भी प्रत्यायोजित कर दे। इस प्रकार वह स्पष्ट करता है कि अधीनस्थ कार्य जैसे न्यायिक और दण्ड-व्यवस्था सम्प्रभु प्रत्यायोजित करे..... "इन मामलों में सम्प्रभु के पास जितनी कम शक्तियां होंगी, सम्प्रभु उतना ही सुरक्षित रहेगा।" वह स्पार्टा के राजा थियोपाम्पस का उदाहरण देता है, जिसने अपनी सलाहकार परिषद् की शक्तियों को बढ़ा दिया और जनता को प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिये पांच अधिकरणों की स्थापना की। इस पर उसकी पत्नी ने उसको अपनी शक्तियों को स्वयं कम करने की मूर्खता करने का आरोप लगाकर फटकारा। थियोपाम्पस ने कहा कि उसने "अपनी शक्तियों को कम नहीं किया है, बल्कि उसे भविष्य के लिये सुरक्षित बना दिया है। इमारत जितनी ऊंची होती है, उसका जीवन उतना ही कम होता है।" वह मानता है कि अनावश्यक हस्तक्षेप की प्रवृत्ति राजतंत्र में तो होती ही है, यहां तक कि सामान्य जनता में भी अवसर पाने पर, इसी प्रकार के हस्तक्षेप की प्रवृत्ति पायी जाती है। हस्तक्षेप कोई भी करे, उससे राज्य की समान क्षति होती है।

बोदां ने तीनों प्रकार के राज्यों की चर्चा की है। मैकियाविली की भांति वह भी राजतंत्र का समर्थक और कुलीनतंत्र का विरोधी है। मैकियाविली की तरह उसे नगर–राज्यों का व्यावहारिक अनुभव नहीं था, इसलिए वह गणतंत्र के बारे में कोई विचार प्रस्तुत नहीं करता। जनतंत्र को वह अन्य सभी व्यवस्थाओं से अधिक प्राकृतिक मानता है, लेकिन उसके अन्तर्निहित दोषों के कारण वह उसे व्यावहारिक रूप से श्रेष्ठ व्यवस्था नहीं मानता। उसके अनुसार जनतंत्र में अत्यधिक अनिश्चितता रहती है, क्षुद्रता को महिमा-मंडित किया जाता है और प्रशासनिक अक्षमता को प्रोत्साहन मिलता है। प्राचीन विचारकों की तरह वह भी इन तीनों प्रकारों के शुद्ध और भ्रष्ट रूपों के बारे में विचार करता है। इस विमर्श में वह राजतंत्र पर ही विस्तृत विचार करता है, क्योंकि इसी व्यवस्था को वह आदर्श मानता है। राजतंत्र की श्रेष्ठता के लिये यह आवश्यक है कि उत्तराधिकार के लिये प्रचलित मान्यताओं के अनुरूप ज्येष्ठाधिकार को स्वीकार किया जाए और महिलाओं को उससे वंचित रखा जाए। राजतंत्र इसलिए श्रेष्ठ है क्योंकि राजा सभी वर्गों के हित की सोच सकता है जबकि अन्य व्यवस्थाओं में सत्तासीन वर्ग की सोच बहुत संकुचित होती है। बोदां को यह स्पष्ट दिख रहा था कि उसके युग में एकीकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही है और भविष्य में वह और जोर पकड़ेगी। ऐसी विस्तृत प्रशासनिक इकाइयों के लिये राजतंत्र ही ठीक रहेगा। राजतंत्र संकट काल के लिये भी विशेषतः अनुकूल है, क्योंकि उसमें त्वरित निर्णय के लिए पहले से ही एकीकृत व्यवस्था होती है, जबकि अन्य व्यवस्थाओं में पर्याप्त बिखराव होता है। एकीकरण राजतंत्र का सामान्य चरित्र है, जबकि अन्य व्यवस्थाओं में इसका प्रावधान करना पड़ता है, जो प्रायः प्रभावहीन होता है।

वैसे सैद्धान्तिक रूप से जनतंत्र और कुलीनतंत्र में भी वैध और अवैध प्रकार सम्भव है। इस चर्चा में उसका ध्यान राजतंत्र के वैध और अवैध प्रकारों पर केन्द्रित है। राजतंत्र के वैध रूप को उसने "रॉयल" अर्थात् श्रीमन्ती या शाही नाम दिया, जबकि भ्रष्ट रूपों में वह "लार्डली" और "टायरेनिकल" अर्थात् प्रभुत्वपूर्ण और अत्याचारी या आततायी प्रकारों को लेता है। राजतंत्र के दोनों भ्रष्ट रूपों के भेद पर वह अधिक ध्यान नहीं देता है। उसके अनुसार प्रभुत्वपूर्ण और आततायी राजतंत्रों में मात्र इतना अन्तर है कि पहले में सत्ता प्राप्ति के लिये न्यायपूर्ण युद्ध होता है, जबकि दूसरे में ऐसा नहीं होता। बोदां का अधिक ध्यान शाही राजतंत्र के गुणों और आततायीतंत्र से उसके अन्तर को स्पष्ट करने में लगा है। शाही राजतंत्र को वह राजतंत्र में ही नहीं, अपितु सभी प्रकार की व्यवस्थाओं में श्रेष्ठ मानता है।

शाही राजतंत्र और आततायीतंत्र के अन्तर के बारे में बोदां के विचार कुछ भ्रामक प्रतीत होते हैं। उसके अनुसार यह अन्तर इसमें निहित नहीं है कि सत्ता किस प्रकार से प्राप्त की गई है। हो सकता है कि शाही राजतंत्र में भी सत्ता बहुत अप्राकृतिक या यहां तक कि अवैध तरीके से प्राप्त की गई हो..... "हो सकता है कि उसे राज्य उत्तराधिकार में..... या विधि द्वारा.....

या चुनाव द्वारा..... या उपहार में प्राप्त हुआ हो..... शाही राजतंत्र शक्ति द्वारा या यहां तक कि धोखेबाजी द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।'' दोनों में इस आधार पर भी अन्तर नहीं किया जा सकता है कि एक प्रकार में दुष्टता या क्रूरता अधिक है और दूसरे में कम। बोदां की मानसिकता में दोनों के बीच इस नैतिक आधार पर भी अन्तर नहीं है। शाही राजतंत्र भी समानतः दुष्ट हो सकता है।..... ''कभी ऐसा भी हो सकता है कि श्रेष्ठ शासक को भी आततायी शासक का गुण लेना पड़े..... क्रूरता केवल आततायी का ही गुण नहीं है, क्योंकि कभी श्रेष्ठतम शासक को भी क्रूरता का आश्रय लेने को विवश होना पड़ सकता है। एक भ्रष्ट और व्याधिग्रस्त राज्य को उसके चिकित्सक द्वारा कठोर उपचार के लिये बाध्य किया जा सकता है। उस राज्य का उपचार करने वाले शासक को कइयों की हत्या और बहुतों का निष्कासन करना पड़ सकता है, लेकिन उसे आततायी नहीं कहा जाएगा।..... बहुधा राज्य शासक की उदारता से नष्ट होते हैं जबकि कई राज्य क्रूरता के कारण बच जाते हैं।''

बोदां के अनुसार राजतंत्र के शाही रूप की विशिष्टिता का आधार प्राकृतिक कानून के पालन करने में निहित है। यह अद्‌भुत बात है कि उसके अनुसार शाही राजतंत्र धोखेबाजी के आधार पर बन सकता है और दुष्टता की नीतियों से चल सकता है। मैकियाविली या हॉब्स के लिए इस मान्यता से कोई तार्किक असंगति नहीं होती, लेकिन बोदां के लिये अपने आदर्श शाही राजतंत्र को इतनी अनैतिकता से आप्लावित करना अस्वाभाविक तो है ही, अतार्किक भी है, क्योंकि अभी हम देखेंगे कि वह अपने शाही राजतंत्र की नैतिक श्रेष्ठता का अतिरंजित चित्रण करने लगता है। इस प्रयास में वह भावुक और यहां तक कि वायवी और काव्यमय हो जाता है। यद्यपि वैसा काव्यमय विवरण देते समय भी वह यह स्पष्टीकरण देता है कि ''श्रेष्ठ और न्यायी राजा'' से उसका आशय ''किसी शौर्यपूर्ण सद्‌गुण या मनीषा, न्याय या करुणा की प्रतिमा'' बनने से नहीं है। यथार्थवादिता का दावा करने के बाद वह अगली पंक्ति में ही वह कहता है कि ऐसे शासक को ''जनता की भलाई के लिये अपना वैभव, अपना रक्त और अपना जीवन समर्पित कर देना चाहिए।''

हम देख चुके हैं कि बोदां शाही राजतंत्र के विवरण में एक विचारक के व्यक्तित्व के प्रतिकूल यथार्थ और आदर्श के बीच छलांग लगाता रहता है। इसी का एक दृष्टान्त है..... ''एक शासक और आततायी के बीच सबसे बड़ा अन्तर यह है कि शासक प्राकृतिक विधियों का अनुपालन करता है, जबकि आततायी उसे अपने पैरों के नीचे रौंदता है। एक करुणा, न्याय और आस्था को सम्मानित करता है, दूसरा न तो ईश्वर को, न तो आस्था को और न ही विधि को जानता है। एक को केवल लोकहित और प्रजा के कल्याण की ही चिन्ता होती है, दूसरा केवल अपने लाभ, प्रतिकार और सुख के लिये ही कुछ करता है। एक अपनी प्रजा को समृद्ध बनाता है, दूसरा प्रजा के भग्नावशेषों पर अपना घर खड़ा करता है। एक अपने साथ की गयी त्रुटियों को क्षमा करता है, लेकिन जनता के साथ हुए अन्याय को दण्डित करता है, दूसरा अपनी हानि का प्रतिकार करता है और अन्य के साथ ऐसा करने वाले को छोड़ देता है। एक चरित्रवान महिला की शुचिता की रक्षा करता है, दूसरा उसको भ्रष्ट करने में अपनी विजय का अहसास करता है। एक अपनी निष्ठावान प्रजा के सम्मुख होने पर आनन्दित होता है, दूसरा उससे ऐसा छिपता है, जैसे उसकी प्रजा उसकी शत्रु हो। एक के राज्य का आधार प्रजा का स्नेह होता है, दूसरे का आधार भय होता है। एक अपने जीवन में सम्मानित होता है और मृत्यु के बाद अपनी अनुपस्थिति का अहसास कराता है, दूसरा जीवन-काल में कुख्यात हो जाता है और मरने पर लोगों को आनन्दित कर जाता है।'' वस्तुतः वह आततायी से इतना अधिक घृणा करता है कि कई प्राचीन विद्वानों के विचारों को उद्‌धृत करते हुए वह ऐसे राजा की हत्या का समर्थन करता है। इस प्रसंग में वह अपने संयमित स्वभाव के विपरीत जाकर यहां तक कह देता है कि ऐसे राजा के हत्यारे को ''देश का मुक्तिदाता मान कर देश के सबसे बड़े सम्मान–नाइटहुड आदि से अलंकृत करना चाहिए और आततायी की सम्पत्ति पर भी उसका अधिकार स्वीकृत किया जाना चाहिए।'' आततायी के विरुद्ध इतनी दूर जाकर बोदां का राजत्व–प्रेम फिर जाग जाता है। वह

कहता है कि आततायी को अगर दूसरा राजा मार डाले, तो यह "केवल स्वीकार्य ही नहीं बल्कि महान् और गौरवपूर्ण कार्य" है, लेकिन यह काम प्रजा नहीं कर सकती, क्योंकि प्रजा सम्प्रभु के विरुद्ध किसी भी प्रकार से खड़ी नहीं हो सकती। उसके अनुसार "कोई निवासी या यहां तक कि समस्त प्रजाजन भी मिलकर अपने सम्प्रभु के जीवन या सम्मान पर प्रहार नहीं कर सकते..... यह न तो तथ्य से औचित्यपूर्ण है और न तो न्याय की दृष्टि से।" उसके अनुसार ऐसा करना ही नहीं, "ऐसा प्रयास करना, ऐसी मन्त्रणा करना, ऐसी इच्छा करना यहां तक कि ऐसा सोचना भी" राजद्रोह है और बोदां के अनुसार यह राजद्रोह भी "उच्चतम प्रकार" का है। स्पष्ट है कि बोदां सम्प्रभुता की वैधिक और नैतिक व्याख्याओं के बीच उहापोह की स्थिति में फंसा हुआ है और इसी कारण वह एक साथ ही, कभी-कभी एक स्थान पर ही दोनों प्रकार की विरोधी बातें कहता है। हमने देखा है कि यह समस्या मैकियाविली और हॉब्स के सामने नहीं आई, क्योंकि उन्होंने नैतिकता का प्रश्न रखा ही नहीं। बोदां के लिए प्राकृतिक विधि का बन्धन मुख्यतः नैतिक था, जो उसने सम्प्रभुता की मुख्यतः वैधिक परिभाषा में डाल दिया था। इसका समाधान लॉक ने इस तरह निकाला कि प्राकृतिक विधि को मुख्यतः नहीं, बल्कि पूर्णतः नैतिक मान लिया जाए और इसी पूर्णतः नैतिक प्राकृतिक अधिकार की कसौटी पर सम्प्रभु को परखा जाए। बोदां के सामने संकट यह था कि वह न तो मैकियाविली और हॉब्स के नैतिकता-निरपेक्ष मार्ग पर जा सका और न तो लॉक के पूर्णतः नैतिक मार्ग पर। दोनों के बीच संशय बनाए रखने के कारण वह विरोधी विचारों से छुटकारा नहीं पा सका।

9.9 विस्तृत राज्य के लिये 'नागरिकता' का अनुकूलन

बोदां ने अरस्तू के विचारों में कई स्थानों पर परिवर्तन करके उसे तत्कालीन फ्रांस और एक प्रकार से अपने युग की प्रचलित सामान्य प्रणालियों से समायोजित करने का प्रयास किया है। नागरिकता की परिभाषा में परिवर्तन भी उसी प्रक्रिया की एक कड़ी है। इस बार वह फिर अपने चिर-परिचित भाव में यह घोषणा करता है कि उसकी परिभाषा पूर्ववर्ती परिभाषाओं से श्रेष्ठ है। उसके अनुसार "नागरिक वह स्वतंत्र प्रजा है, जो किसी अन्य की सम्प्रभुता के अधीन है।" इसका स्पष्टीकरण देते हुए वह कहता है कि "नागरिक स्वतंत्र है, क्योंकि उसके कतिपय अधिकार और विशेषाधिकार हैं, और दूसरी ओर वह प्रजा भी है, क्योंकि उसकी स्वतंत्रता उस सम्प्रभु से सीमित हो जाती है, जिसके प्रति वह निष्ठावान है।"

बोदां की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट होता है कि वह स्वतंत्रता और अधीनता का संतुलन बनाने का प्रयास कर रहा है। उसका नागरिक एक राज्यहीन व्यक्ति की तरह परम स्वतंत्र नहीं है और न तो वह दास की तरह परम परतंत्र, या अरस्तू के शब्दों में "जीवित सम्पत्ति" है, जो बोदां के शब्दों में "किसी गणना में शामिल नहीं है।" बोदां कहता है कि उसने नागरिक के लिए "स्वतंत्र" शब्द का प्रयोग उस समय बड़ी संख्या में उपस्थित दासों से उनको अलग करने के लिए किया है। उसका आशय उन सभी व्यक्तियों से है, जो दास नहीं हैं। इस प्रकार उसके स्वतंत्र व्यक्तियों में 'पैटर फेमिलियास' के साथ उसके परिवार के सभी सदस्य-महिलाएं और बच्चे भी आ जाते हैं। जोन्स के शब्दों में "नागरिक की स्वतंत्रता सीमित है, लेकिन वह विधि द्वारा सीमित है और चूंकि सम्प्रभु भी विधि द्वारा सीमित है, इसलिए स्वयं सम्प्रभु भी पूर्ण स्वतंत्र नहीं हैं।"

बोदां की परिभाषा निश्चित रूप से अरस्तू का सामयिक अनुकूलन है। अरस्तू की परिभाषा में नागरिक होने की आवश्यक शर्त राज्य के नीति-निर्माण के कार्यों में किसी स्थिति में सहभागी बनना था। यह प्रत्यक्ष जनतंत्र की आदर्श व्यवस्था में ही सम्भव था। वर्तमान युग के विस्तृत जनतांत्रिक राज्यों में भी नागरिकता की यह कठिन कसौटी लागू नहीं हो सकती। बोदां के युग में तो राजतंत्र या कुलीनतंत्र के ही विकल्प सम्भावित थे। इसलिए उसका यह प्रयास युगानुकूल ही माना जाएगा। इस सम्बन्ध में बोदां प्लूटार्क की परिभाषा को वास्तविकता के अधिक अनुकूल

पाता हैं। प्लूटार्क के अनुसार "नगर के अधिकार और अधिकारों और विशेषाधिकारों में भागीदारी से नागरिकता के अधिकार का सृजन होता है।" प्लूटार्क अधिकार का संदर्भ देता है, अधिकारों की समानता का नहीं। बोदां इस बिन्दु को महत्वपूर्ण स्थान देता है। उसके अनुसार अधिकारों का सृजन मूलतः कर्तव्यों से होता है, यद्यपि इसमें अन्य कारक भी प्रभावी होते हैं। किसी भी समाज में अभिजनों को विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं। इसका बड़ा कारण यह है कि उन्हें राज्य की रक्षा में युद्ध करना होता है, जिसमें उनको अपने जीवन और सम्पत्ति से हाथ धोना पड़ सकता है। इसके बदले उन्हें कुछ विशेषाधिकार भी मिलते हैं, जैसे कर से मुक्ति। सुशासित राज्य में क्षुद्रतम प्रजा को भी कतिपय अधिकार मिलते हैं। बोदां जोर देकर कहता है "मैं फिर कहूंगा कि अधिकारों की समानता से नागरिकता का कोई लेना-देना नहीं है। नागरिकता तो सम्प्रभु और प्रजा के बीच पारस्परिक प्रतिबद्धता है। सम्प्रभुता को जो सदाशयता और आज्ञानुपालन प्राप्त होता है, उसके प्रतिफल में प्रजा से उसकी प्रतिबद्धता है कि वह उन्हें न्याय, मन्त्रणा, सुख, सहायता और संरक्षण प्रदान करे।"

नागरिक के लिये मौलिक समानता प्रदान करने के बाद बोदां उसी प्रखरता के साथ अन्य प्रसंगों में नागरिकों के बीच के अन्तर को औचित्यपूर्ण सिद्ध करता है। वह एक रोमन अभिजन सीनेटर के वक्तव्य को अपने समर्थन में उद्धृत करता है, जिसने आम आदमियों-प्लेबियनों-के समानता के आग्रह पर कहा था "क्या पैरों को आंखों के विरुद्ध इस बात की शिकायत करना चाहिए कि उन्हें उतना ऊंचा स्थान क्यों नहीं मिला है?" बोदां अपने स्वभाव के अनुरूप ही कर्तव्यों के आधार पर संस्तरीकृत अधिकारों का एक पदक्रम ही बना देता है और उसकी एक विस्तृत सूची प्रस्तुत करता है। इस पदक्रम में सम्प्रभु के बाद क्रमशः धार्मिक, राजनैतिक और फिर सैनिक अभिजन आते हैं। दिलचस्प बात यह है कि वह संगीतकारों, चित्रकारों, मूर्तिकारों, अभिनेताओं, नर्तकों–और उनके साथ मसखरों और भांड़ों को जोड़कर–उन सबको नाइयों, नाविकों, वाहन-चालकों, कुलियों, कब्र खोदने वालों और जल्लादों के भी नीचे रखना चाहता है। उनके सामने दूसरा विकल्प यह है कि उन्हें देश–निकाला दे दिया जाए। "कारण यह है कि दूसरा वर्ग नगर से गन्दगी को साफ करने और नागरिकों के स्वास्थ्य और सफाई के लिये आवश्यक है और वे इस प्रकार से राज्य के लिये कुछ आवश्यक कार्य करते हैं। पहला वर्ग अपने निकृष्ट व्यवसाय के कारण केवल निरर्थक और अश्लील सुख ही बांटते हैं और इस प्रकार वे न केवल नागरिकों के चरित्र को भ्रष्ट करते हैं, बल्कि एक प्रकार से नगर को ही नष्ट कर देते हैं।"

9.10 क्रान्ति—कारण और निवारण

बोदां अपने "रिपब्लिक" के अंतिम भागों में कतिपय व्यावहारिक मामलों पर चर्चा करता है। इसके पहले के भागों में वह सैद्धान्तिक विषयों पर विस्तृत चर्चा कर चुका है। इन व्यावहारिक प्रसंगों में एक सूत्र के तौर पर वह क्रान्ति के विषय पर विचार करता है। क्रान्ति के पूर्वानुमान के लिये वह ज्योतिष आदि का आश्रय लेने की बात करता है। इसके साथ ही वह भौगोलिक तत्वों और धर्म के महत्व पर भी विचार करता है। क्रान्ति के निवारण के लिये वह प्रशासन के हर क्षेत्र में सुधार की एक विस्तृत योजना प्रस्तुत करता है। इस प्रकार अन्य आनुषांगिक कारणों से भी उसका क्रान्ति सम्बन्धी विवेचन महत्वपूर्ण हो जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि क्रान्ति के विषय के चुनाव के साथ ही वह अरस्तू का अनुगमन करने लगता है।

बोदां में अरस्तू से इस अर्थ में भिन्नता है कि वह क्रान्ति को एक सीमा तक स्वाभाविक मानता है। इसलिए वह क्रान्ति को रोकने के साथ ही उसके समायोजन की बात भी करता है। अरस्तू का मानना था कि क्रान्ति के साथ संवैधानिक व्यवस्था में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। बोदां की भाषा में इसका रूपान्तरण यह हुआ कि क्रान्ति संवैधानिक व्यवस्था यानी सम्प्रभुता की स्थिति में परिवर्तन करती है। बोदां की यही परिभाषा है..... "क्रान्ति सम्प्रभुता की स्थिति में परिवर्तन है।" चूंकि सम्प्रभु राज्य का आधारभूत अवयव है, एक प्रकार से उसकी आत्मा और उसका

सार है, इसलिये सम्प्रभुता के स्थान-परिवर्तन से राज्य का मौलिक चरित्र ही बदल जाता है। बोंदां केवल इसी प्रकार के परिवर्तन को क्रान्ति या "कन्वर्शियो" का नाम देता है। शेष प्रत्येक परिवर्तन को वह "अल्टरेशियो" की निम्नतर श्रेणी में रखता है। राज्य के विधि-विधान, उसकी विशिष्ट संस्थाएं, यहां तक कि उसके शासन का स्वरूप भी बदल जाए, तो भी बोदां के अनुसार यह परिवर्तन द्वितीयक यानी अल्टरेशियो ही है। राजतंत्र के भीतर काम करने वाली लोकतान्त्रिक सरकार वर्गतन्त्रीय हो जाए, उस समय भी कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि राजा के पास सम्प्रभुता बनी रहती है। बोदां इन सब परिवर्तनों को अस्थायी ही मानता है।

बोदां की स्पष्ट मान्यता है कि स्थायी, आधारभूत और मौलिक परिवर्तन अर्थात् क्रान्ति तो सम्प्रभुता के स्थान परिवर्तन को ही मानना चाहिए। इस तरह क्रान्ति की उसकी कठोर परिभाषा से समस्या खड़ी हो जाती है। राज्य में भिन्न धर्मों के अनुयायियों की संख्या में तीखा परिवर्तन हो गया हो, तो भी इसको केवल "अल्टरेशियो" अर्थात् अस्थायी और द्वितीयक महत्व का परिवर्तन मानना अनुचित प्रतीत होता है। बोदां स्वयं देख चुका था कि फ्रांस में प्रोटेस्टेण्ट अनुयायियों की संख्या में वृद्धि के साथ ही कितनी विकट राजनैतिक समस्याएं उठ खड़ी हुई थीं। सम्प्रभुता की कठोर परिभाषा करके उसमें राजा को बैठाने की उसकी पूरी बौद्धिक योजना बनी ही इसीलिए थी कि सम्प्रदाय के आधार पर लगभग स्थायी रूप से विभाजित हो गए फ्रांस को कम से कम सम्प्रभु के सहारे एक सूत्र में बांधा जा सके और इस प्रकार राष्ट्रीय एकता को बनाए रखा जा सके। धर्म आदि के परिवर्तन को भी क्रान्ति की परिभाषा में रखकर बोदां इस समस्या से बच सकता था। उसने स्वयं धर्म की एकात्मक और विभाजक–दोनों भूमिकाओं पर विस्तार से लिखा है। यह हो सकता है कि अपने विश्लेषण को सीमित रखने के लिए बोदां ने क्रान्ति की सीमित परिभाषा की हो।

बोदां ने क्रान्ति के कारणों को तीन वर्गों में बांटा है। पहला कारण दैवी है, जिस पर किसी का नियन्त्रण नहीं है। बोदां को दैवी शक्ति पर पूरा विश्वास है, लेकिन इस प्रसंग पर वह यह कह कर चुप हो जाता है कि दैवी इच्छा को समझ पाना सम्भव नहीं है। ईश्वर जब चाहे, वह अपने द्वारा चुने गये पैगम्बर के माध्यम से अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति करता है। बोदां को दैवी कारण पर इतना गम्भीर विश्वास है कि वह इसे क्रान्ति का प्रत्यक्ष कारण बताता है। दूसरा कारण प्राकृतिक है। इस वर्ग में वह उन लौकिक कारणों को नहीं रखता, जिसकी हम आज के युग में अपेक्षा रखते हैं। प्राकृतिक कारणों से उसका आशय–हमारे लिए अविश्वसनीय रूप से–ज्योतिष से है। वह ज्योतिष पर बहुत विस्तृत विचार करता है। हमने देखा है कि वह भूत-प्रेत, शैतान, टोना-टटका और गुह्य-विद्या पर पूरा विश्वास रखता था। उसने एक पुस्तिका लिखी थी, जिसमें उसने दण्डाधिकारियों को जादू के कुछ तरीके बताए थे, जिसके द्वारा वे डाइनों को पकड़ कर दण्डित कर सकते थे। वह गम्भीरता से मानता था कि शैतान लोगों की आत्मा में घुस कर उनसे अपवित्र काम करवाता है। अद्भुत बात यह है कि इन विषयों को अपनी गम्भीर चर्चाओं का अभिन्न अंग बनाकर प्रस्तुत करता है। उसके मन में किसी प्रकार का संशय नहीं है।

राजनैतिक कृत्य के पीछे ज्योतिष की गम्भीर चर्चा विषयान्तर जैसा आभास देगी। बोदां को इसका अनुमान ही नहीं है। वह मात्र इसलिए थोड़ा संयम रखता है, क्योंकि राज्यों के जन्म के समय की नक्षत्रीय गणना वैसी सटीक नहीं हो सकती, जैसी व्यक्ति के साथ होती है। अगर ऐसा हो सकता, तो वह ज्योतिष को राजनीति का आधार ही बना देता। इस पर भी उसका दावा है कि वह "ज्योतिष का वैज्ञानिक अध्ययन" कर रहा है, जिससे "राजनीति के लिए निश्चित और उपयोगी परिणाम निकल सकते हैं।" वह ज्योतिषी को "राज्य के चिकित्सक" का पद देता है, क्योंकि ज्योतिष के द्वारा ही राज्य की गम्भीर व्याधियों का उपचार हो सकता है। उसकी गम्भीरता का अनुमान इसी से लग सकता है कि वह मुख्य नक्षत्रों की गणना के लिए पिछले 1570 वर्षों का पर्यवेक्षण करता है।

UGEN 01V 13B

बोदां सामाजिक, आर्थिक और भौगोलिक कारणों को 'निकटस्थ' और अप्रत्यक्ष कारण मानता है। भौगोलिक कारणों को महत्व देकर वह अरस्तू का अनुयायी और मान्तेस्क्यू का पूर्वगामी बनता है। ज्योतिष की तरह यहां भी वह अतिरेक का शिकार दिखता है। जलवायु, अक्षांश और देशान्तर का प्रभाव मनुष्यों और उनके समाजों पर पड़ सकता है, लेकिन उसकी इस मान्यता पर विश्वास करना कठिन है, कि अगर ये सब कारक एक समान हों, तो भी 'एक ही नगर में मात्र ऊंचाई के अन्तर से निवासियों की मानसिकता और परम्पराओं में अन्तर हो सकता है।" जलवायु आदि के अन्तर से वह यूरोप के तीन भागों के निवासियों के चारित्रिक अन्तर का वर्णन करता है। उत्तरी क्षेत्र में शक्ति, दक्षिण में धर्म और माध्यमिक भागों में न्याय का प्रभाव दिखता है। वह यह भी मानता है कि विधि और परिस्थितियों के प्रभाव से लोगों के चरित्र में परिवर्तन आ सकता है। उदाहरण के लिये इंग्लैंड की रानी ने अत्यधिक झगड़ालू अंग्रेजों को सौम्य बना दिया है, जबकि कभी सौम्यता के प्रतीक माने जाने वाले फ्रांसीसी गृह-युद्धों के चलते आज "जंगली जानवर" बन गए हैं।

निकटस्थ कारणों की समीक्षा बोदां के लेखन में एक स्थान पर केन्द्रित नहीं है। चूंकि उसका ज्ञान प्रायः सभी विषयों तक फैला हुआ है, इसलिए वह इन कारणों की तलाश हर अनुशासन में करता है। मोटे तौर पर उसका मानना है कि अराजकता का कारण भयंकर आर्थिक असमानता और अन्याय है या फिर लोग अपनी परम्पराओं, संस्थाओं में हस्तक्षेप से क्षुब्ध हो सकते हैं। एकाध स्थानों पर वह कुछ दिलचस्प टिप्पणियां करता है। जैसे वह राजा को सुझाव देता है कि रात्रि-भोज के बाद वह अपने मंत्रि-मंडल की बैठक न बुलाए, क्योंकि हो सकता है कि उसका कोई सलाहकार किसी "दूसरी मनःस्थिति" में पहुंच गया हो।

9.11 धार्मिक सहिष्णुता की नीति का प्रतिपादन

क्रान्ति के कारणों में बोदां ने धार्मिक विवादों को भी सम्मिलित किया है, जिसके महत्व को देखते हुए इसकी चर्चा स्वतंत्र रूप से करना ठीक होगा। उसकी 'रिपब्लिक' सेंट बार्थोलोम्यू हत्या-कांड के चार साल बाद प्रकाशित हुई थी, इसलिए स्वाभाविक तौर पर उसके चिंतन में धार्मिक विवाद के विध्वंसात्मक पहलू का प्रभाव छाया हुआ था। बोदां और उसके पोलिटिकस समूह के बुद्धिजीवी यह मान चुके थे कि धार्मिक विभाजन स्थायी हो गया है, अब आवश्यकता है कि कम से कम देश का विभाजन रोका जाए। उनके अनुसार यह तभी सम्भव है, जब लोग धार्मिक विभाजन को सहज रूप से स्वीकार कर लें, अर्थात् सहिष्णुता की नीति को स्वीकार कर लें। कैथोलिक कट्टरपंथियों के लिये यह पाप्पूर्ण विचार था। उनके लिये यह मानने का अर्थ यह था कि "पथभ्रष्ट प्रोटेस्टेण्टों को सही रास्ते पर लाने का पवित्र प्रयास छोड़ दिया जाए।" उनकी दृष्टि में राजनैतिक लाभ के लिये यह धार्मिक सौदेबाजी अपवित्र अवसरवाद के अतिरिक्त कुछ नहीं है। समस्या यह भी थी कि बोदां और अन्य पोलिटिकस सहिष्णुता को एक राजनैतिक विवशता ही मानते थे। वह एक नीति ही थी, कोई स्थायी, सैद्धान्तिक और नैतिक समाधान नहीं। बोदां ने इस समझौते को दार्शनिक औचित्य प्रदान करने के लिये 'हेप्टोप्लोमर्स' नाम से एक पुस्तक अवश्य लिखी, लेकिन विवाद की आशंका से उसने उस पुस्तक को प्रकाशित नहीं किया। निजी जीवन में भी वह सहिष्णुता का समर्थक था। इसका एक प्रमाण यह है कि धार्मिक उग्रता के उस युग में भी यह स्पष्ट नहीं हो सका कि वह निजी तौर पर किस सम्प्रदाय या धर्म का अनुयायी है। कभी-कभी तो उसे यहूदी और मुस्लिम तक माना गया।

बोदां के अनुसार शासक को चाहिए कि वह धार्मिक गुटों या सम्प्रदायों को बनने से रोके और अगर वे बन ही गए हों तो उनको बढ़ने से रोके। अगर सम्प्रदाय बड़े और हिंसक हो गये हों, तो उनके विवादों को वह न्यायपूर्ण ढंग से निपटाने का प्रयास करे। अगर समस्या का समाधान इससे नहीं होता, तो उसे विलम्ब किये बिना दमन करना चाहिए। विलम्ब का अर्थ समस्या को असाध्य बनाना है। समय रहते दमन हो जाए तो कम हिंसा से समाधान हो सकता है। यदि

कोई साम्प्रदायिक समूह शासक के विरुद्ध काम करता है, तो यह सीधे राजद्रोह है और इसे "एक क्षण के लिये भी" सहन नहीं किया जाना चाहिए।

यदि राज्य में धार्मिक एकता है तो यह राज्य के लिये सौभाग्य की बात है। ऐसी स्थिति में शासक को चाहिए कि वह इस आस्था पर किसी प्रकार का विवाद न खड़ा होने दे। "इस बात पर अत्यधिक ध्यान देना चाहिए कि आस्था पर कोई प्रश्नचिन्ह न लगे। किसी मान्यता पर अत्यधिक विवाद उस मान्यता को संदिग्ध बना देता है। निश्चित रूप से यह निकृष्टतम कृत्य है कि लोगों की उन आस्थाओं पर अनिश्चितता पैदा की जाए, जिन पर विश्वास करना सर्वोपरि होना चाहिए।" यदि राज्य में कई धर्म हैं तो "यह दुर्भाग्यपूर्ण है, लेकिन अनिवार्यतः सांघातिक नहीं है।" यदि शासक को उनमें से किसी से आपत्ति है तो भी उसे इसका प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। उसे महान रोमन शासक थियोडोसियस की तरह इन आपत्तिजनक सम्प्रदायों को सहन करना चाहिए और कुशलतापूर्वक उनको समायोजित करना चाहिए। बोदां का मानना है उनके सम्प्रदाय को नष्ट करने का अर्थ उनको नास्तिकता की ओर ढकेलना होगा, जो पहले से कहीं अधिक क्षतिकारक होगा। "जैसे कि निकृष्टतम आततायीतन्त्र भी अराजकता से श्रेष्ठ है, उसी प्रकार निकृष्टतम धर्म भी नास्तिकता से श्रेष्ठ है।" उसका मानना है कि धर्म के विकृत रूप से भी राज्य को कुछ समर्थन अवश्य मिलेगा, जबकि नास्तिकता आज्ञानुपालन को पूर्णतः असम्भव बना देगी।

9.12 बोदां का योगदान

राजनैतिक विचारों के इतिहास में बोदां का सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान सम्प्रभुता को स्पष्टतम ढंग से परिभाषित करना है। एबेन्स्टीन के अनुसार उसने वैधिक और राजनैतिक सम्प्रभुता को अलग करके कम से कम वैधिक रूप से सम्प्रभु को सर्वोच्च बनाने में सफलता पाई। इस तरह उसने आधुनिक राज्यों की सर्वोच्चता को एक सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया। पूरी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और संयुक्त राष्ट्र का कार्य इसी मौलिक सिद्धान्त पर चलता है। सम्प्रभु की स्थिति स्पष्ट करने के लिये उसने विद्वत्तापूर्ण ढंग से समाज, सरकार और राज्य को अलग किया। वह सम्प्रभुता की स्थिति स्पष्ट करने के लिये इतने लम्बे रास्ते की बौद्धिक यात्रा करता है और कहीं भी भटकता नहीं। जैसा कि जोन्स और सेबाइन ने लिखा है कि उसकी असफलताएं भी प्रशंसनीय हैं। जोन्स ने माना है कि यह असफलता उसकी अपनी नहीं बल्कि राजनैतिक सिद्धान्त की है। यह असफलता "व्यवस्था और स्वतंत्रता" को समायोजित करने की है। सेबाइन के अनुसार यह असफलता "संविधानवाद और केन्द्रीकृत शक्ति" को संतुलित करने की है। दोनों का यह भी मानना है कि बोदां की उबाऊ लेखन-शैली उसके लेखन की अलोकप्रियता का कारण बनी। संक्षिप्त आकार की होने के कारण कई कम गम्भीर पुस्तकें उसकी 'रिपब्लिक' से अधिक लम्बे समय तक प्रासंगिक बनी रहीं। बोदां का यह भी योगदान है कि उसने प्राकृतिक विधि को नैतिक और वैधिक दोनों रूपों में राजनीति के लिये प्रासंगिक बना दिया। सम्प्रभुता की परिभाषा को हॉब्स, फिल्मर और आस्टिन आदि ने तथा प्राकृतिक विधि की अवधारणा को ग्रोशस और लॉक ने परिष्कृत करके राजनैतिक विचारों को समृद्ध बनाया।

राजनैतिक सामग्री को व्यवस्थित और वर्गीकृत करके उसने अरस्तू को राजनीति-शास्त्र में फिर से उपयोगी बनाया। मध्यकाल में एक्विना और मार्सिलियो पादुआ ने यह काम एक सीमित दायरे में ही किया था। नागरिकता, क्रान्ति और राज्य के लक्ष्य आदि कई महत्वपूर्ण प्रसंगों में उसने अरस्तू को संशोधित करके उसे प्रासंगिक बना दिया। राजनीति में भौतिक और भौगोलिक कारकों को सम्मिलित करके उसने उसे वैज्ञानिक आधार देने का प्रयास किया। इस अर्थ में वह मान्तेस्क्यू का पथ-प्रदर्शक और भू-राजनीति का प्रवर्तक है। यहां तक कि वह ज्योतिष को भी वैज्ञानिक आधार पर ही स्थापित करने का प्रयास करता है। आज हमें यह प्रयास हास्यास्पद लगेगा, लेकिन उसके लक्ष्य पर संदेह नहीं करना चाहिए। उसकी असफलताएं भी उसकी

गम्भीरता को प्रदर्शित करती हैं।

सच तो यह है कि अपनी असफलताओं, तार्किक असंगतियों और अंधविश्वासी मानसिकता के कारण बोदां मैकियाविली की अपेक्षा कहीं अधिक प्रामाणिक तरीके से मध्ययुग से आधुनिकता की ओर के संक्रमण का परिचायक बन गया है। मैकियाविली तो सीधे आधुनिकता में छलांग लगा देता है, जबकि बोदां स्वाभाविक चाल से एक पैर मध्यकाल में रखे हुए दूसरे पैर से आधुनिकता में प्रवेश करता है। प्रोफेसर जोन्स ने सही कहा है कि वह समय की ऐसी संध्या में खड़ा था कि वह "दोनों युगों को देख रहा था।" इसी अर्थ में फॉस्टर की टिप्पणी को याद करना चाहिए कि मैकियाविली मध्यकाल के पुनर्जागरण का ही प्रतिनिधित्व करता है, जबकि बोदां पुनर्जागरण और सुधार आंदोलन-दोनों का प्रतिनिधित्व करता है। मैकियाविली सीधे धर्महीनता पर उतर आता है, जबकि बोदां धार्मिक सहिष्णुता की अधिक प्रासंगिक नीति का प्रतिपादन करता है। बोदां इस अर्थ में भी बहुत व्यावहारिक, मानवीय और आधुनिक है।

9.13 सारांश

बोदां के अध्ययन से सम्प्रभुता सम्बन्धी उसके सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचारों का ज्ञान होता है। आधुनिक राज्य की इस आधारभूत अवधारणा को स्पष्ट करने का श्रेय बोदां को ही जाता है। हमको यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य को सम्प्रभु बनाने के लिये बोदां ने कितनी विस्तृत व्यवस्था की है। इस प्रक्रिया में उसने समाज और शासन को भी शासक से पृथक किया और तीनों इकाइयों की भूमिका को स्पष्ट किया। निश्चित रूप से इतनी जटिल तर्क-पद्धति के प्रयोग के कारण वह सामान्य पाठकों के लिये असम्प्रेष्य हो गया है।

हम मान सकते हैं कि बोदां के रूप में आधुनिक युग में अरस्तू का पुनर्जन्म हुआ है। बोदां ने मध्ययुग की बिखरी हुयी राजनैतिक सामग्री को तत्कालीन समस्याओं के संदर्भ में व्यवस्थित किया। अगर उसके विचारों में मौलिकता नहीं भी होती, तो भी वह व्यवस्थाबद्ध करने के अपने गम्भीर प्रयास के कारण प्रशंसनीय होता।

9.14 उपयोगी पुस्तकें

1. जे डब्लू एलेन-ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटकल थॉट्स इन सिक्सटीन्थ सेंचुरी (लंदन, 1928)
2. एफ जे सी हर्नशॉ–सम्पादित–दि सोशल एण्ड पोलिटिकल आइडियाज ऑफ सम ग्रेट थिंकर्स ऑफ सिक्सटीन्थ एण्ड सेवेन्टीन सेंचुरीज़
3. सी एच मैक्लवेन–दि ग्रोथ ऑफ पोलिटिकल थॉट इन दि वेस्ट, फ्राम दि ग्रीक्स टु दि एण्ड आफ मिडिल एजेस

9.15 संबंधित प्रश्न

(क) दीर्घ प्रश्न

1. बोदां के सम्प्रभुता सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए।
2. क्रान्ति के कारणों और उसके निवारण के उपायों पर बोदां के विचारों पर प्रकाश डालिए।
3. राजनैतिक विचारों के इतिहास में बोदां के योगदान पर विस्तृत टिप्पणी कीजिए।

(ख) संक्षिप्त प्रश्न

1. बोदां द्वारा वर्णित शासनों के वर्गों पर प्रकाश डालिए।
2. सम्प्रभु के समक्ष परिवार और अन्य नागरिक संगठनों के स्थान पर बोदां के विचारों की विवेचना कीजिए।
3. धार्मिक सहिष्णुता पर बोदां के विचारों की आलोचना कीजिए।

(ग) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. पेटर फेमिलियाज का अर्थ है–
   (क) परिवार का प्रमुख।
   (ख) बोदां की प्रसिद्ध पुस्तक का शीर्षक।
   (ग) सेंट पीटर।
   (घ) फेमिलिया वंश का महान शासक पेटर दि ग्रेट।
2. बोदां के अनुसार–
   (क) राज्य के लिये आस्तिकता और नास्तिकता में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए।
   (ख) आस्तिकता अंधविश्वास को जन्म देने के कारण नास्तिकता से निकृष्ट है।
   (ग) आस्तिकता श्रेष्ठ है, अगर वह कैथोलिक मान्यताओं के अनुरूप हो।
   (घ) नास्तिकता अंधविश्वास से भी निकृष्ट है।
3. बोदां के अनुसार प्राकृतिक विधि का उल्लंघन करने वाले आततायी शासक की हत्या करना उचित है।
   (क) सही
   (ख) गलत
   (ग) कोई टिप्पणी नहीं की है
   (घ) परिस्थितियों पर निर्भर है–कभी उचित और कभी अनुचित हो सकता है।

9.16 प्रश्नोत्तर

1. (क)
2. (घ)
3. (क)

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

MAPS – 01

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का इतिहास

खण्ड
4

सामाजिक संविदावादियों का राजनीतिक चिन्तन

इकाई – 10
टॉमस हॉब्स 5

इकाई – 11
जॉन लॉक 16

इकाई – 12
जीन जैक्यस रूसो 23

विशेषज्ञ समिति

प्रो. देवेन्द्र प्रताप सिंह — अध्यक्ष
कुलपति
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

डॉ. आर.के. मणि त्रिपाठी — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

डॉ. एल.डी. ठाकुर — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रो. एस.एम. सईद — विषय विशेषज्ञ
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव — दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
रीडर, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. आर.के. बसलस — सचिव
कुलसचिव
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

कार्यक्रम संयोजक : डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, परामर्शदाता, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सम्पादन : प्रो. एस. के. द्विवेदी, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

PGPS-01 :– *पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का इतिहास*

लेखक मण्डल

खण्ड एकः प्रो. बी.के. तिवारी, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ **3 इकाई**

खण्ड दोः प्रो. राकेश कुमार मिश्र, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ **3 इकाई**

खण्ड तीनः डॉ. आशुतोष मिश्र, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ **3 इकाई**

खण्ड चारः प्रो. आलोक पंत, अध्यक्ष राजनीतिशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद **3 इकाई**

खण्ड पाँचः डॉ. मुकुल अस्थाना, रीडर,राजनीतिशास्त्र विभाग, सेन्ट एन्ड्रूज पी.जी. कालेज, गोरखपुर **3 इकाई**

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।

खण्ड 4 का परिचय : सामाजिक संविदावादियों का राजनीतिक चिन्तन

मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन एवं दर्शन – संविदावादी विचारक टॉमस हॉब्स, जॉन लॉक एवं जीन जैक्यस रूसो : परिचय

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है उसमें एक प्रमुख सिद्धान्त है संविदा अथवा समझौता सिद्धान्त। संविदा सिद्धान्त राज्य की विवेचना प्रस्तुत करते हुए, राज्य की प्रकृति, संप्रभुता का स्वरूप आदि विषयों पर भी प्रकाश डालता है। इस खण्ड में हमनें इसी संविदा प्रथा के तीनों प्रमुख विचारकों द्वारा प्रतिपादित दर्शन की सरल व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यह खण्ड तीन इकाइयों में विभाजित है जिनकी संक्षिप्त प्रस्तावना नीचे दी गयी है।

इकाई : 10 – सामान्य चिंतन की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हुए, इस इकाई में प्रथम संविदावादी विचारक टॉमस हॉब्स द्वारा प्रतिपादित इस श्रृंखला के प्रमुख बिन्दुओं की संक्षिप्त चर्चा की गयी है। हॉब्स के जीवन परिचय से आरम्भ होकर इस इकाई में उसकी प्रमुख रचनाओं की, उस पर पड़े प्रभावों की, उसकी पद्धति, मानव स्वभाव, प्राकृतिक अवस्था, सामाजिक समझौता, संप्रभुता, स्वतंत्रता एवं उसके योगदान की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है।

इकाई : 11 – यहाँ हम संविदा प्रथा के द्वितीय उत्कृष्ट विचारक जॉन लॉक के संदर्भ में जानकारी प्राप्त करेंगे। हमारा यह प्रयास है कि लॉक के दर्शन को सरल आकार देते हुए उसके जीवन, कृतियों एवं प्रमुख विचारों को प्रस्तुत किया जाये।

इकाई : 12 – संविदावादियों की मध्ययुगीन कड़ी के अंतिम प्रतिपादक रूसो की रूपरेखा इस इकाई में प्रस्तुत की गयी है। चर्चा के बिन्दु पूर्ववर्ती इकाइयों के समान हैं एवं जिनमें रूसो के विचारों के संक्षिप्त वर्णन को उजागर करने की चेष्टा की गयी है।

इस खण्ड के अन्त में कुछ उपयोगी पुस्तकों की सूची उल्लिखित है।

इकाई – 10 टॉमस हॉब्स 1588-1679

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 जीवन परिचय
10.3 हॉब्स पर प्रभाव
10.4 प्रमुख रचनाएं
10.5 पद्धति
10.6 हॉब्स द्वारा मानव स्वभाव का चित्रण
10.7 प्राकृतिक अवस्था
10.8 सामाजिक समझौता एवं राज्य की उत्पत्ति
10.9 संप्रभुता
10.10 स्वतंत्रता
10.11 चर्च-राज्य संबंध
10.12 हॉब्स की देन
10.13 इतिहास में हॉब्स का स्थान
10.14 सारांश
10.15 सम्बन्धित प्रश्न–वस्तुनिष्ठ
10.16 प्रश्नोत्तर
10.17 उपयोगी पुस्तकें

10.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के द्वारा आप जानेंगे :

- 17वीं एवं 18वीं सदी के दौरान प्रचलित राजनीतिक विचारधारा
- टॉमस हॉब्स द्वारा संविदावादी प्रारूप की टिप्पणी
- हॉब्स के जीवन, रचनाओं, उस पर प्रभावों इत्यादि का परिचय
- मूल्यांकन एवं योगदान की दृष्टि से इतिहास में हॉब्स का स्थान

10.1 प्रस्तावना

राजनीतिक चिंतन वह चिंतन है जिसका संबंध राज्य, राज्य के आकार, राज्य के स्वभाव तथा राज्य के लक्ष्य से है। इसका मुख्य कार्य एवं प्रमुख उद्देश्य समाज में मानव का नैतिक पर्यवेक्षण करना है एवं साथ ही साथ यह भी निश्चित करना है कि राज्य क्या है, उसका कार्यक्षेत्र क्या है? किसी को राज्याज्ञा का पालन क्यों और किस आधार पर करना चाहिए? कोई भी व्यक्ति इस राज्याज्ञा का उल्लंघन कब कर सकता है तथा राज्य के बिना मानव की अपर्णता किस सीमा तक स्थिर रह सकती है? पर राजदर्शन इन प्रश्नों का कोई भी निश्चित

अथवा सर्वसम्मत उत्तर प्रदान करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि राजनीतिक जीवन के उद्देश्य सामान्य जीवन के उद्देश्य से पृथक् नहीं है। अतः अंत में, राजदर्शन तथा राज सिद्धान्त के प्रश्नोत्तर समाज एवं जीवन की उचित तथा अनुचित धारणाओं के धर्मकांटे पर ही तोले और परखे जाते हैं। अध्ययन की दृष्टि से भी राजनीति एवं उससे संबद्ध चिंतन की परिधि को निश्चित करना जटिल कार्य होता है क्योंकि "राजनीति की रेखाएं गणित की रेखाओं के समान नहीं होती है, वे अधिक लंबी, अधिक चौड़ी तथा अधिक गहरी होती है, अपवादों को वे स्वीकार करती हैं और मतभेदों का सत्कार" (बर्क)

राजनीतिक दर्शन एवं चिंतन के औचित्य तथा महत्व के संदर्भ में अनेक अतिवादी उत्तर दिये गये हैं। प्रख्यात विचारक फ्रांसिस बेकन ने इसके महत्वहीन, नीरस तथा अव्यावहारिक पक्ष को उजागर करते हुए इसे ईश्वर की आराधना में तल्लीन कुमारी की भाँति बांझ कहा है। बर्क ने राजदर्शन के संदर्भ में कहा कि यह डालमेटिया तथा प्राचीन कैसियस पर्वत के मध्य स्थित सर्बोनिया के कुख्यात दलदल के समान है जिसमें कभी सेनायें की सेनायें समा गईं, सदा के लिये। एक अन्य पहलू (दी ओल्ड टेस्टामेंट) राजदर्शन का भिन्न रूप प्रस्तुत करते हुए "सुख में आनन्द करो एवं दुख में चिंतन" का दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। लैजली स्टीफैन इसका क्रान्तिकारी पहलू उजागर करते हैं," वही राज्य सुखी है जिसका कोई राजदर्शन नहीं होता – राजदर्शन या तो क्रांति की संतान है या भावी क्रांति का द्योतक"। परन्तु ज्ञान एवं इसके बोध की दृष्टि से, विशेषकर राजनीति शास्त्र के छात्र को ध्यान में रखते हुए, राजदर्शन एवं चिंतन उनके पूर्व कालों का परिमार्जित विवेक है जिसके द्वारा वह अपने एवं समाज के हित के बारे में बेहतर कार्य कर सकता है।

10.2 जीवन परिचय

इस अध्याय में हम टॉमस हॉब्स के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे जो सत्रहवीं शताब्दी के इंग्लैण्ड के हलचल भरे एवं बौद्धिक रूप से अस्थिर युग का प्रणेता है। हॉब्स का जन्म इंग्लैण्ड के दक्षिणी तट पर स्थित माल्सवरी नामक नगर में 5 अप्रैल, 1588 को एक पादरी के घर में हुआ। प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् 15 वर्ष की आयु में उसने उच्चशिक्षा हेतु ऑक्सफोर्ड में प्रवेश लिया एवं 1608 में स्नातक स्तर ग्रहण करने के उपरान्त विलियम कैवेंडिश के उत्तराधिकारी तथा डोवेनशायर के अर्ल के संरक्षक एवं व्यक्तिगत शिक्षक के रूप में उसकी नियुक्ति हुई जिसके कारण उसका परिचय इंग्लैण्ड के कुछ प्रमुख व्यक्तियों से संभव हो पाया, जैसे लार्ड बेकन, क्लैरेंडन एवं गैलीलियो। 1631 तक यूरोप की यात्रा करके जब हॉब्स इंग्लैण्ड लौटा, तो वहाँ पर गृहयुद्ध आरम्भ हो चुका था जो राजा एवं संसद को लेकर था। हॉब्स निरंकुश राजतंत्र का प्रबल समर्थक होने के कारण इस समय उपोयगी एवं अभिनन्दनीय नहीं था, जिसके कारण उसे अपना देश त्यागकर फ्रांस जाना पड़ा। इस निर्वासन काल में वह फ्रांस एवं हॉलैण्ड में अध्ययन करता रहा जिसमें राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, गणित एवं दर्शन प्रमुख विषय थे। इसी अवधि में उसका परिचय इंग्लैण्ड के तत्कालीन युवराज एवं भावी सम्राट् चार्ल्स द्वितीय से हुआ जो स्वयं वहाँ से पेरिस आ गया था एवं जिसके शिक्षक के रूप में हॉब्स ने कार्य किया। 1660 में राजतंत्रियों की विजय के पश्चात् हॉब्स वापस लौट आया।

10.3 हॉब्स पर प्रभाव

हॉब्स के चिंतन एवं दर्शन का अध्ययन करने के इच्छुक छात्रों को सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक होगा कि हॉब्स के मस्तिष्क पर किन घटनाओं, परिस्थितियों एवं व्यक्तियों का प्रभाव पड़ा, जिन्होंने उसके विचारों को निश्चित दिशा प्रदान की। इस कड़ी में प्रथम था इंग्लैण्ड में गृहयुद्ध एवं इसके द्वारा प्रेरित राजनीतिक परिवर्तन। तत्कालीन सम्राट् चार्ल्स प्रथम की राजनीतिक

अपरिपक्वता के कारण राजगद्दी एवं विकासशील संसद के मध्य संघर्ष उत्पन्न हो गया जिसके कारण हिंसा, रक्तपात, जीवन एवं संपत्ति की क्षति और राजनीतिक अस्थिरता घटित हुई। इस शृंखला के कारण हॉब्स इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि शांति की स्थापना बल प्रयोग एवं शक्ति प्रदर्शन द्वारा की जा सकती है एवं ऐसा करना अनुचित है और आवश्यक भी। हॉब्स पर दूसरा महत्वपूर्ण प्रभाव था वैज्ञानिकों का प्रभाव जिनमें गैलीलियो, केप्लर, डेकार्ट एवं यूक्लिड प्रमुख हैं। इन्हीं के अध्यापन से प्रभावित हॉब्स ने मानव को अणु समान माना जिसके मुख्य लक्षण उसकी निरंतर गतिशीलता एवं आपसी टकराव होते हैं एवं जिन पर नियंत्रण स्थापित करना और बनाये रखना राजा के सांसारिक कृत्यों में सबसे महत्वपूर्ण है। हॉब्स पर एक और गहन प्रभाव था तत्कालीन विरोधी विचारधाराओं का, जो राजा के समर्थकों, संसद के न्यायाचार्यों, कट्टर धर्मगुरुओं एवं प्रजातंत्र के संरक्षण हेतु उसका अनुसरण करने वाले लोगों के बीच थीं।

10.4 प्रमुख रचनाएँ

हॉब्स की निम्नलिखित रचनायें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :

1. डी सिवे (De Cive) 1642 जिसमें हॉब्स ने राज्य एवं समाज का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करते हुए प्रभुसत्ता के आयामों को स्पष्ट करके उसे परिभाषित किया है।
2. कानून के तत्व (Elements of Law) 1650, जिसमें हॉब्स ने राजा का समर्थन, राजशाही को तर्क एवं न्यायसंगत प्रणाली मानने, कानून की व्याख्या तथा उसके विभिन्न प्रकारों के संदर्भ में वैचारिक पृष्ठभूमि तैयार की है।
3. लेवियाथन (Leviathan) 1657, इसे हॉब्स का सर्वोत्तम एवं सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक ग्रंथ माना जाता है जिसमें राजनीति विज्ञान का क्रमबद्ध तथा वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। यह स्मरणीय कृति चार भागों में विभाजित है – प्रथम में प्राकृतिक अवस्था एवं कानूनों का वर्णन है, दूसरे में राज्य का उदय और इससे जुड़ी प्रभुसत्ता पर प्रकाश डाला गया है, तृतीय भाग में धार्मिक दृष्टिकोणों, विशेषकर चर्च-राज्य सम्बन्धों का उल्लेख है एवं चौथे भाग में धर्मग्रन्थों की विस्तृत व्याख्या एवं कैथोलिक ईसाई संप्रदाय एवं उसके बिन्दुओं का आलोचनात्मक वर्णन किया गया है।
4. डी कारपोर (De Corpore), 1655 जिसमें मुख्यतः वैज्ञानिक भौतिकवाद, गतिक्षमता के सिद्धान्त, पदार्थ का अवलोकन एवं प्रकृतिवाद का विवेचन किया गया है।
5. डी होमाइन (De Homine) 1658 जिसमें मानव शृंखला एवं उसके प्रभावों का वर्णन है।
6. गृहयुद्ध पर एक वार्ता (A Dialogue on the Civil War) जो इंग्लैण्ड में व्याप्त सामाजिक मतभेदों, राजनीतिक जटिलता एवं जनता के क्रियाकलापों का ब्यौरा है।

हॉब्स के संबंध में इस अध्याय को पूर्ण बनाने हेतु सबसे महत्वपूर्ण कदम होगा हॉब्स की पद्धति को जानना। हर विचारक किसी विशिष्ट पद्धति का अनुयायी होता है जिसके आधार पर वह अपना वैचारिक दृष्टिकोण निर्मित करके निष्कर्षों को खोजता है।

10.5 पद्धति

सभी विचारकों की भाँति हॉब्स भी एक निश्चित पद्धति का अनुसरण करता है। वह रेखागणित के विज्ञान से प्रभावित था एवं इसी को हॉब्स ने अपने विश्लेषण का प्रतिमान माना है एवं रेखागणित के निष्कर्षों पर निकाले गये परिणामों का वह सर्वोत्कृष्ट मानता है क्योंकि यह परिणाम विश्लेषण की दृष्टि से सबसे परिशुद्ध होते हैं। रेखागणित की परिभाषाओं एवं लक्षणों की सहायता से हॉब्स निगमनात्मक पद्धति का उपयोग करते हुए उन वास्तविक निष्कर्षों पर पहुंचता

है जो पाठकों को बाध्य होकर स्वीकारने पड़ते हैं। राज्य के क्रमबद्ध दर्शन को तैयार करने में हॉब्स धर्मविज्ञान एवं परम्परा के स्थान पर मानव चरित्र को अधिक उपयोगी एवं उचित मानता है और वैज्ञानिक भौतिकवाद को स्थापित करने के प्रयास में वह गतिक्षमता के सिद्धान्त, कारण-कार्य संबंध एवं उसके प्रभावों को प्रेरक मानता है। एक दृष्टि से देखा जाय तो हॉब्स मनोविज्ञान एवं राजनीति, दोनों को भौतिक विज्ञानों के स्तर पर लाना चाहता था। सेबाइन के अनुसार हॉब्स का केंद्रीय प्रयास था कि किस प्रकार निरंकुशता और धर्मनिरपेक्षता को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया जाय एवं इसी आधार पर धर्म को राज्य के अधीनस्थ रखा जाय। हॉब्स का मानना था कि संसार का मूल प्रेरक द्रव्य, पदार्थ या भौतिक तत्व होते हैं और जो वस्तुएं इनसे निर्मित नहीं होती वह मानवीय संरचना का असरदार भाग नहीं हो सकती हैं। हॉब्स का कथन है कि संपूर्ण विश्व एक यंत्र या मशीन के समान है एवं उसका भौतिक संचालन यंत्र की भाँति ही होता है। उसमें घटित सभी क्रियाएं एक दूसरे से संबंध रखने वाले पदार्थों की गतिशीलता के फलस्वरूप संपादित होती है एवं गति विषमता के माध्यम से ही विभिन्न पदार्थों में भेदों की पुष्टि की जा सकती है।

10.6 मानव स्वभाव

किसी भी राजनीतिक समाज के अध्ययन की प्रथम कड़ी मानव एवं उसकी गतिविधियाँ होती हैं एवं समाज की रूपरेखा जानने से पूर्व उन मानवों के बारे में जानना आवश्यक होता है जो समाज का संयोजन करते हैं। हॉब्स के अनुसार, अन्य संरचनाओं की भाँति मानव भी मूलतः एक शरीर होता है जो कारण और प्रभाव से उतना ही प्रभावित होता है जितना अन्य भौतिक वस्तुएं। उसने अपने मानव संबंधी विचारों का वर्णन डी कारपोर एवं लेवियाथन में किया है एवं यह माना है कि मानव एक स्वार्थी तथा भयग्रस्त इकाई है जो निरंतर अपने हितसाधन में लगा रहता है। हॉब्स का मत है कि मानव एक ऐसा प्राणी है जिसकी निरंतर क्रियाशीलता, सक्रियता एवं तत्परता उसकी मृत्यु में ही समाप्त होती है – मानव मूल रूप से समान होता है परन्तु किसी एक वस्तु के उपभोग की चाहत उसे एक दूसरे से अलग कर शत्रुता पैदा करती है और तत्पश्चात् दमन की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। हॉब्स ने इस शत्रुता के तीन प्रमुख कारण बताये हैं – प्रतिस्पर्धा, आपसी भिन्नता एवं गौरव, जिनके कारण राज्यशक्ति के अभाव में युद्ध जैसी स्थिति पैदा हो जाती है जिसमें प्रत्येक मानव एक दूसरे का शत्रु हो जाता है। उसमें अहम् भाव प्रबल होता जाता है जो उसके समस्त व्यवहार को संचालित करता है। इस अहम् भाव के कारण मनुष्य में आत्मरक्षा की भावना प्रबल बनी रहती है जो उसके अंदर दो विरोधी तत्वों का संचार करती है – आकर्षण एवं विकर्षण, अर्थात् चाहत और घृणा साथ-साथ सक्रिय रहती है। आशा, निराशा, सुख, दुख, उदारता, क्रोध साहस, भय इत्यादि मनुष्य के मूल चरित्र का अभिन्न अंग होते हैं। साथ ही साथ मनुष्य में अनेक अभिलाषाएं ऐसी भी होती हैं जो सदैव अतृप्त रहती हैं एवं उसकी मृत्यु के साथ उनका अंत होता है।

10.7 प्राकृतिक अवस्था

हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य मुक्त एवं समान है परन्तु इस अवस्था में सहमति एवं अनुकूलता नहीं होती है। मनुष्य आत्म-केंद्रित होता है एवं किसी सामान्य शक्ति के अभाव के कारण सर्वथा युद्ध की स्थिति बनी रहती है। हॉब्स इस अवस्था को वारे (Warre) की संज्ञा प्रदान करता है जिसमें उद्योग, संस्कार, नौसंचालन, ज्ञान, समय, कला एवं समाज का अभाव निरंतर बना रहता है। ऊपर से भय एवं हिंसात्मक मृत्यु का भय मानवीय त्रासदी के रूप में सदा विद्यमान रहता है। मनुष्य का जीवन एकाकी, निर्धन, घृणित, पाशविक और अल्पायु होता है। अराजकता, ईर्ष्या, आशंका, छल और कपट मानवीय लीला के प्रमुख पात्र होते हैं एवं राज्य के अभाव में नैतिकता का फैलाव संभव नहीं होता है, सत्य और असत्य का ज्ञान अपूर्ण

होता है। एक दूसरे के अधीन न होने के कारण निजी सम्पत्ति भी एकत्रित नहीं हो पाती एवं संघर्ष मात्र ही जीवन का प्रमुख बिन्दु बन जाता है। प्राकृतिक अवस्था के संदर्भ में यह कहना उचित होगा कि हॉब्स एवं मैकियावेली के विचार समान दिखाई पड़ते हैं क्योंकि दोनों ही एक दृष्टि से मानव स्वभाव के प्रति निराशावादी हैं और मानते हैं कि मानव मूल रूप से बुरा है एवं अच्छाई और सद्गुण केवल मध्यान्तर अथवा अवकाश के रूप में दिखाई पड़ते हैं। इस अवस्था के प्रिय गुण शक्ति एवं कपट होते हैं और इसमें जीवन का एक ही नियम होता है कि उसी को अपनाना चाहिए जिसके पास शक्ति हो या जो शीघ्र एवं प्रचुर मात्रा में शक्ति शीघ्र प्राप्त कर सकता हो। यही प्राचीन जीवन का नियम था एवं यही समकालीन युद्धनीति भी है। फल और लाभ प्राप्त करने की अनिश्चितता मानव स्वभाव से प्रयास एवं संकल्प को दूर रखती है। मनुष्य का अभिमान ऐसी दशा में उसकी सफलता में बाधक सिद्ध होता है एवं यह दयनीय दशा उसकी प्रकृति का परिणाम होती है। यह एक प्रकार की समुचित दुर्दशा है जिससे मुक्ति पाना मानव के लिए आसान नहीं होता है एवं यह मुक्ति राजशक्ति एवं राज्य की शीघ्र स्थापना के माध्यम से ही संभव है।

10.8 सामाजिक समझौता एवं राज्य की उत्पत्ति

इन दोनों बिन्दुओं पर हॉब्स ने लेवियाथन के सत्रहवें एवं अठारहवें अध्याय में प्रकाश डाला है। उसका मानना है कि प्राकृतिक नियम उपयोगी, उचित एवं सर्वत्र विद्यमान थे परन्तु एक संगठित, बाध्यकारी शक्ति के अभाव में, और दंड की तीव्रता की अनिश्चितता के कारण इन प्राकृतिक एवं मानवीय मूल्यों का पालन एवं प्रयोग अधिकांश लोगों द्वारा नहीं होता था। एक ऐसे प्रबल यंत्र अथवा संस्था की आवश्यकता दिखाई पड़ने लगी जो मनुष्य में व्याप्त आपसी विष को क्षीण करके उसका उन्मूलन कर सके। नियंत्रण एवं अनुशासन मानव की मूल धरोहर है जो उसे पशुओं से भिन्न करते हैं। निहित स्वार्थ एवं असामाजिकता ने आत्मरक्षा, शांति, विकास एवं इनके भोग से मानव जाति को दूर रखा। मानव का स्वाभाविक विवेक, जो अभी तक सुषुप्त अवस्था में था, जाग्रत होना आरम्भ हो गया। वासना और विलास पर अंकुश लगाना आवश्यक हो गया एवं हॉब्स के अनुसार राज्य की उत्पत्ति संतुष्ट नागरिक जीवन की दूरदर्शिता है।

इस राज्य की स्थापना बल से भयभीत एवं तत्पश्चात् संगठित होकर सम्भव है या एक सुनिश्चित संस्थान द्वारा राज्य स्थापित होता है जिसका आधार मनुष्यों का पारस्परिक समझौता होता है। किसी श्रेष्ठ, सबल एवं प्रखर बुद्धि वाले व्यक्ति को शासक के पद पर बिठाया जाता है जिसकी प्रतिष्ठा एवं सम्मान भय पर आधारित नहीं होते वरन् यह असुरक्षा एवं भय के शीघ्र उन्मूलन से प्रेरित होते हैं। अगर भय आवश्यक तथा व्याप्त है तो तुलनात्मक दृष्टि से शासक का भय स्थाई असुरक्षा के भय से बेहतर है। विकास एवं सन्तुलन प्राप्त करने के क्रम में राजा एवं राज्य आवश्यक कड़ियाँ है। यह समझौता अविरल तथा अखण्ड होगा परन्तु इसे पाना आसान न होगा। तार्किक रूप से शरारती मनुष्य को उस संस्था को गठित करना होगा जो उसके जीवन एवं मृत्यु पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर सके। एक लोकतांत्रिक, अनुबंधित व्यवस्था को तलवार के सहारे की आवश्यकता पड़ी एवं दोनों के एक साथ होने से एक विशालकाय सामुद्रिक जीव अथवा लेवियाथन का जन्म हुआ जिसकी शक्ति के सामने विरोध मूर्खता सिद्ध होगी। हॉब्स का विश्वास था कि अनुबन्ध के हिताधिकारी तथा शक्ति के प्राप्तिकर्ता तृतीय पक्ष को ही शासक होना चाहिये। एक व्यक्ति, अर्थात् राजा का चरित्र जगजाहिर होगा जिसमें निहित स्वार्थ एवं स्वार्थपरता शामिल होगी। किसी एक व्यक्ति को उसकी सीमाएं बताना आसान होगा एवं उसको नियंत्रित करना भी आसान होगा। हॉब्स का मानना है कि सम्पन्न एवं सुरक्षित प्रजा का राजा ही शक्तिशाली एवं भव्य हो सकता है। यह लेवियाथन सभी नियमों का एकमात्र स्रोत एवं व्याख्याता होता है जो अधीनस्थ न होकर सीमाबद्ध तो हो सकता है। वह न्याय एवं अधिकारों का जन्मदाता है, प्रणेता है। उसके नियम प्राकृतिक नियमों के विपरीत नहीं होते क्योंकि प्राकृतिक नियमों का मूल उद्देश्य ऐसे राजा को उत्पन्न करना है जो नियमों के निर्माण

के साथ-साथ उनकी व्याख्या, एवं संरक्षण भी करता रहे। नियम जनता की अन्तरात्मा है एवं राजा के पथ-प्रदर्शक हैं– आनन्द की प्राप्ति एवं उपभोग हेतु उसकी सम्भवता निश्चित करनी होती है एवं राजा को अपनी सीमाएं और स्तर स्वयं निर्धारित करना होगा। राजा द्वारा दोषपूर्ण आज्ञाएं नहीं दी जातीं एवं इस स्थिति में स्वतंत्र जनता को विरोध एवं सत्ता पलटने की अनुमति प्राप्त है।

हॉब्स का मानना है कि यह राजा जनता के नागरिक व्यवहार पर राज करेगा क्योंकि-बुद्धि एवं चेतना राजा की सीमा के बाहर भी हो सकते हैं। जनता को भी इस लेवियाथन का समर्थ रूप ही स्वीकार्य होता है क्योंकि, हॉब्स के अनुसार एक कुटिल एवं स्वार्थी लैवियाथन की शक्ति को कभी मान्यता प्राप्त नहीं होगी। हॉब्स का यह संप्रभु निरंकुश होगा जिसकी अवज्ञा करना प्राकृतिक दशा की पाशविकता में वापस जाना होगा। वस्तुतः हॉब्स ने निरंकुश संप्रभु का निर्माण इसलिये किया क्योंकि वह राजपरिवार एवं उसकी शैली का समर्थक था।

10.9 संप्रभुता

राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में हॉब्स का उत्कृष्ट योगदान संप्रभुता का सिद्धान्त है, जो उसके अनुसार, प्रतिदान की दृष्टि से, सामाजिक समझौते का प्रतिफल है। नागरिक एवं राजनीतिक समाज में संप्रभु का विद्यमान होना आवश्यक है, जो मूल निर्धारी संस्था का रूप ग्रहण करते हुए समस्त मानवीय गतिविधियों का स्रोत होता है। इतिहास की दृष्टि से हॉब्स से पूर्व मैकियावेली ने संप्रभुता एवं संप्रभु आदि बिन्दुओं की ओर विचारकों का ध्यान आकृष्ट किया। हॉब्स का यह संप्रभु सीमा मुक्त है एवं जिस पर बन्धनों तथा मर्यादाओं द्वारा नियंत्रण स्थापित नहीं किया जा सकता।

समस्त जनता समझौते के पश्चात् अपने अधिकारों को इस संप्रभु के पक्ष में हस्तांतरित कर देती है जो अब प्रमुख कर्ता के रूप में उभरता है एवं शांति और सुरक्षा स्थापित कर जनता के विश्वास को मान्यता एवं बल प्रदान करता है। हॉब्स के अनुसार "शक्ति के अभाव में समझौता मात्र शब्दजाल है।"

दंड देने की शक्ति इस संप्रभु की विशिष्टता है एवं यह संप्रभुता अविभाज्य, अदेय, असीमित, अपरिवर्तनशील एवं सर्वमान्य है। हॉब्स के इस शक्तिशाली संप्रभु की विशिष्टता का एक अन्य आधार है कि वह पूर्व के सभी समझौतों से मुक्त है, इसीलिये वह नवीन समाज की रचना करने हेतु तत्पर हो सकता है। वह नियुक्तियाँ कर सकता है, विभिन्न करों (tax) को जनता पर लगा सकता है, युद्ध एवं शांति की घोषणाएं करता है, दंड प्रदान करता है, विवादों का निपटारा करता है, कानून की व्याख्या करता है, भाषण एवं लेखन पर नियंत्रण स्थापित करता है, राज्य की समस्त संपत्ति का स्वामी होता है, सेना का सर्वोच्च सेनाध्यक्ष होता है और उत्कृष्ट, महत्त्वपूर्ण सेवाओं के बदले वह पुरस्कार एवं सम्मान देने का अधिकारी होता है। हॉब्स के अनुसार, "इन्हीं अधिकारों में संप्रभुता का सार निहित है।"

इन सभी अधिकारों के उचित सम्पादन हेतु संप्रभु द्वारा बल प्रयोग हॉब्स ने उचित ठहराया है क्योंकि उसके अनुसार मनुष्य में दबी हुई समाज विरोधी एवं उत्पाती प्रवृतियाँ रहती है जो अक्सर उभरती हैं और व्यवस्था को भंग करती हैं। वह शक्ति द्वारा इन प्रवृतियों का दमन कर अपने विवेक द्वारा शांति बहाल करता है। हॉब्स स्वीकार करता है "यदि किसी विवशकारी शक्ति का भय न हो तो मनुष्यों की इच्छा, लोभ, क्रोध तथा अन्य वासनाओं को नियंत्रण में नहीं रखा जा सकता है।" प्रख्यात विचारक सेबाइन का मत है "हॉब्स के सिद्धान्त ने शासन को बल के साथ समीकृत किया है। बल का प्रयोग किया जाए या नहीं, पर वह पृष्ठभूमि में अवश्य रहना चाहिये।" साथ ही साथ हॉब्स जनता को भी कुछ अधिकार प्रदान करते हुये कुछ परिस्थितियों में इस संप्रभु पर सीमायें निर्धारित निर्धारित करता है– "यदि राजा किसी व्यक्ति को अपनी हत्या करने, अपने को घायल करने, अपने अंग को भंग करने, अपने आक्रमणकारियों

का विरोध न करने का; भोजन, वायु, औषधि या जीवन को सुरक्षित रखने वाली किसी दूसरी वस्तु के प्रयोग न करने की आज्ञा देता है तो व्यक्ति को संप्रभु की अवज्ञा करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। इसके अतिरिक्त यदि किसी व्यक्ति को संप्रभु, शत्रु से लड़ने और उसे अपना जीवन खतरे में डालने की आज्ञा दे, तो वह व्यक्ति संप्रभु के आदेश की अवहेलना कर सकता है, क्योंकि संप्रभु की आज्ञापालन का एकमात्र उद्देश्य आत्मरक्षा ही है और इसी आत्मरक्षा हेतु जनता संप्रभु की अधीनता को स्वीकार करती है। कुछ विचारकों का मानना है कि संप्रभुता के इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के पीछे हॉब्स एक शक्ति के सिद्धान्त को विकसित एवं स्थापित करना चाहता था, मूलतः इसलिये क्योंकि इंग्लैण्ड की परम्परागत राजशाही, जिसका वह समर्थक था, उसको नवीन क्रान्तिकारी लोकतांत्रिक ताकतों द्वारा चुनौती का सामना करना पड़ रहा था। ये लोकतांत्रिक शक्तियाँ राजतंत्र के क्रियाकलापों से पीड़ित होकर संसदीय प्रणाली के साथ प्रयोग करने को तत्पर थीं।

10.10 स्वतंत्रता

हॉब्स ने अपने दर्शन में भौतिकवादी स्वतंत्रता का वर्णन किया है जो गति से सम्बद्ध है– यदि गति अवरुद्ध होती है तो स्वतंत्रता भी बाधित होती है। इस संदर्भ में हॉब्स तालाब में एकत्रित जल एवं बदीग्रह के बंदियों का उदाहरण देता है। उसके अनुसार गति पर अवरोध नहीं होना चाहिये, "उचित रूप से स्वतंत्रता गति के बाह्य अवरोधों के अभाव को व्यक्त करती है।" अतः हॉब्स के अनुसार स्वतंत्रता उन कार्यों का सहज निष्पादन है जो मनुष्य अपनी इच्छानुसार करना चाहता है। वह स्वतंत्रता के दो रूपों को प्रतिपादित करता है– प्राकृतिक एवं नागरिक स्वतंत्रता। प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त प्राकृतिक स्वतंत्रता को मनुष्य त्यागकर, सामाजिक समझौते के अंतर्गत नागरिक विधियों के बंधनों को स्वीकार करते हुए उस कृत्रिम स्वतंत्रता का उपभोग आरम्भ करता है जो उसके द्वारा चयनित संप्रभु उसे प्रदान करता है। हॉब्स के आलोचकों का मत भिन्न है– उनका मानना है कि निजी स्वार्थ की दृष्टि से उसने इस स्वतंत्रता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसके पीछे प्रमुख कारण था क्रॉमवेल द्वारा स्थापित नवीन सत्ता को न्यायोचित सिद्ध करना। वह सत्ता जो इंग्लैण्ड की जनता द्वारा लाई गयी एवं जिससे हॉब्स अपने को पृथक रखने में असमर्थ था।

10.11 चर्च-राज्य सम्बन्ध

हॉब्स के शक्तिशाली राजनीतिक संप्रभु के संदर्भ में चर्च अथवा धर्म का अस्तित्व राज्य पर उसकी पर निर्भरता थी एवं धर्म एक न दिखाई देने वाली वस्तु का भय मात्र है जो मानवीय मस्तिष्क की उपज है। उसके अनुसार चर्च उन व्यक्तियों का समूह मात्र है जो ईसाई धर्म के विश्वासों को जनता के समक्ष रखते हैं। हॉब्स अपने दर्शन में किसी भी प्रकार की अध्यात्मिक सरकार को मान्यता प्रदान नहीं करता है एवं मात्र राजनीतिक संप्रभु की सरकार ही वास्तविक सरकार होती है। वह धार्मिक अंधविश्वास को एक शक्तिशाली औषधि कहता है जिसका सेवन अत्यन्त सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिये। राजा चर्च एवं धर्म का सहारा आन्तरिक समस्याओं के निवारण हेतु कर सकता है– चर्च को राज्य के अधीन ही रहना होगा एवं इसी के द्वारा उसका अस्तित्व बना रह पायेगा।

10.12 हॉब्स की देन

हॉब्स द्वारा महत्त्वपूर्ण अनुदानों में सबसे अग्रिम है उसके द्वारा प्रयोग में लाई गयी वैज्ञानिक पद्धति, जिसमें गतिविज्ञान, भौतिक विज्ञान एवं रेखागणित का मिश्रण है। उसने अपने विश्लेषण में भौतिक विज्ञान के आधार पर मनोविज्ञान एवं मनोविज्ञान के आधार पर राजनीति विज्ञान को

स्थापित किया। परिणामों की दृष्टि से उसने रेखागणित की परिशुद्धता का उपयोग किया एवं परिभाषाओं और लक्षणों को लिपिबद्ध करके, निगमनात्मक पद्धति द्वारा ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचा जिनकी स्वीकार्यता लगभग सार्वभौम थी। हॉब्स ने भौतिकवाद को विज्ञान में समाहित किया एवं अपने दर्शन में धर्म, परम्पराओं आदि को सम्मिलित न करके वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रतिष्ठित किया। उसने मानव एवं उसके क्रियाकलापों को केन्द्रीय पदार्थ माना तथा उनकी संचालन गति को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बताया। हॉब्स ने मानवीय इच्छाओं एवं अनिच्छाओं को उसके सामाजिक व्यवहार का प्रेरणास्रोत बताया जिसे हम आज भी स्वीकारते हैं। उसके अनुसार यह व्यवहार करने को मनुष्य बाध्य है क्योंकि वह स्वार्थी एवं इसी कारण से निरन्तर संघर्षरत रहता है। मनुष्य के चरित्र का यह दृष्टिकोण हॉब्स की देन है एवं समकालीन परिदृश्य की दृष्टि से भी उचित है। उसने पहले से स्थापित, राज्य की स्थापना का दैवी सिद्धान्त नहीं माना और राज्य को एक पूर्णतः मानवनिर्मित संस्था बताया – यह क्रान्तिकारी तो अवश्य था परन्तु बिना आधार का न था। राजनीतिक विचारधाराओं के विकास क्रम में हॉब्स की सबसे महत्वपूर्ण देन उसका व्यक्तिवाद का सिद्धान्त है जिसमें उसने व्यक्ति को साध्य एवं राज्य और उसके ढांचे को साधन माना है। इस दृष्टि से वह पहला विचारक था जिसने व्यक्ति के जीवन को सबसे महत्वपूर्ण कहा जिसका संरक्षण एवं कल्याण राज्य का मुख्य कार्य है।

10.13 इतिहास में हॉब्स का स्थान

यूरोपीय राजनीतिक दर्शन में हॉब्स के स्थान को लेकर परस्पर विरोधी मत हैं। प्रोफेसर डनिंग के अनुसार हॉब्स के सिद्धान्तों ने उसे राजनीतिक विचारकों की प्रथम श्रेणी में ला दिया। प्रोफेसर ओकशाट ने हॉब्स के ग्रन्थ लेवियाथन को अंग्रेजी भाषा के राजनीतिक दर्शन की एकमात्र श्रेष्ठकृति माना है एवं सेबाइन का मत है कि हॉब्स राजनीतिक दर्शन पर अंग्रेजी भाषी लोगों द्वारा दिये गये लेखकों में सबसे उत्कृष्ट है। हॉब्स के स्थान को लेकर कुछ विपरीत मत भी विद्यमान हैं– डायल के मतानुसार राजतंत्र समर्थक उसके द्वारा क्रान्ति को न्यायोचित बताये जाने के कारण उससे घृणा करते थे, धर्म-गुरु उससे रुष्ट थे क्योंकि मानवीय राजनीति में, हॉब्स के अनुसार किसी भी प्रकार के ईश्वरीय तत्वों की आवश्यकता न थी एवं न ही कोई यथासंगत उपयोग था। हॉब्स के आलोचकों में अग्रणी प्रोफेसर वाद्यन उसकी रचना लेवियाथन को प्रभाव एवं फल रहित बताते हुए उसे एक अभूतपूर्व संकर (fantastic hybrid) की संज्ञा देते हैं जो अपनी प्रजाति के प्रेषण की दृष्टि से असक्षम होता है। विचारक गेटेल के अनुसार अंग्रेजी भाषा के राजनीतिक चिन्तन में हॉब्स के अनुयायी कम हैं, हालाँकि अधिनायकीय शक्तियों को हासिल करने का निश्चय करते समय क्रामवेल हॉब्स के सिद्धान्तों से प्रभावित था।

10.14 सारांश

हॉब्स के चिन्तन से सम्बन्धित यह अध्याय अध्ययन की दृष्टि से तब तक पूर्ण प्रतीत न होगा जब तक इसमें उसके चिन्तन में व्याप्त अन्तर्विरोधों एवं असंगतियों को उजागर न किया जाए इस प्रयास में यह आवश्यक होगा कि हॉब्स के समय एवं उसमें प्रचलित परिस्थितियों को स्पष्ट किया जाय।

हॉब्स द्वारा लिखित रचनाओं की श्रृंखला 1640 एवं 1651 के मध्य प्रकाशित हुई, जब इंग्लैण्ड एवं फ्रांस, दोनों एक गृहयुद्ध के प्रवेश द्वारा पर खड़े थे। इस घटना ने समकालीन राजनीतिक चिन्तन को तथ्यों एवं वास्तविकताओं के समीप आने पर बाध्य कर दिया। चिन्तन के साथ-साथ राजनीतिक सिद्धान्तों में भी प्रबल, समर्थ, सशक्त एवं कठोर परिवर्तनों की आवश्यकता थी। इंग्लैण्ड के गृहयुद्धों से लगभग एक शताब्दी पूर्व मैकियावेली (Machiavelli) ने क्रूर स्पष्टता से यह कह दिया था कि यूरोपीय राजनीति राष्ट्रीय तथा वैयक्तिक, दोनों आधारों पर, बल एवं स्वार्थ प्रधान थी, परन्तु व्याख्यात्मक दृष्टि से इसे प्रमाणित नहीं किया। पचास वर्षों के पश्चात्

बोदां (Bodin) ने किसी सम्प्रभु शक्ति द्वारा व्यवस्थापन की शक्ति की आवश्यकता को राज्य की अभूतपूर्व विशेषता माना परन्तु इससे सम्बन्धित जटिलताओं पर प्रकाश नहीं डाला, इसी प्रकार गृहयुद्ध की देहरी पर ग्रोशियस (Grotius) ने प्राकृतिक विधि को आधुनिक बनाने की दिशा में उसे गणित से जोड़ कर एक नवीन विज्ञान की उत्पत्ति का प्रयास किया परन्तु इस नवीन विज्ञान को उचित रूप में परिभाषित नहीं किया। साथ-साथ टॉमस स्मिथ, (Thomas Smith) हुकर (Hooker) एवं कोक (Coke) द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक अवधारणाएं अपने परिचय के साथ ही कालदोष (anachronism) में परिवर्तित हो गईं।

यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन की ये सभी शैलियाँ एवं प्रवृत्तियाँ हॉब्स के दर्शन में प्रतिबिंबित होती हैं।

हॉब्स के सिद्धान्तों के आलोचक मुख्यतः दार्शनिक, ईश्वरपरक (theological) एवं तथ्यात्मक (Pragmatic) आधारों पर अपना विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। इस आलोचनात्मक विश्लेषण में प्रथम विभेद हॉब्स के दार्शनिक भौतिकवाद एवं राजनीतिक सिद्धान्तों के मध्य है। उसके आलोचकों का मानना है कि हॉब्स के राजनीतिक सिद्धान्त उसके भौतिकवाद से उत्पन्न नहीं हैं एवं न ही विज्ञान की उसकी कल्पना से प्रभावित हैं। हॉब्स की आलोचना का यह दृष्टिकोण वर्ष 1936 में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा जब लियो स्ट्रॉस (Leo Strauss) नामक चिन्तक ने अपना अध्ययन प्रकाशित किया। इसी प्रकार द्वितीय विभेद ऐ0ई0 टेलर (A. E. Taylor) ने वर्ष 1938 में प्रतिपादित किया– मुख्यतः उसके मनोवैज्ञानिक आधारों एवं राजनीति सिद्धान्तों के मध्य। टेलर का मत था कि हॉब्स के राजनीतिक आभार (Political obligation) के सिद्धान्त एवं मनुष्य की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के मध्य कोई तर्कसंगत जुड़ाव नहीं था।

हॉब्स का एक अन्य आलोचनात्मक विश्लेषण एम0 ओकशाट (M.Oakeshott) ने 1947 में प्रेषित किया– ओकशाट के अनुसार, आत्म स्वार्थ (Self interest) के आधार पर राजनीतिक आभार का सिद्धान्त भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत होता है। ओकशाट के मतानुसार वास्तविकता में हॉब्स के राजनीतिक आभार का सिद्धान्त तीन आभारों का मिश्रण है– भौतिक आभार (Physical Obligation) जो समप्रभु की उच्च शक्ति को स्वीकारना है, एवं इस प्रवर बल के अधीन रहना है, बुद्धिसम्पन्न आभार (rational obligation) अर्थात् हानिकारक कार्यों के निष्पादन से बचना एवं नैतिक आभार (moral obligation) जिसका अर्थ है अनुमोदित समप्रभु (authorised sovereign) की आज्ञापालन करना।

सभी चिन्तक ओकशाट की सम्बद्धता (Coherence) की मात्रा से सन्तुष्ट नहीं है। हॉब्स के प्रख्यात आलोचक होवार्ड वारेण्डर (Howard Warrender) का मत है है कि वास्तव में राजनीतिक आभार एक नैतिक आभार ही है एवं जिनका निगमन (deduced) मानव स्वभाव की अभिधारणाओं से न होकर ईश्वरीय एवं अलौकिक इच्छा या आज्ञा से हुआ है। अतः वारेण्डर हॉब्स के सिद्धान्त की दो प्रमुख आधारों पर आलोचना करते हैं– पहली, हॉब्स की यान्त्रिक सांसारिकता (mechanical materialism) विशेषकर मानवीय स्वभाव के संदर्भ में एवं दूसरा, अनुभववादिता (empirically) के आधार पर जिसका मत है कि सर्वथा कुटिलता मानव चरित्र में सम्मिलित नहीं होती।

प्रख्यात चिन्तक सी0बी0 मैक्फरसन (C. B. Macpherson) की मान्यता है कि हॉब्स के दर्शन में कुछ त्रुटियाँ दर्शित हैं– विशेषकर स्वत्वात्मक बाजार प्रतिमान (Possessive Market Model) के संदर्भ में। मैक्फरसन का मानना है कि हॉब्स का स्वत्वात्मक बाजार प्रतिमान, जो तत्कालीन समाज का अंग था, उसके अनुरूप नहीं है – क्योंकि हॉब्स का प्रतिमान इस बात की आज्ञा नहीं देता कि राजनीतिक तौर पर सार्थक असमान वर्ग अस्तित्व में आए एवं समाज में विद्यमान रहे। मैक्फरसन के मतानुसार, सम्प्रभु शक्ति सम्पन्न व्यक्तियों को अपने उत्तराधिकारी चुनने का अधिकार नहीं प्राप्त था एवं उस स्थिति में, जब उत्तराधिकारी चुनने की आवश्यकता पड़ेगी तो वास्तविक शक्ति पुनः समाज के खण्डित एवं विरोधी सदस्यों के पास चली जायेगी, जिसके कारण वह सब व्यर्थ हो जायेगा जिसके हेतु समप्रभुता सम्पन्न शक्ति को अस्तित्व में

लाया गया था। मैक्फरसन के अनुसार, अगर समाज में संसक्तिशील वर्ग (Cohesive class) है तो वह दो प्रमुख कार्यों का सम्पादन कर सकेगा– प्रथम, वह समप्रभु शक्ति को बनाये रखेगा एवं द्वितीय, वह इस समप्रभु शक्ति को अपने प्रति उत्तरदायी बनायें रख सकेगा।

हॉब्स के एक अन्य आलोचक एस0एस0 वोलिन (S. S. Wolin) के अनुसार हॉब्स द्वारा प्रतिपादित संविदा ऐतिहासिक एवं तथ्यात्मक दृष्टि से सम्पूर्ण सत्य नहीं है। यह संविदा हर उस स्थान एवं समय पर स्थापित होगी जहाँ अराजकता (anarchy) विद्यमान होती है, जिसके कारण जनता नैतिकता एवं राजनीतिक संकटावस्था के निराकरण हेतु ऐसी संविदा निर्मित करती है। यह जनता का धर्म है कि वह इस संकट का उपचार स्वयं करे एवं जिसके दौरान समप्रभु मध्यस्थ तथा अभिनिर्णायक की भूमिका निभाता है क्योंकि वोलिन के अनुसार संविदा-निर्माण एक प्रकार की क्रीड़ा (game) है जिसमें सम्प्रभु नियमों को निर्धारित करता है एवं जनता उन्हें स्वीकारती है, अगर वह इस निरन्तर क्रीड़ा में भाग लेने को उत्सुक है।

10.15 सम्बन्धित प्रश्न–वस्तुनिष्ठ

1. टॉमस हॉब्स किस देश का निवासी था :
   (a) फ्रांस
   (b) इंग्लैंड
   (c) जर्मनी
   (d) स्वीडन
2. हॉब्स की पद्धति पर किस विज्ञान का सबसे अधिक प्रभाव है :
   (a) इतिहास का
   (b) रेखागणित का
   (c) अर्थशास्त्र का
   (d) समाज विज्ञान का
3. मानवीय स्वभाव के विश्लेषण में हॉब्स मानता है :
   (a) मनुष्य सुखी प्राणी है।
   (b) मनुष्य स्वार्थी है।
   (c) मनुष्य समान होते हैं।
   (d) मनुष्य परमार्थी होता है।
4. हॉब्स प्राकृतिक अवस्था को निम्न में से कौन-सी अवस्था मानता है :
   (a) परस्पर प्रेम की अवस्था
   (b) ज्ञान की अवस्था
   (c) परस्पर युद्ध की अवस्था
   (d) कलात्मक सृजन की अवस्था
5. हॉब्स मूल रूप से समर्थक था :
   (a) संसदीय प्रणाली का
   (b) राजतंत्र का

(c) नौकरशाही का

(d) न्यायपालिका का

6. हॉब्स का शासक स्थपित होता है :

(a) अर्थव्यवस्था निर्माण हेतु

(b) असुरक्षा के अन्त हेतु

(c) संस्कारों में विकास हेतु

(d) समाज कल्याण हेतु

7. हॉब्स के अनुसार समप्रभुता :

(a) विभाजित होती है

(b) अविभाज्य होती है

(c) सीमित होती है

(d) देय होती है

8. चर्च एवं धर्म, हॉब्स के विचार में :

(a) स्वतंत्र होते हैं

(b) राज्य के अधीन होते हैं

(c) आवश्यक होते हैं

(d) अनावश्यक होते हैं

10.16 प्रश्नोत्तर :

1 – b, 2 – b, 3 – b, 4 – c, 5 – b, 6 – b, 7 – b, 8 – b

10.17 उपयोगी पुस्तकें

संविदावादी विचारक हॉब्स के संदर्भ में निम्न पुस्तकें छात्रों हेतु उपयोगी हैं –

(1) Man and Society – A critical Examination of source Important social and political theories from Machiavelli to Marx – Vol One – John Plamenatz, Longman's Green & Co Ltd., London

(2) The Political Theory of Possessive Individualism Hobbes to Locke – C. B. Macpherson, Oxford Paper books, 1962

(3) The Political philosophy of Hobbes, Its Basis and Its Genesis, Leo Strauss (English Translation by Eloa. H. Sinclair) Oxford, 1936

(4) The Political Philosophy of Hobbes – His Theory of obligation – Howard Warrender, Oxford, 1957

(5) Hobbes – 'The Taylor Thesis' – Philosophical Review, (xviii–3 (July 1955)

(6) Philosophy and Politics in Hobbes – J.W.N. Watkins, Philosophical Quarterly, Vol - 19, 1955

(7) Hobbes's System of Ideas – J. W. N. Watkins, London, 1965

(8) Introduction to Hobbes Leviathan – Michal Oakeshott, Oxford, 1946

इकाई – 11 : जॉन लॉक

इकाई की रूपरेखा

11.0 : उद्देश्य

11.1 : प्रस्तावना

11.2 : जीवन परिचय

11.3 : प्रमुख रचनाएं

11.4 : लॉक द्वारा मानव स्वभाव का वर्णन

11.5 : लॉक द्वारा प्राकृतिक अवस्था की व्याख्या

11.6 : सामाजिक समझौता

11.7 : राज्य की विशेषताएं

11.8. : राज्य एवं धर्म पर लॉक के विचार

11.9 : इतिहास में लॉक का स्थान

11.10: सारांश

11.11: सम्बन्धित प्रश्न–वस्तुनिष्ठ

11.12: प्रश्नोत्तर

11.13 उपयोगी पुस्तकें

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के द्वारा आप जानेंगे :

- जॉन लॉक की वैचारिक पृष्ठभूमि
- लॉक के दार्शनिक उदारवाद के प्रमुख बिन्दु एवं उनसे संबंधित व्याख्या
- लॉक की परिस्थितियाँ एवं उसके विचारों पर इनका प्रभाव
- लॉक द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौते का प्रारूप एवं उससे जुड़े उसके प्रमुख विचार
- समझौते द्वारा उत्पन्न राज्य की रूपरेखा
- लॉक की इतिहास को देन

11.1 प्रस्तावना

सम्पूर्ण मानवीय इतिहास में स्वतन्त्रता को प्राप्त करना एवं उसे संरक्षित रखना मनुष्य की प्रबलतम चुनौतियों में सबसे महत्वपूर्ण है जिसे पाना उसके जीवन का लक्ष्य एवं आधार बना रहा। स्वतन्त्रता को राजनीतिक विचार और दर्शन के केन्द्र बिन्दु का स्थान प्रदान करने का श्रेय उदारवादी परम्परा तथा शैली को प्राप्त है। स्वतन्त्रता की समस्या एवं मानव सम्प्रदाय के लिये इसकी प्राप्ति के उपायों पर सबसे अधिक ध्यान उदारवाद के अंतर्गत ही केन्द्रित किया गया एवं अन्य विचारधाराओं की तुलना में इस दिशा में सबसे अधिक प्रयास भी उदारवादियों ने ही किये।

जॉन लॉक उदारवाद के समर्थकों में निःसन्देह सबसे अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि उसने अपने दर्शन में स्वतन्त्रता को शासन के सर्वोच्च लक्ष्य का स्थान प्रदान किया है। उदारवाद के पुरातन

स्वरूप, जिसका प्रतिपादन जेम्स मिल, जैफरसन एवं टॉमस पेन ने किया था इस मान्यता पर निर्भर थे कि राज्य का आधारभूत रूप एक प्रहरी के समान है– राज्य एक आवश्यक बुराई है एवं उपर्युक्त सभी विचारक उसके कार्यक्षेत्र को सीमित रखने के पक्षधर थे। लॉक इसी उदारवादिता के नवीन स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है एवं शासकीय शक्तियों की मर्यादाएं निर्धारित करते हुए इस तथ्य पर बल देता है कि यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि यह शक्तियां स्वतंत्रता को विकसित करें, न कि बाधित। लॉक के दार्शनिक उदारवाद में दो महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर विशेष बल दिया गया है– अधिकार एवं राजनीति में सहमति। इसके अलावा, राजनीतिक उदारवाद को लॉक की एक अन्य देन है– धार्मिक सहिष्णुता का सिद्धान्त। उसकी मान्यता थी कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आत्मा एवं विवेक के अनुसार कार्य सम्पादन की पूर्ण स्वतंत्रता है। विचारक ईबन्स्टीन के मतानुसार "उदारवाद की आत्मा सर्वाधिक श्रेष्ठ रूप में जॉन लॉक में ही प्रतिबिंबित हुई है।"

11.2 जीवन परिचय

लॉक का जन्म 1632 ई0 में एक मध्यमवर्गीय प्यूरिटन (Puritan) सम्प्रदाय के परिवार में हुआ। उसके पिता पेशे से वकील थे जिन्होंने गृहयुद्ध के समय संसदीय सेना की सेवा की थी। लॉक ने वैस्टमिनिस्टर एवं आक्सफोर्ड में शिक्षा ग्रहण की एवं आरम्भिक जीवन में लॉक पर डिकार्टे (Descartes) और रॉबर्ट बायल (Robert Boyle) का प्रभाव पड़ा जिसने उसके भीतर प्राकृतिक विज्ञान के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न की। लॉक ने औषध शास्त्र का अध्ययन भी किया। सन् 1675 में वह फ्रांस चले गये एवं वहाँ से लौटने के पश्चात् स्वास्थ्य लाभ हेतु हॉलैण्ड चले गये जहाँ पर वह पुनः राजनीति में सक्रिय हो गये। इस दौरान लॉक विलियम आफ आरेन्ज (William of Orange) की इंग्लैण्ड-आक्रमण की तैयारी में संलग्न हो गये। हालैण्ड की अनुकूल जलवायु तथा ज्ञानार्जन की प्रेरणा देना वाला जीवन उन्हें अध्ययन के लिये उचित लगा। वर्ष 1689 में लॉक पुनः वापस अपने देश लौटे एवं 1695 में प्रेस से सम्बन्धित स्वतंत्रता आन्दोलन में सक्रिय रहे और मुद्रा-संचालन के संदर्भ में अपना योगदान दिया। लॉक विलियम आफ आरेन्ज का पूर्व से ही कृपापात्र था, अतः विलियम के शासन के दौरान लॉक को 'कमिश्नर आफ अपील्स' का पद दिया गया, परन्तु अस्वस्थता के कारण उन्होंने शीघ्र ही त्यागपत्र दे दिया एवं 1704 में उनका देहान्त हुआ।

11.3 प्रमुख रचनायें

लॉक की सभी प्रमुख कृतियाँ उनके जीवन के उत्तरार्ध में प्रकाशित हुईं– 1689 में उनकी प्रथम रचना 'लैटर कन्सरनिंग टॉलेरेशन (Letter Concerning Toleration) लैटिन भाषा में प्रकाशित हुई। 1690 में उनकी महानतम् कृति ऐसे कन्सर्निङ्ग ह्यूमन अण्डरस्टैण्डिग (Essay Concerning Human Understanding) का प्रकाशन हुआ। इसी वर्ष 'शासन पर दो निबन्ध' (Two Treatises on Government) भी प्रकाशित हुआ एवं इसके पश्चात् 'शिक्षा पर कुछ विचार' (Some thoughts Concerning Education) भी प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् वे अध्यात्मशास्त्र एवं राजनीतिक अर्थशास्त्र विषयक रचनाओं का लेखन करते रहे।

11.4 मानव स्वभाव

मानवीय स्वभाव पर लॉक के विचार उनके द्वारा मनुष्य के विवेक पर लिखे गये एक निबन्ध में सम्मिलित हैं। उनका हृदय, हॉब्स के विपरीत मनुष्य के स्वाभाविक सद्गुणों से प्रभावित था जिसमें आपसी सहयोग एवं सामाजिकता सबसे महत्वपूर्ण है। उसके अनुसार मनुष्य मूल स्वभाव से ही एक ऐसा सामाजिक प्राणी है, जो पारस्परिक सहयोग, प्रेम, दया तथा सद्भावना के

आधार पर दूसरे व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हुए जीवन-यापन करता है। लॉक के अनुसार मनुष्य का सबसे विशिष्ट तत्व स्वयं पर राज करने की उसकी क्षमता होती है। मनुष्य की समानता पर बल देते हुए लॉक का मत है कि उसे जो अधिकार प्राप्त है वे मात्र उसकी मानवता के आधार पर मिले हैं, किसी विशिष्ट ताकत, दौलत एवं स्तर के कारण नहीं। एवं इसका आभास सभी को होना चाहिये क्योंकि ऐसा करने में ही सामाजिक उपयोगिता सिद्ध होती है। लॉक के मतानुसार, मनुष्य की सभी गतिविधियाँ इस तत्व द्वारा प्रेरित होती हैं कि किस प्रकार सुख एवं शांति को बढ़ाया जाय एवं दुख का उन्मूलन किया जाय – यही शृंखला बाद में जेरेमी बेंथमको प्रभावित करती है, उसके द्वारा उपयोगितावाद के विश्लेषण में।

11.5 प्राकृतिक अवस्था

मानव स्वभाव की भाँति लॉक के प्राकृतिक अवस्था पर विचार हॉब्स के विश्लेषण से भिन्न हैं। विचारक जार्ज कैटलिन की मान्यता है कि इस संदर्भ में लॉक के विचार उस स्वर्णिम युग के लगते हैं जो हमें अदनवाटिका (Garden of Eden) का स्मरण करने को बाध्य करते हैं। लॉक के अनुसार यह अवस्था आपसी सहयोग एवं परिरक्षण की अवस्था थी जिसमें विवेक द्वारा स्थापित व्यवस्था थी। उसके अनुसार "सभी मनुष्य समान एवं स्वाधीन हैं, अतः किसी को भी दूसरे के जीवन, स्वास्थ्य, स्वतंत्रता एवं सम्पत्ति को हानि नहीं पहुँचानी चाहिए।" लॉक के व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था की इस प्राकृतिक व्यवस्था के अनुसार चलते हैं तथा उचित-अनुचित, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म की स्वाभाविक भावना के आधार पर परस्पर व्यवहार करते हैं। यह अवस्था नैतिक नियमों पर आधारित है जो सर्वथा मनुष्य को आंतरिक विवेक एवं संयम द्वारा कार्य सम्पादन हेतु प्रेरणा देते हैं। लॉक के मत में यह अवस्था समानता द्वारा प्रेरित अवस्था है जहाँ पर सभी शक्तियाँ एवं क्षेत्राधिकार पारस्परिकता पर आधारित हैं– किसी को दूसरे की तुलना में आधिक्य प्राप्त नहीं है। इस पारस्परिकता एवं अधिकार प्रयोग की शर्त है कि मनुष्य के पास तर्क हो एवं साथ ही साथ उसकी तार्किक शक्ति इतनी विकसित हो कि वह भले बुरे के संदर्भ में निर्णय ले सके। इनकी सहायता से वह प्राकृतिक नियम की सीमा के अंदर ही रहेगा क्योंकि लॉक का मानना है कि किसी भी स्थिति में दुरुपयोग नहीं होना चाहिये। "ईश्वर ने बिगाड़ने या नष्ट करने के लिए मनुष्य को कुछ नहीं दिया। प्राकृतिक नियम मनुष्य को केवल अधिकार ही प्रदान नहीं करता, वरन् उस पर कर्तव्यों का बोझ भी लादता है जो उसे उन कार्यों के सम्पादन की आज्ञा देता है जिनके द्वारा वह दूसरों का कल्याण कर सके। लॉक के अनुसार विश्वास एवं सत्य पर चलना मनुष्य का मनुष्य होने के नाते परम कर्तव्य है, समाज के सदस्य होने के नाते नहीं।

अपने विश्लेषण में लॉक इस बात से सचेत रहने को कहता है कि यह प्राकृतिक अवस्था अगर युद्ध की दशा नहीं हो तो भी ऐसी दशा है जिसमें शांति सुरक्षित नहीं होती। अतः यह ऐसी दशा है जो स्वतंत्र तो है, परन्तु भयों एवं खतरों से बराबर भरी रहती है।

11.6 सामाजिक समझौता

लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में आदर्श तत्व तो विद्यमान है, परन्तु व्यावहारिकता के अभाव के कारण इसमें स्थायित्व के गुण नहीं होते। कुछ आवश्यकताएं इसके द्वारा पूर्ण नहीं होतीं - जैसे एक निष्पक्ष न्यायकर्ता की आवश्यकता जो सीमाओं पर अतिक्रमण को रोके एवं ऐसा करने वाले को दंडित करे तथा एक ऐसी कार्यकारिणी की आवश्यकता जो नियमों को दिशा देकर उनका पालन सभी से सुनिश्चित करा सके। लॉक का कथन है कि इस असमंजसपूर्ण प्राकृतिक दशा को त्यागने एवं विकसित नागरिक समाज में प्रवेश हेतु एक समझौता माध्यम बनता है। यह समझौता मूलतः सामाजिकता पर अधिकांशतः एक राजनीतिक समझौता होता है क्योंकि इससे उपजी राजनीति, समाज की स्थापना करती है। यह समझौता,

लॉक के अनुसार, अनिवार्य है क्योंकि इसके द्वारा ही मानव की वह उत्कृष्ट कृतियाँ अस्तित्व में आती हैं जिन्हें हम राजनीति, समाज एवं सरकार की संज्ञा प्रदान करते हैं। चूँकि यह अनिवार्य है और सबके बीच हुआ है इस कारण इस पर सार्वभौम स्वीकृति मिलनी चाहिए, जिसका निर्माण के पश्चात् खंडन आसान नहीं होता - यह तोड़ा नहीं जा सकता।

लॉक के मतानुसार, यह आपसी अनुबन्ध तब तक सक्रिय रहता है, जब तक स्वयं जनता, सरकार का अंत घोषित नहीं करती है। समझौते वास्तविकता में दो प्रकार के होते हैं – सर्वप्रथम मनुष्य व्यवस्था करने का अधिकार समाज को सौंप देते हैं जिसका निर्माण प्राकृतिक अवस्था से बाहर निकलने हेतु हुआ है। तत्पश्चात् समाज के मनुष्य मिलकर शासक से समझौता कर राज्य की स्थापना करते हैं – एक संस्था के रूप में जो, अब से, वैयक्तिक एवं सामाजिक हितों की रक्षा करेगी तथा उनके विकास का प्रयास करेगी। यह समझौता चूँकि मनुष्य के विकास का माध्यम, राज्य पैदा करता है, इसीलिए यह उत्कृष्ट एवं नवीन युगों का प्रणेता होता है।

मनुष्य स्वतंत्र है, एवं उसे किसी भी समाज तथा राज्य की अधीनता स्वीकार करने का पूर्ण अधिकार है, और साथ ही साथ, उसमें परिवर्तन लाने का भी अधिकार प्राप्त है। यह सीमित तथा विशेष समझौता है, सामान्य गठबंधन नहीं। यह विश्वास का प्रतीक है। जनता समाज का निर्माण करने के बाद एक सरकार की संस्थापना करती है। लॉक मिल्टन से प्रभावित था जिसका मानना था कि राजाओं एवं न्यायाधीशों की शक्तियाँ जनता के विश्वास से ही उत्पन्न, मान्य तथा परिवर्तित होती हैं।

लॉक के सामाजिक अनुबन्ध के संदर्भ में, यह ज्ञात होता है कि यदि अन्त की दृष्टि से देखा जाय तो लॉक रूसो के अधिक समीप है क्योंकि दोनों का मानना था कि सरकार कोई एक समझौता नहीं होती है एवं यह कि समझौता जनता से सर्वोच्च सत्ता नहीं छीन सकता। लॉक के मतानुसार "सर्वोच्च सत्ता जनता में निहित रहती है" एवं रूसो का मानना है, "जनता की अविभाज्य सर्वोच्च सत्ता"।

11.7 राज्य की विशेषताएं

राज्य के विशिष्ट तत्वों के संदर्भ में लॉक का मानना है कि वह मानवीय विकास का माध्यम है अतः राज्य का अस्तित्व मनुष्य के लिये है। राज्य एवं उसकी प्रभारी संस्था, सरकार का उद्देश्य मानव समुदाय का समुचित कल्याण संभव करना है एवं इस दृष्टि से लॉक राज्य को कुछ शक्तियाँ प्रदान करता है –जनता के जीवन तथा सम्पत्ति का संरक्षण, आक्रमणकारियों से सुरक्षा। जीवन के उन राजकीय कानूनों का निर्माण जो जन समुदाय के जीवन को व्यवस्थित करते हैं। इनमें दण्ड नियम भी सम्मिलित हैं। दूसरा महत्वपूर्ण तत्व इस संदर्भ में लॉक के अनुसार यह है कि राज्य द्वारा प्रतिपादित इन नियमों तथा कानूनों को जन-मान्यताओं तथा उनकी चेतनाओं पर स्थापित होना चाहिये। साथ ही साथ लॉक जन प्रतिनिधियों की स्वीकृति को भी आवश्यक मानता है जो हमेशा प्रत्यक्ष न होकर गुप्त भी हो सकती है। लॉक सच्चा राज्य उसी को मानता है जिसका चरित्र संवैधानिक होता है एवं जिसके अधीनस्थ जनता दृढ़ संकल्प, शिक्षित एवं राजनीतिक रूप से जाग्रत होती है। लॉक यह भी मानता है कि इस प्रकार की सक्षम जनता पर राज करने हेतु सरकार के पास कुछ विशिष्ट संकटकालीन शक्तियाँ अथवा अधिकार होते हैं जो कानून एवं व्यवस्था को बनाए रखने हेतु अनिवार्य होते हैं।

परन्तु, लॉक के मतानुसार, इनको पाने के बाद भी राज्य सीमित ही रहता है क्योंकि मूलतः ये अधिकार जनता की अमानत है जो राज्य के पास तभी तक है जब तक वह निर्धारित रूप से कार्य करता रहता है। प्राकृतिक नियम सदैव श्रेष्ठ होते हैं, उचित एवं अनुचित के स्तर पर भी राज्य का योगदान, इस दृष्टि से अनुचित कार्यों के लिए शीघ्र दण्ड की व्यवस्था करना है। अतः प्राकृतिक एवं राजकीय नियमों में आपसी विरोधाभास नहीं होता है – दोनों के पालन द्वारा

ही समुचित मानवीय विकास संभव हो पाता है। सर्वोच्च शक्ति जनता में निहित है, जो ईश्वर प्रदत्त होती है ताकि मनुष्य अत्याचार एवं निरंकुशता से अपनी रक्षा कर सकें, भ्रष्ट व्यवस्थापिका को बदलकर या हटाकर। लॉक जनमानस की क्रांति की शक्ति सुरक्षित रखता है क्योंकि बिना वैध कारणों से क्रांति नहीं होती एवं घटनाक्रम के अनुसार, क्रांति अत्याचार तथा निरंकुशता का ही परिणाम होती है। लॉक के मत में क्रांति बहुसंख्यकों का वह शस्त्र है जिसके माध्यम से वे अति महत्वकांक्षी व्यक्तियों अथवा शासकों पर नियंत्रण स्थापित कर अति-सामान्य बना सकते हैं।

श्रेष्ठ राज्य वही है जो मनुष्य की स्वतंत्रता कायम रख सके, मतान्तरों का आदर करे, जन कल्याण को सुरक्षित रखे, एवं अपने स्वार्थों को स्वयं सीमित रखकर राज करने के अपने अधिकार को न्यायसंगत कर सके।

11.8 राज्य एवं धर्म

लॉक के समय इंग्लैण्ड में ईसाई धर्म संकटग्रस्त स्थिति में था – प्रोटेस्टेण्ट एवं कैथोलिक संप्रदायों के समर्थकों का आपसी संघर्ष समाज एवं राजनीति को विकृत बना रहा था। लॉक ने धर्म संबंधी अपने विचार 'लैटर्स आन टालरेशन' (Letters on Toleration) में दिए हैं। जान मिल्टन एवं रॉबर्ट ओरन से प्रभावित लॉक धर्म के आधार पर दमन का विरोधी है। धर्म के संदर्भ में वह राज्य की तटस्थता एवं सहिष्णुता का समर्थक है – धर्म व्यक्ति का वैयक्तिक क्षेत्र है, अतः राज्य को व्यक्ति के आंतरिक विश्वासों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। लॉक के अनुसार धार्मिक समुदायों का पृथक् अस्तित्व होता है एवं उनके क्रियाकलापों में बलपूर्वक हस्तक्षेप राज्य की एकता को हानि पहुंचाता है। लॉक लिखता है "आत्मा और कामनवेल्थ (राज्य) की जिम्मेदारियाँ अलग-अलग है।' न्यायरक्षकों को अपनी शक्ति एवं अधिकार मनुष्य द्वारा प्राप्त हैं, ईश्वर से नहीं, इसीलिए राज्य भौतिक समृद्धि की सिद्धि हेतु निर्मित है, मनुष्य के धार्मिक जीवन को अनुशासित करना उसका मूल कार्य नहीं है।

11.9 इतिहास में लॉक का स्थान

विख्यात आलोचक मैक्सी (Maxey) के अनुसार "लॉक के दर्शन का प्रभाव अठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी पर तो था ही, बीसवीं शताब्दी भी उसके प्रभाव से बची नहीं है।" जहाँ तक राजनीतिक लोकतंत्र का प्रश्न है, हम सदैव लॉक के ऋणी रहेंगे। संवैधानिक लोकतंत्र एवं लोकप्रिय संस्थाओं के विकास का ईंधन लॉक के दर्शन तथा विचारों से ही प्राप्त होता है। इस संबंध में विशेषकर, स्वतंत्रता के अमेरिकी घोषणा-पत्र एवं फ्रांसीसी क्रांतिकारियों पर उसका अमिट प्रभाव था। डनिंग (Dunning) के मतानुसार, रूसो एवं वॉल्टेयर (Voltaire) के मूल चिंतन का बड़ा भाग लॉक के विचारों से प्रभावित है, विशेषकर लोकप्रिय संप्रभुता एवं संस्थापित सरकार के संदर्भ में। साथ ही साथ लॉक का प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त राजनीति में योगदान की दृष्टि से अभूतपूर्व है।

11.10 सारांश

उदार लोकतांत्रिक परम्परा के सभी तत्व लॉक के दर्शन में सम्मिलित हैं – जैसे सहमति द्वारा शासन, बहुमत द्वारा स्थापित राज्य व्यवस्था, व्यक्ति की नैतिक सर्वोच्चता, अल्पसंख्यकों को अधिकार एवं वैयक्तिक संपत्ति की पवित्रता इत्यादि।

प्रमुख रूप से एल. स्टीफेन (L. Stephen) सी. ई. वान (C.E. Vaughan), एच. जे. लास्की (H.J. Laski) एवं आर. एच. टानी (R.H. Tawney) इत्यादि का मानना है लॉक द्वारा सम्पत्ति अधिकारों को दिया गया केंद्रीय स्थान एवं उसके द्वारा प्रतिपादित सीमित तथा अनुबंधित

सरकार का सिद्धान्त वास्तव में उसके द्वारा सम्पत्ति के समर्थन की दृष्टि से दिया गया था।

एक अन्य दृष्टिकोण लॉक के संदर्भ में विलमूर केंडल (Wilmore Kendall) द्वारा वर्ष 1941 में प्रेषित किया गया। केंडल के मतानुसार नागरिक समाज (Civil Society) को लॉक द्वारा प्रदान की गयी संपूर्ण सम्प्रभुता अधिसंख्यक (majorty) वर्ग की सम्प्रभुता है एवं सरकार मात्र एक न्यासीय शक्ति (fiduciary power) का परिचालन करती है। साथ ही साथ, केंडल के मत में, व्यक्ति के पास अधिकार नहीं होते हैं जिस कारण लॉक व्यक्तिवादी न होकर समष्टिवादी (Collectivist) अधिक है क्योंकि उसने व्यक्ति के हितों को समाज के हितों के अधीनस्थ कर दिया था। केण्डल के अनुसार, इन सभी के कारण यह कहा जा सकता है कि लॉक संविधानवादी परिधि एवं परम्पराओं के बाहर है।

11.11 सम्बन्धित प्रश्न–वस्तुनिष्ठ

(1) जॉन लॉक समर्थक था :

(a) उदारवाद का

(b) आदर्शवाद का

(c) समाजवाद का

(d) अतिवाद का

(2) लॉक निम्न में से किस शासक का कृपापात्र था?

(a) चार्ल्स द्वितीय का

(b) नैपोलियन का

(c) विलियम ऑफ ऑरेन्ज का

(d) लुई सोलहवें का

(3) प्राकृतिक अवस्था के संदर्भ में लॉक ने माना है :

(a) यह युद्ध की अवस्था है।

(b) संघर्ष की अवस्था है।

(c) पारस्परिक प्रेम एवं सद्भावना की अवस्था है।

(d) अनुचित अवस्था है।

(4) लॉक के अनुसार समझौतों की संख्या होती है :

(a) एक

(b) चार

(c) तीन

(d) दो

(5) लॉक के अनुसार राज्य अथवा सरकार का मुख्य कार्य होता है :

(a) मानव का समुचित कल्याण

(b) अर्थव्यवस्था का विकास

(c) शिक्षा का विकास

(d) आस्था का फैलाव

(6) लॉक के विश्लेषण में धर्म मनुष्य का :

(a) वैयक्तिक क्षेत्र है

(b) आवश्यक क्षेत्र है

(c) राजकीय क्षेत्र है

(d) सामुदायिक क्षेत्र है

(7) लॉक प्रतिपादक है :

(a) संवैधानिक राज्य का

(b) आदर्शवादी राज्य का

(c) अतिवादी राज्य का

(d) निषेधात्मक राज्य का

(8) लॉक व्यवस्थापिका (सरकार) को बदलने का अधिकार देता है :

(a) न्यायपालिका को

(b) जनता को

(c) नौकरशाही को

(d) धर्मगुरुओं को

11.12 – प्रश्नोत्तर

1. a 2. c 3. c 4. d 5. a 6.a 7. a 8. b

11.13 उपयोगी पुस्तकें

संविदावादी विचारक लॉक के संदर्भ में निम्न पुस्तकें छात्रों हेतु उपयोगी हैं –

(1) John hocke and the Doctrine of majority rule – Willmore Kendall, Urbana, Illinois, 1941

(2) The Social and Political Ideas of some Great Thinkers of 16th & 17th Centuries - Ed by F.J.C. Hearnshaw, London, 1926

(3) John hocke's Political Philosophy – J. W. Gough, Oxford 1950

(4) The Social Contract – J.W. Gough, IInd Edition, Oxford, 1957

(5) Political Thought in England from Locke to Benthan – H. J. Laski, London, 1920

(6) Studies in the History of political philosophy before and after Rousseau - C.E. Vaughan, Vol. 1, Manchester, 1925

(7) The English Revolution and Locke's Two Treatises of Government – Peter Laslett, Cawbridge Historical Journal, Vol XII, 1956

(8) Locke on war and peace ... R. H. Cox. Oxford, 1960

इकाई – 12 जीन जैक्यस रूसो

इकाई की रूपरेखा

12.0 : उद्देश्य

12.1 : प्रस्तावना

12.2 : जीवन परिचय

12.3 : मुख्य रचनाएं

12.4 : रूसो पर प्रभाव

12.5 : रूसो की पद्धति

12.6 : मानव स्वभाव

12.7 : प्राकृतिक अवस्था

12.8 : सामाजिक समझौता एवं राज्य का अविर्भाव

12.9 : सामान्य इच्छा

12.10 : सारांश

12.11 : सम्बन्धित वस्तुनिष्ठ प्रश्न

12.12 : प्रश्नोत्तर

12.13 उपयोगी पुस्तकें

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के माध्यम से आप जानेंगे :

- रूसो के जीवन एवं दर्शन के प्रमुख बिन्दु।
- उसके विचारों की संक्षिप्त व्याख्या एवं उनकी संबद्धता।
- रूसो का बहुप्रतिभाशाली व्यक्तित्व।
- राज्य के अविर्भाव की दृष्टि से सामान्य इच्छा एवं उसकी बारीकियाँ।
- रूसो द्वारा प्रतिपादित सामान्य इच्छा के सिद्धान्त का आलोचनात्मक विंश्लेषण

12.1 प्रस्तावना

यह अध्याय फ्रांसीसी विचारक रूसो के जीवन एवं दर्शन के मुख्य बिन्दुओं को उजागर करने का प्रयास करेगा एवं उसके विचारों की व्याख्या और संबद्धता का निष्पक्ष स्वरूप प्रस्तुत करेगा।

12.2 जीवन परिचय

28 जून, 1712 को जेनेवा (स्विट्जरलैण्ड) के एक गरीब, प्रोटेस्टेंट (Protestant) धर्मानुयायी परिवार में जन्मे रूसो का प्रारंभिक जीवन वात्सल्य के अभाव में बीता। अवांछनीय परिस्थितियों के एवं शिक्षा के अभाव के कारण वह व्यसनी, अहंकारी, अशिष्ट और असहिष्णु प्रवृत्ति का हो गया। 1742 में वह पेरिस (Paris)आ गया जहाँ नाटक, कविता और संगीत के क्षेत्रों में उसके प्रयास फलदायक नहीं रहे। 1749 में एक अनोखा परिवर्तन घटित हुआ - इसी वर्ष आयोजित

एक निबन्ध प्रतियोगिता में जिसका शीर्षक "विज्ञान और कला की प्रगति से नैतिकता परिष्कृत हुई या विकृत" था एवं जिसमें रूसो ने, अपने जीवन का अनुभव देते हुए, प्रथम पुरस्कार जीता। एक चिंतक के रूप में उभरे रूसो ने फ्रांस के साहित्यिक क्षेत्र में तहलका मचा दिया।

12.3 प्रमुख रचनाएं

1. कलाओं और विज्ञानों के नैतिक प्रभावों पर प्रबंध – 1751 (Discourse on the Moral Effects of Arts and Sciences) – इस कृति में रूसो ने माना है कि अनुपात की दृष्टि से नैतिक पतन अधिक हुआ है, कला एवं विज्ञान में प्रगति कम।
2. राजनीतिक अर्थव्यवस्था का परिचय – 1758 (An Introduction to Political Theory)
3. सामाजिक समझौता – 1762 (The social contract) रूसो की सर्वोत्कृष्ट रचना, यह चार खंडों में विभाजित है – प्राकृतिक अवस्था, संप्रभुता, राज्य की उत्पत्ति एवं कानून।
4. ईमाइल – 1762 (Emile) यह शिक्षा के संबंध में लिखा गया एक क्रांतिकारी ग्रंथ है।
5. कान्फेशन्स – (Confessions) यह रूसो की आत्मकथा है।

12.4 रूसो पर प्रभाव

रूसो पर आरम्भिक प्रभाव उसके पिता का था जो दुर्व्यसनों में लिप्त रहने वाला प्राणी था। दूसरा प्रभाव उसकी कठोर परिस्थितियों का था जिसने उसे अनुशासनहीन बना दिया।

विद्वानों का मत है कि रूसो के मस्तिष्क पर यूनानी एवं रोमन साहित्य का गहरा प्रभाव था और साथ ही उसने यह भी माना है कि अभूतपूर्व रूप से विकसित राज्यों का पतन निश्चित है – "यदि स्पार्टा और रोम के राज्य नष्ट हो गये, तो कौन सा राज्य सदा के लिए स्थापित रह सकता है।" तत्कालीन फ्रांस का भी रूसो पर प्रभाव था। विशेषकर राजतंत्र की क्षीणता, मध्यमवर्गीय दुर्दशा एवं अमीर वर्ग की असीमित विलासिता ने उसके चिंतन पर अमिट छाप छोड़ी। साथ ही पूर्व के कुछ दार्शनिकों का प्रभाव रूसो पर दिखाई पड़ता है जैसे प्लेटो, अरस्तू, मेकियावेली, ह्यूम, मांटेस्क्यू एवं बर्क। इन्हीं विचारकों से प्रेरित होकर रूसो इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है एवं उसके जीवन का पूर्ण स्वरूप राज्य के अंतर्गत ही सम्भव है तथा राज्य की सदस्यता मनुष्य सामाजिक आचरण के आधार पर स्वीकारता है, किसी वैधानिक दृष्टिकोण के आधार पर नहीं। राज्य इस सदस्यता का उत्तर निरन्तर मानव कल्याण के प्रयासों द्वारा देता है।

12.5 रूसो की पद्धति

मूलतः रूसो द्वारा अपनाई गयी पद्धति अनुभूतिमूलक (Empirical) है जो हॉब्स की पद्धति के करीब है। यह मनोविज्ञानयुक्त है, एवं इतिहास द्वारा प्रेरित है। रूसो ने इतिहास के तथ्यों का संकलन करके, तुलनात्मक आधार द्वारा निष्कर्षों का प्रतिपादन किया। विचारक मैक्सी (Maxey) के मतानुसार "रूसो की पद्धति गूढ़ चिंतन की पद्धति है और वह तथ्यों का प्रयोग केवल अपनी सैद्धान्तिक पूर्वधारणाओं की पुष्टि हेतु करता है।" सहजबुद्धि, कल्पना एवं संवेग उसकी पद्धति का सार है, जो भावनात्मक अधिक तार्किक कम है।

12.6 मानव स्वभाव

रूसो राज्य के नैतिक पतन के संदर्भ में अत्यंत संवेदनशील था एवं उसकी मान्यता थी कि

इसकी लुप्त नैतिकता के कारण मनुष्य एक अभिशाप से ग्रस्त है जो उसके जीवन को पतित एवं जटिल बना देता है। हॉब्स और मेकियावेली के विपरीत रूसो मनुष्य को स्वभावतः सामाजिक एवं परोपकारी मानता है। विचारक जोन्स (Jones) के शब्दों में, "रूसो की मानव संबंधी धारणा अनिवार्य रूप से प्लेटो और अरस्तू की धारणा के समान है"। रूसो का मत है कि मानव का भ्रष्टाचारी तथा दुराचारी स्वभाव उसके जन्म से संबंधित न होकर कला और विज्ञान का प्रगति का परिणाम है। आनुपातिक दृष्टि से मानवीय स्वभाव और चेतना, कला एवं विज्ञान की प्रगति की तुलना में कम विकसित हुए हैं; इसी कारण, मनुष्य इनके लाभ से वंचित रहकर स्वार्थी, लोभी, क्रोधी एवं ईर्ष्यालु हो गया है। इसका उदाहरण रूसो रोम की सभ्यता द्वारा देता है जहाँ अत्यधिक धन और वैभव ने पतन को अवश्यम्भावी बना दिया। स्वयं रूसो के अनुसार, "हमारे बीच में भौतिकशास्त्री, कवि, रसायनशास्त्री, संगीतज्ञ एवं चित्रकार प्रचुरता में हैं, लेकिन हमारे बीच में एक भी सच्चा नागरिक नहीं है।" मानव स्वभाव के अपने विश्लेषण में रूसो आत्मरक्षा एवं सहानुभूति को प्रेरक तत्व मानता है और क्रियात्मक स्तर पर इन गुणों को सामाजिक रूप से शुभ और कल्याणकारी मानता है। इन दोनों भावनाओं के समक्ष मनुष्य कभी-कभी अपने को असमर्थ पाता है, इसीलिए वह इनमें समझौता करने को विवश हो जाता है। इससे विवेक का जन्म होता है जो उचित और अनुचित का ज्ञान प्रदान करके अंतःकरण को मार्ग एवं दिशा दिखाता है।

12.7 प्राकृतिक अवस्था

मानव स्वभाव की धारणा के समान रूसो द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक अवस्था भी पूर्ववर्ती हॉब्स तथा लॉक से भिन्न है। परन्तु हॉब्स तथा लॉक की भाँति रूसो प्राकृतिक अवस्था और सामाजिक समझौते को एक प्रभावी माध्यम बनाता है, विशेषकर राज्य की उत्पत्ति एवं राजनीतिक दायित्व का विश्लेषण करने हेतु। इस अवस्था में मनुष्य प्रकृति के अत्यंत समीप, स्वतंत्र, सुखी, सरल और स्वच्छंद जीवन व्यतीत करता है। अबोध और अज्ञानी होने के कारण उसे उचित अनुचित का ज्ञान प्राप्त न था। वर्तमान से संतुष्ट, वह प्राकृतिक नियमों द्वारा जीवन निर्वाह करता था मात्र स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु। भविष्य के लिए संचय प्रवृत्ति से वह अनभिज्ञ था एवं उद्योग और व्यापार के दूषित प्रभावों से दूर था।

रूसो ने प्राकृतिक अवस्था में जिस प्रकार के मनुष्य का चित्रण किया है, वह भद्र बर्बर (Noble Savage) था - असभ्य और अशिष्ट कवच के भीतर एक सज्जन आत्मा। यह युद्ध की अवस्था न थी एवं आदिमानव स्वर्गिक आनन्द की अनुभूति करता था। मध्यवर्ती प्राकृतिक अवस्था में जनसंख्या वृद्धि एवं सभ्यता में विकास के कारण जीवन में परिवर्तन आने ही थे। रूसो के अनुसार, मध्यवर्ती प्राकृतिक अवस्था का अंत भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व द्वारा हुआ तथा स्वार्थ, लोभ, आकांक्षा, प्रतिस्पर्धा एवं आपसी संघर्ष का पदार्पण हुआ।

12.8 सामाजिक समझौता एवं राज्य का अविर्भाव

वैयक्तिक संपत्ति एवं शोषण के कारण उत्पन्न सामाजिक विषमताओं के तत्पर उन्मूलन हेतु आपसी समझौते के आधार पर एक संस्था – राज्य का उदय हुआ। समझौते में प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों का समर्पण एक समुदाय अथवा समाज के प्रति कर देता है। इससे मनुष्य की स्वतँत्रता बाधित नहीं होती क्योंकि राज्य मानव को जनहित हेतु कार्य करने को बाध्य करता है जिससे वास्तविक स्वतंत्रता अधिक विकसित एवं व्याप्त होती है। सामान्य इच्छा शक्ति को उत्पन्न करती है एवं यही सामान्य इच्छा सर्वोच्च सत्ता है। यह एक सतत् घटनाक्रम है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा में निरंतर भाग लेते हुए राज्य के कार्यों को सहमति प्रदान करता रहता है।

हर व्यक्ति स्वयं इस समझौते का भागी होता है एवं जब बहुमत के आधार पर राज्य निर्मित हो

जाता है तब किसी भी दशा में कोई भी इससे पृथक् जीवन नहीं बिता सकता। प्रभुसत्तासंपन्न राज्य का विवेकी सदस्य होने के कारण व्यक्ति परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों के अंतर्गत एक अधिक सुरक्षित स्वतंत्रता का प्रयोग करता है तथा राज्य के विरुद्ध आचरण को त्याग देता है। रूसो के अनुसार, "विधिनिर्माण शक्ति सिर के समान, कार्यकारिणी बाहु के समान, न्यायपालिका मस्तिष्क के समान, कृषि वाणिज्य एवं उद्योग पेट के समान तथा राजस्व रक्तसंचार के समान है।"

रूसो स्विट्जरलैण्ड का मूल निवासी था जो प्रत्यक्ष - प्रजातंत्रीय शासन पद्धति के कारण आज भी प्रसिद्ध है एवं उस पर स्विस कैंटनों (Cantons) की प्रजातांत्रीय शासन व्यवस्था का गहन प्रभाव था। इसी व्यवस्था ने उसे यह स्वीकारने पर मजबूर किया कि समस्त जटिल सामाजिक समस्याओं का सफल निवारण प्रजातांत्रीय सरकार द्वारा ही संभव है, जिसमें प्रेरणा शक्ति जनता के हाथों में रहती है – "जनता की वाणी ही देववाणी है" (Vox Populi Vox Dei)

12.9 सामान्य इच्छा

रूसो की सामान्य इच्छा उसके सामाजिक समझौते का परिणाम है – वैयक्तिक अधिकारों, शक्तियों एवं इच्छाओं के सामूहिक परित्याग से एक सार्वभौम सामान्य इच्छा उदित होती है। इसी सामान्य इच्छा के सिद्धान्त के चारों ओर रूसो का दर्शन घूमता रहता है। विचारक एवं आलोचक जोन्स (Jones) के मतानुसार "रूसो की सामान्य इच्छा की धारणा न केवल उसके सिद्धान्त की सबसे अधिक महत्वपूर्ण धारणा है बल्कि उसकी सबसे अधिक मौलिक एवं रोचक धारणा भी है, तथा ऐतिहासिक दृष्टि से राजनीतिक सिद्धान्त को उसकी सबसे अधिक महत्वपूर्ण देन है।"

इच्छाओं एवं भावनाओं का मानवीय स्वभाव पर गहरा प्रभाव होता है एवं इन्हीं से सामान्य इच्छा का उद्भव संभव होता है। रूसो के अनुसार प्रत्येक मनुष्य की दो मुख्य इच्छाएं होती हैं –

(1) यथार्थ इच्छा एवं

(2) वास्तविक इच्छा

यथार्थ इच्छा (Actual will)– रूसो के मतानुसार वास्तविक प्रारूप पर आधारित यह इच्छा भावना प्रधान होती है जिसे प्रेरणा निजी स्वार्थ से प्राप्त होती है। मात्र वर्तमान क्षणिक हितों से प्रेरित यह संकीर्ण, अस्थायी, असामाजिक एवं परिवर्तनशील होती है। मात्र व्यक्ति पर केंद्रित यह मनुष्य को विवेकहीन कार्यों के संपादन हेतु बल देती है जो आगे चलकर उसके चरित्र में अंतर्द्वन्द पैदा करती है। इसकी क्षणिकता ही इसे सामाजिक रूप से अव्यावहारिक एवं अनुपयोगी बनाती है।

वास्तविक इच्छा (Real will)– इस इच्छा के अनुसार मानव स्वयं के हित को सामाजिक हित का अभिन्न भाग मानता है तथा संपूर्ण समाज के एकत्रित हितों पर विचार और कार्य करता है। इस इच्छा में व्यक्तिगत स्वार्थ का सामाजिक हित के साथ सामंजस्य तथा वैयक्तिक स्वार्थ पर सामाजिक स्वार्थ की प्रधानता होती है। सामान्य हित का ध्यान रखकर ही, वह मनुष्य का व्यक्तिगत हित करती है। रूसो के अनुसार मनुष्य की वास्तविक इच्छा ही उसकी उत्कृष्ट इच्छा होती है। वह सर्वथा आलोचनात्मक दृष्टि से आत्मावलोकन करता है एवं इसी आधार पर प्राप्त स्वतंत्रता को क्रियाशील करता है। चूँकि वास्तविक इच्छा सार्वजनिक सुख एवं स्थायी निर्णयों द्वारा प्रेरित होती है, इसीलिए वह भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों से संबद्ध होती है।

सभी व्यक्तियों के व्यक्तिगत स्वार्थ पृथक् होते हैं – अंत में इन सभी के भोग के पश्चात् जो स्वार्थ बच जाते हैं वे सामाजिक स्वार्थ कहलाते हैं – इन्हीं बचे हुए स्वार्थों के योग को सामान्य इच्छा की संज्ञा दी जाती है। इसे अनेक विचारकों ने परिभाषित किया है। ग्रीन (Green) के

अनुसार "सामान्य इच्छा सामान्य हित की सामान्य चेतना है" वेपर (Wayper) के अनुसार, "सामान्य इच्छा सभी नागरिकों की वह इच्छा, जिसका लक्ष्य सर्वसाधारण की भलाई है, व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं। यह सबकी भलाई के निमित्त सबकी आवाज है।"

सेबाइन (Sabine) का मत है "सामान्य इच्छा समाज का एक विचित्र प्रतिनिधित्व करती है। इसका उद्देश्य स्वार्थपरता और कुछ गिने व्यक्तियों की रक्षा न होकर सर्वसाधारण की रक्षा करना होता है।" रूसो का मानना है कि "सामान्य इच्छा को सामान्य होने के लिए अपने उद्देश्य के संग सार तत्व में भी सामान्य होना चाहिये – सभी लोगों पर लागू होने के लिए उसे सभी लोगों से प्रादुर्भूत होना चाहिये।" रूसो के सामान्य इच्छा के इस विवेचन के दो प्रमुख भाग हैं –

(1) सामान्य व्यक्तियों की इच्छा

एवं

(2) सामान्य हित पर आधारित इच्छा

रूसो का मत है कि सामान्य इच्छा का प्रथम भाग अधिक महत्वपूर्ण है जैसा स्वयं उसने माना है "सामान्य इच्छा सभी व्यक्तियों की इच्छा होती है और सभी पर लागू होती है। मतदाताओं की संख्या से कम तथा उस सामाजिक हित की भावना से अधिक सामान्य इच्छा सामान्य बनती है, जिसके द्वारा वे एकता में बंधते हैं।"

इन सभी परिभाषाओं में निष्कर्ष निकलता है कि यह सामान्य इच्छा ही राज्य में संप्रभु है। कुछ इच्छाओं में भिन्नता हो सकती है परन्तु अधिकाधिक सामाजिक हित के संदर्भ में प्रयासरत इच्छाएं ही सामान्य इच्छा को स्थापित करती है। सामान्य इच्छा एवं वास्तविक इच्छा में कोई संघर्ष नहीं होता है और न ही वे एक दूसरे का दमन करती हैं। वास्तविकता में सामान्य इच्छा विधि अथवा कानून का विराट् रूप ग्रहण कर लेती है और राज्य का प्रतिनिधित्व करती है। रूसो ने बहुमत को ही सामान्य इच्छा माना है, "सामान्य इच्छा के समस्त गुण बहुमत में सदैव पाए जाते हैं। अर्थात् सभी सदस्यों के सामाजिक कल्याण की इच्छा का बहुमत द्वारा स्वीकृत योग ही सामान्य इच्छा है। इसीलिए, रूसो के मत से, सामान्य इच्छा का स्वरूप शुद्ध, बौद्धिक एवं नैतिक होता है। सामान्य हित की यह सामान्य चेतना सामाजिक हित को विकसित एवं सुरक्षित रखती है एवं राज्य में सावयविक (Organic) एकता बनाये रखती है। इस चेतना अथवा इच्छा का पालन सबको करना होगा और ऐसा न करने पर दंड की भी व्यवस्था है। रूसो का मत है, "जो कोई सामान्य इच्छा का पालन नहीं करता, वह आज्ञापालन के लिये समस्त समाज द्वारा बाध्य किया जा सकता है। इसका अर्थ इससे अधिक कुछ नहीं कि उसे स्वतंत्र होने के लिए बाध्य किया जायेगा।"

अतः, सामान्य इच्छा अदेय, अहस्तांतरणीय, अविभाज्य, स्थायी, एकताबद्ध, निष्पक्ष, न्यायोचित, लोककल्याणकारी एवं प्रजातंत्र का आधार होती है। यह विवेक पर आधारित, स्वतंत्रता तथा समानता की रक्षक, समस्त कानूनों का स्रोत, अविनाशी एवं नित्य (Constant) होती है।

आलोचकों ने सामान्य इच्छा को काल्पनिक धारणा की संज्ञा दी है – इनके अनुसार यह अस्पष्ट एवं जटिल है, विशेषकर उसके निवास और गठन के संदर्भ में। यह तानाशाही, निरंकुशता एवं अत्याचारी राज्य की पोषक भी हो सकती है – जोन्स (Jones) का इस संदर्भ में मानना है, "रूसो के सामान्य इच्छाविषयक सिद्धान्त में कुछ ऐसे अस्थिर तत्व हैं, जो उसे जनतंत्र के समर्थन से हटाकर निरंकुश शासन के समर्थन की ओर ले जाते हैं।" सबसे महत्वपूर्ण आलोचना यह है कि छोटे राज्यों की दृष्टि से उचित है परन्तु भौगोलिक एवं जनसंख्या के आधार पर विस्तृत तथा बड़े राज्यों हेतु यह अनुपयुक्त है – छोटे राज्यों जैसे स्विस कैंटनों में नागरिकों में पारस्परिक संबंध अधिक गहरे, संगठित एवं एकीकृत होते हैं। पर बड़े राज्यों में विभाजन होता

ही है क्योंकि इनमें विभिन्न, धर्मों, हितों, आदर्शों एवं जातियों एक लोगों का निवास होता है और आर्थिक तथा सामाजिक भिन्नता में सामान्य इच्छा का गठन लगभग असामान्य होता है। इस दिशा से, अगर सामान्य इच्छा बहुमत है, तो इसके अंतर्गत अल्पमतों एवं अल्पसंख्यकों की उपेक्षा तथा अहित हो सकता है। इससे वैयक्तिक स्वतंत्रता का भी दमन संभव होता है।

वस्तुतः, रूसो ने सामान्य इच्छा में हॉब्स एवं लॉक के स्वीकारात्मक सिद्धान्तों का सम्मिश्रण किया है। उसने हॉब्स से निरंकुश, अदेय एवं अविभाज्य संप्रभुता का सिद्धान्त लिया है तथा लॉक से जनहित का विचार लिया है इन दोनों सिद्धान्तों के मिश्रण से सामान्य इच्छा का उदय संभव हो पाया।

उसके सामाजिक समझौते का प्रथम प्रकाशन हॉब्स की कृति लिवायथन की बिना सिर की तस्वीर थी – इस लिवायथन के विरुद्ध व्यक्ति की सुरक्षा के लिये रूसो पर्याप्त सुरक्षा प्रदान करने में असमर्थ रहा। वह इन दोनों मतों में मित्रता स्थापित नहीं कर सका कि श्रेष्ठ जीवन केवल समाज में ही संभव है तथा अंतिम रूप से व्यक्ति ही महत्वपूर्ण केंद्र है।

12.10 सारांश

रूसो एक क्रान्तिकारी विचारक था जिसने स्पष्टतापूर्ण शब्दावली में तत्कालीन दूषित शासन पद्धति एवं सामाजिक व्यवस्था पर प्रबल आक्षेप किये तथा सभी प्रकार की विषमताओं के दुष्परिणामों का चित्रण करके विद्यमान शैली में मूल परिवर्तनों का मार्ग दर्शाया। उसके विचारों का प्रभाव फ्रांस की राज्य क्रान्ति के रूप में प्रदर्शित हुआ एवं जिसने क्रान्ति के अग्रज नैपोलियन एंव रोबोस्पियर पर गहरा प्रभाव डाला तथा 'स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व' का नारा विश्व में उजागर किया।

परन्तु रूसो भी आलोचकों की दृष्टि से पृथक् न रह सका। जान. डब्लू. चैपमैन (John W. Chapman) के मतानुसार रूसो एक मौलिक, क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित विचारक नहीं था। उनके अनुसार सामान्य इच्छा (general will) का सिद्धान्त रूसो से पूर्व डिडराट (Diderot) ने प्रेषित कर दिया था। चैपमैन का मानना है कि सामान्य इच्छा का सिद्धान्त अस्पष्ट, अमूर्त एवं निराकार है एवं सामान्य तथा वैयक्तिक इच्छाओं के मध्य भेद स्थापित करना जटिल कार्य है। एफ. सी. ग्रीन (F. C. Green) के अनुसार रूसो की यह मान्यता कि मनुष्य को मुक्त रहने के लिए बाध्य किया जा सकता है एक निरंकुशतावादी दृष्टिकोण है क्योकि समाज में एक बड़ा वर्ग ऐसे लोगों का है जो आश्रित रहकर ही मुक्त जीविकोपार्जन कर पाते हैं।

सी. ई. वान (C. E. Vaughan) का मत है कि रूसो मनुष्य को दो रूपों में प्रस्तुत करता है – नैतिक अवयवी जीव (moral aganism) एवं एक यंत्र (machine) के रूप में जो सर्वथा एक दूसरे से भिन्न दृष्टिकोण है। वान का यह भी मानना है कि सामान्य इच्छा को नागरिकों के एक समुदाय द्वारा व्यक्त करना, जैसा रूसो मानता है, उचित न होगा एवं बेहतर होगा कि सामान्य इच्छा को चुने हुए प्रतिनिधियों की सभा द्वारा व्यक्त किया जाये।

प्रख्यात विचारक जान प्लेमनाज (John Plamenatz) के अनुसार रूसो ने अपने दर्शन में विज्ञान एवं कलाओं पर अधिक बल नहीं दिया। उनका मानना है कि रूसो का मत कि मानवीय प्रतिष्ठा मात्र नैतिकता पर आधारित है उचित नहीं है – वास्तव में यह प्रतिष्ठा बौद्धिक (intellectual) एवं सौंदर्यपरक (aesthetic) आधारों पर भी टिकी हुई है। प्लेमनाज के अनुसार रूसो ने स्वभाव विशेषता (idiosyncrasy), प्रयोग (experiment) एवं साहस (adventure) को उचित मान्यता एवं स्थान नहीं प्रदान किया, जो मनुष्य के जीवन को परिवर्तित करने में सक्षम होते हैं। साथ ही साथ रूसो द्वारा शान्त एवं अपरिवर्तनीय विश्व का सपना वास्तविकता से दूर था क्योंकि मानवीय जीवन में रहस्य एवं चिन्ताओं की अपनी भूमिका होती है।

12.11 सम्बन्धित वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) रूसो का जन्म हुआ :

(a) इंग्लैण्ड में

(b) जेनेवा में

(c) पेरिस में

(d) मिलान में

(2) रूसो की साहित्यिक क्षेत्र में स्थापना हुई :

(a) कविता द्वारा

(b) निबन्ध प्रतियोगिता द्वारा

(c) विज्ञान द्वारा

(d) नाटक के मंचन द्वारा

(3) रूसो की आत्मकथा वर्णित है :

(a) ईमाइल में

(b) सामाजिक समझौते में

(c) कान्फेशन्स में

(d) राजनीतिक अर्थव्यवस्था का परिचय में

(4) रूसो की पद्धति :

(a) ऐतिहासिक है

(b) मनोविज्ञानी है

(c) अनुभूतिमूलक है

(d) तुलनात्मक है

(5) मानवीय स्वभाव को रूसो मानता है :

(a) वह सामाजिक, परोपकारी है

(b) वह चेतनाविहीन है

(c) वह धर्म से प्रेरित है

(d) वह मूलतः दुष्ट है

(6) प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य प्रकृति से :

(a) समीप है

(b) दूर है

(c) अनभिज्ञ है

(d) दूषित है

(7) सामान्य इच्छा परिणाम है :

(a) अधिकारों का

(b) राजनीति का

(c) सामाजिक समझौते का

(d) इच्छाओं का

(8) रूसो की सामान्य इच्छा का आलोचक कौन विचारक है :

(a) जोन्स

(b) वेपर

(c) मैक्सी

(d) सेबाइन

12.12 – प्रश्नोत्तर

1. b 2. b 3. c 4. c 5. a 6. a 7. c 8. a

12.13 –उपयोगी पुस्तकें

संविदावादी विचारक लॉक के संदर्भ में निम्न पुस्तकें छात्रों हेतु उपयोगी हैं –

(1) Religion and the Rise of Capitatism – R. H. Tawney, Penguin, 1948

(2) Rousseau : A Study of his Thought – J.H. Browne, London, 1919

(3) Rousseau : A critical Study of his life and Writings – F. C. Green, ambridge, 1955

(4) The Political Writings of J.J. Rousseau Ed. by C.E. Vaughan, Vol II, Cambridge, 1915

(5) Rousseau and the Modern state – Alfred Cobban, London , 1934

(6) Rousseau and the French Revolution, Joan Mc donald, London, 1965

(7) राजदर्शन का स्वाध्ययन – सी. एल. वेपर - किताब महल, हिन्दी अनुवाद, इलाहाबाद

(8) महान राजनीतिक विचारक - रूसो - चंद्रदेव प्रसाद, भारती भवन, प्रथम संस्करण, 1988

229

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

MAPS – 01

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का इतिहास

खण्ड

5

बुद्धिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया

इकाई 13
मांटेस्क्यू 5

इकाई 14
डेविड ह्यूम 23

इकाई 15
बर्क 43

विशेषज्ञ समिति

प्रो. देवेन्द्र प्रताप सिंह — अध्यक्ष
कुलपति
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

डॉ. आर.के. मणि त्रिपाठी — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

डॉ. एल.डी. ठाकुर — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रो. एस.एम. सईद — विषय विशेषज्ञ
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव — दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
रीडर, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. आर.के. बसलस — सचिव
कुलसचिव
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

कार्यक्रम संयोजक : डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, परामर्शदाता, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सम्पादन : प्रो. एस के. द्विवेदी, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

PGPS-01 :– *पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का इतिहास*

लेखक मण्डल

खण्ड एक: प्रो. बी.के. तिवारी, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई

खण्ड दो: प्रो. राकेश कुमार मिश्र, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई

खण्ड तीन: डॉ. आशुतोष मिश्र, रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई

खण्ड चार: प्रो. आलोक पंत, अध्यक्ष राजनीतिशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद 3 इकाई

खण्ड पाँच: डॉ. मुकुल अस्थाना, रीडर,राजनीतिशास्त्र विभाग, सेन्ट एन्ड्रूज पी.जी. कालेज, गोरखपुर 3 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।

दूरस्थ शिक्षा परिषद, नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित।

खण्ड 5 का परिचय : बुद्धिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया

इसाई धार्मिक दार्शनिक मान्यताओं के विरुद्ध जो चेतना जाग्रत हुई और परिणामतः जिस विचारधारा का विकास हुआ वह बुद्धि पर आधारित थी। अतः इसे बुद्धिवादी दर्शन की संज्ञा दी जाती है। इसने अठारहवीं शताब्दी में अमेरिका सहित यूरोप के सभी देशों में अपनी जड़ें जमा ली थीं। इस बुद्धिजीवी युग ने बुद्धिवाद के विरोधियों को भी जन्म दिया। बुद्धिवाद के दर्शन को प्रतिपादित करने के लिये जिन तर्कों का प्रयोग किया गया था, उन तर्कों को परास्त करने के लिये तर्कों का ही प्रयोग किया गया। बुद्धि के दावों का तार्किक परीक्षण कर उनका खण्डन किया गया। उल्लेखनीय है कि बुद्धिवाद का विरोध करने वालों के विरोध के स्वर एक जैसे नहीं थे। इस संदर्भ में बुद्धिवाद के विरूद्ध जो प्रतिक्रिया अभिव्यक्त हुई उसका परीक्षण अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है। इस प्रतिक्रिया के प्रतिनिधात्मक चिन्तकों के रूप में मांटेस्क्यू, डेविड ह्यूम और बर्क के विचारों का परीक्षण इस खण्ड में किया जाएगा।

इस खण्ड को तीन इकाइयों में विभक्त किया गया है। एक इकाई में मांटेस्क्यू के विचारों का विश्लेषण किया गया है। दूसरी इकाई डेविड ह्यूम के चिन्तन के विविध पक्षों को प्रस्तुत करती है। इसके साथ ही तीसरी इकाई में बर्क के विचारों का सूक्ष्मता से अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। तीनों इकाइयाँ एक साथ अध्ययन करने पर मांटेस्क्यू ह्यूम और बर्क के विचारों का सम्यक् बोध कराने के साथ 'बुद्धिवाद के विरुद्ध' जो, प्रतिक्रिया अभिव्यक्त हुई उसे भी समुचित रूप से परिलक्षित करती हैं।

इकाई 13 : मांटेस्क्यू (1689-1755)

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 परिचय

13.3 राजनीतिक विचार

13.4 समाज की अवधारणा

13.5 जलवायु का सिद्धान्त

13.6 कानून के प्रति दृष्टिकोण

13.7 सरकार का वर्गीकरण

13.8 स्वतंत्रता एवं शक्ति

13.9 कुछ अन्य विचार

13.10 सारांश

13.11 उपयोगी पुस्तकें

13.12 संबंधित प्रश्न

13.13 प्रश्नोत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप यह जान सकेंगे कि –

- मांटेस्क्यू के समय यूरोप (विशेषकर फ्रांस और इंग्लैण्ड) का सामाजिक-राजनीतिक पर्यावरण कैसा था।
- मांटेस्क्यू के समक्ष कौन-कौन सी विशिष्ट राजनीतिक समस्याएं थीं, और उनका समाधान उसने किस प्रकार प्राप्त करने का प्रयास किया।
- मांटेस्क्यू के विचारों में कमियाँ और विसंगतियाँ क्या थीं, और राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उसके विचारों का क्या योगदान था।

13.1 प्रस्तावना

सत्रहवीं शताब्दी तक सभी यूरोपीय देशों में इंग्लैण्ड न केवल आधुनिक सभ्यता के प्रसार में अग्रणी था बल्कि सामाजिक-राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में भी उसकी सर्वाधिक प्रभावशाली भूमिका थी। उद्योग, व्यापार एवं वाणिज्य के क्षेत्र में तो उसका वर्चस्व आगे भी एक लम्बे काल तक बना रहा किन्तु जहाँ तक दार्शनिक चिन्तन का प्रश्न है अठारहवीं शताब्दी के इंग्लैण्ड को एक ग्रहण सा लगा हुआ प्रतीत होता है। यह ग्रहण अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक लगा रहा, और समाप्त तब हुआ जब ह्यूम और फिर उसके बाद बर्क ने अपने-अपने राजनीतिक विचारों को प्रस्तुत किया।

अठारहवीं शताब्दी में सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन का केन्द्र था फ्रांस। गणित, दर्शन, साहित्य एवं कला जैसे विषयों पर फ्रांस में पहले भी काफी कुछ लिखा गया था। इस सम्बन्ध में देकार्त

का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिसने न केवल फ्रांस को बल्कि समस्त यूरोप को एक नयी दार्शनिक दृष्टि प्रदान की एवं तत्वविज्ञान को गणित का ठोस आधार दिया। किन्तु सामाजिक-राजनीतिक विषयों पर फ्रांस में अब तक एक सन्नाटा-सा पसरा था। सत्रहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में इन विषयों में फ्रांसीसी लोगों में कुछ सुगबुगाहट प्रारम्भ होती-सी दीख पड़ती है। फ्रांस के बौद्धिक जनों की रुचियाँ एक नया मोड़ ले रही थीं।

अठारहवीं शताब्दी के प्रथम अर्ध भाग में सरकार, राजनीतिक-सामाजिक संस्थाओं, करों के नियमों में संशोधन, व्यापार एवं कृषि में सुधार आदि विषयों पर अत्यधिक पुस्तकें प्रकाशित की गईं। इन विषयों पर सोचना और लिखना फ्रांस के सभी बुद्धिजीवियों के लिए जैसे एक मानसिक बाध्यता हो गई थी। ऐसा नहीं था कि केवल दार्शनिक और चिन्तक ही इन विषयों पर लिख रहे थे। कवि, उपन्यासकार, वैज्ञानिक, लोकसेवक सभी इस कार्य में लगे हुए थे।

वास्तव में, फ्रांस की भ्रष्ट निरंकुश राजशाही ने फ्रांसीसी दर्शन को गणित, तत्वविज्ञान एवं धर्मशास्त्र की समस्याओं से मुक्त कर सामाजिक-राजनीतिक चिंतन की दिशा में अग्रसर किया। फ्रांस के निरंकुश राजनीतिक तंत्र ने एक लम्बे समय तक वहाँ के बुद्धिजीवियों को बौद्धिक स्वतंत्रता से वंचित कर रखा था। सामाजिक-राजनीतिक प्रश्नों पर विचार करने का कोई वातावरण नहीं था। किन्तु जान लॉक के राजनीतिक विचार जब फ्रांस पहुंचे तो वहाँ की स्थिति में तेज परिवर्तन आया। अतः यह कहा जा सकता है कि लॉक के राजनीतिक विचारों ने फ्रांस के राजनीतिक जागरण के लिए एक आधारशिला का काम किया। फ्रांस के उदारवादियों के हाथों में उसका दर्शन स्वतंत्रता के दर्शन में परिवर्तित हो गया। यह कहना गलत न होगा कि फ्रांस में सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन सत्ता के शत्रु के रूप में विकसित हुआ। चिन्तन और सत्ता की यह शत्रुता फ्रांस की राज्य क्रान्ति में जाकर समाप्त हुई।

13.2 परिचय

मांटेस्क्यू फ्रांस का एक प्रसिद्ध राजनीतिक दार्शनिक था। उसका जन्म सन् 1689 में और उसकी मृत्यु सन् 1755 में हुई थी। उसमें साहित्यिक प्रतिभा थी, और पेशे से वह एक वकील था। कुछ समय तक वह न्यायाधीश के पद पर भी रहा। यह पद और साथ में सम्पत्ति अपने चाचा से उसने विरासत में प्राप्त की थी। किन्तु छत्तीस वर्ष की अवस्था में सन् 1725 में उसने यह पद बेच दिया, और यह निर्णय लिया कि वह अपना शेष जीवन साहित्य की सेवा में व्यतीत करेगा।

सन् 1728 में कुछ लोगों के विरोध के बावजूद मांटेस्क्यू फ्रांसीसी अकादमी का सदस्य चुना गया। अकादमी का सदस्य चुने जाने के पहले ही उसकी एक पुस्तक 'परशीयन लेटर्स' (Persian Letters) सन् 1721 में प्रकाशित हो चुकी थी। फ्रांस में यह पुस्तक काफी लोकप्रिय भी हुई थी। यह पुस्तक व्यंग्य की भाषा में लिखी गई है। इसमें फ्रांसवासियों और यूरोप के लोगों की कमजोरियों और गलतियों पर कटाक्ष किया गया है। अकादमी का सदस्य चुने जाने के पश्चात् अगले चार वर्षों तक मांटेस्क्यू ने विभिन्न देशों की यात्रा की। वास्तव में, यात्रा करने और यात्रा साहित्य पढ़ने में उसकी विशेष रुचि थी। जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली और हालैण्ड की यात्रा करने के पश्चात् वह इंग्लैण्ड आया और वहाँ वह दो वर्षों तक रहा।

वापस फ्रांस लौटने के पश्चात् उसने दो वर्षों तक ग्रामीण क्षेत्र में बने अपने आवास में एकांतवास किया, और फिर सन् 1734 में उसने 'कंसीडरेशन्स आन द काजेज ऑफ द ग्रेटनेस ऑफ द रोमन्स एण्ड देयर डिक्लाइन' (Considerations on the Causes of the Greatness of the Romans and their Decline) नामक ग्रंथ का प्रकाशन किया। इस पुस्तक में वह मैक्यावेली की राजनीतिक मान्यताओं को प्रश्नों के कठघरे में खड़ा करता है। वह मैक्यावेली के प्रहार से क्लासिकी अथवा ईसाई परम्परा की रक्षा नहीं करता बल्कि सीमित रूप से उसकी आलोचना करते हुए, मैक्यावेली के बाद का राजनीतिक दर्शन जो स्वरूप ग्रहण करने जा रहा

था उसके लिये अपनी इस पुस्तक के माध्यम से जमीन तैयार करता है।

मांटेस्क्यू की जिस रचना ने उसे सर्वाधिक प्रसिद्धि प्रदान की, और जिसने उसे राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में अमर बनाया उसका नाम है 'द स्पिरिट ऑफ द लाज़' (The Spirit of the Law's)। इसका प्रकाशन सन् 1748 में हुआ, और प्रकाशित होते ही इस पुस्तक ने सफलता के शिखर को स्पर्श कर लिया। एक उत्कृष्ट राजनीतिक कृति के रूप में इसका स्वागत ह्यूम, रूसो, बर्क आदि ने किया। रूस की जारीना कैथरीन ने इस पुस्तक में अपने मतलब की बात ढूंढ कर इसकी सराहना की। प्रशिया के शासक फ्रेडरिख़ ने भी इस पुस्तक की सीमित प्रशंसा की किन्तु वोल्टेयर और मैकॉले इस ग्रंथ के कटु आलोचक रहे।

उपर्युक्त ग्रंथ मांटेस्क्यू ने अपने नाम से प्रकाशित नहीं किया था। यह ग्रंथ इकतीस पुस्तकों में विभाजित है। प्रत्येक पुस्तक में बीस से तीस अध्याय हैं। अध्याय छोटे एवं संगठित हैं। एक पृष्ठ से लेकर दस पृष्ठों के एक-एक अध्याय हैं। मांटेस्क्यू ने इस ग्रंथ में अपने विचारों को पूरा विस्तार नहीं दिया है, और बहुत कुछ पाठकों की कल्पना पर छोड़ दिया है। यद्यपि यह ग्रंथ एक श्रेष्ठ शैली में लिखा गया है, इसमें कोई योजना नहीं है। किन्तु डेविड लावेंथल (David Lowenthal) का यह मानना है कि इस ग्रंथ में 'दोलन की एक व्यवस्था' खोजी जा सकती है। इस ग्रंथ के योजनाहीन होने का एक कारण यह बताया जाता है कि मांटेस्क्यू ने जानबूझ कर इसे ऐसा लिखा जिससे उसके विचारों का कोई स्पष्ट अर्थ न निकाल सके, और वह स्वयं फ्रांस की निरंकुश सत्ता द्वारा प्रताड़ित किए जाने से बचा रह सके। मांटेस्क्यू स्वयं यह मानता था कि उसके ग्रंथ में एक गुप्त योजना है, और उसका यह भी मानना था कि दार्शनिक शिक्षा देने का बेहतर तरीका यह है कि वह सांकेतिक हो और वह पाठकों को आगे विचार करने के लिये उत्प्रेरित करे।

13.3 राजनीतिक विचार

'द स्पिरिट ऑफ़ द लाज़' नामक ग्रंथ में मुख्य रूप से दो विषयों की स्थापना की गई है, किन्तु इन दोनों विषयों में कोई आन्तरिक या सावयवी सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता है। पहले विषय के अंतर्गत सरकार एवं कानून के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त को विकसित किया गया है। यह इस आधार पर किया गया है कि इनका गठन और चलन उन परिस्थितियों पर निर्भर करता है जिनमें मनुष्य अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इन परिस्थितियों में भूमि, जलवायु, कला, व्यापार, नैतिकता, रीति-रिवाज, परम्पराएं और आदतें सभी सम्मिलित हैं। इस प्रकार मांटेस्क्यू, जैसा कि रेमंड एरां (Raymond Aron) ने कहा है, एक भौगोलिक निश्चयवाद का सिद्धान्त उपस्थित करता है। सरकार और कानून व्यक्तियों की सभी संस्थाओं का संतुलन है। ये इस संतुलन पर आधारित हैं, और इस संतुलन को अभिव्यक्त भी करते हैं।

इस ग्रंथ में मांटेस्क्यू ने जिस दूसरे विषय की स्थापना की है वह है राजनीतिक स्वतंत्रता। फ्रांस के निरंकुश तंत्र ने, जो लुई चौदहवें के शासनकाल में अपनी चरम अवस्था में पहुंच चुका था, फ्रांस के पारम्परिक संविधान को नष्ट कर फ्रांसवासियों को उनकी समस्त स्वतंत्रताओं से वंचित कर दिया था। मांटेस्क्यू इस परिदृश्य से भयभीत था। उसका व्यावहारिक उद्देश्य - और उसके ग्रंथ का सर्वाधिक प्रभावशाली भाग– उन संवैधानिक स्थितियों का विश्लेषण करना था जिन पर स्वतंत्रता आश्रित होती है। वह उन साधनों की खोज करना चाहता था जिनका प्रयोग कर फ्रांस के नागरिकों को उनकी खोई हुई स्वतंत्रता वापस लौटाई जा सके। किन्तु इस बिन्दु पर मांटेस्क्यू के विचार अत्यधिक अस्पष्ट हैं। वास्तव में, वह किसी निश्चित मत पर नहीं पहुंच सका था। इसी कारण, जैसा कि सेबाइन (Sabine) ने कहा है, उसके ग्रंथ के इस भाग ने फ्रांस के प्रतिक्रियावादियों - जो फ्रांस की राजनीतिक संस्थाओं को बनाए रखना चाहते थे, और उदारवादियों - जो अंग्रेजी सरकार का मॉडल अपनाना चाहते थे, दोनों को समान रूप से सहायता पहुंचाई।

13.4 समाज की अवधारणा

मांटेस्क्यू के पास समाज का निरीक्षण करने की एक स्वाभाविक क्षमता थी। उसकी रुचि इस बात का पता करने में थी कि किन सामाजिक प्रभावों में कैसा व्यवहार एवं चरित्र विकसित होता है। वह सामाजिक तथ्यों या स्थापित मतों एवं मान्यताओं को उसी रूप में स्वीकार नहीं कर लेता है बल्कि उनकी व्याख्या करने का, उनके मूल एवं अर्न्तसम्बन्ध खोजने का प्रयास करता है। अपने इस प्रयास में जिस पद्धति का वह अनुसरण करता है, वह है ऐतिहासिक पद्धति। दूसरे शब्दों में, राजनीतिक दर्शन की रचना करने में उसने इतिहास को एक कारगर माध्यम के रूप में प्रयोग किया है। यहाँ पर मांटेस्क्यू इटली के दार्शनिक बिको का स्मरण कराता है यद्यपि वह बिको के विचारों से स्वतंत्र था।

सन् 1721 और सन् 1734 में प्रकाशित पुस्तकों में यद्यपि तथ्य के स्तर पर कई गलतियाँ दिखाई पड़ती हैं किन्तु इतना स्पष्ट है कि मांटेस्क्यू एक समर्पित खोजकर्ता की पैनी दृष्टि रखता था। इन पुस्तकों में वह यह मानता हुआ दिखाई पड़ता है कि चिन्तन के विभिन्न स्वरूप, संवेदनाओं और सामाजिक संस्थाओं में एक गहरा सम्बन्ध होता है। वह इस बात की खोज करता है कि कानून, परम्पराएं और सरकारें कैसे और क्यों प्रभावित होते हैं। किस प्रकार व्यक्तियों के मत, उनकी समर्पण की भावना, और सच और झूठ के बारे में निर्णय प्रभावित होते हैं।

मांटेस्क्यू यह मानता है कि दीर्घकालीन निरीक्षण और गहन विचार से समाज और सामाजिक संस्थाओं में एक अंतर्निहित योजना का पता लगता है, विभिन्न व्यक्ति एक सरकार के अन्तर्गत गठित होकर किसी समाज का निर्माण नहीं करते बल्कि कोई मानव समाज अपनी जीवन शैली और संस्थाओं के द्वारा अपनी विशिष्ट पहचान को प्राप्त करता है। अर्थात् अलग-अलग मानव समाज अपनी अलग-अलग पहचान रखते हैं। किसी समाज की सभी संस्थाएं– राजनीतिक, धार्मिक, पारिवारिक, आर्थिक आदि – एक दूसरे के साथ एक जटिल प्रक्रिया के द्वारा जुड़ी रहती हैं। एक संस्था में होने वाला कोई खास परिवर्तन दूसरी संस्थाओं को भी प्रभावित करता है। तद्नुसार दूसरी संस्थाएं अपना स्वरूप परिवर्तित कर लेती हैं। मांटेस्क्यू किसी परिवर्तन को बड़ा और किसी को छोटा नहीं मानता है। वह व्याख्या के लिए सभी को समान रूप से अपने अध्ययन में सम्मिलित करता है। कुल मिलाकर मांटेस्क्यू यह बताना चाहता है कि किसी समाज की व्यवस्था उतनी सरल नहीं होती जितनी ऊपर से वह दिखाई पड़ती है।

प्लेमेनाट्ज (Plamenatz) ने यह कहा है कि मांटेस्क्यू की समाज की अवधारणा में समाज का कोई सावयवी सिद्धान्त खोजना उचित नहीं है। समाज का सावयवी सिद्धान्त केवल इतना ही नहीं मानता कि विभिन्न सामाजिक संस्थाएं एक दूसरे पर आश्रित हैं बल्कि यह सिद्धान्त यह भी मानता है कि समाज के पास एक ऐसी आत्मनिर्भर संरचना भी होती है जो समाज को बनाए रखती है और जो समाज के विकास की दिशा को निर्धारित करती है। प्लेमेनाट्ज का यह भी कहना है कि ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग करने के कारण मांटेस्क्यू के बारे में यह नहीं मानना चाहिए कि उसने इतिहास के दर्शन जैसी कोई चीज प्रस्तुत की है। उन्नीसवीं शताब्दी में इतिहास के दर्शन का जो विकास फ्रांस और जर्मनी में हुआ उसमें मांटेस्क्यू का कोई योगदान नहीं खोजा जा सकता।

13.5 जलवायु का सिद्धान्त

सामाजिक संस्थाओं पर जलवायु के प्रभाव का अध्ययन करने में मांटेस्क्यू की गहरी रुचि थी। उसने एक स्थान पर लिखा है कि 'सभी साम्राज्यों में सबसे पहला साम्राज्य है जलवायु का'। जलवायु को वह भौतिक पर्यावरण का एक हिस्सा मानता है। 'दि स्पिरिट ऑफ द लॉज़' में मांटेस्क्यू ने काफी विस्तार से इस बात को बताया है कि किस प्रकार मिट्टी की उर्वरा शक्ति,

पानी की कमी या अधिकता, नदियों व मैदानी इलाकों की स्थिति, पहाड़ों और घाटियों का फैलाव आदि मनुष्य के जीवन को प्रभावित करते हैं। मनुष्य की जीवन शैली भूगोल और जलवायु से निर्धारित होती है। मांटेस्क्यू यहां तक कहता है कि अंग्रेजी समाज की संस्थाओं का स्वरूप और वहां की जनता का राष्ट्रीय चरित्र भी इंग्लैण्ड की विशिष्ट जलवायु के प्रभाव में निर्मित हुआ है।

इस संदर्भ में कुछ आलोचकों ने मांटेस्क्यू के भौतिक निश्चयवाद की तुलना मार्क्स के आर्थिक निश्चयवाद से की है, किन्तु प्लेमेनाट्ज का कहना है कि दोनों सिद्धान्तों में समानता देखना एक भूल है। मार्क्स के आर्थिक निश्चयवाद के सिद्धान्त में उत्पादन की पद्धति (उत्पादन की शक्तियाँ व उत्पादन के सम्बन्ध) को एक स्वायत्तता प्राप्त है। यह परिवर्तित होती है तो अपने आन्तरिक कारणों से, किसी बाह्य कारण से नहीं। उत्पादन की पद्धति में परिवर्तन सामाजिक, राजनीतिक व वैधानिक संस्थाओं के स्वरूप में परिवर्तन करता है। यहाँ तक कि कला, साहित्य व नैतिक मूल्यों में भी। मार्क्स के शब्दों में, समाज की मूल संरचना निर्धारित करती है समाज की अवसंरचना को अतः मार्क्स के लिए उत्पादन की पद्धति सामाजिक प्रक्रिया का एक भाग है, और इस प्रक्रिया में सबसे मौलिक है। भौतिक पर्यावरण के प्रति मांटेस्क्यू का दृष्टिकोण इससे भिन्न है। उसके लिये जलवायु और भूगोल सामाजिक प्रक्रिया के हिस्से नहीं हैं। सामाजिक प्रक्रिया के बाहर स्थिति अपरिवर्तनशील भौतिक पर्यावरण सामाजिक व्यवहार की सीमाएं निर्धारित करता है, और अलग-अलग मानवीय समाजों को उनकी विशिष्टता प्रदान करता है। मांटेस्क्यू के लिये यह अकेला कारण नहीं है जो सामाजिक जीवन के सभी आयामों को निर्धारित करता हो।

यह सही है कि मांटेस्क्यू ने कहीं-कहीं मानवीय जीवन पर भौतिक पर्यावरण के प्रभाव को आवश्यकता से अधिक महत्व दे दिया है। वोल्टेयर और हेलविटियस ने इसी कारण उसके पर्यावरण सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। लेकिन फिर भी मांटेस्क्यू के लिए जलवायु व भूगोल मनुष्य के सामाजिक व्यवहार को निर्धारित करने के निर्णायक तत्व नहीं थे। हाँ, भौतिक पर्यावरण (जिसका हिस्सा है जलवायु व भूगोल) मनुष्य के जीवन को दूर तक प्रभावित अवश्य करते हैं यदि मांटेस्क्यू के जलवायु सिद्धान्त को इस दृष्टिकोण से देखा जाय तो उसके निष्कर्षों को एक हद तक स्वीकार किया जा सकता है। हालांकि यह बात भी सही है कि मनुष्य के चिंतन का क्षेत्र ज्यों-ज्यों व्यापक होता जाता है और ज्यों-ज्यों उसकी जीवन शैली परिष्कृत होती जाती है त्यों-त्यों उसकी सामाजिक व्यवस्था और संस्थाओं पर पर्यावरण का प्रभाव धूमिल होता जाता है।

मांटेस्क्यू के अनुसार जलवायु के प्रति मनुष्य दो प्रकार की प्रतिक्रियाएं करता है – एक, प्राथमिक और दूसरी, गौड़। प्राथमिक प्रतिक्रिया के अंतर्गत वह मनुष्य पर पड़ने वाले जलवायु के जैविक व मनोवैज्ञानिक प्रभावों की चर्चा करता है। गौड़ प्रतिक्रिया के अंतर्गत वह इस बात की चर्चा करता है कि मनुष्य जलवायु के साथ किस प्रकार अपने को संतुलित करते हैं, और वे उसके प्रभाव में कौन-कौन सी आदतें और परम्पराएं अपनाते हैं। मांटेस्क्यू प्राथमिक प्रतिक्रिया को अधिक महत्वपूर्ण मानता है। हालांकि वास्तव में महत्वपूर्ण है गौड़ प्रतिक्रिया क्योंकि यह प्रतिक्रिया किसी सामाजिक व्यवस्था को समझने में अधिक सहायक हो सकती है।

प्राथमिक प्रतिक्रिया के प्रभाव को तो मांटेस्क्यू ने गलत समझा ही था, इस प्रतिक्रिया के प्रभाव की व्याख्या करने में भी उसने कोई सतर्कता नहीं दिखाई है, मांटेस्क्यू यहाँ पर एक दोषपूर्ण सरलीकरण या सामान्यीकरण का शिकार हो गया है। यह मानते हुए कि गर्मी व ठंड का प्रभाव मनुष्य के स्नायुतंत्र पर पड़ता है और उनमें आन्तरिक जैविक परिवर्तन करता है वह यह निष्कर्ष निकालता है कि गर्म प्रदेश में रहने वाले लोग आलसी और भीरू होते हैं। इसके विपरीत ठंडे प्रदेश में रहने वाले लोग मेहनती और वीर होते हैं, स्पष्ट है कि मांटेस्क्यू के लिये गर्मी व ठंड का प्रभाव मनुष्यों में न केवल शारीरिक/मानसिक अंतर उत्पन्न करता है बल्कि उनमें चारित्रिक/नैतिक अंतर भी उत्पन्न करता है। यहाँ पर मांटेस्क्यू से कई प्रश्न पूछे जा सकते हैं। उदाहरण के लिये – (i) उन तमाम कारणों में से जो मनुष्य में कोई गण या दुर्गुण उत्पन्न करते हैं

जलवायु के कारण को अलग कैसे निकाला जा सकता है? (ii) मनुष्य अपने माता-पिता से शारीरिक/मानसिक और चारित्रिक/नैतिक गुण प्राप्त करता है या नहीं? (iii) ठंडे प्रदेश में रहने वाला व्यक्ति गर्म प्रदेश में रहना प्रारंभ कर दे या फिर गर्म प्रदेश में रहने वाला व्यक्ति ठंडे प्रदेश में जाकर बस जाये तो क्या ऐसे व्यक्तियों के शारीरिक/नैतिक गुण बदल जाएंगे? ऐसे अनेक प्रश्न किए जा सकते हैं। इन प्रश्नों का मांटेस्क्यू कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे सकता है।

मांटेस्क्यू यदि यह कहना चाहता था कि मनुष्य की नस्लों में भेद शरीर पर ठंड और गर्मी के प्रत्यक्ष प्रभाव के कारण होता हैं तो वह निश्चित रूप से गलत था। उसकी यह बात भी गलत थी कि मनुष्यों में चारित्रिक/नैतिक भेद का कारण जलवायु है। वास्तव में, नैतिक मूल्यों का निर्धारण बहुत आसानी से किया भी नहीं जा सकता। कौन सा नैतिक मूल्य किसी दूसरे नैतिक मूल्य से क्यों या कैसे श्रेष्ठ है या कोई नैतिक मूल्य वास्तव में नैतिक मूल्य है भी या नहीं, इन बातों का निर्धारण एक कठिन समस्या है। ठंड और गर्मी का प्रभाव मनुष्य के शरीर पर पड़ता तो है परन्तु इससे उनके सामाजिक व्यवहार, नैतिक मूल्य, आस्था और विश्वास की व्याख्या नहीं की जा सकती है। अतः जब मांटेस्क्यू विभिन्न मानव समूह के शारीरिक व नैतिक गुणों की व्याख्या जलवायु के आधार पर करता है तो उसकी बात को गम्भीरता से लेने का कोई कारण नहीं है।

जलवायु के गौड़ प्रभावों, जिन पर मांटेस्क्यू ने पूरा ध्यान नहीं दिया है, के द्वारा मानव समूहों की विभिन्नताओं का अध्ययन अपेक्षाकृत आसानी से किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, पानी की अधिकता या कमी वाले स्थान या फिर वे स्थान जहाँ समुद्री तूफान या धूल भरी आंधी के आने की अधिक आशंका होती है, मनुष्य को अपनी जीवन शैली उसी के अनुरूप निर्धारित करने के लिये बाध्य करते हैं। उसी के अनुरूप उनकी खास आदतें और रिवाज़ बन जाते हैं, लेकिन आधुनिक युग में जलवायु के सम्बन्ध में जो तथ्य और आंकड़े उपलब्ध हैं वे मांटेस्क्यू के समय में उपलब्ध नहीं थे। अतः मांटेस्क्यू ने यदि जलवायु के गौड़ प्रभावों पर ध्यान दिया भी होता तो सम्भवतः वह सही निष्कर्षों पर नहीं पहुंच पाता। लेकिन मांटेस्क्यू अकेला ऐसा चिन्तक नहीं था जिसने मनुष्य के शरीर और मस्तिष्क पर जलवायु के प्रभाव को इतना अधिक सरलीकृत रूप में प्रस्तुत किया है, उसके पहले फ्रांस के ही एक राजनीतिक दार्शनिक बोंदा ने भी मनुष्य के जीवन पर जलवायु के प्रभाव को खोजने का प्रयास किया था। सम्भवतः बोंदा जितना गलत था उतना ही गलत मांटेस्क्यू भी है।

13.6 कानून के प्रति दृष्टिकोण

मांटेस्क्यू की पुस्तक 'द स्पिरिट ऑफ द लाज' का प्रारम्भ कानून की चर्चा से होता है। किन्तु इस पुस्तक के केवल छः अध्यायों में ही कानून की चर्चा की गयी है। यह चर्चा भी आधी-अधूरी है, और इसमें कानून से सम्बन्धित विभिन्न प्रत्ययों का कोई विश्लेषण नहीं किया गया है। वास्तव में, कठोर विश्लेषण करने की क्षमता मांटेस्क्यू में थी भी नहीं। वे अध्याय जिनमें मांटेस्क्यू ने कानून की चर्चा की है पाठकों के समक्ष यह समस्या उत्पन्न करते हैं कि वास्तव में वह कानून से क्या अर्थ लगाता है। विधि की संस्था उसके लिये मत्त्वपूर्ण तो है किन्तु एक सामाजिक व्यवस्था में इसकी महत्ता का पता इन छः अध्यायों से नहीं लगाया जा सकता है। इन अध्यायों को ग्रन्थ के शेष अध्यायों के साथ मिलाकर पढ़ने से स्थिति कुछ स्पष्ट होती है।

कानून को रोमन अर्थों में ग्रहण करते हुए मांटेस्क्यू कहता है कि कानून 'वस्तुओं के स्वभाव से उत्पन्न होने वाले अनिवार्य सम्बन्ध हैं।' सभी कानून किसी सम्बन्ध को व्यक्त करते हैं। मनुष्य के लिए किसी भी चीज़ का कोई अर्थ इस बात में निहित है कि वह चीज़ उसके अनुभव के दायरे में दूसरी चीजों के साथ किस प्रकार सम्बन्धित है। किन्तु कानून केवल मनुष्य के लिए ही नहीं

है। मांटेस्क्यू, रोमन चिन्तक प्लूटार्ख़ की धर्मशास्त्रीय सत्ता के आधार पर, कहता है कि ईश्वर जो समस्त संसार का सृष्टा है उसके लिये भी कानून है, और उसे भी अनिवार्यतः कानून का अनुसरण करना होता है।

वस्तुओं के स्वभाव से उत्पन्न होने वाले अनिवार्य सम्बन्ध के रूप में कानून की जो परिभाषा मांटेस्क्यू ने दी है उससे कानून की परिभाषा स्पष्ट नहीं होती है। वस्तुओं के स्वभाव का पता लगाने के लिए हम किस वस्तुगत पैमाने या पद्धति का प्रयोग करते हैं? वस्तुयें जो व्यवहार प्रदर्शित करती हैं क्या वह उनके स्वभाव के अनुकूल होता है? यदि हमें किसी वस्तु में स्वभाव के प्रतिकूल व्यवहार दृष्टिगोचर होता है तो स्वभाव और व्यवहार के इस भेद की व्याख्या किस प्रकार की जाएगी? क्या ऐसा तो नहीं है कि व्यवहार ही अन्ततोगत्वा वस्तुओं के स्वभाव की संरचना करता है? इन तमाम सारे प्रश्नों पर मांटेस्क्यू कोई विचार नहीं करता है। इसी कारण कानून की उसकी परिभाषा कानून की उसकी धारणा पर कोई प्रकाश नहीं डालती है।

मानवीय व्यवहार के 'प्राकृतिक विधान' प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य की उन आवश्यकताओं से वियोजित होते हैं जो सबसे प्रबल हैं। जैसे जीवित रहने की और अपनी नस्ल पैदा करने की उसकी इच्छा। अतः इन्हीं के द्वारा हमारे जीवन की मौलिक सीमाएं और हमारे उद्देश्य निर्धारित होते हैं। किन्तु मनुष्य पशु और देव दोनों से भिन्न है। अतः उसके विधान भी अलग और खास तरह के होंगे। मांटेस्क्यू कहता है कि मनुष्य के अन्दर एक साथ तीन प्रकार के अस्तित्व या गुण विद्यमान हैं। उसके पास एक शरीर है जिसकी कुछ जैविक आवश्यकताएं हैं। उसके पास बुद्धि है, और उसके पास इन्द्रियानुभूति की क्षमता है। जहाँ तक मनुष्य एक शरीर है वहाँ तक तो वह अपरिवर्तनशील विधानों द्वारा शासित है। किन्तु एक बौद्धिक प्राणी के रूप में वह कानून बनाता है, उनमें परिवर्तन करता है, और यहाँ तक कि उन कानूनों का उल्लंघन भी करता है जो ईश्वर ने उसे प्रदान किए हैं। चूँकि उसकी बुद्धिपूर्ण नहीं है अतः वह गलतियाँ भी करता है। इन्द्रियानुभूति की क्षमता के कारण मनुष्य नाना प्रकार के संवेगों के अधीन हैं।

ऐसे मनुष्य को कानून की सहायता चाहिए, और वह इस सहायता को तीन अलग-अलग स्रोतों से प्राप्त करता है। वह उसका और समूची सृष्टि का निर्माण करने वाले ईश्वर को न भूल जाए इसलिए ईश्वर ने उसे धार्मिक कानून दिए हैं। वह स्वयं को न भूल जाए इसलिए दार्शनिकों ने उसे नैतिकता के नियम दिए हैं। समाज में रहते हुए वह दूसरों को न भूल जाए इसलिए दूसरों के प्रति अपने कर्तव्य पालन के लिए विधायकों ने उसे राजनीतिक और नागरिक कानून दिए हैं। अतः मनुष्य का आचरण तीन प्रकार के कानूनों से शासित है – धार्मिक, नैतिक व राजनीतिक/नागरिक।

मांटेस्क्यू ने उपर्युक्त कथन से डेविड लावेंथल ने कई प्रकार के निष्कर्ष निकाले हैं। पहला यह कि, कानून कुछ नया नहीं करता बल्कि यह केवल भटके हुए मनुष्य को फिर से सही राह पर लाता है। यदि वह ईश्वर को भूल गया है तो धार्मिक कानून फिर से उसका सम्बन्ध ईश्वर के साथ जोड़ेगा; यदि वह स्वयं को भूल गया है तो नैतिक कानून फिर से उसे उसका स्मरण कराएगा; और यदि वह दूसरों को भूल गया है तो नागरिक कानून दूसरों के प्रति उसके कर्तव्य का उसे पुनर्बोध कराएगा। दूसरा यह कि, मांटेस्क्यू ने धार्मिक और नैतिक कानूनों की विषय-वस्तु की चर्चा न कर इन कानूनों को ईसाई धार्मिकता एवं नैतिकता के दायरे से बाहर रख दिया है। तीसरा यह कि, यह कह कर कि धार्मिक कानून ईश्वर देता है और नैतिक एवं नागरिक कानून मनुष्य, उसने विभिन्न कानूनों में एक गैर ईसाई भेद किया है। चौथा यह कि, उसने नैतिकता व राजनीति को एक दूसरे से पृथक् कर दिया है। ऐसा इसलिए कि नैतिकता स्वयं के प्रति कर्तव्य पालन में निहित है और राजनीति दूसरों के प्रति कर्तव्य पालन में।

मांटेस्क्यू की कानून की अवधारणा में एक बड़ी दुविधा की स्थिति तब उत्पन्न होती है जब वह यह कहता है कि कानून मनुष्य की बुद्धि है, और किसी देश के कानून और उसकी परम्पराओं का विशिष्ट रूप इस बुद्धि के उस देश की परिस्थितियों के ऊपर समुचित प्रयोग पर निर्भर करता

है। यह कहने के पश्चात् मांटेस्क्यू को यह बताना चाहिए था कि किस प्रकार सार्वभौम रूप से स्वीकार किये गए 'बुद्धि के नियमों' से भिन्न-भिन्न देश या मानव समूह अपने-अपने कानूनों और रीति-रिवाजों को वियोजित करते हैं। बुद्धि शब्द का प्रयोग वह उन अर्थों में नहीं करता जिन अर्थों में पारम्परिक प्राकृतिक विधान की विचारधारा में इस शब्द का प्रयोग किया गया है। वह जब कानून की 'आत्मा' की बात करता है तब वह आत्मा को सार्वभौम सिद्धान्तों की किसी व्यवस्था से जोड़ता नहीं है।

उपर्युक्त दुविधा की स्थिति तब और भी विकट हो जाती है जब हम यह देखते हैं कि विधि की सापेक्षिक धारणा (विधि दो चीजों को जोड़ने वाली एक कड़ी है) को स्वीकार करने के साथ-साथ मांटेस्क्यू इस बात में भी अपना विश्वास प्रकट करता है कि एक मानवेतर शाश्वत प्राकृतिक विधान है जो कि निर्वैयक्तिक बुद्धि पर आधारित है और जो पूर्ण न्याय की स्थापना करता है। हालांकि हन्ना आर्न (Hannah Arendt) ने इस सम्बन्ध में यह टिप्पणी की है कि मांटेस्क्यू चूंकि किसी 'उच्च विधान' में विश्वास नहीं करता था, और विधान उसके लिये केवल दो वस्तुओं को जोड़ने वाला एक सूत्र था अतः उसके समक्ष 'कानूनों की निरपेक्ष प्रामाणिकता का पेचीदा प्रश्न' नहीं उठता है। आर्न की इस टिप्पणी के बावजूद मांटेस्क्यू सभ्य के इस कथन को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि 'यह कहना कि न्यांय और अन्याय सिवाय उसके कुछ नहीं है जिसका मानवीय कानून ने आदेश या प्रतिषेध किया है यह कहने के समान है कि जब तक वृत्त नहीं खींच लिया जाता है उसके व्यास समान लम्बाई के नहीं होते।'

इस कथन से स्पष्ट है कि मांटेस्क्यू मानवीय विधान के ऊपर प्राकृतिक विधान की सत्ता स्थापित करते हुए वैधानिक निर्पेक्षतावाद में भी अपना विश्वास प्रकट करता है। किन्तु ऐसा करना उसके लिए सम्भव नहीं था। वह न तो प्राकृतिक विधान की सत्ता को पूर्ण रूप से अस्वीकार कर सका (जैसा कि बाद में बेन्थम ने किया) और न उसमें अपना पूरा विश्वास जुटा सका। फल यह हुआ कि उसका विधि सिद्धान्त वैधानिक सापेक्षतावाद और वैधानिक निर्पेक्षतावाद के द्वन्द्व में फंसकर रह गया। वास्तव में, वह प्राकृतिक विधान की व्याख्या बहुत असावधानी से करता है। उसके अनुसार प्राकृतिक विधान, जिसे वह बुद्धि का स्वरूप मानता है, विभिन्न भौगोलिक स्थितियों में विभिन्न संस्थाओं को जन्म देता है। जलवायु, भूमि, व्यापार, वाणिज्य, धर्म, रीति-रिवाज आदि सभी बुद्धि (या विधान) के स्वरूप हैं। वास्तव में, इनके आंतरिक सम्बन्ध 'कानून की आत्मा' की रचना करते हैं।

कानून के सम्बन्ध में मांटेस्क्यू के विचार उसके द्वारा प्रस्तुत कानून की परिभाषा से नहीं बल्कि उसके सामाजिक सिद्धान्त का संदर्भ ग्रहण करने से समझ में आते हैं। कानून के प्रत्यय के बारे में तो वह अस्पष्ट था किन्तु कानून की सामाजिक भूमिका का उसे अच्छा ज्ञान था। वास्तव में, कानून की आत्मा सामाजिक व्यवस्था के प्रत्येक स्तर को अनुप्राणित करती है। यह हमारे चारों ओर व्याप्त है। मनुष्य कानून का रचयिता तो अवश्य है किन्तु साथ ही वह कानून के द्वारा रचा भी जाता है।

13.7 सरकार का वर्गीकरण

अरस्तू की भाँति मांटेस्क्यू के लिए भी सरकार के प्रकार निश्चित हैं। जलवायु के प्रभाव में इनका अलग-अलग रूप संशोधित हो जाता है। अरस्तू इस संदर्भ में सही था क्योंकि उसने एक सीमित क्षेत्र को ध्यान में रखते हुए सरकार का वर्गीकरण किया था। उसका क्षेत्र ग्रीक संसार तक सीमित था। किन्तु मांटेस्क्यू ने सरकार का वर्गीकरण करते हुए अपने आपको एक जोखिम में डाल लिया था। वह पूरे विश्व को अपने अध्ययन के क्षेत्र में सम्मिलित करता है। इस विश्व की जानकारी उसे पर्याप्त थी नहीं, और जो भी थी वह अप्रामाणिक स्रोतों से थी। वास्तव में, मांटेस्क्यू सत्रहवीं शताब्दी में लिखे जाने वाले अनगिनत यात्रा-साहित्य के धोखे में आ गया था। अमेरिका, अफ्रीका में बसी जनजातियों और एशियाई सभ्यताओं के बारे में जो जानकारी इस

साहित्य के जरिए मांटेस्क्यू को प्राप्त हुई थी उसमें कोई प्रामाणिकता नहीं थी।

मांटेस्क्यू के लिये सरकारें केवल तीन प्रकार की होती हैं – गणतंत्र (जो प्रजातंत्र और अभिजात्य तंत्र का मिश्रण है), राजतंत्र और निरंकुश तंत्र। वह जब इनके भेद की चर्चा करता है तब वह एक वैचारिक व्यग्रता की स्थिति में दिखाई पड़ता है। वह कभी तो इनके बीच राजनीतिक सत्ता का प्रयोग करने वालों की संख्या के आधार पर भेद करता है, और कभी नैतिक मानदंड के आधार पर। जहाँ सर्वोच्च सत्ता समूचे समूह या उसके एक बड़े हिस्से के हाथ में होती है वहां मांटेस्क्यू कहता है कि एक गणतांत्रिक व्यवस्था होती है। अतः गणतंत्र की भिन्नता राजतंत्र और निरंकुश तंत्र से इस मायने में है कि इसमें राजनीतिक सत्ता पूरे समूह या उसके बड़े भाग द्वारा प्रयोग की जाती है, इसके विपरीत राजतंत्र और निरंकुश तंत्र से इस मायने में है कि इसमें राजनीतिक सत्ता पूरे समूह या उसके बड़े भाग द्वारा प्रयोग की जाती है। इसके विपरीत राजतंत्र और निरंकुशतंत्र दोनों में एक व्यक्ति का शासन होता है। किन्तु मांटेस्क्यू जब राजतंत्र और निरंकुशतंत्र का भेद करता है तब वह नैतिक पैमाने का प्रयोग करता है। उसके अनुसार राजतंत्र में शासन का आधार विधान है जबकि निरंकुश तंत्र में शासक की इच्छा। प्रजातंत्र और कुलीन तंत्र दोनों को गणतंत्र की श्रेणी में रखकर मांटेस्क्यू इन दोनों के भेदों को भली-भाँति रेखांकित नहीं करता है जैसे कि इन दोनों का भेद महत्वपूर्ण न हो।

पारम्परिक वर्गीकरण का प्रयोग करते हुये मांटेस्क्यू इस वर्गीकरण द्वारा अनदेखे किए गए तथ्यों को अपने वर्गीकरण में सम्मिलित करना चाहता था। इसी कारण यहाँ कठिनाई उत्पन्न हुई है। किन्तु उसके वर्गीकरण की महत्ता इस बात में निहित है कि उसका वर्गीकरण सरकारी मशीनरी के भेदों को स्पष्ट करने का प्रयास करता है। कुलीनतंत्र और प्रजातंत्र में भेद तो है लेकिन इनकी तुलना राजतंत्र से की जाए तो इसमें दो चीजों की समानता दिखाई पड़ती है। एक तो यह कि दोनों में कानून एक सभा में एक लम्बी और निर्धारित प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए बनाये जाते हैं। दूसरी यह कि दोनों में सरकार की कार्यपालिका एवं विधायिका शाखा में भेद रखा जाता है। हालांकि ऐसा हो सकता है कि कुछ व्यक्ति दोनों शाखाओं में सम्मिलित हों। राजतंत्र में ये दोनों ही बातें नहीं होती हैं। वहाँ राजा अपने द्वारा नियुक्त किए गए सलाहकारों, जो केवल उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं, के परामर्श से अपनी परिषद् में कानून बनाता है; और वही कार्यपालिका और विधान पालिका दोनों का सर्वोच्च प्रधान होता है। परिषद् संसद से भिन्न है क्योंकि यह समान लोगों की सभा नहीं है जहाँ स्वतंत्र वाद-विवाद के पश्चात् निर्धारित प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए कानूनों का निर्माण किया जाता है।

मांटेस्क्यू राजतंत्र और गणतंत्र का भेद तो करता है किन्तु वह सबसे कड़ी विभाजन रेखा इन दो प्रकार की सरकारों और निरंकुशतंत्र के बीच खींचता है। निरंकुशतंत्र उसके लिये, जैसा कि वह हाब्स के लिए था, केवल एक 'नापसंद राजतंत्र' नहीं है बल्कि यह एक ऐसा शासनतंत्र है जिसे सभ्य समाज में सहन ही नहीं किया जा सकता। पिछड़े समाजों और क्रूर जलवायु वाले प्रदेशों में ही इसे एक घृणित अनिवार्यता के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। राजतंत्र और निरंकुश तंत्र का भेद करते हुए मांटेस्क्यू कहता है कि यद्यपि दोनों में एक व्यक्ति का शासन है किंतु जहां एक ओर राजतंत्र में सत्ता का प्रयोग पारम्परिक, विधि सम्मत, सार्वजनिक एवं संयत तरीके से होता है वहीं दूसरी ओर निरंकुश शासन सत्ता का प्रयोग स्वेच्छाचारी, असीमित, अमर्यादित और असंयत तरीके से करता है। राजा अपनी शक्तियों का प्रयोग परम्परा के दायरे में करता है, और यद्यपि औपचारिक रूप से उसकी शक्तियाँ असीमित हैं वह स्वतंत्र निर्णय लेने की क्षमता रखने वाले अपने सलाहकारों के परामर्श के अनुसार ही कार्य करता है। निरंकुश शासक की शक्ति औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों दृष्टियों से सम्पूर्ण है। उसकी शक्ति को सीमित या मर्यादित करने का कोई उपाय नहीं है। विधानपालिका और कार्यपालिका का तो वह प्रधान है ही, वह सर्वोच्च न्यायाधीश भी है। यदि किसी निरंकुशतंत्र में एक न्यायपालिका है भी तो वह स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं कर सकती है। न्यायाधीशों के पास इतना साहस नहीं होता कि वे शासक की इच्छा के विरुद्ध निर्णय दे सकें। अन्ततोगत्वा, एक निरंकुश व्यवस्था में नागरिकों को

न्याय प्राप्त करना असंभव है।

एक निरंकुश तंत्र को छोड़कर शेष दोनों प्रकार की सरकारें अच्छा शासन दे सकती हैं। वे जनकल्याण के लिए या लोकहित में शासन कर सकती हैं। वे जनता को स्वतंत्रता, न्याय एवं गरिमा प्रदान करती हैं। वे स्थापित एवं स्पष्ट तरीके से परिभाषित नियमों या कानूनों के अनुसार शासन करती हैं। ऐसी शासन व्यवस्था के अंतर्गत रहने वाली जनता नागरिक कहलाती है, दास नहीं। इन नागरिकों को यह ज्ञात होता है कि उनके अधिकार और कर्तव्य क्या हैं, और उनका संबंध एक दूसरे से और अपने शासक से क्या है। लेकिन मांटेस्क्यू कहता है कि राजतंत्र और गणतंत्र में भी दो बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। यदि इन बातों का ध्यान नहीं रखा जाएगा तो प्रजातंत्र अराजकतावाद में और कुलीनतंत्र या राजतंत्र निरंकुशतंत्र में परिवर्तित हो जाएगा। एक बात तो यह है कि नियंत्रण की व्यवस्था की जानी चाहिए और उस मौलिक संविधान को बनाए रखना चाहिए जिससे इन सरकारों की स्थापना हुई है। दूसरी बात यह है कि इन सरकारों के विशिष्ट सिद्धान्तों को खंडित करने वाली चीजों को इनसे दूर रखा जाना चाहिए।

जिन तीन प्रमुख प्रकार की सरकारों की चर्चा मांटेस्क्यू ने की है वह उनके साथ एक 'नियम' या 'सिद्धान्त' जोड़ता है। ये सिद्धान्त उन सरकारों को गतिशीलता प्रदान करते हैं। ये सरकारों के स्वभाव या उत्पत्ति की व्याख्या नहीं करते बल्कि इस बात को बताते हैं कि ये सरकारें किस प्रकार कार्य करती हैं। मांटेस्क्यू ने लिखा है कि सरकार के स्वभाव और उसके सिद्धान्त में अंतर है; स्वभाव सरकार का स्वरूप निर्धारित करता है, और सिद्धान्त यह बताता है कि किसी सरकार की कार्य प्रणाली कैसी है। ये सिद्धान्त वास्तव में वे मानवीय संवेग हैं जिनके कारण कोई सरकार एक विशिष्ट कार्य शैली अपनाती है। अतः स्वभाव और सिद्धान्त दोनों मिलकर किसी सरकार के पूरे चित्र (उसकी संरचना व कार्य शैली) की व्याख्या करते हैं।

गणतांत्रिक सरकार का विशिष्ट सिद्धान्त है 'नागरिक सद्‌गुण' जो मांटेस्क्यू के लिए प्रमुख रूप से लोक चेतना और देशभक्ति में अभिव्यक्त होता है। राजतंत्र में भी यह सद्‌गुण हो सकता है किन्तु गणतांत्रिक व्यवस्था में इसका होना अनिवार्य है। इसके बिना गणतांत्रिक व्यवस्थाएं काम नहीं कर सकती हैं। कुलीन तंत्रीय गणतांत्रिक व्यवस्था और प्रजातंत्रीय गणतांत्रिक व्यवस्था दोनों को सद्‌गुण की आवश्यकता है किन्तु दूसरी को पहले की अपेक्षा अधिक है। कुलीन तंत्र इस सद्‌गुण की कमी की स्थिति में भी अपने को बनाये रख सकता है और कार्य कर सकता है क्योंकि इसमें विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग एकजुट होकर उनसे जो विशेषाधिकारों से वंचित हैं अपने स्वार्थों और हितों की रक्षा करता है। लेकिन प्रजातंत्र के लिए सद्‌गुण की आवश्यकता इसलिए अधिक है कि यह पूरी तौर पर सद्‌गुण पर आधारित है। जब तक नागरिकों के मन में कानून के प्रति सम्मान नहीं होगा, जब तक उनकी निष्ठा अपने वर्ग से ऊपर उठकर पूरे समाज में नहीं होगी, और जब तक उनके हृदय में गणतंत्र के प्रति प्रेम नहीं होगा तब तक प्रजातांत्रिक गणतंत्र चल ही नहीं सकेगा।

राजतंत्र का सिद्धान्त 'सम्मान' है। इस व्यवस्था में भी लोक चेतना और देशभक्ति हो सकती है किन्तु राजतंत्र को गतिशीलता सम्मान से प्राप्त होती है। सम्मान की भावना से प्रेरित होकर भी लोक कल्याण के लिए कार्य किए जा सकते हैं किन्तु अधिकतर इस भावना से प्रेरित होने वाले आत्म गौरव के लिए या राजा के प्रति अपनी निष्ठा प्रदर्शित करने के उद्देश्य से कार्य करते हैं। यह सम्मान की भावना सभी नागरिकों में प्रबल हो या न हो उस वर्ग में अवश्य प्रबल होनी चाहिए जिस वर्ग से राजा अपने प्रशासनिक और सैनिक अधिकारियों को नियुक्त करता है। सम्मान की भावना से प्रेरित होने वाला व्यक्ति सम्मानजनक आचरण करना अपना कर्तव्य समझता है। वह कोई ऐसा काम नहीं करना चाहेगा जो काम उसे दूसरों की और स्वयं अपनी नजरों में गिरा दे। लेकिन ऐसा व्यक्ति आमतौर पर अपने पेशे, अपने वर्ग और अपने राजा के प्रति कर्तव्यपरायण होता है, न कि देश के प्रति। राजतंत्र में राजा के लिए यह महत्वपूर्ण है भी कि जनता उसके प्रति निजी तौर पर समर्पित हो न कि राष्ट्र के अमूर्त प्रत्यय के प्रति। वास्तव में, राजतंत्र में राजा का व्यक्तित्व और राष्ट्र की अस्मिता एक दूसरे के साथ इस प्रकार संयुक्त हो

जाते हैं कि उन्हें पृथक् करना कठिन होता है।

जो सिद्धान्त मांटेस्क्यू निरंकुश तंत्र के साथ जोड़ता है वह है भय। निरंकुश तंत्र जनता को भयाक्रांत कर अपनी सत्ता कायम रखता है। जितना ही व्यापक होगा जनता में भय उतना ही सफल होगा निरंकुश तंत्र। निरंकुश तंत्र के सम्बन्ध में अपने तथ्य मांटेस्क्यू पश्चिम से ही नहीं पूर्व के देशों से प्राप्त करता है। यहाँ भी उसने अप्रमाणिक यात्रा-साहित्य को अपनी जानकारी का स्रोत बनाया है। उसका यह मानना था कि यह शासन व्यवस्था भ्रष्टाचार और सार्वजनिक धन की लूट को बढ़ावा देती है। इसमें एक अधिनायक बर्बर तानाशाही शक्ति का प्रयोग तो करता ही है, क्षेत्रीय स्तर पर अनेक छोटे-छोटे तानाशाहों को वह जन्म भी देता है। ऐसे क्षेत्रीय तानाशाहों के विरुद्ध आम जनता अक्सर विद्रोह कर दिया करती है जिससे हमेशा राजनीतिक अस्थिरता का वातावरण बना रहता है। विद्रोह को कुचलने के लिए भरपूर शक्ति का प्रयोग किया जाता है। शासक न केवल जनता बल्कि राज्य के अधिकारियों को भी भयभीत रखता है। जनता को नागरिक का सम्मान और स्वतंत्रता नहीं प्राप्त होती है। जनता दास की स्थिति में होती है, और राज्य के अधिकारी निजी नौकर की स्थिति में। वे जो कुछ भी पा रहे होते हैं केवल शासक की कृपा से ही। शासक की स्वेच्छाचारिता पर यदि कोई नियंत्रण है तो, मांटेस्क्यू कहता है, केवल धर्म का क्योंकि धार्मिक आदेश एक उच्च सत्ता के द्वारा जारी किए जाते हैं, और ये आदेश शासक और शासित दोनों पर समान रूप से लागू होते हैं। किन्तु धर्म उत्पीड़ितों को कोई वास्तविक सहायता नहीं पहुंचाता क्योंकि एक तो यह समय पर कार्रवाई नहीं करता और दूसरे इसके द्वारा की जाने वाली कार्रवाई में कोई निश्चयात्मकता नहीं होती है।

कानून और सरकार के अध्ययन की एक वृहत् योजना तो मांटेस्क्यू बनाता है लेकिन यह आश्चर्य की बात है वह अपने अध्ययन में सावधानी से काम नहीं करता है। उसने सरकार के परम्परागत तीन प्रकारों को अपनाने और फिर उनसे हटने का कारण नहीं बताया है। सरकार के उसके वर्गीकरण के सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए डनिंग (Dunning) ने लिखा है कि, इसमें "थोड़ा तर्क और कोई नवीनता नहीं है"। वास्तव में, यह कहना असंभव है कि मांटेस्क्यू ने इस वर्गीकरण में किसी नियम का पालन किया है। संख्या की दृष्टि से राजतंत्र और निरंकुशतंत्र में कोई भेद नहीं है, और विधान की दृष्टि से एक गणतंत्र भी उतना ही स्वेच्छाचारी हो सकता है जितना स्वेच्छाचारी वह एक निरंकुशतंत्र को समझता है। इसके अलावा, उसका यह विचार भी गलत है कि निरंकुश तंत्र में कानूनों का सर्वथा लोप होता है। मांटेस्क्यू इस भ्रम से भी पीड़ित था कि उसकी तीन प्रकार की सरकारें तीन आकार के राज्यों से संबंधित हैं। गणतंत्र का सम्बन्ध वह लघु आकार के और राजतंत्र का सम्बन्ध मध्यम आकार के राज्यों से जोड़ता है। वृहत् आकार के राज्यों में निरंकुशतंत्र सफल रहता है। शासन के प्रकार को राज्य के भौगोलिक आकार से जोड़ना नितांत अवैज्ञानिक है। मांटेस्क्यू द्वारा किये गए इस वर्गीकरण पर, जैसा कि सेबाइन ने कहा है, उसकी "नैतिक प्रतिक्रियाओं" का प्रभाव पड़ा है। उसकी गणतंत्र की धारणा प्राचीन रोमन गणतंत्र की धारणा पर आधारित है जो नागरिक सद्गुण पर आधारित था किन्तु जिसका आधुनिक युग में कोई चिन्ह शेष न था। उसकी राजतंत्र की धारणा इंग्लैण्ड के राजतंत्र पर आधारित है जिसका वह प्रशंसक था पर जिसे समझने में उसने कई भूलें की थीं। यद्यपि फ्रांस की राजशाही को वह निरंकुश तंत्र की श्रेणी में नहीं रखता लेकिन फ्रांस की शासन व्यवस्था के निरंतर अधिनायकवाद की दिशा में अग्रसर होते जाने से वह चिन्तित था। उसके इसी भय ने निरंकुश तंत्र की उसकी धारणा को निर्मित किया है। रिचलू और लुई चौदहवें की नीतियों ने जिस प्रकार लोक प्रशासन, संसद और अभिजात्य वर्ग के सभी विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया था उससे फ्रांस के नागरिकों की राजनीतिक स्वतंत्रता दम तोड़ने लगी थी।

अतः मांटेस्क्यू द्वारा प्रस्तुत सरकार का वर्गीकरण वस्तुगत न होकर मनोगत है। केवल एक बहुत सीमित अर्थ में यह कहा जा सकता है कि उसने कानून और सरकार के अध्ययन में किसी अनुभवात्मक या तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग किया है। अतः जब वह कहता है कि कानून और सरकार विभिन्न प्राकृतिक और मानवीय परिस्थितियों के संतुलन या सामंजस्य पर आधारित है तो

उसके इस कथन का कोई स्पष्ट अर्थ खोज पाना कठिन है। अपने निष्कर्षों का इतना दोषपूर्ण सामान्यीकरण करने के कारण मांटेस्क्यू की बातें जगह-जगह खटकती हैं। कानून और सरकार का जो समाज-शास्त्र उसने प्रस्तुत किया वह बाद के राजनीतिक चिन्तन को कोई लाभ नहीं पहुंचा सका।

13.8 स्वतंत्रता एवं शक्ति

मांटेस्क्यू कहता है कि स्वतंत्रता शब्द का प्रयोग बहुत ही अस्पष्ट अर्थों में किया जाता रहा है, और अलग-अलग लोग इसके अलग-अलग अर्थ लगाते रहे हैं। स्वतंत्रता की लोकप्रियता ने ही इस शब्द के दुरुपयोग की सम्भावना भी उत्पन्न की है। वह स्वयं अपने ग्रंथ 'द स्पिरिट ऑफ द लॉज' में स्वतंत्रता की दो परिभाषाएं प्रस्तुत करता है, और वह मानता है कि वह दोनों परिभाषाओं में एक ही बात कह रहा है। पहली परिभाषा के अंतर्गत वह कहता है कि स्वतंत्रता वह शक्ति है जिससे हम वह कर सकते हैं जो हम करना चाहते हैं, और साथ ही हम तभी स्वतंत्र हैं जब हम वह करने के लिए बाध्य न किए जाएं जो हम नहीं करना चाहते। दूसरी परिभाषा के अंतर्गत वह कहता है कि स्वतंत्रता उन सभी चीजों को करने में निहित है जिसकी कानून आज्ञा देता है। दोनों परिभाषाओं के अंतर्विरोध को मांटेस्क्यू नहीं देख पाता है। वह उन परिस्थितियों की कल्पना नहीं करता जो परिस्थतियाँ हमारे जीवन में प्रायः आती हैं – कि कानून हमें वह करने की हमेशा आज्ञा नहीं देता जो हम करना चाहते हैं, और वह करने के लिए हमें अक्सर बाध्य करता है जो हम नहीं करना चाहते।

यदि पहली परिभाषा स्वतंत्रता के निरपेक्ष प्रत्यय को प्रस्तुत करती है तो दूसरी उसके सापेक्ष प्रत्यय को। पहली व्यक्ति को अनिर्बाधित स्वतंत्रता प्रदान करती है कि वह अपनी इच्छा द्वारा निर्धारित मार्ग का अनुसरण कर सके। दूसरी परिभाषा में व्यक्ति केवल विधिसम्मत आचरण करते हुए अपनी स्वतंत्रता का आनन्द ले सकता है। मांटेस्क्यू स्वतंत्रता के प्रत्यय की जो परिभाषाएं देता है वह स्वतंत्रता की चर्चा नहीं करते हुए उनका अनुसरण करता हुआ नहीं दिखाई देता है। किन्तु वाहन (Vaughan) का मत यह है कि स्वतंत्रता की दूसरी परिभाषा ही मांटेस्क्यू के लिए महत्वपूर्ण है क्योंकि यही परिभाषा स्वतंत्रता को बौद्धिक इच्छा के उद्देश्य के रूप में स्वीकृति प्रदान करती है।

मांटेस्क्यू चाहे पहली परिभाषा का अनुसरण कर रहा हो या दूसरी का या दोनों का, बिना इस बात पर ध्यान दिये हुए कि दोनों में एक अंतर्विरोध की स्थिति है। उसका प्राथमिक उद्देश्य स्वतंत्रता की संकल्पना में क्रमशः जमा होते गए कचरे की सफाई करना नहीं था बल्कि यह था कि किस साधन से स्वतंत्रता को राजनीतिक रूप से सुरक्षित किया जा सकता है। सत्ता और स्वतंत्रता में छत्तीस का आंकड़ा तो है- यदि एक बढ़ती है तो दूसरी घटती है, किन्तु मांटेस्क्यू कहता है कि सत्ता के बढ़ने या घटने से उतना फर्क नहीं पड़ता जितना कि इससे पड़ता है कि सत्ता का प्रयोग किस व्यवस्था के अंतर्गत किया जा रहा है।

सभी प्रकार की शासन व्यवस्थाओं में, मांटेस्क्यू यह मानता है कि, सत्ता किसी न किसी प्रकार सीमित या नियंत्रित होती है। यहाँ तक कि एक अधिनायक की शक्ति भी सीमित होती है – धार्मिक कानूनों द्वारा और लोकमानस में शुभ और अशुभ की कल्पना द्वारा और यह भी आवश्यक नहीं कि एक तानाशाह की शक्ति हमेशा एक राजा से अधिक ही हो। किन्तु विभाजित और सीमित शक्ति का प्रयोग करने वाले निरंकुश शासक के राज्य में भी नागरिकों को राजनीतिक स्वतंत्रता नहीं प्राप्त होती है। इसका क्या कारण है? मांटेस्क्यू कहता है कि सभी सरकारों की शक्तियाँ दो तरह से सीमित होती हैं – एक इससे कि राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करने वालों के बीच शक्ति किस प्रकार से विभाजित है, और दूसरा, परम्पराओं और मान्यताओं से जिन पर राजनीतिक सत्ता आधारित होती है। अब यदि सभी सरकारों में थोड़ा बहुत शक्ति विभाजन होता है और सभी सरकारें अपने नागरिकों को समान मात्रा में स्वतंत्रता नहीं उलब्ध

करातीं तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शक्ति विभाजन एक खास तरीके से किया जाए तभी राजनीतिक स्वतंत्रता सुरक्षित हो सकती है। यह खास तरीका क्या है?

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में शक्ति विभाजन का सिद्धान्त कोई नया नहीं है। राजनीतिक चिन्तन की प्रारम्भिक अवस्था में भी इस सिद्धान्त की चर्चा की गयी है। प्लेटो ने 'लॉज' में और अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' में इस सिद्धान्त की विवेचना की है। पोलिबियस ने रोमन सरकार के स्थायित्व की व्याख्या इसी सिद्धान्त के माध्यम से की थी। पूरे मध्य युग में मिश्रित राजतंत्र का प्रत्यय विद्यमान रहा है, और वास्तव में मध्ययुगीन संवैधानिकतावाद शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर ही आधारित था। इंग्लैण्ड में क्राउन एवं सामान्य कानून के न्यायालयों और क्राउन एवं संसद् के बीच होने वाले विवादों ने इस सिद्धान्त के महत्व को बढ़ा दिया था। उदारवाद के जनक जान लॉक, जिसके विचारों का प्रभाव मांटेस्क्यू पर काफी दूर तक पड़ा है, ने सरकार के तीन अंगों और उनके बीच शक्ति विभाजन की चर्चा अपनी पुस्तक 'दो ग्रन्थ' में की है। इस संदर्भ में उसे मांटेस्क्यू का पूर्वज भी कहा जाता है। किन्तु इन सबके बावजूद शक्ति पृथक्करण के एक स्पष्ट सिद्धान्त का हमेशा से अभाव था। इस सिद्धान्त को विभिन्न दृष्टियों से देखा गया था और विभिन्न आधारों पर समझा गया था। कभी इसे विभिन्न सामाजिक-आर्थिक वर्गों के बीच शक्ति संतुलन के रूप में देखा गया था, और कभी समाज की विभिन्न संस्थाओं के बीच शक्ति सामंजस्य के रूप में।

मांटेस्क्यू ने शक्ति विभाजन के इस प्राचीन/मध्य युगीन सिद्धान्त में संशोधन करके इस सिद्धान्त का आधुनिकीकरण किया है। उसने इस सिद्धान्त को वैधानिक अवरोध और संतुलन, जो संविधान के अंग से ही उत्पन्न होते हैं, के साथ संयुक्त कर इस सिद्धान्त का परिमार्जन किया है। **हन्ना आर्न** ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि मांटेस्क्यू ने यह ठीक समझा था कि "शक्ति को कानून द्वारा नहीं, केवल शक्ति द्वारा ही रोका जा सकता है। शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त न केवल इस बात की गारंटी देता है कि राजनीतिक शक्ति पर सरकार के किसी एक अंग का एकाधिकार नहीं होने पाएगा बल्कि यह सरकार के हृदय में ही एक ऐसा उपकरण निर्मित करता है जिससे नई शक्ति हमेशा उत्पन्न होती रहती है लेकिन जो इस ढंग से अपना विस्तार नहीं करती जिससे कि शक्ति के अन्य केंद्रों या स्रोतों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े।" स्पष्ट है कि मांटेस्क्यू सत्ता का विरोधी नहीं था। वह केवल सत्ता के दुरुपयोग से चिन्तित था। इस दुरुपयोग की संभावना निश्चय ही बढ़ जाती है जब शक्ति एक ही स्थान में केंद्रित हो जाती है। केंद्रीकृत शक्ति नागरिकों की राजनीतिक स्वतंत्रता एक लिए खतरा उत्पन्न करती है।

राजनीतिक शक्ति को जिस खास तरीके से विभाजित किया जाता है वह यह है कि इसे सरकार के तीन अंगों, विधानपालिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के बीच विभाजित कर दिया जाए। किसी भी सरकार को आम तौर पर तीन प्रकार के कार्य करने होते हैं– कानून बनाने का, कानूनों को लागू करने का, और कानूनों की व्याख्या करने के साथ न्याय करने का कार्य। किन्तु जहां पर मांटेस्क्यू शक्ति विभाजन की चर्चा करता है वहीं पर वह अवांतर विषयों की चर्चा कर इस सिद्धान्त को अनावश्यक रूप से जटिल बना देता है। उसके ग्रन्थ की ग्यारहवीं पुस्तक में लिखी बहुत सी बातों– जैसे, गणतंत्रात्मक संस्थाओं के सामान्य लाभ, जूरी व्यवस्था और वंश परम्परा पर आधारित कुलीनतंत्र के विशेष लाभ - का उसके शक्ति विभाजन के सिद्धान्त से कोई मतलब नहीं है। उसके सिद्धान्त का विशेष रूप इस बात पर आधारित था कि सरकार के सभी कार्यों को अनिवार्य रूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है अतः इन तीन कार्यों को करने के लिए अलग-अलग तीन अंग या तीन व्यक्ति समूह होने चाहिए।

मांटेस्क्यू ने एक स्थान पर दो प्रकार के कानूनों में भेद कर स्वतंत्रता और संवैधानिक व्यवस्था के सम्बन्ध को और पेचीदा कर दिया है। वह कहता है कि एक वे कानून होते हैं जो स्वतंत्र संविधान का निर्माण करते हैं, और दूसरे वे होते हैं जो व्यक्तियों को स्वतंत्रता प्रदान करते हैं। इन दो प्रकार के कानूनों का भेद कर वह एक अजीब सा निष्कर्ष निकालता है। वह कहता है कि यह हो सकता है कि संविधान स्वतंत्र हो किन्तु उसके अन्तर्गत रहने वाले नागरिक स्वतंत्र न

हों। याकि, नागरिक स्वतंत्र हों किन्तु संविधान स्वतंत्र न हो। अब प्रश्न यह उठता है कि शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त एक स्वतंत्र संविधान का निर्माण करता है या नागरिकों को स्वतंत्रता प्रदान करता है। यदि पहली बात को मानें तो निष्कर्ष यह निकलेगा कि शक्ति पृथक्करण पर आधारित संविधान के अन्तर्गत रहते हुए भी नागरिक परतंत्र हो सकते हैं। अर्थात्, शक्तिपृथक्करण नागरिकों की स्वतंत्रता की गारंटी नहीं देता। यदि दूसरी बात को मानें तो निष्कर्ष यह निकलेगा कि नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए शक्ति पृथक्करण की संवैधानिक व्यवस्था अनिवार्य नहीं है। अब यदि नागरिकों की स्वतंत्रता संविधान की स्वतंत्रता से महत्वपूर्ण है तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि स्वतंत्रता का संवैधानिक व्यवस्था से कोई लेना-देना नहीं है। प्लेमेनाट्ज ने इस संदर्भ में लिखा कि नागरिकों की स्वतंत्रता और संविधान की स्वतंत्रता का जो भेद मांटेस्क्यू ने किया है वह यदि अर्थहीन नहीं तो रास्ते से भटकाने वाला अवश्य है। दो प्रकार के कानून तो हो सकते हैं– एक व्यक्ति से सम्बन्धित और दूसरे संविधान से सम्बन्धित लेकिन दोनों प्रकार के कानूनों का उद्देश्य अन्ततोगत्वा व्यक्ति की स्वतंत्रता को ही संरक्षित करना होगा, वास्तव में, स्वतंत्रता व्यक्ति की ही होती है और एक संविधान स्वतंत्र तभी कहा जायेगा जब वह व्यक्ति की स्वतंत्रता को सुरक्षित करे।

स्वतंत्रता की जिस त्रुटिपूर्ण संकल्पना से मांटेस्क्यू प्रारम्भ करता है वही यहां दुविधा का कारण बनी है। आश्चर्य की बात है कि स्वतंत्रता और शक्तिपृथक्करण की संवैधानिक व्यवस्था में गहरा सम्बन्ध मानते हुए भी मांटेस्क्यू विषय की गम्भीरता को नहीं समझ सका है। सरकार के तीन अंगों के बीच एक कठोर विभाजन रेखा खींचना असम्भव है, और न ही यह लाभप्रद है। मांटेस्क्यू ने भी ऐसा नहीं किया है। वह कहता है कि, कार्यपालिका के आदेश पर व्यवस्थापिका की बैठक होनी चाहिए; कार्यपालिका को व्यवस्थापिका द्वारा बनाये हुए कानूनों को रद्द करने का अधिकार है; व्यवस्थापिका को न्याय सम्बन्धी असामान्य शक्ति का प्रयोग करने का अधिकार है। शक्ति विभाजन का सिद्धान्त, जिस प्रकार मांटेस्क्यू ने इसे स्थापित किया और जिस प्रकार यह व्यवहार में हमेशा रहा, एक विरोधी सिद्धान्त – व्यवस्थापिका की अतिरिक्त शक्ति-के साथ सम्बद्ध रहा है। इसी कारण इस सिद्धान्त में अनेक अपवाद भी उत्पन्न किए गए हैं। वास्तव में, इस विरोधी सिद्धान्त की व्यवस्थापिका को अन्य अंगों की तुलना में कुछ अधिक शक्ति प्रयोग करने का अधिकार है, कोई तर्क सम्मत आधार नहीं है। यह एक अपरिभाषित विशेषाधिकार है।

इंग्लैण्ड की यात्रा करने के पूर्व मांटेस्क्यू का यह विचार था कि राजनीतिक स्वतंत्रता एक श्रेष्ठ सद्गुण पर आधारित होती है जिसका ज्ञान केवल रोमन लोगों को था, और जो नगर राज्यों में ही चरितार्थ होती है। इंग्लैण्ड की यात्रा करने के पश्चात् वह इस विचार से मुक्त हुआ, और यह मानने लगा कि राजनीतिक स्वतंत्रता एक विशेष प्रकार की संवैधानिक व्यवस्था पर आधारित होती है- शक्ति पृथक्करण की संवैधानिक व्यवस्था पर। उसका यह मानना था कि इंग्लैण्ड में ऐसी ही संवैधानिक व्यवस्था है और इसी कारण वहां के नागरिक स्वतंत्र हैं। किन्तु मांटेस्क्यू एक पूर्वाग्रह से मुक्त होकर दूसरे पूर्वाग्रह में जा फंसा था। जब वह इंग्लैण्ड गया था तो इस सिद्धान्त के अवशेष भी वहां समाप्त हो चुके थे। इंग्लैण्ड में होने वाले गृह युद्धों ने इस सिद्धान्त को नष्ट कर दिया था, और सन् 1688 की रक्तहीन क्रान्ति ने संसद की सर्वोच्चता को सदा के लिये स्थापित कर दिया था। यह आश्चर्य की बात है कि मांटेस्क्यू जो स्वतंत्र निरीक्षण के पश्चात् किसी सिद्धान्त को वियोजित करने में विश्वास करता था अंग्रेजी राजनीति में होने वाले इस मौलिक परिवर्तन को नहीं देख सका। लॉक और हैरिंगटन के विचारों ने उसकी दृष्टि को तथ्य से हटा कर उसे यह समझा दिया था कि उसे क्या आशा करनी चाहिए, और शेष के लिए उसने उन मिथकों को अपना लिया जो उस समय स्वयं अंग्रेजों में भी प्रचलित थे।

अपनी तमाम कमजोरियों और अस्पष्टता के बावजूद मांटेस्क्यू का शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक लम्बे समय तक प्रभावशाली रहा। अमेरिकी और फ्रेन्च संविधानों के 'अधिकार पत्र' पर इसका स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। (यद्यपि अमेरिकी संविधान निर्माता शक्ति विभाजन के सिद्धान्त के लिए केवल मांटेस्क्यू पर ही आश्रित नहीं थे

लेकिन फिर भी वे उसके विचारों के प्रति समर्पित थे। यहां तक कि वे मांटेस्क्यू के 'ट्यूटानिक मिथक' में भी विश्वास करने लगे थे। इंग्लैण्ड की ट्यूटानिक सामन्ती राजशाही मांटेस्क्यू के लिए बड़ी आकर्षक थी क्योंकि वह यह मानता था कि इंग्लैण्ड में स्वतंत्रता और कानून का शासन इस समय अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में था) संविधान के इस सिद्धान्त को बाद में ब्लैकस्टोन ने सुरक्षित किया। बर्क भी एक हद तक इस सिद्धान्त को स्वीकार करता है जब वह यह कहता है कि इंग्लैण्ड की क्रान्ति ने स्वार्थों और व्यवस्थाओं का संतुलन उत्पन्न किया है। बाद में बेंथम ने अपनी पुस्तक 'फ्रैगमेन्ट आनगर्वन्मेंट' में इस सिद्धान्त पर प्रभावशाली प्रहार किया। अब तो यह सर्वविदित हो चुका है कि शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त और राजनीतिक स्वतंत्रता में कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। संवैधानिक व्यवस्था को संविधान के दायरे से बाहर विकसित होने वाली बहुत सी चीजें प्रभावित करती हैं, और संविधान को बिना औपचारिक रूप से परिवर्तित किए हुए उसका व्यवहार बदल देती हैं। उदाहरण के लिए राजनीतिक दलों की व्यवस्था। अन्त में, यह कहना गलत न होगा कि राजनीतिक स्वतंत्रता तभी तक सबसे प्रबल रूप से सुरक्षित रहती है जब तक जनता राजनीतिक रूप से जागरूक रहती है। स्वतंत्रता का दीपक जब जनता की आत्मा में बुझ जाता है तब स्वतंत्रता की रक्षा किसी उपाय से नहीं की जा सकती है।

13.9 कुछ अन्य विचार

'द स्पिरिट आफ द लाज' एक ऐसी पुस्तक है जिसमें मांटेस्क्यू तमाम सारे विषयों पर अपने मत व विचार प्रस्तुत करता है। यह विषयान्तर तो है किन्तु मांटेस्क्यू कहता है कि विषयान्तर का सही प्रयोग किया जा सकता है। ये 'लम्बे हाथों' की भांति हैं जो हमें आगे पहुंचने में मदद करते हैं। इन विषयों की चर्चा करते हुए मांटेस्क्यू अपने विचारों के साथ-साथ अपनी आस्था, अपने प्रेम, अपनी घृणा को भी प्रकट करता है। वह अपनी गहरी संवेदनाओं को कहीं कटाक्ष, कहीं सूत्र और कहीं अग्निवर्षक शब्दों में व्यक्त करता है।

एक दास प्रथा और दूसरा धार्मिक प्रताड़ना इन दो का वह घोर-विरोधी था। व्यंग्य की भाषा का प्रयोग करते हुए वह कहता है कि योरोप के देशों ने अमेरिकी जनजातियों का संहार कर डाला है और अफ्रीका में लोगों को दास बना लिया है। यदि वे ऐसा न करते तो बड़ी-बड़ी भूमि बिना जोते खाली पड़ी रहती। गन्ने की बुआई नहीं हो पाती और चीनी का दाम बढ़ जाता। सर से पांव तक काले चिपटी नाकों वाले इन लोगों को देखकर किसी के मन में दया का संचार कैसे हो सकता है ? ऐसे शरीर वाले लोगों में भी आत्मा है इसका विश्वास नहीं किया जा सकता है। इन्हें मनुष्य मानने का मतलब है कि हम एक अच्छे ईसाई नहीं हैं। मांटेस्क्यू ने आधुनिक युग में सर्वप्रथम दास प्रथा पर करारा प्रहार किया। उसके लिए यह प्रथा स्वतंत्रता का एक असहनीय उल्लंघन है। केवल एक परिस्थिति में वह दास प्रथा को उचित मानता है या यों कहें कि, उसे मान्यता प्रदान करता है। यह वैध उसी परिस्थिति में है जब यह दो लोगों के बीच स्वतंत्र समझौते का परिणाम हो। ऐसी स्थिति में दास का जीवन बहुत कठिन नहीं होता है, और दासता की क्रूरता में थोड़ी कमी आ जाती है। किन्तु ऐसी दासता को भी मांटेस्क्यू प्रकृति और न्याय के सनातन सिद्धान्त के विरुद्ध मानता है, और इसे समाप्त किए जाने की वकालात करता है।

दास प्रथा से भी कड़ा विरोध मांटेस्क्यू ने धार्मिक प्रताड़ना का किया है। वह धर्म के नाम पर किसी परिस्थिति में किसी को दण्ड दिए जाने की आज्ञा नहीं देता। दास प्रथा केवल व्यक्ति की स्वतंत्रता का उल्लंघन करती है लेकिन धर्म के नाम पर किए जाने वाले अत्याचार तो जीवन के अधिकार को ही छीन लेते हैं। धार्मिक प्रताड़ना और भी घृणित इसलिए है कि यह ईश्वर और सत्य के नाम पर की जाती है। उसने यहूदी बच्चियों को जीवित जलाने की लोमहर्षक घटना पर एक अत्यंत मार्मिक अध्याय लिखा है। वह कहता है कि धर्म पुरोहित यदि अपने आपको अच्छा इसाई साबित नहीं कर सकते तो कम से कम अच्छे मनुष्य का तो आचरण करें। आने वाली

पीढ़ी जब सभ्यता की दृष्टि से अठारहवीं शताब्दी का मूल्यांकन करेगी तब, मांटेस्क्यू कहता है, वह इन धार्मिक पुरोहितों के कारण ही इस शताब्दी को सभ्य नहीं बल्कि बर्बर मानेगी। किसी समाज के सभ्य होने का एक बड़ा लक्षण यह है कि उस समाज में धार्मिक सहिष्णुता की नीति का पालन किया जाता है।

मांटेस्क्यू अर्न्तराष्ट्रीय सम्बन्ध और युद्ध के विषय पर भी विचार करता है। उसने एक शताब्दी पहले ग्रोशस द्वारा स्थापित 'युद्ध के अधिकार' के सिद्धान्त– जिसे बाद के चिन्तकों ने भी स्वीकार किया था– पर कड़ा प्रहार किया है। ग्रोशस ने कहा था कि विजेता के पास यह अधिकार सुरक्षित है कि वह विजित राष्ट्र के लोगों को चाहे तो सामूहिक मृत्यु दे दे या उन्हें सामूहिक रूप से दास बना ले। मांटेस्क्यू के लिये यह अधिकार केवल एक कल्पना मात्र है। प्रकृति के किसी नियम से इसे अनुशक्ति नहीं प्राप्त है। सामूहिक हत्या का विचार तो सर्वथा निंदनीय है ही, सामूहिक रूप से दास बनाने का विचार भी पूर्णतया दोषपूर्ण है। विजेता के लिये इस नीति का अनुसरण करना बहुत लाभप्रद भी नहीं है क्योंकि यह विजय को स्थायी नहीं बनाता है। थोड़े ही समय में विजयी शासक विजित राष्ट्र की जनता पर अपना प्रभुत्व खो देता है। इसलिए मांटेस्क्यू यह सलाह देता है कि विजयी राष्ट्र को पराधीन राष्ट्रों के साथ सहयोग व समझौते पर आधारित सम्बन्ध बनाना चाहिए। मांटेस्क्यू योरोप में फैलने वाली एक 'नई बीमारी' से भी चिन्तित था। बंदूकों में प्रयोग किए जाने वाले पाउडर के आविष्कार ने ही उसके अन्दर यह चिन्ता उत्पन्न कर दी थी कि भविष्य में मनुष्य किसी ऐसे हथियार का आविष्कार कर लेगा जिससे समूची मानवता के समाप्त होने का खतरा उत्पन्न हो जाएगा। योरोप के देशों में हथियार एकत्रित करने की तेज होती हुई दौड़ और अपनी-अपनी सेनाओं को अधिक से अधिक मजबूत बनाने की होड़, मांटेस्क्यू के अनुसार, अन्ततोगत्वा सभी के लिए घातक होगी।

मांटेस्क्यू दण्ड की व्यवस्था और लोक कल्याणकारी राज्य के सम्बन्ध में भी विचार करता है। वह कहता है कि बर्बर दंड अपराधी को और भी बर्बर बना देता है। उसी तरह जिस तरह बुरे कानून नागरिकों को बुरा बनाते हैं। राज्य के लोक कल्याणकारी कार्यों पर विचार करते हुए वह कहता है कि यह राज्य का दायित्व है कि वह अपने नागरिकों के लिये अच्छा जीवन स्तर सुनिश्चित करे, उनके भोजन और वस्त्र की आवश्यकताओं को पूरा करे। मांटेस्क्यू ने व्यापार, वाणिज्य और विनिमय आदि के प्रश्नों पर भी विचार किया है, लेकिन वह इनके आर्थिक पक्ष में नहीं बल्कि राजनीतिक प्रभाव में रुचि रखता था।

13.10 सारांश

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मांटेस्क्यू को एक सम्मानजनक स्थान प्राप्त है, और यह इस बात का प्रमाण है कि किसी चिन्तक को हमेशा उसकी बुद्धि की कुशाग्रता या विश्लेषण की क्षमता के कारण ही ख्याति नहीं प्राप्त होती है। इस दृष्टि से तो वह एक दोयम दर्जे का ही चिन्तक था। उसमें न तो तर्क करने की कोई विशेष प्रतिभा थी और न तथ्यों को अपने पक्ष में प्रयोग करने का कौशल। लगभग डेढ़ दशकों के परिश्रम के पश्चात् उसने जो अपना ग्रंथ 'दी स्पिरिट आफ द लॉज' लिखा वह उसके विचारों का सतहीपन ही प्रदर्शित करता है। केवल अच्छी लेखन शैली, व्यंग्य करने की क्षमता और चमत्कृत करने वाले मुहावरों का प्रयोग किसी चिन्तक को महान नहीं बनाते। यात्रा-साहित्य के अप्रमाणिक स्रोतों का प्रयोग भी उसके विचारों में छिछलापन उत्पन्न करता है। लेकिन फिर भी मांटेस्क्यू के पास कुछ ऐसी क्षमताएं थीं जो प्रायः नहीं पाई जातीं, और जो किसी चिन्तक को प्रतिष्ठा प्रदान करती हैं। मांटेस्क्यू के पास निरीक्षण करने की क्षमता थी और एक विशिष्ट प्रकार की मौलिकता थी। उसमें परिष्कृत संवेदनाएं थीं, और अपने प्रेम, अपनी घृणा, अपनी आस्था को स्पष्ट तौर पर व्यक्त करने का साहस था।

मांटेस्क्यू के विचारों में भले ही विसंगतियां और अर्न्तविरोध हों, उसकी बहुत-सी बातें भविष्य में उत्पन्न होने वाले परिदृश्य की ओर संकेत करती हैं। शक्तिपृथक्करण का सिद्धान्त स्वतंत्रता के

लिये आवश्यक हो या न हो, न्यायपालिका को सरकार के दूसरे दो अंगों से अलग रखना आज भी हम सभी श्रेयस्कर मानते हैं। केवल स्वतंत्र न्यापालिका ही नागरिकों को न्याय दे सकती है। शक्ति का प्रयोग करने वाले लोग स्वाभाविक रूप से ही उसका दुरुपयोग करने लग जाते हैं। यह बात देखते हुए ही आज वर्तमान समय में 'आम्बड्समैन' की व्यवस्था बहुत से देशों में की जा रही है। देशों के बीच होने वाली हथियारों की दौड़ से उत्पन्न होने वाले खतरों के प्रति मांटेस्क्यू ने जो चेतावनी दी थी वह आज बड़ी प्रासंगिक है। युद्ध की विनाशलीला से आज की मानवता कहीं अधिक आशंकित है। आने वाले समय में व्यापारिक सभ्यता मनुष्य के समाज पर हावी होती चली जाएगी, इसका भी ज्ञान मांटेस्क्यू को था। वह इस सभ्यता के दुर्गुणों को अनदेखा किए बगैर इसके लाभों की ओर आकर्षित था। उसने यहां तक कहा है कि इंग्लैण्ड के लोग इसलिए स्वतंत्र हैं कि वहां पर व्यापारिक सभ्यता का प्रचलन है। यह सभ्यता हमें हमारे बहुत से पूर्वाग्रहों से मुक्त करती है, हमारी दृष्टि को व्यापक बनाती है, साहित्य एवं कला को अनावश्यक नैतिक नियंत्रण से मुक्त करती है। सम्पन्नता लाने के अलावा यह युद्ध को भी क्रमशः गैर जरूरी बना देती है।

मांटेस्क्यू के राजनीतिक चिन्तन का अर्न्तविरोध , जैसा कि वाहन ने कहा है, उसके आभ्यान्तरिक जगत् के अर्न्तविरोध के कारण है। मांटेस्क्यू एक राजनीतिक दार्शनिक होने के साथ-साथ एक समाज सुधारक भी था। एक राजनीतिक दार्शनिक के रूप में वह परम्परा, धर्म और विभिन्न रूपों में प्रकट होने वाली राजनीतिक जीवन की सावयवी समरूपता की सराहना करता है। एक समाज सुधारक के रूप में वह बहु पत्नी प्रथा और दास प्रथा को समाप्त किए जाने की वकालत करता है क्योंकि ऐसी प्रथाएं मानव स्वतंत्रता का हनन करती हैं। एक वैज्ञानिक की भांति वह राजनीतिक संस्थाओं और परम्पराओं को विश्लेषित करने का प्रयास करता है किन्तु राजनीतिक स्वतंत्रता के प्रति उसका असीम प्रेम उसे पूरी तौर पर वैज्ञानिक होने नहीं देता, और इसीलिए उसकी वैज्ञानिक निस्पृहता उसके चिन्तन का मात्र एक आवरण होकर रह गयी है।

ऐतिहासिक गतिशीलता और सामाजिक प्रगति के सम्बन्ध में मांटेस्क्यू की दोषपूर्ण समझदारी उसके चिन्तन के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं में उदारवादी और रूढ़िवादी विचारों का उलझाव पैदा करती है। व्यक्ति की स्वतंत्रता, कानून का शासन और संवैधानिक सरकार के सम्बन्ध में उसके विचार निःसंदेह उसे एक उदारवादी चिन्तक के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। लेकिन इसके साथ ही वह उनके रूढ़िवादियों के लिये भी सर्वाधिक प्रिय था जो फ्रान्स की राज्य क्रान्ति के विरोधी थे। बर्क और जोजफ द मैस्त्रे ने उसकी बहुत प्रशंसा की है। लेकिन जिस प्रकार मांटेस्क्यू का सीमित उदारवाद उसे क्रान्ति की हद तक नहीं जाने देता उसी प्रकार उसका सुधारक रूप उसे पूरी तौर पर रूढ़िवादी भी नहीं बनने देता है। उसके विचार न तो क्रान्तिकारी गतिशीलता और न रूढ़िवादी गतिहीनता का प्रदर्शन करते हैं किन्तु उसके विचारों का प्रभाव रूढ़िवाद के पक्ष में अधिक है।

13.11 उपयोगी पुस्तकें

(1) Arendt, H; `On Revolution'

(2) Aron, R; `Main Currents in Sociological Thougt', Vol. I

(3) Dunning, W.A. `A History of Political Theories', Vol. II

(4) Lowenthal, D; `Book I of Montesquieu's `Spirit of the Laws' in `Perspectives on Political Philosophy', Vol II edited by D. K. Hart and J. V. Downton

(5) Morris, G. C; `Moutesquieu and the Varieties of Political Experience' in `Political Ideas' edited by D. Thomson

(6) Plamenatz, J; `Man and Society', Vol I

(7) Sabine, G. H; `A History of Political Theory'

(8) Shacklton, R; `Montesquieu : a critical Biography'

(9) Vanghan, C. E., `Studies in the History of Political Philosophy' Vol. I

13.12 संबंधित प्रश्न

लघु उत्तरी प्रश्न

(1) मांटेस्क्यू के चिन्तन में कानून और जलवायु का क्या सम्बन्ध है ?

(2) मांटेस्क्यू के भौगोलिक निश्चयवाद और मार्क्स के आर्थिक निश्चयवाद में भेद स्पष्ट कीजिए।

(3) निरंकुश तंत्र के सम्बन्ध में मांटेस्क्यू के विचारों का परीक्षण कीजिए।

(4) मांटेस्क्यू की स्वतंत्रता की अवधारणा क्या है ?

(5) दास प्रथा और धार्मिक प्रताड़ना के सम्बन्ध में मांटेस्क्यू के विचारों का उल्लेख कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

(1) मांटेस्क्यू के जलवायु के सिद्धान्त को समझाइए।

(2) मांटेस्क्यू की कानून की धारणा क्या है ? इस धारणा में क्या अर्न्तविरोध और विसंगतियां हैं ?

(3) मांटेस्क्यू द्वारा किये गये सरकार के वर्गीकरण को प्रस्तुत कीजिए।

(4) स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने के लिये मांटेस्क्यू शक्ति पृथक्करण की संवैधानिक व्यवस्था को क्यों आवश्यक मानता था ? शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त में क्या दोष हैं ?

(5) मांटेस्क्यू के राजनीतिक विचारों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के सही उत्तर पर निशान (✓) लगाइए।

(1) मांटेस्क्यू किस देश का नागरिक था ? (इटली, फ्रान्स, इंग्लैण्ड)

(2) मांटेस्क्यू का जन्म कब हुआ था ? (1688, 1693, 1689)

(3) मांटेस्क्यू की पुस्तक 'द स्पिरिट आफ़ द लाज़' कब प्रकाशित हुयी थी ? (1748, 1759, 1734)

(4) निम्नलिखित में से कौन मांटेस्क्यू का आलोचक था ? (ह्यूम, वोल्टेयर, बर्क)

(5) दास प्रथा का मांटेस्क्यू ने क्यों विरोध किया था ? (यह स्वामियों के लिए लाभप्रद नहीं, यह स्वतंत्रता के विरुद्ध है, यह क्रान्ति को जन्म देती है)

13.13 प्रश्नोत्तर

1. फ्रांस 2. 1689 3. 1748 4. वोल्टेयर 5. स्वतंत्रता के विरुद्ध

इकाई 14 : डेविड ह्यूम (1711-1776)

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 परिचय

14.3 बुद्धि की परीक्षा

14.4 प्राकृतिक विधान का विनाश

14.5 प्रकृति के तीन प्रमुख विधान

14.6 आज्ञापालन और वैधता

14.7 सम्पत्ति का सिद्धान्त

14.8 संतुलित संविधान की धारणा

14.9 अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

14.10 सारांश

14.11 उपयोगी पुस्तकें

14.12 संबंधित प्रश्न

14.13 प्रश्नोत्तर

14.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप यह जान सकेंगे कि–

- ह्यूम के समय यूरोप का दार्शनिक पर्यावरण कैसा था, और अपने समय की दार्शनिक मान्यताओं से ह्यूम क्यों असंतुष्ट था।
- ह्यूम के सामने क्या दार्शनिक समस्या थी, और उसने कैसे उसका समाधान करने का प्रयास किया।
- ह्यूम का दार्शनिक दृष्टिकोण उसके राजनीतिक सिद्धान्तों को किस प्रकार निर्मित करता है, और उसके राजनीतिक निष्कर्ष क्या हैं।

14.1 प्रस्तावना

ईसाई धार्मिक-दार्शनिक मान्यताओं के विरुद्ध जो आधुनिक चेतना का प्रसार हुआ उसने अठारहवीं शताब्दी में अमेरिका सहित यूरोप के सभी देशों में अपनी जड़ें जमा लीं। इसी चेतना के फलस्वरूप एक नयी दार्शनिक धारा का जन्म हुआ। यह आधुनिक दार्शनिक धारा बुद्धि पर आधारित थी। अतः इसे बुद्धिवाद का दर्शन भी कहा जाता है। इसका उद्देश्य चीजों को प्रकाशित कर सत्य या यथार्थ को अनावृत करना था। यह बौद्धिक दर्शनशास्त्र एक ऐसे पेड़ की भांति था जिसकी जड़ें यद्यपि राष्ट्र की सीमाओं में घिरी हुई थीं किन्तु इस पेड़ की शाखाएं राष्ट्र की सीमाओं का अतिक्रमण कर दूसरे देशों में भी फैली हुई थीं। अतः इसकी उत्पत्ति राष्ट्रीय होते हुए भी इसका स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय था। इस नवीन दर्शनशास्त्र को विकसित करने में फ्रांस, इंग्लैण्ड और जर्मनी का विशेष योगदान था। फ्रांस ने इसमें पहल की तो इंग्लैण्ड ने इसको

नेतृत्व प्रदान किया, और फिर जर्मनी ने इस पर अपनी प्रभुता स्थापित की।

मध्ययुगीन विचारों के विरुद्ध आधुनिक दर्शनशास्त्र मानवतावादी एवं प्रकृतिवादी था। यह आशावदी था और मानव प्रगति में इसका विश्वास था। धर्मशास्त्र के लिए एक दाई की भूमिका निभाना अब इसे स्वीकार नहीं था। अब इसने अपने बल पर खड़े होने का साहस कर लिया था। यह बल था बुद्धि का। लेकिन बुद्धि की समुचित शक्ति इसे प्राप्त हो सके इसके लिए यह आवश्यक था कि बुद्धि को पहले शताब्दियों के अंधविश्वासों और पूर्वाग्रहों से मुक्त किया जाए। विशेषकर धर्म द्वारा फैलाए गए अंधविश्वासों और पूर्वाग्रहों से। बुद्धिवादी युग के चिन्तक ईसाई धर्म के विरुद्ध तो नहीं थे लेकिन वे इस धर्म के श्रेणीबद्ध स्वरूप और पारलौकिक दृष्टि के विरुद्ध अवश्य थे। इन चिन्तकों ने स्वतंत्र बुद्धि का प्रयोग कर सामाजिक व राजनीतिक समस्याओं का निदान खोजने का प्रयास किया। लेकिन उनके समाधान एक जैसे नहीं थे। यदि उनमें से कुछ एक जागरूक अधिनायकवाद के समर्थक थे तो कुछ सरकार का अस्तित्व किसी भी रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं थे।

एक ही बुद्धि का अनुसरण करते हुए चिन्तकों द्वारा अलग-अलग सामाजिक व राजनीतिक निष्कर्ष निकाला जाना एक खटकने वाली बात है। इसका मतलब यह है कि या तो उनकी पद्धतियां दोषपूर्ण थीं, या फिर, जिस बुद्धि को उन्होंने इतना निश्चयात्मक मान लिया था वह उतनी निश्चयात्मक थी नहीं। पद्धतियों के दोष कोई बड़ी कठिनाई नहीं उत्पन्न करते क्योंकि किसी पद्धति को परिष्कृत कर उन्हें दूर किया जा सकता है। लेकिन यदि वह आधार ही दोषपूर्ण और कमज़ोर हो जिस पर अवस्थित होकर हमने विश्लेषण करने और समाधान खोजने का निर्णय लिया है तो एक बड़ी विकट स्थिति उत्पन्न हो जाती है। डेविड ह्यूम ने इसी आधार को अपने प्रहार का पहला निशाना बनाया है। इस सम्बन्ध में उसकी सफलता या असफलता को जानने का एक रास्ता यह है कि हम उसकी दार्शनिक विचारधारा का अध्ययन जर्मन दार्शनिक इमैनुअल कान्ट की दार्शनिक विचारधारा के माध्यम से करें। लेकिन यहाँ इस बात की चर्चा करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं दिखाई पड़ती।

14.2 परिचय

डेविडह्यूम एक दार्शनिक और इतिहासकार था। उसका जन्म एडिनबरा में सन् 1711 में एक छोटे जमींदार परिवार में हुआ था। इसी नगर में उसकी मृत्यु सन् 1776 में हुई। उसकी शिक्षा एडिनबरा के विश्वविद्यालय में हुई थी। पहले तो उसने वकालत के पेशे के लिये प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहा लेकिन बाद में उसकी रुचि दर्शनशास्त्र में हो गयी। फ्रान्स में अपने प्रवास की अवधि में उसने सन् 1740 में 'ए ट्रीटाइज़ आफ़ ह्यूमन नेचर'' (''A Treatise of Human Nature') का प्रकाशन किया। इस पुस्तक से उसे कोई सम्मान या लोकप्रियता नहीं प्राप्त हुई। बहुत कम लोगों ने इसे पढ़ा, और इस पुस्तक ने न तो कोई आर्थिक और न कोई आलोचनात्मक सफलता प्राप्त की। इसके बाद ह्यूम ने राजनीति, दर्शन और साहित्य के विषयों पर विभिन्न लेखों को प्रकाशित किया जो सामान्य पाठक को दृष्टि में रखकर लिखे गए थे साथ ही उसने अपनी पहली पुस्तक को संशोधित कर तीन अलग-अलग भागों में फिर से प्रकाशित किया। ये थे– `Enquiry Concerning Human Understanding' ('इन्क्वायरी कन्सर्निंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग') 'ए डिज़र्टेशन आन द पैशन्स' (`A Dessertation of the Passions'); `An Enquiry Concerning the Principles of Morals' (`एन इन्क्वायरी कंसर्निंग द प्रिंसिपल्स आफ़ मार्ल्स')।

इनके प्रकाशन के पश्चात् ह्यूम एक दार्शनिक के रूप से स्थापित हो गया, और अब उसकी ख्याति पूरे संसार में फैल चुकी थी। चर्च के विरोध के कारण वह एडिनबरा के विश्वविद्यालय में एक स्थायी शिक्षक के रूप में नियुक्त न हो सका। सन् 1751 में वह इसी नगर के 'वकीलों के पुस्तकालय' में ग्रन्थालयी के पद पर नियुक्त किया गया। इसका एक लाभ यह हुआ कि वह

'इंग्लैण्ड के इतिहास' (`History of England') नामक शीर्षक से एक वृहद् पुस्तक लिखने में सफल हुआ। यह पुस्तक सन् 1754 से सन् 1761 की अवधि में आठ खण्डों में प्रकाशित की गई थी। बाद के जीवन में ह्यूम ने पेरिस और लन्दन में कुछ समय तक सार्वजनिक पदों पर काम किया। सन् 1769 में वह अपने सरकारी पद को छोड़ कर वापस एडिनबरा चला आया। यहाँ उसने अपने जीवन का शेष समय अपने मित्रों एडमस्मिथ और जान होम के साथ व्यतीत किया, उसकी पुस्तक 'डायलाग्स कनसर्निंग नेचुरल रेलिजन' (`Dialogues Concerning Natural Religion') का प्रकाशन सन् 1779 में उसकी मृत्यु के पश्चात् हुआ था। सन् 1777 में उसकी 'आत्मकथा' (`Autobiography') भी प्रकाशित हुई थी। सन् 1783 में उसके नाम से प्रकाशित होने वाले दो छोटे लेख 'आत्महत्या और 'आत्मा की अनश्वरता' के बारे में यह विवाद है कि इन लेखों का लेखक वह है या नहीं।

14.3 बुद्धि की परीक्षा

बुद्धिवादी युग ने बुद्धिवाद के विरोधियों को भी जन्म दिया। उन दार्शनिकों में जिन्होंने बुद्धिवाद का विरोध किया डेविड ह्यूम की स्थिति सबसे अधिक सुदृढ़ है। उसने तर्क को परास्त करने के लिए तर्क का ही प्रयोग किया। इस संदर्भ में शेलडन एस० वोलां (Sheldon S. Wolin) ने लिखा है कि, ह्यूम ने 'बुद्धिवाद के विरुद्ध उसके ही अस्त्रों को घुमा दिया' और 'बुद्धि के दावों का तार्किक परीक्षण कर उन्हें नष्ट कर दिया।' वास्तव में, बुद्धिवाद के विरोध की जो परम्परा फ्रान्स में रूसो से प्रारम्भ हुई वह इंग्लैण्ड में ह्यूम के चिन्तन में सर्वाधिक स्पष्ट रूप से प्रकट हुई। बुद्धिवाद पर रूसो का प्रहार सीमित एवं भावनात्मक था। ह्यूम का उद्देश्य बुद्धिवाद को समूचा नष्ट कर देना था, और अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिये उसने भावनाओं का नहीं तर्क का सहारा लिया। रूसो की भावनाएं उसे अस्पष्ट बनाती हैं जबकि ह्यूम के चिन्तन में तर्क का पैनापन दिखाई पड़ता है।

बुद्धि, ह्यूम के लिये, संवेगों की दासी है। विशुद्ध बुद्धि मानवीय ज्ञान का स्रोत नहीं है। मनुष्य को ज्ञान बुद्धि से नहीं बल्कि इन्द्रियानुभूति से प्राप्त होता है। ऐसा ह्यूम के पूर्व भी कुछ चिन्तक (उदाहरण के लिये जानलॉक) मानते रहे हैं। लेकिन वे चिन्तक साथ में यह भी मानते रहे हैं कि हमारी मान्यताओं का एक बौद्धिक आधार भी होना चाहिए, जबकि ह्यूम ऐसा कुछ नहीं मानता। इसीलिए ह्यूम उनसे भिन्न है। पुनः जान लॉक का उदाहरण लिया जा सकता है जिसके चिन्तन में बुद्धिवाद और अनुभववाद को अलग करना एक कठिन समस्या है। इसीलिए ह्यूम यह मानता था कि लाक की ज्ञान मीमांसा में संशोधन कर उसे पूर्ण किए जाने की आवश्यकता है। यही बर्कले का भी मानना था।

प्रतिछाया और विचार से हमारे मस्तिष्क की सम्पूर्ण विषय-वस्तु निर्मित होती है। प्रतिछाया मौलिक है, और विचार प्रतिछाया की केवल एक प्रतिलिपि है। दोनों में अन्तर केवल स्पष्टता का है। प्रत्येक विचार के पूर्व मस्तिष्क में उसकी एक प्रतिछाया बनती है। किन्तु दोनों में हमेशा कोई सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। जब कई विचार एक दूसरे से जुड़ जाते हैं, तब विचारों का एक समूह निर्मित होता है। जब विभिन्न विचारों में कुछ निश्चित प्रकार के गुण होते हैं तब ये विचार एक दूसरे के साथ सम्बन्धित हो जाते हैं। ये विचार एक यांत्रिक तरीके से कुछ निश्चित नियमों के अनुसार एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं।

ह्यूम उन तीन मौलिक विधानों की चर्चा करता है जिनके आधार पर विचारों का सम्बन्ध आपस में स्थापित होता है। ये हैं– (i) सादृश्य और प्रतिकूलता; (ii) स्थान और काल में सान्निध्य और (iii) कार्य-कारण सम्बन्ध। गणित इनमें से पहले विधान पर आधारित है। गणितीय सत्यता विभिन्न विचारों के प्रत्यक्ष या परोक्ष सादृश्य या प्रतिकूलता पर आधारित है, और इन विचारों के मात्रात्मक सम्बन्ध पर वह शास्त्र या विज्ञान जो प्रकृति और मनुष्य का अध्ययन करता है। उसका विवरणात्मक और प्रायोगिक भाग दूसरे विधान पर आधारित है। धर्म, तत्व विज्ञान और भौतिक

एवं नीतिशास्त्र का वह भाग जो हमारे अनुभव की सीमा से बाहर निकल जाता है तीसरे विधान पर आधारित है। ज्ञान के सिद्धान्त का उद्देश्य यह है कि वह मानवीय ज्ञान की सीमाओं को निर्धारित करे, और इस बात का निर्धारण करे कि कौन सा विज्ञान प्रामाणिकता की किस कोटि में रखा जा सकता है।

ह्यूम के अनुसार बुद्धिवादी दार्शनिकों ने बुद्धि की धारणा में तीन अलग-अलग विषयों या प्रक्रियाओं को बिना विचार किए एक दूसरे से सम्बद्ध कर दिया है। इस गलती का परिणाम यह हुआ है कि इससे दोषपूर्ण निष्कर्ष वियोजित हुए हैं। निरपेक्ष निश्चयात्मकता के साथ अनिवार्य सत्य के रूप में प्रस्तुत किए गए निष्कर्ष इसी गलती का परिणाम हैं। वे तीन अलग-अलग विषय हैं– संश्लेषण, कार्य-कारण सम्बन्ध और मूल्य-विधान। इन तीनों में से केवल पहला ही विषय बुद्धि की धारणा में सम्मिलित किया जा सकता है। बुद्धि के संश्लेषणात्मक स्वरूप की चर्चा करते हुए ह्यूम कहता है कि विचारों के तुलनात्मक अध्यन से कुछ अनिवार्य कहे जाने वाले सत्य का ज्ञान हो सकता है। किन्तु विचारों का तुलनात्मक अध्ययन केवल गणित के क्षेत्र में किया जा सकता है। यह तुलनात्मक अध्ययन भी केवल एक निश्चित सीमा तक सहायक हो सकता है। निश्चित सीमा तक इसलिए कि यहाँ निष्कर्ष की सत्यता अवधारणा की सत्यता पर प्रश्नचिह्न लगाए बिना ही ज्ञात की जा सकती है। यदि हम अवधारणा को सत्य मान लें तभी हम निष्कर्ष को सत्य मान सकेंगे। इन्हीं अर्थों में गणितीय सत्य अनिवार्य सत्य है। अनिवार्य यानी तार्किक रूप से अनिवार्य। किन्तु यह कोई आवश्यक नहीं है कि तर्क सम्मत निष्कर्ष तथ्य सम्मत भी हो। अतः तर्क और तथ्य किन्हीं स्थितियों में एक दूसरे के विरोधी हो सकते हैं। ह्यूम के लिये विचारों का आपसी सम्बन्ध और तथ्यों का आपसी सम्बन्ध दो अलग-अलग चीजें हैं। किन्तु ह्यूम ने गणित में तर्क के प्रयोग की कोई विशेष व्याख्या नहीं की है। इस दिशा में उसकी रुचि नहीं थी। उसका उद्देश्य केवल गणित की तार्किक प्रक्रिया को अन्य स्थानों में प्रयोग की जाने वाली तार्किक प्रक्रियाओं से अलग करना था, और यह बताना था कि अनिवार्य तार्किक (बौद्धिक) सत्य का वास्तव में क्या अर्थ है।

विचारों के सम्बन्ध जानना और तथ्यों के विषय को जानना दो अलग-अलग बातें हैं। ह्यूम ने बुद्धि के संश्लेषणात्मक स्वरूप की जो व्याख्या की है उसी से यह निष्कर्ष निकलता है कि तर्क और तथ्य में कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। तथ्यों के विषय में हम किसी निश्चयात्मक निष्कर्ष पर अपने अनुभव के माध्यम से या दूसरे तथ्यों से उन्हें वियोजित करके पहुंचते हैं। तथ्यों के विषय में जानने के लिये हम जो बौद्धिक प्रक्रिया अपनाते हैं वह कार्य और कारण सम्बन्ध पर आधारित होती है। कार्य और कारण के सम्बन्ध का ज्ञान हमें किसी अनुभवातीत बौद्धिक क्रिया से नहीं होता है, बल्कि यह ज्ञान हमें स्थान और काल में घटने वाली दो घटनाओं की परस्पर निकटता के बार-बार होने वाले अनुभव से होता है। ह्यूम ने बुद्धिवादियों की इस धारणा पर प्रहार किया कि कार्य और कारण में कोई अनिवार्य तार्किक सम्बन्ध होता है। उसने कहा कि इनके बीच ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है, और एक से दूसरे के बारे में जानना असम्भव है। दो तथ्यों या दो घटनाओं के बीच जो सम्बन्ध हमें दिखाई पड़ता है वह किसी अनिवार्यता या तार्किकता के कारण नहीं है, बल्कि इसलिए है कि ऐसा सम्बन्ध देखने की हमारी आदत पड़ गयी है। यह आदत घटनाओं के बीच सादृश्य या सान्निध्य होने से पड़ती है। ह्यूम कहता है कि हमारे मस्तिष्क में ऐसी कोई प्रतिछाया निर्मित नहीं होती जो कार्य कारण का विचार उत्पन्न करती हो। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि ह्यूम ने कार्य-कारण के सम्बन्ध कों अस्वीकार किया है, या केवल इस सम्बन्ध की तार्किकता को। यदि कार्य-कारण सम्बन्ध को दो दृष्टियों से देखा जाए– एक तार्किक और दूसरी मनोवैज्ञानिक, तो यह कहा जा सकता है कि ह्यूम ने कार्य-कारण के मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध को अस्वीकार नहीं किया है। कार्य-कारण सम्बन्ध का जो विच्छेद ह्यूम ने किया उसकी पुष्टि आधुनिक भौतिक शास्त्र की एक खोज द्वारा भी होती है। इस खोज का श्रेय भौतिकशास्त्री हाइज़बर्ग को प्राप्त है। उसी के नाम पर इसे हाइज़न वर्ग का 'अनिश्चितता सिद्धान्त' कहा जाता है।

बुद्धिवादियों ने, ह्यूम के अनुसार, तीसरी गलती यह की थी कि उन्होंने बौद्धिक-तार्किक प्रक्रिया से एक मूल्य विधान की रचना की थी। शुभ, न्याय और स्वतंत्रता आदि को उन्होंने बौद्धिक और शाश्वत मूल्य बताया था जो किसी भी मानवीय समाज के लिए अनिवार्य हैं, और जो श्रेष्ठ मानवीय आचरण के पैमाने निर्धारित करते हैं। लेकिन ह्यूम का कहना है कि इन मूल्यों का कोई बौद्धिक आधार नहीं है, और चूंकि बुद्धि पूर्ण सत्य का ज्ञान नहीं कराती अतः ये मूल्य निरपेक्ष एवं सनातन नहीं हैं। मनुष्य इन मूल्यों को स्वीकार करते हैं, और इस मूल्य विधान के अनुसार कार्य करते हैं इसलिए नहीं कि ये मूल्य बौद्धिक और शाश्वत हैं, बल्कि इसलिए कि इन मूल्यों की उनके जीवन में उपयोगिता है। एक अनुभववादी ह्यूम के लिये नैतिक मूल्यों एवं नैतिक निर्णयों का कोई बौद्धिक आधार नहीं हो सकता है। जिस प्रकार हम अनुभव के माध्यम से बाह्य प्रकृति का अध्ययन करते हैं उसी प्रकार हम इसी माध्यम से किसी मानवीय समूह में स्वीकार की जाने वाली नैतिक मान्यताओं और विश्वासों का अध्ययन कर सकते हैं। यहाँ बुद्धि की कोई भूमिका नहीं है। बुद्धि का काम तो सिर्फ इतना है कि वह हमारी वासनाओं की सेवा करे। हमारी विभिन्न वासनाओं की परस्पर यांत्रिक क्रियाएं हमारे सामाजिक-राजनीतिक आचरण का निर्धारण करती हैं। बुद्धि न तो इच्छा से उत्पन्न किसी कर्म के लिये प्रेरक हो सकती है, और न वासना को इच्छा की दिशा में जाने से रोक सकती है। बुद्धि केवल इतना बता सकती है कि किसी उपयोगी वस्तु या उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अथवा किसी हानिकारक परिणाम से बचने के लिए हमें किन साधनों का प्रयोग करना चाहिए। बस इसके बाद बुद्धि की भूमिका समाप्त हो जाती है। सामाजिक व राजनीतिक मूल्य जिनकी उपयोगिता है या जो मानव स्वभाव के अनुकूल हैं धीरे-धीरे एक परम्परा के रूप में स्थापित हो जाते हैं। यह परम्परा समय बीताने के साथ-साथ दृढ़ हो जाती है। वास्तव में, मूल्य परम्परागत हो जाते हैं, और मनुष्य उन्हें उनके सम्बन्ध में बिना कोई बौद्धिक खोज या विश्लेषण किए स्वीकार करते हैं। किसी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था में परम्पराओं और रीति-रिवाजों के महत्व को बताना ह्यूम के चिंतन का एक मुख्य उद्देश्य था।

ह्यूम की ज्ञान मीमांसा में ज्ञान का जो चित्र उभरता है वह, जैसा कि शीर्ले रोबिन लेटविन (Shirley Robin Letwin) ने कहा है, एक "बिन्दु चित्र" की भाँति है। अर्थात् मानवीय ज्ञान हमेशा अस्पष्ट और अपूर्ण होता है। यह जानना असंभव है कि ये बिन्दु चेतना के बिन्दु हैं या पदार्थ के। यह प्रश्न अर्थहीन है कि ये बिन्दु चित्र के दृश्य से सम्बन्धित है या चित्र के यथार्थ से। वास्तव में, ह्यूम नश्वर और अनश्वर का भेद नहीं करता है। उसकी 'आईडिया' (विचार) का सिद्धान्त प्लेटो का 'आईडिया' का सिद्धान्त नहीं है। प्लेटो के लिए 'आईडिया अनश्वर है, और जो चीजें हमें दिखाई पड़ती हैं वे या तो अपने 'आईडिया' में सम्मिलित हैं या उनकी अनुकृति हैं। 'आईडिया' के सिद्धान्त को अपनाने के कारण ही प्लेटो ज्ञान और मत का भेद कर सका था। यदि ह्यूम के संदर्भ में इस भेद का प्रयोग किया जाए तो यही कहा जाएगा कि ज्ञान केवल मत है। मनुष्य मत के परे या दृश्य जगत् के बाहर कुछ भी नहीं जान सकता है। दूसरे शब्दों में, ज्ञान केवल सापेक्षिक है।

14.4 प्राकृतिक विधान का विनाश

ह्यूम के जिस दार्शनिक दृष्टिकोण की चर्चा पिछले पृष्ठों में की गयी है उसी दृष्टिकोण से वह प्राकृतिक विधान को देखता है। वह अपने सामान्य दार्शनिक सिद्धान्त के आधार से इस विधान की धारणा पर कड़ा प्रहार करता है। ह्यूम से पहले फ्रांस में रूसो ने भी प्राकृतिक विधान की आलोचना की थी, किन्तु उसकी आलोचना सीमित थी। रूसो ने प्राकृतिक विधान की केवल इस मान्यता की आलोचना की थी कि व्यक्ति समाज में अपने अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए रहता है, और यह विधान मानवीय व्यवहार के लिए मानक का कार्य करता है। रूसो ने प्राकृतिक विधान की "नियोगार्थ वैधता" को अस्वीकार कर इस विधान के स्थान पर सामान्य संकल्प के सिद्धान्त को रखा था। इसके विपरीत, ह्यूम का उद्देश्य, इस विधान को समूल रूप

से नष्ट कर देने का था। उसने प्राकृतिक विधान की "वर्णनात्मक वैधता" को ही अस्वीकार कर दिया है, और इसके स्थान पर परम्पराओं और रीति-रिवाजों को रखा है। अतः ह्यूम और रूसो ने प्राकृतिक विधान पर भिन्न-भिन्न दिशाओं से प्रहार किया है।

वास्तव में, ह्यूम के समय के इंग्लैण्ड का राजनीतिक वातावरण भी उसके कार्य में सहायक सिद्ध हुआ था। इंग्लैण्ड में सन् 1688 की रक्तहीन क्रान्ति का औचित्य सिद्ध करने की अब कोई आवश्यकता नहीं थी, और लॉक की विचारधारा का प्रभाव लगभग समाप्त हो चुका था। प्राकृतिक विधान की परम्परा अनुपयोगी हो चुकी थी। इंग्लैण्ड में चर्च और सरकार दोनों ही राजनीतिक दृष्टि से मुख्य सामाजिक वर्ग के हितों को संरक्षित कर रहे थे। ऐसे में इस वर्ग को प्राकृतिक विधान की सुरक्षा प्राप्त करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसके अलावा, लॉक के बाद इंग्लैण्ड में दर्शन का विकास उन्हीं आनुभविक आधारों पर हो रहा था जो लॉक के चिन्तन में (विशेषकर उसके 'निबन्ध' में) दिखाई पड़ते हैं। इस अनुभववाद के साथ प्राकृतिक विधान के स्वयंसिद्ध नैतिक मूल्यों और मान्यताओं को समायोजित करना एक दुष्कर कार्य था। नई दार्शनिक धारा में ये चीजें पुरानी और बासी लग रही थीं। अतः प्राकृतिक विधान को नष्ट करने के लिए ह्यूम के समक्ष दार्शनिक और राजनीतिक दोनों परिस्थितियां अनुकूल थीं।

प्राकृतिक विधानशास्त्रियों ने इस वैधानिक व्यवस्था को पराबुद्धि के आधार पर स्थापित किया था। इसी कारण उनका दावा था कि प्राकृतिक विधान सर्वश्रेष्ठ है, और सभी सरकारें उसके अधीन हैं। ह्यूम के राजनीतिक चिन्तन का पहला प्रयास यह था कि वह इस पराबुद्धि के आधार को ही नष्ट कर दे जिससे कि इस विधान के दावे भी समाप्त हो जाएं। ह्यूम के अनुसार प्राकृतिक विधान बुद्धि की उसी दोषपूर्ण धारणा पर आधारित है जिसमें तीन अलग-अलग विषयों को मिश्रित कर दिया गया है। यदि इन तीनों विषयों को एक दूसरे से असम्बद्ध कर दिया जाए तो प्राकृतिक विधान की तथाकथित तार्किकता या बौद्धिकता समाप्त हो जाएगी! प्राकृतिक विधानशास्त्री बुद्धि का संश्लेषणात्मक रूप प्रयोग करते हैं, किन्तु यह रूप गणित के क्षेत्र में ही एक निश्चित सीमा तक सहायक होता है। वे तर्क और तथ्य को एक दूसरे से सम्बद्ध करने, या दूसरे को पहले से वियोजित करने की भूल करते हैं। वे बौद्धिक क्रिया से एक मूल्य विधान की रचना करते हैं, जो उनके अनुसार शाश्वत, बौद्धिक और अनिवार्य है। संक्षेप में, प्राकृतिक विधानशास्त्री तर्क, तथ्य और मूल्य का आपसी विरोध नहीं देख पाते हैं। वे तीनों में एक आन्तरिक सम्बन्ध मानने की गलती करते हैं। ह्यूम को यह पता नहीं था कि वह अपनी आलोचना से आने वाले समय में दर्शनशास्त्र में एक लम्बे विवाद का रास्ता खोल रहा था।

यद्यपि ह्यूम ने प्राकृतिक विधान की सभी शाखाओं पर प्रहार नहीं किया है, किन्तु उसने इस विधान की तीन प्रमुख शाखाओं को अपने तर्कों से नष्ट कर देने का भरपूर प्रयास किया है। उसने जिन तर्कों का प्रयोग किया है उनके दूरगामी परिणामों की जानकारी स्वतः उसे भी नहीं थी। इन्हें बाद में दूसरे दार्शनिकों ने विकसित किया। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में विकसित होने वाले वस्तुनिष्ठवादी दर्शनशास्त्र की जड़ें ह्यूम के चिन्तन में खोजी जा सकती है। प्राकृतिक विधान की जिन तीन प्रमुख शाखाओं पर ह्यूम ने प्रहार किया है वे हैं – बौद्धिक धर्मशास्त्र, बौद्धिक नीतिशास्त्र और राजनीति का प्रसंविदावादी सिद्धान्त। बौद्धिक धर्मशास्त्र यह मानता है कि एक सर्वश्रेष्ठ दैवी सत्ता है जिसका अस्तित्व हमारे विदित ज्ञान पर नहीं बल्कि हमारे बौद्धिक ज्ञान पर आधारित है। लेकिन ह्यूम के अनुसार बौद्धिक धर्म-शास्त्र की सम्पूर्ण धारणा केवल एक कल्पना है क्योंकि संश्लेषणात्मक पद्धति से तथ्यों के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं उपस्थित किया जा सकता है। यदि ईश्वर का अस्तित्व एक तथ्य है तो भी इसका कोई प्रमाण नहीं है। ईश्वर के अस्तित्व को तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता है। उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए बुद्धिवादियों ने एक तर्क जो 'व्यवस्था का तर्क' के नाम से जाना जाता है प्रस्तुत किया था। यह कहा गया था कि जगत में एक व्यवस्था है, और जिस प्रकार घड़ी को व्यवस्थित करने के लिये एक घड़ी साज की आवश्यकता है उसी प्रकार जगत में व्यवस्था स्थापित करने के लिए ईश्वर का अस्तित्व अनिवार्य है। इस तर्क के विरोध में ह्यूम कहता है

कि चूँकि ईश्वर हमारे अनुभव की परिधि के बाहर है अतः हम उसके अस्तित्व की प्रमाणिकता के बारे में कुछ नहीं कह सकते हैं। यहाँ पर घड़ी बनाने वाले और ईश्वर में जो समानान्तर उपस्थित किया गया है वह भ्रामक है क्योंकि घड़ी बनाने वाला हमारे अनुभव की सीमा में आता है, और ईश्वर इस सीमा से बाहर। ह्यूम ने कार्य और कारण का सम्बन्ध-विच्छेद कर जगत (कार्य) और ईश्वर (कारण) का भी सम्बन्ध समाप्त कर दिया है। हम किसी भी बौद्धिक क्रिया से यह नहीं बहा सकते कि इस जगत का कोई स्रष्टा है।

ह्यूम ने कभी ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया, और न ही प्रत्यक्ष तौर पर उसने विदित ज्ञान को कोई चुनौती दी। वह केवल अपना संशय प्रकट करता है। वह केवल यह कहना चाहता है कि हमारी धार्मिक मान्यताओं और हमारी बौद्धिक क्रियाओं में कोई सम्बन्ध नहीं है। चर्च बुद्धि के अनुकूल या प्रतिकूल हो सकता है किन्तु धर्म की उत्पत्ति बुद्धि से नहीं होती है। धर्म मनुष्य को कोई परा ज्ञान नहीं देता है। यह केवल उनकी व्यावहारिक आवश्यकताओं को पूरा करता है। अनदेखे भविष्य के प्रति हमारी आशंकाएं और हमारी आशाएं हमें एक ऐसी दैवी सत्ता में विश्वास करने के लिए प्रेरित करती हैं जो हमारा भाग्य निर्धारित करती है। धर्मिक सत्य वैज्ञानिक नहीं बल्कि मनोवैज्ञानिक होते हैं। इनका सम्बन्ध तर्क से नहीं संवेगों से होता है। धर्म का एक 'प्राकृतिक इतिहास' होता है, धर्म की तात्विकता से नहीं बल्कि धर्म की ऐतिहासिकता से यह पता लगता है कि धर्म वास्तव में क्या है। धार्मिक मूल्यों की व्याख्या, और इन मूल्यों में मनुष्य की आस्था की व्याख्या इतिहास में जन्म लेने वाली परम्पराओं और रीति-रिवाजों के आधार पर ही की जा सकती है। धर्म के तथाकथित रहस्य को अनावृत करने के लिए हमें आदिम मनुष्य की भावनाओं और वासनाओं पर ध्यान देना होगा। किसी बौद्धिक आधार पर इन्हें समझना अपने को भ्रम में डालना है। आर. फ्लैकेनबर्ग (R. Flackenberg) ने इस संदर्भ में लिखा है कि ह्यूम एक शल्य चिकित्सक की भाँति बिना किसी उत्तेजना के बहुत ही ठंडे मन से धर्म की शल्य क्रिया कर उस पर से रहस्य के पर्दे को उठा देता है।

ह्यम द्वारा की गयी बौद्धिक नीतिशास्त्र की आलोचना का कारण उसकी इस धारणा में निहित है कि मनुष्य अपना कर्म बुद्धि से नहीं संवेगों से प्रभावित होकर करता है। कर्म के प्रेरक के रूप में तो बुद्धि, "निष्क्रिय, गतिहीन और नपुंसक" है। यदि इसकी कोई भूमिका है भी तो केवल एक आज्ञाकारी दास की भूमिका है। वासनाएं या संवेग कर्म के प्रेरक हैं। हमारे मन में बुद्धि और वासना का कोई द्वन्द्व नहीं होता हालांकि बोलचाल की भाषा में हम ऐसा कहते अवश्य हैं। जो द्वन्द्व है वह उग्र वासना और शांत वासना का है। ह्यूम कहता है कि, "अन्तरात्मा और नैतिकता के सक्रिय सिद्धान्त की उत्पत्ति निष्क्रिय बुद्धि से नहीं हो सकती है।" मनुष्य का मस्तिष्क संवेगों का एक पुंज है। अतः कोई नीतिशास्त्र जो तर्क पर आधारित है वह मानव स्वभाव के अनुकूल नहीं है। नीतिशास्त्र नैतिकता के जो मानक या मूल्य मानवीय आचरण के संबंध में मनुष्यों के समक्ष प्रस्तुत करता है वे बुद्धि पर नहीं संवेगों पर आधारित हैं। ह्यूम ने एक स्थान पर बहुत स्पष्ट रूप से कहा है कि, "सभी नैतिकता हमारे संवेगों पर आश्रित है।" किन्तु संवेग शब्द का प्रयोग ह्यूम बहुत स्पष्टता के साथ नहीं करता है। वह इस शब्द में वासनाएँ, भावनाएं, पशुवत इच्छाएं और चेतन उद्देश्य सभी को सम्मिलित करता है। ह्यूम संवेगों को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष श्रेणी में बांटता तो है परन्तु इससे स्थिति स्पष्ट नहीं होती है। ह्यूम की नैतिकता सम्बन्धी धारणा की आगे चर्चा करने के पहले एक बात यह स्पष्ट हो जानी चाहिए कि ह्यूम मूल्यों को अस्वीकार नहीं करता बल्कि केवल मूल्यों की बौद्धिकता को अस्वीकार करता है। वह मूल्यों को विशुद्ध तर्क के आधार पर नहीं बल्कि अनुभवात्मक/ऐतिहासिक आधार पर स्थापित करता है। इस सम्बन्ध में फ्रेडरिक वाटकिन्स (Frederick Watkins) ने लिखा है कि, ह्यूम का "विशुद्ध बुद्धि पर संशयात्मक प्रहार नैतिक निर्णयों की आवश्यकता को अस्वीकार नहीं करता है, बल्कि केवल नैतिक निर्णयों को विशुद्ध तर्क के धरातल से हटाकर ठोस ऐतिहासिक अनुभव के धरातल पर स्थापित करता है।" तर्क के प्रति ह्यूम का संशय 'पायरोनीयन' (Pyrrhonion) नहीं बल्कि दार्शनिक था। ह्यूम ने बौद्धिक नीतिशास्त्र में तथ्य और मूल्य के दोषपूर्ण सम्बन्ध को

उजागर किया था, और इन्हें एक दूसरे से पृथक् किया था। किन्तु उसने मूल्यों की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया था। उसके चिन्तन में नैतिक आज्ञापालन का सिद्धान्त है क्योंकि वह मानता था कि नैतिक आज्ञापालन को स्वीकार किए बिना कोई सामाजिक गठन सम्भव नहीं है।

पाल एस. अरडल (Pall S. Ardal) ने कहा है कि ह्यूम ने प्रकृति की बौद्धिक-ईश्वरीय धारणा–जो अपनी व्यवस्था में नैतिक मूल्यों को समाविष्ट करती है–के स्थान पर प्रकृति का वह प्रत्यय उत्पन्न किया जो नैतिक दृष्टि से "उदासीन" है। अतः ह्यूम के सामने एक मूल्य-निरपेक्ष संसार में मूल्यों की स्थिति बताने और उनकी व्याख्या करने की समस्या थी। यह बताने के बाद कि सभी मूल्य हमारे संवेगों पर आश्रित हैं, ह्यूम कहता है कि हमारे सभी कर्मों के अंतिम उत्प्रेरक सुख और दुःख हैं। वह आगे यह भी कहता है कि जिन कर्मों से हमें किसी प्रकार का सुख मिलता है वे शुभ या नैतिक हैं और जिनसे दुःख मिलता है वे अशुभ या अनैतिक हैं। आशा, भय, इच्छा, अनिच्छा आदि प्रत्यक्ष संवेगों या वासनाओं से कुछ विशेष परिस्थितियों में अभिमान, विनम्रता, प्रेम, घृणा, आदि अप्रत्यक्ष संवेग उत्पन्न होते हैं। किन्तु सभी प्रकार के संवेग चाहे वे प्रत्यक्ष हों या अप्रत्यक्ष सुख और दुःख की भावना पर आधारित होते हैं। यहाँ तक तो ह्यूम का नीतिशास्त्र एक सुखवादी नीतिशास्त्र है। किन्तु इसके साथ ही वह यह भी मानता है कि हमारे सभी कार्य सुख प्राप्त करने और दुःख से बचने के उद्देश्य से नहीं प्रेरित होते हैं। कुछ ऐसे कार्य भी हैं जो आदिम प्राकृतिक भावना से उत्पन्न होते हैं, और जिनके कारणों का आकलन नहीं किया जा सकता। ये सुख और दुःख उत्पन्न तो करते हैं किन्तु ये सुख और दुःख से उत्पन्न नहीं होते।

इसी कारण ह्यूम के नीतिशास्त्र को सुखवादी नीतिशास्त्र कहना और उसके राजनीतिक चिन्तन को उपयोगितावाद की श्रेणी में रखना बहुत सही नहीं है। वह एक बेंथमवादी नहीं था। उसके लिए मनुष्य सुख और दुःख 'दो सम्प्रभुस्वामियों' के अधीन नहीं है। वास्तव में, ह्यूम ने प्राकृतिक विधान में अन्तर्निहित सुखवादी और उपयोगितावादी धारणाओं का खण्डन किया है। वह अनुभव के आधार पर इन धारणाओं की आलोचना करता है। वह कहता है कि इन धारणाओं ने मनुष्य के स्वभाव को असत्यता की सीमा तक सरलीकृत कर दिया है। मनुष्य का स्वभाव इतना सरल नहीं होता कि उसके सभी कार्यों की व्याख्या केवल इन दो संवेगों के आधार पर की जा सके। मनुष्य में बहुत सी आदिम प्रवृत्तियाँ भी होती हैं जिनका सम्बन्ध सुख और दुख से नहीं होता है, और न ही मनुष्य का स्वभाव इतना गणितीय होता है कि वह हमेशा अपने लाभ और हानि को जोड़ घटा सके।

उपयोगिता का मानदण्ड सूखे की वांछनीयता और अवांछनीयता में भेद करता है, और उपायोगितावादी राजनीति शास्त्री जब एक सुख और दूसरे सुख या एक दुःख और दूसरे दुःख में भेद करते हैं तो यह भेद वे कर्म के परिणाम के आधार पर करते हैं। ह्यूम के लिये परिणाम नहीं कारण महत्वपूर्ण है। वह कारण जिसने उस कर्म को जन्म दिया है। ह्यूम ने एक स्थान पर यह स्पष्ट रूप से कहा है कि सभी श्रेष्ठ कर्मों की श्रेष्ठता इस बात पर आधारित है कि वे एक श्रेष्ठ कारण या उद्देश्य से किए जाते हैं। उपर्युक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए भी यदि ह्यूम को हम एक उपयोगितावादी मानते हैं तो यह मानना पड़ेगा कि उसका उपयोगितावाद, जैसा कि हायक (Hayek) ने कहा है, "सीमित" है न कि "असीमित" [उपयोगितावाद का यह भेद जे. जे. सी. स्मार्ट (J.J.C. Smart) ने किया है] वान् (Vaughan) ने भी इस संदर्भ में लिखा है कि ह्यूम का उपयोगितावाद "एक अतिविशिष्ट" प्रकार का उपयोगितावाद है। सेबाइन (Sabine) ने स्थिति को और स्पष्ट करते हुए इस सम्बन्ध में यह मत दिया है कि, "ह्यूम का उपयोगितावाद न स्व के किसी विशिष्ट मूल्य और न मानवीय बुद्धि के किसी अतिरंजित सिद्धान्त को स्वीकार करता है। इस दृष्टि से उसका उपयोगितावाद बेन्थम से नहीं बल्कि जे. एस. मिल से अधिक मिलता-जुलता है...." वास्तव में, बेन्थम का उपयोगितावाद बुद्धि के 'अवव्याख्यावादी' सिद्धान्त पर आधारित है। ह्यूम बुद्धिवाद की आलोचना करते हुए बुद्धि के 'अवव्याख्यावादी' सिद्धान्त और 'अन्तःप्रज्ञावादी'

दृष्टिकोण दोनों पर प्रहार करता है।

प्राकृतिक विधान की तीसरी प्रमुख शाखा - राज्य का प्रसंविदावादी सिद्धान्त - की ह्यूम ने बहुत कड़ी आलोचना की है। वह इस सिद्धान्त की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं उठाता है बल्कि इसे परिकल्पित इतिहास पर आधारित मानकर इस सिद्धान्त को वह कमजोर करने का प्रयास करता है। राजनीति का प्रसंविदावादी सिद्धान्त, चाहे वह ईश्वरीय हो या मानवीय, एक दोषपूर्ण और भ्रामक सिद्धान्त है। ह्यूम यद्यपि सरकार की उत्पत्ति के सिद्धान्त में विशेष रुचि नहीं रखता था किन्तु फिर भी वह, अपने समय के अन्य लोगों की भाँति, सरकार की उत्पत्ति का प्रश्न उठा ही देता है। वह कहता है कि अगर मनुष्य कभी प्राकृतिक अवस्था में बिना सरकार गठित किये हुए रहते भी थे तो इस अवस्था से निकलकर नागरिक अवस्था में आने के लिए उन्होंने कोई प्रसंविदा नहीं किया था। प्रसंविदा की वैधानिक औपचारिकताएं होती हैं, और ऐसा नहीं माना जा सकता कि उन औपचारिकताओं को प्राकृतिक अवस्था के मनुष्य ने पूरा किया था। प्रसंविदा सिद्धान्त यह मानता है कि राजनीतिक आज्ञापालन का आधार शासितों की स्वतंत्र सहमति है। ह्यूम के लिए ऐसा मानने के पीछे न तो कोई ऐतिहासिक प्रमाण है और न कोई तार्किक आधार। उसकी दृष्टि में यह सिद्धान्त वर्तमान राजनीतिक विवादों एवं समस्याओं को हल करने का एक झूठा सिद्धान्त है जो किसी विगत ऐतिहासिक अवस्था में प्रक्षेपित कर दिया गया है। ह्यूम ने लिखा है कि, "प्रसंविदा का सिद्धान्त राजनीतिक दलों द्वारा अपने कार्यक्रम और योजनाओं को सुरक्षित रखने और उन्हें आवरण देने के लिए निर्मित किया गया है।" राजनीतिक विवादों और संघर्षों में यह एक लोकप्रिय अस्त्र के रूप में प्रयोग किया जाता है। प्रसंविदा सिद्धान्त का बौद्धिक आधार इसलिए दोषपूर्ण है कि यह प्रसंविदा के प्रत्यय में ऐसे बहुत से प्रत्ययों – जैसे, सहमति, वचनबद्धता आदि को सम्मिलित कर लेता है जिनका आपस में कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं है।

ह्यूम के अनुसार यदि प्राकृतिक अवस्था कभी रही भी होगी तो वह बहुत अल्प अवधि के लिए रही होगी। मनुष्य के सामने यह विकल्प नहीं है कि वह चाहे तो प्राकृतिक अवस्था में रहे या चाहे समाज में। अपनी आवश्यकताओं और अपनी कमजोरियों के नाते मनुष्य का समाज में रहना अनिवार्य है, और लाभप्रद भी। इस अनिवार्यता का बोध मनुष्य को चिन्तन व अध्ययन के फलस्वरूप नहीं होता है बल्कि एक अति प्रबल संवेग से होता है। वह संवेग जो मनुष्य को परिवार बसाने के लिये प्रेरित करता है। परिवार ही सबसे पहला समाज है। मनुष्य का पारिवारिक जीवन उसे वृहत् समाज में रहने के लिए, उस समाज की व्यवस्था और नियमों का पालन करने के लिए तैयार करता है। समाज में रहना लाभप्रद है यह बात मनुष्य की समझ में तब आती है जब वह यह महसूस करता है कि उसकी आवश्यकताएं बड़ी हैं और उसके संसाधन सीमित हैं। अतः एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य की सहायता की आवश्यकता है। इसी प्रकार मनुष्य एक दूसरे के साथ मिलकर अपनी कमजोरियों को दूर करने के उद्देश्य से समाज का गठन करते हैं। वे सामाजिक संस्थाएं बनाते हैं और सामाजिक शांति स्थापित करने का प्रयास करते हैं।

प्रसंविदावादियों ने प्रसंविदा को व्याख्या के एक उपकरण के रूप में प्रयोग किया था। सम्भवतः उन्होंने यह तो नहीं सोचा था कि कोई सरकार प्रसंविदा के माध्यम से स्थापित होती है या कोई सरकार अपनी शक्ति का प्रयोग करने के पहले सबकी सहमति लेती है। वे राजनीतिक आज्ञापालन का औचित्य सिद्ध करने के लिए उसका वियोजन प्रसंविदा को कायम रखने की शर्त से करते हैं। ह्यूम मानता है कि राजनीतिक आज्ञापालन का औचित्य बिना प्रसंविदा का माध्यम लिए हुए बेहतर तरीके से सिद्ध किया जा सकता है। वह यह प्रश्न उठाता है कि प्रसंविदा को कायम रखना क्यों एक बाध्यता है? आनुभविक दृष्टि से दोनों अलग-अलग चीजें हैं। इसलिए एक को दूसरे से वियोजित नहीं किया जा सकता है। दोनों के उद्देश्य भी अलग-अलग हैं। राजनीतिक आज्ञापालन से सुरक्षा शांति और व्यवस्था प्राप्त होती है; प्रसंविदा को कायम रखने से व्यक्तियों के बीच परस्पर विश्वास की भावना सुदृढ़ होती है। अतः ह्यूम कहता है कि राजनीतिक आज्ञापालन का कर्तव्य और प्रसंविदा को कायम रखने का कर्तव्य दो अलग-अलग

प्रकार के कर्तव्य हैं, और दोनों को एक दूसरे के साथ संयुक्त कर प्रसंविदावादियों ने एक उलझन भरी स्थिति उत्पन्न कर दी है।

ह्यूम यह मानता है कि राजनीतिक समाज का गठन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि समाज के उद्देश्य मनुष्य की वासनाओं की स्वाभाविक क्रियाशीलता से पूरे हो सकें। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए मनुष्य के स्वभाव, उसकी आदतें और उसके आचरण को संशोधित करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिए। इससे तो विफलता ही हाथ लगेगी। ह्यूम ने लिखा है कि, "सरकार की वे सभी योजनाएं जो मनुष्य के व्यवहार में संशोधन का प्रयास करती हैं सिर्फ काल्पनिक हैं।" प्रसंविदावादी विचारधारा के विरुद्ध ह्यूम का यह एक और आरोप है कि यह विचारधारा ऐसा ही संशोधन चाहती है। यह विचारधारा बुद्धि की अतिरंजित भूमिका को स्वीकार करती है, और बिना सोचे समझे इसमें यह मान लिया गया है कि व्यक्तियों को एक बार यदि अपने वास्तविक हितों का पता चल जाए तो फिर वे हमेशा एक निर्धारित मार्ग का अनुसरण करते रहेंगे। किन्तु चूँकि ऐसा नहीं होता है इसलिये प्रसंविदा के अलावा दूसरे आधारों को भी समाज की उत्पत्ति के आधार के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। प्रसंविदा सिद्धान्त मनुष्य की वासनाओं के अनुकूल तो प्रतीत होता है किन्तु यह ऐसे निष्कर्ष निकालता है जो अनुभव और भावना के धरातल पर खरे नहीं उतरते हैं। उदाहरण के लिए यह सिद्धान्त (विशेषकर लॉक के संदर्भ में) उस राजशाही को वैध नहीं मानता जहाँ राजा की शक्तियाँ निरपेक्ष और सम्पूर्ण होती हैं। किन्तु इतिहास यह बताता है कि ऐसी सरकारें भी उतनी ही स्वाभाविक और वैध मानी गयी थीं जितनी कि कोई भी दूसरी सरकार। ह्यूम, बर्क की भांति, एक बार यह स्वीकार भी कर लेता है कि हो सकता है व्यक्तियों ने कभी प्रसंविदा किया हो और उस प्रसंविदा से राज्य का निर्माण हुआ हो लेकिन वह उस प्रसंविदा की शर्तों को वर्तमान समाज पर लागू किए जाने का विरोध करता है। अर्थात्, वह यह नहीं मानता है कि प्रसंविदा राजनीतिक समस्याओं की व्याख्या करने का या उनका हल निकालने का कोई उपकरण हो सकता है।

14.5 प्रकृति के तीन प्रमुख विधान

प्रकृति और मनुष्य का सम्बन्ध, ह्यूम के लिये, सौहार्द्रपूर्ण नहीं है। प्रकृति मनुष्य के साथ बर्बरता का व्यवहार करती है। उसने मनुष्य की आवश्यकताओं को बढ़ा दिया है। किन्तु उसने इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य को जो साधन प्रदान किए हैं वे कम और कमजोर हैं। मनुष्य अपनी अक्षमता को समाज में दूर करता है। यद्यपि समाज में मनुष्य की आवश्यकताएं निरंतर बढ़ती रहती हैं किन्तु फिर भी समाज में रहते हुए मनुष्य संतुष्ट और सुखी रहता है। समाज में व्यक्तिगत श्रम एक दूसरे से जुड़ते हैं और सामूहिक होकर अधिक लाभकारी हो जाते हैं। व्यक्तिगत क्षमता में विकास होता है, और व्यक्ति को सुरक्षा प्राप्त होती है। अतः समाज का जन्म मनुष्य की प्राकृतिक अक्षमता के कारण होता है किन्तु ह्यूम यह नहीं मानता कि एक बारगी, समाज का जन्म हो जाता है। मनुष्य प्राकृतिक अवस्था से नागरिक अवस्था में किसी सामाजिक समझौते के माध्यम से अचानक प्रवेश नहीं करता है। प्राकृतिक अवस्था एक कपोलकल्पित अवस्था है। यह एक राजनीतिक कविता है।

यद्यपि ह्यूम ने प्राकृतिक विधान की धारणा को नष्ट किया है, लेकिन फिर भी उसने स्वीकार किया है कि मानव समाज के संगठन की अनिवार्यता ही तीन मुख्य प्राकृतिक विधानों (अधिकारों) को जन्म देती है। ये विधान हैं – (i) सम्पत्ति का स्थायित्व, (ii) सहमति से सम्पत्ति का हस्तांतरण, और (iii) वचन का पालन। ह्यूम का यह मानना है कि सम्पत्ति सम्बन्धी विवाद सामाजिक अव्यवस्था का प्रमुख कारण होता है। जब मनुष्य इस बात को समझते हैं कि अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा और उपभोग दूसरों की सम्पत्ति का आदर करके ही किया जा सकता है तब वे एक परम्परा का निर्माण करते हैं, जो सामान्य हितों की सुरक्षा करती है। इस परम्परा के स्थापित होने के बाद न्याय और अन्याय, अधिकार, कर्तव्य और वचन के प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

ये सभी प्रत्यय कृत्रिम हैं या मनुष्य के द्वारा निर्मित हैं। इन सबका स्रोत सम्पत्ति है। सम्पत्ति की धारणा से ये प्रत्यय वियोजित किए गए हैं। ह्यूम ने एक स्थान पर कहा है कि सम्पत्ति और न्याय एक दूसरे से अनिवार्य रूप से सम्बद्ध हैं, क्योंकि दोनों की उत्पत्ति की व्याख्या एक ही आधार से की जा सकती है।

ह्यूम ने आत्मोन्मुख सदगुण और परोन्मुख सद्‌गुण का भेद किया है (यह भेद उसके विशिष्ट प्रकार के उपयोगितावाद की संगति में है)। मुख्य रूप से आत्मोन्मुख सद्‌गुण व्यक्ति से सम्बन्धित होते हैं और उनके स्वार्थों की पूर्ति या रक्षा करते हैं। किन्तु आपसी परिवर्तन का जो गुण इनमें होता है उस कारण ये परोक्ष रूप से समाज के हितों की भी सुरक्षा करते हैं। परोन्मुख या सामाजिक सद्‌गुण लोक कल्याण से सम्बन्धित होते हैं। इनकी लोक उपयोगिता होती है। सामाजिक सद्‌गुण को ह्यूम पुनः दो भागों में विभाजित करता है – 'कृत्रिम' और 'प्राकृतिक'। न्याय, वचनबद्धता, दूसरों की सम्पत्ति का आदर--ये सब कृत्रिम सामाजिक सद्‌गुण हैं। दूसरी ओर, दयालुता, दान, उदारता आदि प्राकृतिक सामाजिक सद्‌गुण हैं।

न्याय पहले बताये गये तीनों प्राकृतिक विधानों की सुरक्षा करता है। न्याय से यहाँ तात्पर्य किसी बौद्धिक या पराबौद्धिक सत्य से नहीं है। यह किसी शाश्वत मूल्य को अभिव्यक्त नहीं करता है। न्याय, या सम्पत्ति के नियमों का आदर और परस्पर विश्वास का भाव, या वचन का पालन, ह्यूम के लिये कृत्रिम सद्‌गुण हैं। इन्हीं कृत्रिम सद्‌गुणों पर समाज का स्थायित्व मुख्य रूप से निर्भर करता है। कृत्रिम सद्‌गुण प्राकृतिक सद्‌गुण से भिन्न इसलिए नहीं है कि प्राकृतिक सद्‌गुण किसी पारम्परिक प्राकृतिक विधान के अनुकूल हैं। दोनों सद्‌गुण इसलिए सद्‌गुण हैं कि इन्हें सामान्य स्वीकारोक्ति प्राप्त है। ह्यूम ने एक स्थान पर लिखा है कि, "प्राकृतिक सद्‌गुण और न्याय में अन्तर यह है कि जो शुभ पहले प्रकार के सद्‌गुणों से उत्पन्न होता है वह उससे जुड़े हुये प्रत्येक कर्म से उत्पन्न होता है और वह किसी प्राकृतिक सद्‌गुण का विषय होता है। लेकिन न्याय से जुड़ा हुआ कोई अकेला कर्म, यदि केवल अपने आप में देखा जाए तो, कभी-कभी शुभ के विरुद्ध भी हो सकता है।" दोनों सद्‌गुणों में ह्यूम द्वारा किए गए इस भेद को स्पष्ट करना आवश्यक है।

प्राकृतिक सद्‌गुण को विस्तार से समझने के लिए किसी उदाहरण का माध्यम लिया जा सकता है। जैसे कठिनाई में पड़े किसी व्यक्ति की सहायता करना एक प्राकृतिक सद्‌गुण है। जब हम किसी व्यक्ति को किसी दुःख से ग्रस्त देखते हैं तो हमें कष्ट होता है। यदि दूसरी वासनाएं हमें विकर्षित नहीं कर रही हैं तो उसके दुःख के साथ हमको सहानुभूति होती है। यह जो सहानुभूति का भाव हमारे अन्दर उत्पन्न होता है यह प्राकृतिक सद्‌गुण है। यही भाव हमें दूसरों की मदद करने के लिए प्रेरित करता है। हम दूसरों की सहायता अपना कर्तव्य समझकर नहीं करते बल्कि इसलिए करते हैं कि सहानुभूति का प्राकृतिक संवेग हमारे अंदर उत्पन्न होता है। दूसरों की मदद करने से या यह देख कर कि कोई व्यक्ति किसी मुसीबत में पड़े आदमी की मदद कर रहा है हमें सुख की प्राप्ति होती है। यही सुख का अनुभव ह्यूम के लिए उस कर्म की स्वीकृति है, और वह कर्म जिस सद्‌गुण से प्रेरित होकर किया जा रहा है उसकी भी स्वीकृति है। इसके विपरीत जो स्थिति होगी, अर्थात् जब हम किसी कर्म को और उस कर्म को उत्पन्न करने वाले कारण को अस्वीकार करते हैं, वह प्राकृतिक सद्‌गुण की श्रेणी में नहीं आयेगी। किसी चीज की स्वीकारोक्ति या किसी चीज की भर्त्सना आत्मकेन्द्रित कारणों से नहीं होती है। यह सहानुभूति के कारण होती है।

कृत्रिम सद्‌गुणों की कृत्रिमता इस बात में निहित है कि इन्हें आचरण में लाने के लिए दूसरे उत्प्रेरक हमें प्रेरित करते हैं, और साथ ही दूसरे अनुभवों के नाते हम यह चाहते हैं कि ये सद्‌गुण लोगों द्वारा अपने आचरण में लाए जाएं। आत्म-प्रेम तब हमें कृत्रिम सद्‌गुणों का पालन करने के लिए प्रेरित करता है। यह आत्म-प्रेम और सुदृढ़ होता है जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि दूसरे के प्रति हमारे आचरण और दूसरों के हमारे प्रति आचरण के दूरगामी परिणाम क्या होंगे। यह आत्म-प्रेम दूसरों से हमारे अपेक्षाकृत स्थायी सम्बन्धों से सुदृढ़ होता है। दूसरे

शब्दों में, हमारे सामाजिक अनुभवों से। ह्यूम ने कृत्रिम सद्‌गुणों की जो चर्चा की है उससे यह निष्कर्ष तो निकलता ही है कि मनुष्य मुख्य रूप से आत्म-केन्द्रित या स्वार्थी प्राणी है। (हाँ, वह हॉब्स के मनुष्य जैसा स्वार्थी नहीं है) लेकिन यह निष्कर्ष महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण यह है कि कृत्रिम सद्‌गुणों का उद्‌गम स्थान आत्म-प्रेम है, और जागरूक आत्म-प्रेम इन कृत्रिम सद्‌गुणों की व्यवस्था को कायम रखता है।

एक लम्बे सामाजिक अनुभव की प्रक्रिया से गुजर कर हम कृत्रिम सद्‌गुण का पालन करना सीखते हैं। किन्तु यह कोई आवश्यक नहीं है कि सभी इस अनुभव की प्रक्रिया से गुजरें। हम इसका पालन करना परिवार में अपने माता-पिता से या समाज में अपने अध्यापक से भी सीख सकते हैं। लेकिन फिर भी प्रत्यक्ष या परोक्ष सामाजिक अनुभव ही व्यक्तियों को इनका पालन करना सिखाता है। ये कृत्रिम सद्‌गुण भी सद्‌गुण इसलिए हैं कि इन्हें समाज की स्वीकारोक्ति प्राप्त है। आत्म-प्रेम से स्वीकारोक्ति नहीं उत्पन्न होती है। यह केवल सहानुभूति से उत्पन्न होती है। आत्म-प्रेम के कारण हम कृत्रिम सद्‌गुण को चाहते हैं लेकिन सहानुभूति के कारण हम इसका आदर करते हैं। यह लोकहित के लिए होता है। न्याय, जो एक कृत्रिम सामाजिक सद्‌गुण है, का पालन करते हुए जब हम किसी को देखते हैं तो हम उसकी प्रशंसा करते हैं क्योंकि लोकहित के साथ हमारी सहानुभूति है। सहानुभूति का यह नैतिक संवेग आत्म-प्रेम से उत्पन्न नहीं होता है। अतः जिस प्रकार प्राकृतिक सद्‌गुणों की स्वीकारोक्ति सहानुभूति पर आधारित है उसी प्रकार कृत्रिम सद्‌गुणों की भी।

संसाधनों की कमी और "सीमित दयालुता" की परिस्थिति हमें न्याय को एक अनिवार्य सद्‌गुण के रूप में स्वीकार करने के लिए बाध्य करती है। ये ही परिस्थितियाँ पूरे संसार में व्याप्त हैं, और ये ही परिस्थितियाँ पूरे संसार में हमेशा व्याप्त रहेंगी। अतः न्याय (या सम्पत्ति के नियमों) का पालन करने की बाध्यता भी हमेशा बनी रहेगी। न्याय की भावना मनुष्य की जन्मजात प्राकृतिक भावना नहीं है। मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपलब्ध अल्प संसाधन मनुष्य के जीवन में जो विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं उसी से न्याय की कृत्रिम भावना का जन्म होता है। यह भावना मूलरूप से आत्मकेन्द्रित हैं। ह्यूम कहता है कि, "यद्यपि न्याय की स्थापना का मौलिक उद्‌देश्य व्यक्तिगत स्वार्थ है, किन्तु लोकहित के प्रति सहानुभूति इसे नैतिक दृष्टि से पुष्ट करती है।" अपने आप में एक नैतिक संकल्पना न होते हुए भी यह एक नैतिक उद्‌देश्य को पूरा करता है। ह्यूम ने यह भी लिखा है कि न्याय "शब्द हैं जो धीरे-धीरे मानवीय परम्पराओं द्वारा बिना किसी वचन के स्थापित किये गये हैं।" ये शब्द तो हैं लेकिन ये निश्चित अर्थ रखने वाले शब्द हैं। ह्यूम के लिये न्याय शब्द का निश्चित अर्थ है सम्पत्ति के नियमों का पालन। न्याय कृत्रिम भी है लेकिन इसकी कृत्रिमता इसे स्वेच्छाचारी नहीं बनाती है। यदि प्रकृति से हम यह अर्थ लगाते हैं कि वह जो सभी उपजातियों में सामान्य है तब ह्यूम न्याय को स्थायी प्राकृतिक विधान मानने तक के लिए तैयार है।

न्याय की अवहेलना न करना सर्वप्रथम एक प्राकृतिक बंधन है किन्तु यह प्राकृतिक बंधन बाद में एक आदत में परिवर्तित हो जाता है। न्याय के नियमों को स्वीकार करना मनुष्य की एक आदत हो जाती है। यह आदत समय के साथ मजबूत होती चली जाती है। धीरे-धीरे यह विचार बन जाता है कि न्याय शुभ और अन्याय अशुभ है। इस विचार की शिक्षा व्यक्तिगत रूप से परिवार में माता-पिता से मिलती है, और सामाजिक रूप से राज्य में अध्यापकों और राजनीतिज्ञों से प्राप्त होती है। न्याय करने वाले व्यक्ति की सराहना होती है और उसे यश मिलता है। अन्याय करने वाले व्यक्ति की भर्त्सना होती है और उसे अपयश मिलता है। ये सब भी कारण हैं जो लोकमानस में न्याय की भावना को मजबूत करते हैं। समाज में न्याय के सर्वोपरि स्थान की चर्चा करते हुए ह्यूम ने लिखा है कि, "यद्यपि व्यक्तियों के लिए यह सम्भव है कि वे बिना सरकार के किसी लघु अपरिष्कृत समाज की रचना कर सकें, किन्तु न्याय के बिना किसी समाज को कायम रखना असम्भव है।" अर्थात् तीन मुख्य प्राकृतिक विधानों – सम्पत्ति का स्थायित्व, उसका हस्तांतरण और वचनबद्धता– के पालन के बिना कोई मानवीय समाज गठित नहीं किया जा

सकता है। पुनः ह्यूम के शब्दों में "ये विधान सरकार के पूर्वगामी हैं। यद्यपि सरकार की प्रथम स्थापना में यह प्रतीत होता है कि सरकार अपनी वैधता को इन तीन प्राकृतिक विधानों, विशेष रूप से वचनबद्धता के विधान से प्राप्त करती है।"

ह्यूम अपने उपर्युक्त कथन में तीन मुख्य प्राकृतिक विधानों में से अंतिम को अधिक महत्व देता है। किन्तु यह विधान भी प्रथम दो विधानों से अलग नहीं है। वास्तव में, यह पहले दो विधानों को पूरित करता है। अतः ह्यूम ने प्राकृतिक विधानों को सम्पत्ति की धारणा में स्थापित किया है। इस प्रकार वह प्राकृतिक विधानों की सीमा को संकुचित कर देता है। उसका प्राकृतिक विधान केवल सम्पत्तिवानों के लिये है, न कि उनके लिए जिनके पास सम्पत्ति नहीं है। वह प्राकृतिक विधान की सर्वव्यापकता को समाप्त कर उसे एक वर्ग का विशेषाधिकार बना देता है। ह्यूम ने एक स्थान पर 'उत्तेजित' और 'सौम्य' संवेगों का भेद किया है। (यह भेद कुछ उसी प्रकार का है जैसा कि पहले बुद्धि और संवेग में किया गया था)। उसके अनुसार सम्पत्तिवान सौम्य संवेगों का प्रतिनिधित्व करते हैं, अतः वे समाज में नैतिक मूल्यों को स्थापित करने में सक्षम हैं। स्पष्ट है कि राजनीति के प्रति ह्यूम एक कुलीन दृष्टिकोण रखता है।

14.6 आज्ञापालन और वैधता

पहले यह बताया जा चुका है कि ह्यूम प्राकृतिक विधान की इस धारणा की आलोचना करता है कि राजनीतिक आज्ञापालन का कारण मनुष्यों द्वारा किए गए प्रसंविदा में निहित है। उसके अनुसार आज्ञापालन और प्रसंविदा (या वचन) दो अलग-अलग चीजें हैं, और एक को दूसरे से वियोजित नहीं किया जा सकता है। और यदि यह मान भी लिया जाए कि आज्ञापालन प्रसंविदा से उत्पन्न होता है तो भी आज्ञापालन की अनिवार्यता की व्याख्या नहीं की जा सकती है। व्यक्ति अपनी सरकार के आदेशों का पालन इसलिए नहीं करते हैं कि उन्होंने या उनके पूर्वजों ने ऐसी कोई सहमति दी है, बल्कि इसलिए करते हैं कि एक सरकार का होना उनके लिए हितकर है, और एक सरकार तभी हो सकती है जब उसकी आज्ञाओं का पालन किया जाए। अतः सरकार की स्थापना का प्रथम कारण निजी स्वार्थों की पूर्ति है, यों कहें कि, मनुष्य की आत्मकेन्द्रीयता से सरकार का जन्म होता है। सरकार के जन्म के पश्चात् उसकी आज्ञाओं का पालन भी निजी स्वार्थ को पूरा करने के लिए होता है। जिस प्रकार वचनबद्धता एक कृत्रिम सद्‌गुण है उसी प्रकार आज्ञापालन भी एक कृत्रिम सद्‌गुण है, और दोनों का मूल आत्महित में है। अब यदि वचनबद्धता के कर्तव्य और आज्ञापालन के कर्तव्य दोनों की व्याख्या एक ही तरह से की जा सकती है तो दूसरे को पहले से वियोजित करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

वचनबद्धता के खोखलेपन को उजागर करते हुए ह्यूम कहता है कि किसी वचन का तब तक कोई अर्थ नहीं होता जब तक मानवीय परम्पराएं इसे स्थापित नहीं करती, और यदि परम्परा के अभाव में इसका कोई अर्थ होता भी है तो उसमें नैतिक अनिवार्यता उत्पन करने का कोई कारण नहीं होता है। मस्तिष्क की क्रिया से वचन का प्रत्यय उत्पन्न होता है, किन्तु इस प्रत्यय में उसके पालन की बात निहित नहीं होती है। वचनबद्धता की भावना इच्छा से भी उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि वचन का पालन भविष्य से सम्बन्धित है, और इच्छा केवल वर्तमान की परिधि में ही कार्य करती है मनुष्य अपने वचन का पालन मुख्य रूप से इसलिए करते हैं कि ऐसा करने से उनके स्वार्थों की सुरक्षा होती है। अतः वचन के पालन के पीछे जो कारण है वह है व्यक्तिगत हित।

आत्महित का कारण मौलिक होने का यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति हमेशा पहले अपने स्वार्थों का आकलन करके ही सरकार की आज्ञाओं का पालन करते हैं। यह कारण मौलिक होते हुए भी बाद में धूमिल पड़ जाता है। ह्यूम कहता है कि हमारा जन्म और हमारा पालन-पोषण ऐसे वातावरण में होता है कि हम आदेशों का पालन स्वतः करने लगते हैं। हमारे अन्दर एक स्वाभाविक वितृष्णा उत्पन्न होती है जब हम यह देखते हैं कि सद्‌गुणों का उल्लंघन किया जा

रहा है या किसी स्थापित व्यवस्था को भंग किया जा रहा है। अतः निजी स्वार्थ नहीं बल्कि शांति, सुरक्षा और व्यवस्था के प्रति हमारा लगाव राजनीतिक आज्ञापालन का कारण होता है। राजनीतिक आज्ञापालन इस दृष्टि से एक नैतिक कर्त्तव्य हो जाता है। कोई राजा या कोई सरकार शासितों से आज्ञापालन की अपील इस आधार पर नहीं करती है कि आज्ञापालन करना उनके लिये हितकर है। सरकार अपने अधिकार के रूप में इसकी मांग करती है, और जनता से उन्हें उनके कर्तव्य के रूप में करने की अपेक्षा करती है।

व्यक्तिगत हितों (मुख्य रूप से सम्पत्ति) की सुरक्षा राजनीतिक आज्ञापालन का प्रथम और मूल कारण मानने के पश्चात् ह्यूम इस कारण को पृष्ठभूमि में धकेल देता है। इस कारण को फिर से सामने लाने की आवश्यकता अब उसी एक परिस्थिति में पड़ेगी जब उदण्ड और विद्रोही व्यक्तियों को सही रास्ते पर लाने का दूसरा कोई उपाय शेष न हो। तभी उन्हें स्मरण कराना होगा कि यह उनके हित में है कि वे आज्ञा का पालन करें। आज्ञा पालन की एक लम्बी परम्परा के स्थापित हो जाने के पश्चात् उसका मूल कारण याद रखने की आवश्यकता नहीं होती है। आज्ञा का पालन एक आदत बन जाती है, और व्यक्ति यह प्रश्न नहीं उठाते कि वे सरकार की आज्ञा का पालन क्यों करें। व्यक्तियों की आज्ञापालन की आदत सामाजिक शिक्षा और राजनीतिक उपकरणों से समय के साथ मज़बूत होती जाती है। अतः एक निश्चित सीमा के बाद नागरिक कर्तव्य वचन से मुक्त हो जाते हैं, और एक स्वतंत्र धरातल पर स्थापित हो जाते हैं। जिस प्रकार वचन का पालन उपयोगी और लाभदायक है उसी प्रकार सरकार के प्रति आज्ञाकारिता भी। लेकिन एक स्थिति के बाद सरकार की शक्ति ही वचनों के पालन और आज्ञाकारिता को सम्भव बनाती है। हालांकि ह्यूम आज्ञापालन के सम्बन्ध में हाब्स के विचारों से सहमत नहीं है किन्तु इस बिंदु पर हाब्स के साथ उसकी निकटता देखी जा सकती है। हाब्स का सारा तर्क एक ही बात को सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त हुआ है, वह यह कि सरकार की शक्ति पूर्ण और स्वेच्छाचारी है। ह्यूम, इसके विपरीत, यह मानता है कि सरकार की शक्ति सीमित है और उसे सीमित रहना भी चाहिए। अतः जब ह्यूम यह कहता है कि सरकार की शक्ति नागरिकों को वचन का पालन करने के लिए या आज्ञाकारिता के लिए बाध्य करती है तो उसके विचारों में हाब्स का सम्प्रभुता सिद्धान्त नहीं पढ़ा जाना चाहिए।

प्लेमेनाट्ज़ (Plamenatz) ने कहा है कि ह्यूम आज्ञापालन के सामान्य कर्त्तव्य को आज्ञापालन के विशेष कर्त्तव्य से पृथक् करता है। सरकार की उपयोगिता हमें यह बताती है कि हमें सरकार के प्रति सामान्य रूप से कर्तव्य परायण होना चाहिए। लेकिन इससे इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता कि क्यों हम उन व्यक्तियों के आदेशों का पालन करें जो वास्तव में शासन करते हैं। जो वास्तव में शासन करते हैं वे अपने शासन करने के अधिकार का औचित्य कई प्रकार के कारणों से सिद्ध करने का प्रयास कर सकते हैं– जैसे, यह अधिकार उन्हें ईश्वर से प्राप्त हुआ है, या उन्हें पीढ़ी दर पीढ़ी यह अधिकार प्राप्त होता आया है, या किसी समझौते के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है। ये कारण शासन करने के उन व्यक्तियों के अधिकार को तो बताते हैं लेकिन यह नहीं बताते हैं कि हम क्यों उनके प्रति आज्ञाकारी हों। यह प्रश्न सरकार की वैधता के प्रश्न के साथ जुड़ा है। किसी भी कारण से कोई शासक शासन करने के अधिकार का दावा कर रहा हो, वह हमें यह मानने के लिये बाध्य नहीं कर सकता कि उसका शासन वैध है।

तब सरकार की वैधता का क्या आधार है ? प्राकृतिक विधान के अनुसार मनुष्य प्रसंविदा के माध्यम से सरकार को शासन करने की सहमति प्रदान करते हैं, और सहमति से सरकार की शक्ति को वैधता प्राप्त होती है, ह्यूम इस विचार का खण्डन करता है। वह कहता है कि सरकार को शासन करने का अधिकार व्यक्तियों की सहमति से प्राप्त नहीं होता है। अतः सहमति वैधता का आधार नहीं है। वह वैधता के कई आधारों की चर्चा करता है, और कहता है कि वैधता के सम्बन्ध में बहुत से विवाद अर्थहीन और हानिकारक हैं। वह इतिहास को इस बात का साक्षी बनाता है कि नागरिक बहुत सी निरंकुश सरकारों, जो प्रसंविदा के सिद्धान्त को बिल्कुल स्वीकार नहीं करतीं, के प्रति भी आज्ञाकारी होते हैं। प्रसंविदा से नहीं बल्कि समय के

लम्बे अन्तराल से कोई भी सरकार वैध हो जाती है। यदि कोई सरकार एक लम्बे समय से शासन कर रही है तो फिर नागरिक उसकी वैधता या अवैधता के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं उठाते हैं। ह्यूम ने एक स्थान पर स्पष्ट रूप से कहा है कि, "समय और परम्परा सरकार के सभी स्वरूपों को वैधता प्रदान करती हैं ..... और कोई शक्ति जो पहले अन्याय और हिंसा पर आधारित थी एक अवधि के बाद वैधानिक और आज्ञापालन की अधिकारी हो जाती है।" अर्थात् सम्प्रभुता का अर्थ वास्तविक सम्प्रभुता से है न कि वैधानिक सम्प्रभुता से। वास्तविक सम्प्रभुता ही वैधानिक सम्प्रभुता भी है, और प्रसंविदा की वैधानिकता सम्प्रभुता की वैधानिकता से सम्बन्धित नहीं है। प्रसंविदा और आज्ञापालन दो अलग-अलग चीजें हैं। प्रसंविदा से केवल पारस्परिक विश्वास उत्पन्न होता है, और आज्ञापालन से राजनीतिक व्यवस्था। सरकार की वैध या अवैध उत्पत्ति आज्ञापालन को प्रभावित नहीं करती है।

ह्यूम के लिये सरकार की शक्ति और वैधता अन्ततोगत्वा जनमत पर आधारित है। किसी सरकार का अस्तित्व भी तभी तक बना होता है जब तक जनमत उसके पक्ष में है। वह कहता है कि यह बात सभी प्रकार की सरकारों के लिये सही है– चाहे वे स्वतंत्र, लोकप्रिय सरकारें हों, चाहे अधिनायकवादी सैनिक सरकारें। इन्हीं अर्थों में सरकार जनता की सहमति पर आधारित होती है। इस प्रकार की सहमति में कोई प्रसंविदा सम्मिलित नहीं होता, और यह सहमति आज्ञापालन के आधार को निर्मित नहीं करती है। ह्यूम न तो आज्ञापालन की टॉरी (रूढ़िवादी) विचारधारा का समर्थन करता है और न तो व्हिग (उदारवादी) विचारधारा का। वह न तो निष्क्रिय आज्ञापालन का समर्थक है, और न सहमति पर आधारित आज्ञापालन का। वह कहता है कि कानून का सम्मान या सरकार के आदेशों का पालन इसलिए होता है कि कोई वैधानिक व्यवस्था या सरकार व्यक्तियों के सामान्य हितों को संरक्षित करती है। केवल तभी जब सामान्य हितों का संरक्षण न हो रहा हो, व्यक्तियों को अवज्ञा का अधिकार है। लेकिन ह्यूम यह अधिकार बहुत ही असामान्य परिस्थितियों में प्रदान करता है। जब सरकार अतिनिरंकुश, आतातायी और शोषक हो जाए तभी व्यक्ति इस अधिकार का प्रयोग कर सकते हैं। वरना विद्रोह या क्रान्ति ह्यूम के लिए एक "अपराध" है क्योंकि इससे राजनीतिक व्यवस्था नष्ट होती है।

जनमत में अपना विश्वास ह्यूम ने कई स्थलों पर प्रकट किया है, लेकिन जैसा कि प्लेमेनाट्ज ने कहा है, वह जनमत के महत्व को आवश्यकता से अधिक बढ़ा देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह जनमत का समर्थन केवल यथास्थिति को बनाए रखने के लिए करता है। समाज में सामाजिक और आर्थिक आधारों पर असमानताएं व्याप्त होती हैं। ह्यूम इन असमानताओं को उचित मानता है, और इनको बनाए रखने का समर्थन करता है। वह कहता है कि असमानताएं परम्पराओं पर आधारित होती हैं, और इन परम्पराओं को जनमत का समर्थन प्राप्त होता है। अतः जनमत केवल सरकार की शक्ति और वैधता का आधार नहीं है बल्कि सामाजिक व्यवस्था का भी आधार है– वह सामाजिक व्यवस्था जिसमें अनेक प्रकार की असमानताएं प्रचलित हैं। एक रूढ़िवादी ह्यूम के लिए जनमत का व्यावहारिक अर्थ अन्ततः केवल सम्पत्तिवानों का मत है। उसके समय में सम्पत्तिवानों के वर्ग की सरकार में एक प्रभावशाली भूमिका थी। वे या तो सरकार में शामिल थे या सरकार के निर्णयों को प्रभावित करते थे। निर्धन वर्ग ने यदि इस असमानता की स्थिति को स्वीकार किया था तो इसका यह अर्थ तो नहीं निकाला जा सकता कि उन्होंने भी इस व्यवस्था को अपनी सहमति दी थी। इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि उनके सामने दूसरा कोई विकल्प नहीं था। विकल्प के अभाव में उनकी मूक सहमति को उनका जागरूक मत नहीं माना जा सकता है।

14.7 सम्पत्ति का सिद्धान्त

निजी सम्पत्ति की संस्था, ह्यूम के लिए, किसी भी समाज में अति आवश्यक है। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि उसके तीन प्रमुख प्राकृतिक विधानों में से दो प्रत्यक्ष रूप से सम्पत्ति से

सम्बन्धित हैं, और तीसरा अप्रत्यक्ष रूप से। यदि कोई संस्था है तो उस संस्था को चलाने के लिए और उसका नियमन करने के लिए कुछ नियमों की आवश्यकता भी पड़ेगी। सम्पत्ति के नियमों की चर्चा ह्यूम ने की है किन्तु ये ही नियम क्यों अनिवार्य हैं इस बात को वह नहीं समझा सका है। वह यह भी नहीं बता सका है कि क्यों इन नियमों को परिवर्तित नहीं किया जा सकता है। वह इस बात की कल्पना नहीं कर सका कि आने वाले समय में सम्पत्ति का स्वरूप परिवर्तित हो सकता है, और इस संस्था के नियमन के लिए दूसरे नियमों की आवश्यकता पड़ सकती है।

ह्यूम पांच कारणों को बताता है कि जिससे सम्पत्ति पर हमारी दावेदारी निर्धारित होती है। ये हैं– (i) मौजूदा कब्ज़ा, (ii) पहला कब्ज़ा, (iii) लम्बे समय से कब्ज़ा, (iv) अपने कब्ज़े वाली चीजों से उत्पन्न होने वाले लाभों पर हमारा अधिकार और (v) उत्तराधिकार में प्राप्त हुई सम्पत्ति। लेकिन जब वह इन कारणों की व्याख्या करता है तो वह अपनी व्याख्या को दोषपूर्ण बना देता है। वह कहता है कि सम्पत्ति के नियम हमारी कल्पना पर आधारित हैं, और विचारों के पारस्परिक सम्बन्ध सम्पत्ति पर हमारी दावेदारी के कारणों को उत्पन्न करते हैं। जैसे पिता का विचार उसके पुत्र के विचार के साथ सम्बन्धित है, अतः हम पिता की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति का दावेदार उसके पुत्र को मानते हैं। यह व्याख्या दोषपूर्ण इसलिए है कि विचारों के पारस्परिक सम्बन्ध के नाते उत्तराधिकार का नियम निर्धारित नहीं होता, बल्कि इस सीधे कारण से होता है कि हर पिता यही चाहता है कि उसकी मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति उसके पुत्र को ही प्राप्त हो, और पुत्र भी यही चाहता है कि वह अपने पिता की सम्पत्ति का हकदार हो।

सम्पत्ति की संस्था को प्राकृतिक अधिकार पर आधारित न मानकर ह्यूम ने भी उसे परम्परा पर आधारित माना है। यहाँ पर उसने लॉक की अपेक्षा अधिक समझदारी का परिचय दिया है किन्तु उसने इससे सम्बन्धित नियमों और इन नियमों की अपरिवर्तनशीलता की चर्चा करते हुए अपनी बातों को बहुत अतार्किक बना दिया है। क्यों कोई नियम परिवर्तित नहीं किये जा सकते हैं? ह्यूम यह समझता है कि वर्तमान में प्रचलित नियमों के संदर्भ में ही व्यक्ति अपने लाभों का आकलन करते हैं, और यदि वर्तमान में ये नियम लाभप्रद हैं तो आगे भी लाभप्रद रहेंगे, और इन्हें परिवर्तित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। लेकिन यह दोषपूर्ण तर्क है। किसी नियम की उपयोगिता भविष्य में पूर्णतया समाप्त भी हो सकती है। उन नियमों से मिलने वाले लाभ समाप्त हो सकते हैं, और वे नियम हानिकारक परिणाम उत्पन्न करने लग सकते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें बदलना ही पड़ेगा। ह्यूम आर्थिक प्रगति में विश्वास करता था किन्तु वह यह नहीं समझता था कि प्रगति के साथ परिवर्तन अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है। इसी कारण से वह आर्थिक प्रगति में विश्वास करने के साथ ही सम्पत्ति के नियमों को स्थायी बनाए रखने की वकालत भी कर रहा था।

ह्यूम सम्पत्ति और शक्ति में एक प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्वीकार करता है। वह यह मानता है कि राज्य में शक्ति का संतुलन सम्पत्ति के संतुलन के साथ संयुक्त होता है जिससे जब सम्पत्ति का संतुलन बदलता है तो शक्ति का संतुलन भी परिवर्तित होता है। लेकिन सम्पत्ति और शक्ति के सम्बन्धों का विश्लेषण करने में ह्यूम ने बहुत-सी बातों को अनदेखा कर दिया है। किसी राजनीतिक समाज में शक्ति का वितरण सरकार के ढांचे पर निर्भर करता है; और यह ढांचा बहुत सी बातों पर निर्भर करता है जिनमें से एक बात यह है कि उस समाज में सम्पत्ति के वितरण की व्यवस्था कैसी है। सम्पत्ति बहुत से कारणों में से एक कारण है जिससे समाज में हमारा स्थान निर्धारित होता है, और उस स्थान के अनुरूप हमें शक्ति और विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं। किन्तु ऐसा नहीं होता, जैसा कि ह्यूम ने मान लिया था कि, सम्पत्ति की बड़ी मात्रा हमें समाज में ऊँचा स्थान दिलाती है, और उसी के अनुरूप अधिक शक्ति और विशेषाधिकार। ह्यूम यह भी नहीं समझ सका कि केवल सम्पत्ति ही महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि यह भी महत्वपूर्ण है कि वह सम्पत्ति कैसी है और किस प्रकार हमें प्राप्त हुई है। सम्पत्ति और शक्ति का सम्बन्ध इतना सीधा नहीं है जितना कि ह्यूम ने मान लिया था।

आर्थिक विषयों पर ह्यूम के बहुत से लेख उपलब्ध हैं। उसके कुछ आर्थिक विचारों को बाद में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एडमस्मिथ ने विकसित किया था, ह्यूम व्यापारिक सभ्यता का पक्षधर था। उसने उन नीतियों एवं कानूनों का समर्थन किया है जिनसे स्वतंत्र व्यापार को बढ़ावा मिलता है। वह एकाधिकार के विरुद्ध था। लेकिन वह अनियंत्रित पूंजीवाद का वकील नहीं था। वह ऐसे समाज में रह रहा था जिसमें जमीन सामाजिक व राजनीतिक दृष्टि से मज़बूत थी, और सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था पर ज़मींदारों का प्रभुत्व था। इस स्थिति को वह धैर्य पूर्वक स्वीकार करता है। वह मानता है कि एक श्रेष्ठ समाज वह होगा जहाँ ज़मीन और व्यापार में एक सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध होगा। ऐसा समाज व्यापारिक गतिविधियों के कारण गतिशील होगा और आर्थिक रूप से प्रगति करेगा, लेकिन ज़मीन के कारण इसमें राजनीतिक स्थिरता आएगी और सरकार की शक्तियां भी सीमित रहेंगी। ह्यूम के लिए समाज को यद्यपि गतिशील होना चाहिए लेकिन फिर भी एक कुलीन समाज ही वास्तव में सभ्य समाज है।

14.8 संतुलित संविधान की धारणा

ह्यूम पूर्ण राजतंत्र और पूर्ण प्रजातंत्र दोनों का विरोधी था। वह राजा की अमर्यादित एवं असीमित शक्ति को तो अस्वीकार करता ही है वह प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का भी विरोध करता है, क्योंकि वह यह मानता था कि प्रजातंत्र अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर सकता है। अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र अच्छा तो है किन्तु उसकी दृष्टि में ब्रिटेन जैसे बड़े देश के लिए किसी भी प्रकार का प्रजातंत्र खतरनाक हो सकता है। वह कहता है कि इंग्लैण्ड की कामन सभा के पास इस समय जितनी शक्तियां हैं वे पर्याप्त हैं। उन शक्तियों का ही कामन सभा यदि सामूहिक रूप से प्रयोग करने के लिए कटिबद्ध हो जाए तो राजमुकुट एकदम शक्तिहीन होकर रह जाएगा। ऐसा सम्भव इसलिए नहीं था कि सभा के सदस्य उस समय तक दलीय आधारों पर एक जुट नहीं हुए थे; और राजा और उसके मंत्रियों के लिए, पुरस्कृत करने की उनकी क्षमता के कारण, सदस्यों से उनका व्यक्तिगत समर्थन प्राप्त करना कठिन नहीं था।

एक स्वतंत्र सरकार के लिये, ह्यूम यह नहीं मानता था कि, राजनीतिक दलों की व्यवस्था अनिवार्य है। इसके विपरीत वह दलीय व्यवस्था को घातक और हानिकारक मानता था। यद्यपि ह्यूम सभी प्रकार के दलों को अस्वीकार नहीं करता– सामान्य हितों पर आधारित दल अन्य दलों से अपेक्षाकृत श्रेष्ठ होते हैं। वह आम तौर पर यही मानता है कि दल सरकार को विघटित करते हैं, कानून को नपुसंक बना देते हैं, और एक ही देश के लोगों में आपसी शत्रुता का भाव उत्पन्न करते हैं। ह्यूम यह नहीं समझ सका कि प्रजातांत्रिक सरकारों का गठन और उनकी कार्यकुशलता राजनीतिक दलों पर ही आधारित है। एक स्वतंत्र सरकार दलीय व्यवस्था पर पूर्ण रूप से आश्रित है। एक स्वतंत्र सरकार में दलीय व्यवस्था के स्थान के सम्बन्ध में ह्यूम की अपेक्षा बर्क की समझदारी ज्यादा बेहतर थी।

ह्यूम जब एक स्वतंत्र सरकार का समर्थन करता है तब वास्तव में वह एक ऐसी सरकार का समर्थन करता है जो धनी एवं पढ़े लिखे सामाजिक वर्ग के प्रति उत्तरदायी है। वह यह मान लेता है कि इस वर्ग के हित में ही पूरे समाज का हित निहित है। कामन सभा में जिन सामाजिक वर्गों के प्रतिनिधि आते हैं वे ही पूरे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्हीं को लोकहित की बेहतर समझ होती है। अतः सरकार को इन्हीं के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए न कि समाज के उस वर्ग के प्रति जो निर्धन और निरक्षर है। यह किसी के हित में नहीं है कि सरकार सब के प्रति उत्तरदायी हो बल्कि यह सबके हित में है कि सरकार समाज के जागरुक वर्ग के प्रति उत्तरदायी हो।

एक स्वतंत्र सरकार की सत्ता सीमित होती है। इस सत्ता पर लोकमत का नियंत्रण होता है, और लिखित कानून यदि नहीं भी है तो परम्पराओं का नियंत्रण होता है। नागरिक इस सरकार के प्रति आज्ञाकारी होते हैं क्योंकि यह उनके सामान्य हित में है। यदि शासक सामान्य हित का संरक्षण

नहीं करते तो वे अपनी सत्ता को कमजोर करते हैं। जहाँ स्वतंत्र सरकार होती है वहां अलिखित परम्पराएं शीघ्र ही लिखित कानून का रूप ले लेती हैं। इससे नागरिकों की सुरक्षा की आवश्यकता को और मजबूती से पूरा किया जाता है, क्योंकि लिखित कानूनों को लागू करना अधिक आसान और ज्यादा बेहतर होता है। जब ह्यूम स्वेच्छाचारी सरकार का विरोध करता है तब वह सरकार की विधायिका शक्ति पर संवैधानिक नियंत्रण लगाने की बात नहीं करता बल्कि यह कहता है कि सरकार को स्पष्ट रूप से परिभाषित कानूनों के अनुसार शासन करना चाहिए। जहाँ कानून का शासन है, सम्पत्ति की सुरक्षा है वहीं कला, साहित्य और विज्ञान को भी फलने-फूलने का अवसर मिलता है। ह्यूम फ्रान्स के राजतंत्र का भी प्रशंसक था लेकिन अन्य सभी देशों की सरकारों की अपेक्षा वह इंग्लैण्ड को सर्वश्रेष्ठ मानता था। सरकार की यही प्रणाली बड़े राज्यों में स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने में सक्षम है। इंग्लैण्ड और फ्रान्स के कुलीन वर्ग ने यूरोप को नयी सभ्यता दी है। ह्यूम इसी सभ्यता का प्रशंसक था।

14.9 अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

राज्यों के बीच सम्बन्धों की स्थापना ह्यूम प्रकृति के तीन प्रमुख विधानों के आधार पर करता है। "जहाँ सम्पत्ति का स्थायित्व नहीं है वहाँ निरंतर संघर्ष होगा। जहाँ सम्पत्ति का हस्तांतरण सहमति से नहीं हो सकता वहाँ कोई व्यापार नहीं हो सकता। जहाँ वचनों का पालन नहीं होता वहाँ कोई समूह का संगठन नहीं बन सकता। अतः शान्ति, व्यापार और पारस्परिक सहायता के लाभ के कारण हम न्याय के इसी प्रत्यय का विस्तार अन्य राज्यों में भी करते हैं।" ह्यूम के लिए न्याय के दो स्वरूप हैं– एक संकुचित और दूसरा बृहत। न्याय की संकुचित धारणा देश के भीतर या राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करती है। किन्तु उसकी बृहत धारणा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करती है। यह उन सभी देशों को जहाँ सभ्य सरकारें हैं (या जहाँ प्रकृति ने तीन विधानों का पालन किया जाता है) एक दूसरे के साथ जोड़ता है। ह्यूम ने कहा है कि न्याय की उत्पत्ति का मूल कारण व्यक्तिगत स्वार्थ है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का मूल कारण राष्ट्रीय स्वार्थ है। लेकिन जिस प्रकार न्याय व्यक्तिगत स्वार्थ से उत्पन्न होते हुए भी सामाजिक हित की रक्षा करता है उसी प्रकार राष्ट्रीय स्वार्थ पर निर्मित अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी अन्तर्राष्ट्रीय हितों की रक्षा करते हैं। ह्यूम के लिए दो देशों का सम्बन्ध सहयोग और सद्भावना पर आधारित होना चाहिए। इसी से सम्पत्ति की धारणा का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विकास हो सकेगा। व्यापारिक सभ्यता का अन्तर्राष्ट्रीय विकास देशों के आपसी सम्बन्धों को सुदृढ़ करेगा।

14.10 सारांश

यदि ह्यूम के तर्कों को स्वीकार कर लिया जाय तो उसके निष्कर्षों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। बरट्रेंड रसेल (Bertrand Russell) ने कहा है कि, "ह्यूम का दर्शन, चाहे वह सही हो या गलत, अठारहवीं शताब्दी के बुद्धिवाद के दिवालियेपन को व्यक्त करता है।" रसल ह्यूम के निष्कर्षों को स्वीकार नहीं करता है। ह्यूम की विचारधारा तत्वविज्ञान, धर्मशास्त्र, नीतिशात्र की सम्भावना को समाप्त कर देती है। इसी कारण ह्यूम के चिन्तन को अधिकतर "नकारात्मक" कहा गया है। दर्शन के क्षेत्र में उसका प्रभाव, जैसा कि सेबाइन ने कहा है कि, उल्टा पड़ा। एक नये तर्कशास्त्र और एक नये तत्वविज्ञान का विकास किया गया, और मूल्यों की निरपेक्षता को नये आधारों पर सुरक्षा प्रदान की गयी। यह काम जर्मन आदर्शवादी विचारधारा ने किया जो कान्ट से प्रारम्भ होकर हेगल में अपनी पूर्णता को प्राप्त करती है। किन्तु ह्यूम ने राजनीति में परम्पराओं और रीति-रिवाजों का जो महत्व बताया था उसे अस्वीकार नहीं किया गया। उन्हें स्वीकार करते हुए उनकी नयी व्याख्या की गयी। समूह की आत्मा और राष्ट्रीय संस्कृति की धारणाएं विकसित की गयीं। इंग्लैण्ड में ह्यूम की राजनीतिक रूढ़िवादिता को बर्क ने एक दार्शनिक स्वरूप प्रदान किया।

ह्यूम के बारे में यह सामान्य रूप से कहा गया है कि उसने व्हिगवाद के विरुद्ध टॉरीवाद को प्रतिष्ठित किया है। टामस जेफ़रसन (Thomas Jefferson) के अनुसार तो ह्यूम "वैश्विक टॉरीवाद" का प्रसार करने के लिये उत्तरदायी है। यह सच है कि उसने लाक के राजनीतिक विचारों की आलोचना की; और राबर्ट एस0 हिल (Robert S. Hill) की यह बात मानने का कोई कारण नहीं है कि ह्यूम लाक का विरोध उसके उद्देश्यों के साथ "मौलिक समझौते" के आधार पर करता है। लेकिन यह सच है कि उसने रूढ़िवाद का अंधा समर्थन नहीं किया है। उसका रूढ़िवाद संशय से उत्पन्न होता है न कि किसी परिकल्पित सार्वभौम सिद्धान्त से। उसने अपने एक निबन्ध में इंग्लैण्ड के रूढ़िवादियों को चेतावनी देते हुए कहा है कि स्वतंत्रता और व्यवस्था के प्रति उनके तर्क पुराने पड़ गये हैं और वे तर्क अब उन्हीं के विरुद्ध प्रयोग किए जा सकते हैं। उसने यह भी कहा है कि व्हिग क्रान्ति के बहुत से अच्छे परिणाम आज हमारे सामने हैं, और उन्हें स्वीकार किया जाना चाहिए। अतः ह्यूम के राजनीतिक विचारों को रूढ़िवाद और उदारवाद के विवादों से अलग रख कर समझाना अधिक उचित होगा।

ह्यूम का राजनीतिक चिन्तन उसके समय की वैज्ञानिक धारणाओं से भी प्रभावित था। उसके समय में न्यूटन के विचारों को प्रमाण के तौर पर स्वीकार किया गया था। ह्यूम भी न्यूटन के प्रभाव से अछूता नहीं था। जॉन डे (John Day) ने इस संदर्भ में लिखा है कि ह्यूम ने न्यूटन की वैज्ञानिक पद्धति की सराहना की है, और इसका दुहरा प्रभाव उसके द्वारा किए गए मानवीय स्वभाव के अनुभवात्मक अध्ययन पर पड़ा है। ये दोनों प्रभाव बारी-बारी से "जुड़ते और लड़ते" हैं। एक प्रभाव के अन्तर्गत ह्यूम उन मौलिक और सर्वव्यापी सिद्धान्तों को खोजने का प्रयास करता है जिनसे मानव स्वभाव की व्याख्या की जा सके। दूसरे के अन्तर्गत, इस विषय की जटिलता को देखते हुए वह मानव स्वभाव के सम्बन्ध में कोई स्थायी सिद्धान्त प्रस्तुत करने में अत्यधिक सतर्क रहता है। उसके लिए विज्ञान की दुहरी अपील है। एक ओर यह एक व्यवस्था या सिस्टम देने का वचन देता है तो दूसरी ओर यह अव्यवस्थित तथ्यों की चुनौती भी प्रस्तुत करता है।

14.11 उपयोगी पुस्तकें

(1) Flackenberg, R; `History of Modern Philosophy'

(2) Hill, R. S., `Hume' in `History of Political Philosophy' edited by Strauess and Cropsey

(3) Miller, D; `Philosophy and Ideology in Hume's Political, Thought'.

(4) Plamenatz, J; `Man and Society' (Vol. I)

(5) Sabine, G. H; `A History of Political Theory'

(6) Vaughan, C. E.; `Studies in the History of Political Philosophy' (Vol. I)

(7) Watkins, F; (ed.) `Hume : Theory of Politics'.

(8) Wolin, S. S; `Politics and Vision'

14.12 संबंधित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) ह्यूम द्वारा की गयी बौद्धिक नीतिशास्त्र की आलोचना पर प्रकाश डालिए।

(2) ह्यूम के चिन्तन में उपयोगितावादी लक्षणों को स्पष्ट कीजिए।

(3) ह्यूम के न्याय सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।

(4) सम्पत्ति के सम्बन्ध में ह्यूम के विचारों को बताइए।

(5) सामान्य तौर पर ह्यूम को क्यों एक रूढ़िवादी विचारक माना गया है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) ह्यूम के राजनीतिक चिन्तन के प्रमुख अंशों को रेखांकित कीजिए।

(2) प्रसंविदा के सम्बन्ध में ह्यूम के विचारों को स्पष्ट कीजिए।

(3) आज्ञापालन और वैधता के सम्बन्ध में ह्यूम का क्या दृष्टिकोण था?

(4) ह्यूम ने प्राकृतिक और कृत्रिम सद्गुणों में किस प्रकार भेद किया है?

(5) एक संतुलित संविधान के सम्बन्ध में ह्यूम की क्या धारणा थी ?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के सही उत्तर पर निशान (✓) लगाइए।

(1) ह्यूम का जन्म कब हुआ था? (1776, 1711, 1755)

(2) ह्यूम किस देश का नागरिक था ? (ब्रिटेन, फ्रान्स, अमेरिका)

(3) ह्यूम की पुस्तक 'एट्रीटाइज़ आफ़ ह्यूमन नेचर' का प्रकाशन हुआ था? (1739, 1742, 1740)

(4) यह किसने कहा था कि ह्यूम का उपयोगितावाद एक "अति विशिष्ट" उपयोगितावाद है? (फ्लेमेनाट्ज, वाहन, सबाइन)

(5) ह्यूम के लिए सरकार की शक्ति किस पर आधारित है? (जनमत, संविधान, स्वतंत्र चुनाव)

14.13 प्रश्नोत्तर–

1. 1711 2. ब्रिटेन 3. 1740 4. वाहन 5. जनमत

इकाई 15 : एडमंड बर्क (1729-1797)

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 परिचय

15.3 बुद्धिवाद की आलोचना

15.4 फ्रान्सीसी क्रान्ति पर विचार

15.5 राज्य एवं इतिहास

15.6 प्राकृतिक विधान पर प्रहार

15.7 सरकार की वैधता

15.8 राजनीति की प्रवर्ती शक्तियां

15.9 संसदीय प्रतिनिधित्व और राजनीतिक दल

15.10 सारांश

15.11 उपयोगी पुस्तकें

15.12 संबंधित प्रश्न

15.13 प्रश्नोत्तर

15.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप यह जान सकेंगे कि–

- बर्क के समक्ष क्या राजनीतिक संकट था, और किस प्रकार वह इंग्लैण्ड को उस राजनीतिक संकट से सुरक्षित रखना चाहता था।
- राजनीतिक व्यवस्था के संगठन के सम्बन्ध में उसका क्या दृष्टिकोण था, और क्यों वह प्राकृतिक विधान के सिद्धान्तों के विरुद्ध था।
- रूढ़िवाद की दार्शनिक परम्परा में बर्क का क्या योगदान था, और राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उसका क्या स्थान सुनिश्चित किया जा सकता है।

15.1 प्रस्तावना

दार्शनिक-राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में बुद्धिवाद के विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रियाएं कई रूपों में अभिव्यक्त हुई थीं। चूंकि दार्शनिक बुद्धिवाद के साथ राजनीतिक उदारवाद संयुक्त हो गया था अतः बुद्धिवाद का विरोध करने वाले उदारवाद के भी विरोधी थे। लेकिन उनके विरोध का स्वर एक जैसा नहीं था। यदि रूसो में यह स्वर एक तरह से सुनाई पड़ता है तो मांटेस्क्यू और ह्यूम में दूसरी तरह से। रूसो के लिये तो यह विरोध मानव जाति की अस्मिता के प्रश्न से जुड़ा हुआ था। उसका दर्शन राजनीतिक व्यवस्था में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन की मांग करता है, जिससे मनुष्य को उसकी खोई हुई पहचान फिर से लौटाई जा सके। दूसरी ओर, मांटेस्क्यू रूसो के क्रान्तिकारी मार्ग का अनुसरण न कर अपने लिए एक अलग राह निकालता है। लाक के उदारवाद से प्रभावित होते हुए भी वह एक रूढ़िवादी विचारक के रूप में ही प्रतिष्ठित हो सका।

बुद्धिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया

ह्यूम ने बुद्धिवाद के बौद्धिक दिवालिएपन को उजागर करते हुए राजनीतिक रूढ़िवाद को एक सशक्त आधार दिया और यथास्थिति का समर्थन उस सीमा तक किया जिस सीमा तक वह जायज नहीं कहा जा सकता। आगे चल कर जर्मनी में काण्ट और हेगल के आदर्शवाद ने उदारवाद के विरुद्ध एक नया मोर्चा खोल दिया था। काण्ट ने तो नहीं परन्तु हेगल ने अवश्य उदारवाद को समूल नष्ट कर देने का प्रयास किया, किन्तु साथ ही दोनों जर्मन चिन्तक ह्यूम के विध्वंसकारी तर्कों से छिन्न-भिन्न हो गए दार्शनिक चिन्तन की पुनः संरचना करने का भी प्रयास कर रहे थे।

ह्यूम ने राजनीतिक चिन्तन को रिक्त और प्राण रहित कर दिया था। बर्क ने उसे अनुभव की संकुचित सीमाओं से बाहर निकाल कर फ़िर से 'ईश्वरीय धरातल' पर स्थापित किया। इस दृष्टि से तो बर्क के राजनीतिक चिन्तन को ह्यूम के राजनीतिक चिन्तन की प्रतिक्रिया कहा जा सकता है। लेकिन फिर भी बर्क की ईश्वरीय राजनीति और ह्यूम के राजनीतिक निष्कर्षों में काफी हद तक साम्य दिखाई पड़ता है। अतः ह्यूम और बर्क एक दूसरे के सहयोगी और विरोधी दोनों हैं। जहाँ तक दार्शनिक बुद्धिवाद और राजनीतिक उदारवाद को अस्वीकार करने की बात है वहाँ तक ह्यूम और बर्क दोनों एकमत हैं, दोनों ने प्राकृतिक विधान की व्यवस्था का विरोध किया है, यथास्थिति का समर्थन किया है और राजनीति में रूढ़िवादी शक्तियों को प्रतिष्ठित किया है। किन्तु जहाँ एक ओर ह्यूम बुद्धिवाद को बौद्धिक तर्कों से पराजित करता है, वहीं दूसरी ओर बर्क ने बुद्धिवाद के विरुद्ध मनुष्य की जन्मजात धार्मिक भावनाओं को खड़ा किया है। अठारहवीं शताब्दी के किसी दूसरे चिन्तक ने राजनीति व्यवस्था और परम्परा को ऐसा धार्मिक सम्मान नहीं दिया है। सबाइन (Sabine) ने दोनों दार्शनिकों के विचारों को एक दूसरे से पृथक करते हुए लिखा है कि ह्यूम के चिन्तन में तर्क की शीतलता का अनुभव होता है, और बर्क के चिन्तन में भावनाओं की उष्मा का। स्काटलैण्ड के दार्शनिक और आयरलैण्ड के राजनेता में यही मुख्य अन्तर है।

15.2 परिचय

बर्क का जन्म सन् 1729 में डबलिन नामक नगर में हुआ था। यहीं ट्रिनिटी कालेज में सन् 1743-48 तक उसने शिक्षा ग्रहण की, और तत्पश्चात् विधि की पढ़ाई करने के उद्देश्य से वह लंदन चला गया। किन्तु बीच में ही विधि का अध्ययन छोड़कर वह साहित्य के क्षेत्र में अपना स्थान बनाने का प्रयास करने लगा। वह `Annual Review' ('एनुअल रीव्यू') नामक पत्रिका का संस्थापक सम्पादक नियुक्त हुआ। इसी अवधि में उसने अपनी कुछ पुस्तकों का प्रकाशन भी किया। ये थीं– 'विंडीकेशन आफ़ नेचुरल सोसायटी' (`Vindication of Natural Society', 1756), 'ए फिलसाफिकल इन्क्वायरी इन टू द ओरजिन आफ़ आवर आइडियाज़ आफ़ द सबलाइम एण्ड द ब्यूटीफुल' (`A Philosophical Enquiry into the Origin of our Ideas of the Sublime and the Beautiful', 1775)। लेकिन साहित्य के क्षेत्र में बर्क अधिक दिनों तक टिका नहीं।

थोड़े ही समय में साहित्य के प्रति बर्क की रुचि समाप्त हो गयी, और राजनीति की ओर वह क्रमशः आकर्षित होने लगा। सन् 1761 से सन् 1764 तक वह लार्ड हेलिफैक्स के कार्यालय में एक कर्मचारी था। किन्तु राजनीति में उसकी सक्रियता उस समय से बढ़ना प्रारम्भ हुई जब इंग्लैण्ड के भावी प्रधानमंत्री लार्ड राकिंगधम ने उसे अपना नीजि सचिव बनने के लिए आमंत्रित किया। अल्प अवधि में ही वह राकिंगधम उदारवादियों का प्रमुख प्रवक्ता और उनके सामयिक पर्चों का प्रमुख लेखक हो गया। सन् 1770 में उसने 'थाट्स आन द काज़ेज आफ़ द प्रेजेन्ट डिसकन्टेण्ट्स' (`Thoughts on the Causes of the Present Discontents', 1770) का प्रकाशन किया। इस पर्चे में वह राजनीतिक दलों का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास करता है। (राजनीतिक दलों का विचार अभी तक ब्रिटिश राजनीति में स्वीकार नहीं किया गया था)। सन्

1770 से लेकर अमेरिकी क्रान्ति के होने तक वह संसद में न्यूयार्क उपनिवेश का एजेण्ट रहा। इस अवधि में वह अपने कई प्रसिद्ध भाषणों और पत्रों के माध्यम से संसद को इस बात के लिये प्रेरित करने का प्रयास करता रहा कि वह अपनी दृष्टि और मांग को संयमित रखे जिससे कि अमेरिका से औपनिवेशिक सम्बन्ध बना रहे। सन् 1744 में वह ब्रिस्टल से सांसद निर्वाचित हुआ। किन्तु यहीं वह दूसरा चुनाव हार गया। सन् 1780 से सन् 1794 तक वह माल्टन का प्रतिनिधित्व करता रहा। सन् 1794 में उसने राजनीति से अवकाश ग्रहण कर लिया।

सन् 1782 और सन् 1783 में बर्क ने राकिंगधम सरकार और बाद में फाक्स-नाथ की संविद सरकार में पे मास्टर जनरल के पद पर कार्य किया था। इस अवधि में उसने प्रशासन में वित्तीय सुधार किये जाने के लिए और भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के नियंत्रित किये जाने के सम्बन्ध में प्रयास किया। बंगाल के गवर्नर वारेन हेस्टिंग्स के विरुद्ध नौ वर्षों तक चलने वाली महाभियोग की असफल कारवाई के फलस्वरूप बर्क का राजनीतिक जीवन लगभग समाप्त हो गया था। किन्तु सन् 1789 की फ्रान्स की राज्य क्रान्ति के प्रति उसकी प्रतिक्रिया ने बर्क को राजनीतिक दृष्टि से पुर्नजीवित कर दिया। इस घटना के पहले तक तो बर्क ने एक पेशेवर राजनीतिज्ञ के रूप में केवल राजनीति के व्यावहारिक पहलुओं पर अपना ध्यान केन्द्रित रखा था। किन्तु इस घटना ने बर्क के अन्दर सोये हुए चिन्तक को जाग्रत किया। वह फ्रांसीसी क्रान्ति की आलोचना करते हुए राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन करता है, और ब्रिटेन की संवैधानिक व्यवस्था पर अपने विचारों को प्रस्तुत करता है। फ्रांसीसी क्रान्ति के सम्बन्ध में बर्क की प्रतिक्रिया इस क्रान्ति के विरुद्ध प्रस्तुत किए गए रूढ़िवादी विचारों का एक अभिन्न अंग है। उसकी पुस्तक 'रिफ़लेक्शन्स आन द रीवोल्युशन इन फ्रान्स' (`Reflections on the Revolution in France', 1790) ने राजनीति में उसके उदारवादी साथियों को चकित कर दिया था। बर्क जीवन पर्यन्त राजनीति में सुधार के प्रति समर्पित रहा किन्तु फ्रांसीसी क्रान्ति के प्रति उसके दृष्टिकोण ने उसे एक रूढ़िवादी चिन्तक के रूप में स्थापित कर दिया। अपनी वैचारिक स्थिति को स्पष्ट करने के लिये और अपने साथियों को अपनी बात समझाने के लिये बर्क ने सन् 1791 और फिर सन् 1796-97 मे तीन पर्चे लिखे। सन् 1797 में आधुनिक रूढ़िवाद के इस जनक की मृत्यु हो गयी।

15.3 बुद्धिवाद की आलोचना

ह्यूम बुद्धिवाद की अबौद्धिकता को प्रदर्शित करता है, किन्तु बर्क बुद्धिवाद के खतरे को। उसके लिये बुद्धिवाद खतरनाक राजनीतिक परिणामों को उत्पन्न करता है। चूंकि ह्यूम और बर्क दोनों ने बुद्धिवाद को अस्वीकार किया है इसलिए एच0बी0 एक्टन (H.B. Acton) ह्यूम से बर्क तक एक "चिकना और सरल वैचारिक संक्रमण" देखता है। ह्यूम और बर्क के सम्बन्धों की चर्चा करते हुए लास्की (Laski) ने भी इस संदर्भ में लिखा है कि, "बर्क का तत्व दर्शन, यदि इस शब्द का प्रयोग किया जा सके जिसे वह स्वयं अस्वीकार करता है, अधिकतर वही है जो ह्यूम का है।" सैबाइन का यह कहना है कि यद्यपि ह्यूम और बर्क में स्पष्ट अन्तर है किन्तु इसके बावजूद यह भी सच है कि बर्क ने ह्यूम द्वारा किये गये तर्क के "निषेधों" को स्वीकार किया है। कैनवान (Canavan) नामक एक लेखक ने बर्क के सम्बन्ध में इस परम्परागत धारणा का विरोध किया है। उसके मतानुसार बर्क एक "राजनीतिक बुद्धिवादी" है, और वह बुद्धिवादी तत्व दर्शन की परम्परा में आता है। किन्तु कैनवान का मत एक अतिवादी मत है और इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

यह नहीं कहा जा सकता है कि बर्क पूर्ण रूप से एक अनुभववादी चिन्तक था, या उसने ह्यूम के दार्शनिक निष्कर्षों को पूरी तौर पर स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि जहां एक ओर ह्यूम ने कार्य-कारण सिद्धान्त पर प्रहार किया है वहीं दूसरी ओर बर्क ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है। वह कहता है कि, "यह हमारे स्वभाव का बन्धन है कि

हम संवेगात्मक प्रतीकों के माध्यम से शुद्ध विचारों को जानना चाहते हैं ..... कार्य को कारण से असम्बद्ध करना अत्यधिक कठिन है।'' इन पंक्तियों में बर्क बुद्धि की महत्ता को स्वीकार करता है। ऐसी ही अन्य अनेक पंक्तियां बर्क के राजनीतिक लेखों में बिखरी पड़ी हैं। एक स्थान पर आहत स्वर में वह कहता है कि, ''मैं दर्शन और प्रज्ञा की भर्त्सना नहीं करता, क्योंकि इसका अर्थ बुद्धि की भर्त्सना करना होगा। जब भी मैं दर्शन का विरोध करता हूँ तो इसका यही अर्थ होता है कि मैं कमजोर, दोषपूर्ण और आधारहीन सिद्धान्तों का विरोध कर रहा हूँ।'' वास्तव में, बर्क अठारहवीं शताब्दी के बुद्धिवाद के उस विशिष्ट स्वरूप का विरोधी था जो प्राचीनकाल से चली आ रही राजनीतिक-सामाजिक परम्पराओं और संस्थाओं पर प्रहार कर उन्हें नष्ट करने का प्रयास कर रहा था। इसका सबसे भयानक उदाहरण, बर्क की दृष्टि में, फ्रांस की राज्य क्रान्ति में दिखाई पड़ता है। बर्क के लिये यह क्रान्ति बुद्धिवाद की चरम परणति थी।

यद्यपि बर्क ने, ह्यूम की भांति, यह नहीं कहा कि बुद्धि संवेगों की दासी है किन्तु फिर भी वह राजनीति को बौद्धिक आधारों पर स्थापित करने का विरोधी था। किसी राजनीतिक दर्शन या सिद्धान्त का निर्माण करने में उसकी रुचि नहीं थी। वह तत्व विज्ञान और राजनीति की व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने के लिये प्रस्तुत किये जाने वाले काल्पनिक एवं कोरे सिद्धान्तों का विरोध करता है। राजनीतिशास्त्र उसके लिये तर्कशास्त्र नहीं है। यह एक ''प्रायोगिक विज्ञान'' है जिसमें मानव स्वभाव के अध्ययन से राजनीतिक निष्कर्षों को वियोजित किया जाता है। किसी राजनीतिक सिद्धान्त की स्थापना करने की बर्क को न तो कोई इच्छा थी, और एक राजनीतिक कर्मी होने के नाते, न उसके पास इसके लिये कोई समय था। इसी कारण उसके चिन्तन का प्रारम्भ-बिन्दु हमेशा अस्पष्ट बना रहता है। वह किन मान्यताओं से प्रारम्भ करता है यह कहना कठिन है। वह, हाब्स और लॉक की भांति, सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं के मूल को खोजने का प्रयास नहीं करता है। अलफ्रेडकॉबन् (Alfred Cobban) ने इस संदर्भ में लिखा है कि बर्क एक प्रकार के ''धार्मिक भय'' से ग्रस्त था। कहीं ऐसा न हो कि जड़ खोजने का प्रयास जड़ खोदना हो जाय, और प्राचीन संस्थायें नष्ट हो जाएँ।

बर्क न तो मांटेस्क्यू की भांति एक सिद्धान्तशास्त्री था और न ह्यूम की भांति एक दार्शनिक। न तो तथ्यों का विश्लेषण कर सिद्धान्त गढ़ने में उसकी रुचि थी और न विचारों की शल्यक्रिया करने में। संसदीय राजनीति के खिलाड़ी के लिये जो आवश्यक गुण है वह है ओजस्वी भाषण देने की क्षमता, और यह बर्क में भरपूर थी। उसके अनेक भाषणों, सम्बोधनों, लेखों और पत्रों में उसके राजनीतिक विचार बिखरे पड़े हैं। उन्हें छांटकर निकालना एक कठिन समस्या तो है किन्तु यह काम उबाने वाला नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से वे महत्वपूर्ण राजनीतिक विवाद जिनमें अक्सर बर्क केन्द्र में हुआ करता था आज प्रासंगिक तो नहीं हैं लेकिन उन्हें जानने से इंग्लैण्ड की संसदीय राजनीति के विभिन्न पक्ष उजागर होते हैं। जाहिर है ऐसे वाद विवादों में हिस्सा लेने वालों के विचार बहुत व्यवस्थित नहीं होते। बर्क के साथ भी ऐसा ही था। किन्तु उसके विचारों में निरन्तरता अवश्य है।

15.4 फ्रांसीसी क्रान्ति पर विचार

बर्क ने फ्रान्स की राज्य क्रान्ति का सम्पूर्ण विरोध किया है। इतनी व्यापक भर्त्सना और इतनी गहरी निन्दा उसने किसी दूसरी घटना की नहीं की थी। उसने अपनी पुस्तक 'रीफ़लेक्शन्स आन द रीवोल्यूशन इन फ्रान्स' में कोई नया राजनीतिक विचार या सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किया है। इस पुस्तक को लिखने के पूर्व उसका राजनीतिक चिन्तन अपना स्वरूप ग्रहण कर चुका था, समाज और सरकार के सम्बन्ध में बर्क अपने विचार पहले ही प्रस्तुत कर चुका था। किन्तु फिर भी उसकी यह पुस्तक एक महान कृति है। उसने अपने तर्कों को बहुत खूबसूरती और बहुत सफ़ाई से प्रस्तुत किया है। ये ही बातें पाठकों को इस पुस्तक को पढ़ने के लिये प्रेरित करती हैं। यद्यपि यह पुस्तक बर्क ने साठ वर्ष की आयु में लिखी, और इसके पहले उसकी बहुत सी

रचनाएं प्रकाशित हो चुकी थीं लेकिन इस पुस्तक में उसके विचारों का अध्ययन इसी कारण पहले किया जा रहा है कि यह पुस्तक उसकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। आगे अन्य शीर्षकों के अन्तर्गत जब हम उसके विचारों का अध्ययन करेंगे तो भी हम आवश्यकतानुसार इस पुस्तक का संदर्भ लेते रहेंगे।

अमेरिकी जनता की ओर से उठने वाली स्वतंत्रता की मांग (ब्रिटिश साम्राज्य से पृथक होने की मांग नहीं) का समर्थन बर्क ने किया था, और उनकी इस मांग को सर्वथा न्यायोचित माना था। उसने इस बात को अनदेखा किया था कि अमेरिकी लोग यह मांग सार्वभौमिक सिद्धान्तों और अधिकारों के आधार पर कर रहे थे। सिद्धान्तों और अधिकारों की सार्वभौमिकता बर्क के लिये कोई अर्थ नहीं रखती थी, लेकिन फिर भी वह अमेरिकी जनता के साथ था क्योंकि वह मानता था कि उनकी मांगों का चाहे जो भी आधार हो उनकी मांगें उचित थीं। लेकिन, जैसा कि प्लेमेनाट्ज (Plamenatz) ने कहा है, इन्हीं आधारों का प्रयोग कर रहे फ्रांसीसी क्रान्तिकारियों का वह विरोधी इसलिए था कि वे एक खतरनाक दिशा में जा रहे थे। उनका उद्देश्य पारम्परिक स्वतंत्रता की रक्षा करना या अर्जित अधिकारों को बनाये रखना नहीं था बल्कि वे एक स्थापित सामाजिक व्यवस्था और उससे जुड़ी संस्थाओं का विनाश करने पर तुले हुए थे। वे स्वतंत्रता और समानता की खोखली संकल्पनाओं का प्रयोग एक बेहद खतरनाक इरादे से कर रहे थे।

स्वतन्त्रता और समानता के प्रत्यय सार्वभौमिक और निरपेक्ष नहीं हैं, और न ही इनका अपने आप में कोई अर्थ है। सभी समाजों में स्वतंत्रता या समानता एक ही अर्थ में प्रयोग नहीं की जाती है; और न सभी समाजों में एक ही प्रकार के अधिकारों की व्यवस्था स्वतंत्रता और समानता की धारणाओं में सम्मिलित की जाती है। सामाजिक संदर्भ को छोड़कर, केवल मनुष्य के स्वभाव के आधार पर, हम अधिकारों का निर्धारण नहीं कर सकते। मनुष्य एक सामाजिक और नैतिक प्राणी है, और जब वह समाज में अपने कुछ दावे अपने अधिकारों के रूप में प्रस्तुत करता है तो वह उस विशेष सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में ही ऐसा करता है जिसमें वह अपना जीवन व्यतीत करता है। वह अपने दावों को समाज से अधिकार के रूप में मान्यता देने की मांग करता है, और साथ ही दूसरे के भी ऐसे ही दावों को स्वीकार करता है। दावों के अधिकार में परिवर्तित होने के लिये उनकी सामाजिक मान्यता आवश्यक है। अतः मनुष्य के पास अधिकार तो हैं किन्तु वे सार्वभौमिक या परासामाजिक नहीं हैं।

बर्क फ्रांसीसी क्रान्तिकारियों के इस दम्भ से चकित और क्रोधित भी था कि उन्हें इस बात का ज्ञान है कि समानता पर आधारित एक स्वतंत्र समाज की रचना कैसे की जा सकती है। वह फ्रान्सीसी समाज का पुर्ननिर्माण करने के उनके दावे को चुनौती देता है। वह कहता है कि यह दावा सिर्फ़ उनके कठमुल्लेपन को व्यक्त करता है; केवल इस बात को प्रमाणित करता है कि उन्होंने अपनी बुद्धि के दरवाजों को बन्द कर रखा है। एक आदर्श समाज का निर्माण करने का उनका प्रयास फ्रान्सीसी समाज का नाश कर डालेगा। ये क्रान्तिकारी उस नासमझ शल्य चिकित्सक की भाँति हैं जो चाकू का प्रयोग शरीर के किसी रोग को ठीक करने के लिये नहीं कर सकते। वे तो उस चाकू से शरीर को निष्प्राण बना देंगे। मानव समाज की संरचना जटिल एवं बहुपक्षीय होती है। इसमें आवश्यकतानुसार थोड़ा बहुत परिवर्तन तो किया जा सकता है किन्तु इसमें एकबारगी व्यापक परिवर्तन की कोई गुंजाइश नहीं होती है। समाज एक जीवित व्यवस्था है, और कोई भी क्रान्तिकारी परिवर्तन इसे निष्प्राण बना सकता है।

किसी सामाजिक व्यवस्था का स्थायित्व इस बात पर निर्भर नहीं करता है कि उस व्यवस्था में रहने वाले लोगों को उसके कार्य करने का तरीका पता होता है। बल्कि इस बात पर निर्भर करता है कि लोग अपनी-अपनी निर्धारित भूमिकाओं का निर्वहन करते हैं, और भूमिकाओं का निर्वहन सम्भव इसलिए होता है कि लोग अपने पारम्परिक अधिकारों और कर्त्तव्यों को समझते हैं। व्यक्ति समाज में अलग-अलग भूमिकाएं निभाते हैं और बगैर उनके जाने हुए ये भूमिकाएं एक दूसरे से संयुक्त होकर पूरी सामाजिक व्यवस्था को चलाती हैं। अन्ततोगत्वा मनुष्य वही आचरण करते हैं जो समाज के द्वारा उनके लिये निर्धारित किये जाते हैं। लेकिन अगर व्यक्तियों की

मान्यताओं में किन्हीं कारणों से कोई व्यापक परिवर्तन हो जाए तो सामाजिक व्यवस्था के टूट जाने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। कोई सामाजिक व्यवस्था व्यक्तियों को जितना लाभ दे रही थी उससे अधिक लाभ की चाहत व्यक्तियों में निराशा और क्रोध उत्पन्न करती है। अब वे यह महसूस करने लगते हैं कि सामाजिक व्यवस्था उनका उत्पीड़न कर रही है, और वे उसमें परिवर्तन की मांग करने लगते हैं। फ्रांसीसी क्रान्तिकारी और वे दार्शनिक जिनसे उन्होंने अपने सिद्धान्तों को प्राप्त किया था फ्रान्स की जनता में व्यवस्था के प्रति असंतोष एवं घृणा फैलाने का काम कर रहे थे।

सभी समाजों का एक अतीत होता है। किसी समाज को उसके अतीत से काट कर अलग नहीं किया जा सकता है। किसी समाज का वर्तमान उसके अतीत के दर्पण में देखा और समझा जा सकता है क्योंकि अतीत ही वर्तमान का निर्धारण करता है। अतः क्रान्तिकारियों का प्रगति और परिवर्तन का उद्देश्य अपने आप में एक बहुत बड़े भ्रम के अलावा और कुछ नहीं है। वास्तव में, क्रान्तिकारी जब समाज में परिवर्तन प्रारम्भ करते हैं तो एक अवधि के बाद परिवर्तन का उनका निर्धारित पथ घटनाओं के महान चक्रावात में फंस कर अपनी दिशा खो देता है। परिवर्तन उन दिशाओं में अग्रसर होने लग जाता है जिन दिशाओं में क्रान्तिकारियों की जाने की कोई मंशा नहीं थी, और घटना क्रम पर से उनका नियंत्रण भी समाप्त हो जाता है। अतः क्रांतिकारियों का यह विश्वास कि वे किसी समाज का पुनर्निर्माण कर सकते हैं केवल उनका भ्रम है। बर्क के समय में तो यह बात इतनी साफ़ नहीं दिखाई देती थी लेकिन आज हमारे सामने इतिहास ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत करता है जब समाज की पुनर्संरचना का प्रयास निष्फल सिद्ध हुआ है।

15.5 राज्य एवं इतिहास

बुद्धिवाद और प्राकृतिक विधान को अस्वीकार करने के बावजूद भी बर्क "नैतिकता के शाश्वत और अपरिवर्तित नियमों" में विश्वास करता था। ये नियम व्यावहारिक ज्ञान के नियमों से परे और श्रेष्ठ हैं। बर्क का राजनीतिक सिद्धान्त इस नैतिक धरातल पर स्थापित है। उसने एक स्थान पर स्वयम् लिखा है कि श्रेष्ठ राजनीति नैतिकता का वृहत रूप है। वह राजनीतिक जगत को ब्रह्माण्ड का एक अंग मानता था। ब्रह्माण्ड में एक शाश्वत विधान है, और यही विधान राजनीतिक संसार में भी व्यवस्था स्थापित करता है। किन्तु बर्क के इन विचारों के कारण उसे प्राकृतिक-बौद्धिक परम्परा में रखना दोषपूर्ण होगा। वास्तव में, दूसरे स्थानों पर बर्क व्यावहारिक ज्ञान और नैतिकता के नियमों को एक दूसरे के साथ इस प्रकार मिश्रित कर देता है कि उनमें कोई स्पष्ट अन्तर नहीं रह जाता है। व्यावहारिक ज्ञान स्वतः एक सद्गुण होकर नैतिक उद्देश्य से जुड़ जाता है। बर्क ने एक स्थान पर यहां तक कहा है कि व्यावहारिक ज्ञान "सभी सद्गुणों का सर्वोच्च निर्देशक" है। किन्तु इसके साथ ही बर्क इस खतरे को भी पहचानता था कि व्यावहारिक ज्ञान का प्रयोग गलत उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये भी किया जा सकता है।

उपर्युक्त खतरे की पहचान रखते हुए बर्क इस सम्बन्ध में चेतावनी देता है। वह कहता है कि राजनीतिक जगत में अस्थिरता है पर नैतिक जगत स्थायी है। एक कुशल राजनेता वह होता है जो राजनीति की अस्थिरता को नैतिक स्थिरता से सम्बद्ध करता है। "राजनेता सिद्धान्तों के प्रति सचेत रहते हुए परिस्थितियों से निर्देशित होता है।" सचेत रहने का अर्थ निरीह या निष्क्रिय होना नहीं है बल्कि समूची परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए निकट और दूरगामी परिणामों का आकलन करना है। पूर्व अनुभवों का लाभ लेना भी इसमें सम्मिलित है। लेकिन अनुभवों के विस्तृत मकड़जाल से कोई राजनेता व्यावहारिक ज्ञान के बल पर ही अपने को बाहर निकाल पाता है। बर्क के लिये व्यवहारिक ज्ञान केवल तात्कालिक स्वार्थों की पूर्ति नहीं करता है बल्कि यह समूचे समाज के स्थायी स्वार्थ को ध्यान में रखता है, और यह स्थायी स्वार्थ समाज का केवल भौतिक, आत्मकेन्द्रित स्वार्थ नहीं है बल्कि नैतिक-आध्यात्मिक स्वार्थ भी है। व्यावहारिक ज्ञान, बर्क के लिये, दो अर्थ रखता है। एक जागरूक आत्मिक स्वार्थ, और दूसरा कर्त्तव्य। यह

ज्ञान हमें केवल यह नहीं बताता कि क्या करना हमारे लिये लाभप्रद है बल्कि यह भी बताता है कि "मानवता, बौद्धिकता और न्याय" की दृष्टि से हमें क्या करना चाहिए।

बर्क इस बात को अस्वीकार करता है कि नैतिक विधानों में गणितीय अनिवार्यता होती है। नैतिक विधान "चौड़े, गहरे और लम्बे होते हैं। वे अपवादों को स्वीकार करते हैं और संशोधनों की मांग करते हैं।" लेकिन नैतिक विधान में संशोधन किसी तार्किक नियम के आधार पर नहीं किये जाते हैं। ये संशोधन व्यावहारिक ज्ञान के नियमों के आधार पर किये जाते हैं। 'स्केच आफ़ द नीग्रो कोड' ('Sketch of the Negro Code') की प्रस्तावना में बर्क ने यह बताया है कि वह नैतिकता और व्यावहारिकता का समन्वय किस प्रकार करता है। जीवन में नैतिकता एवं व्यावहारिकता इस तरह घनिष्ठ रूप से जुड़े होते हैं कि उन्हें एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता है। इसी बात को दृष्टि में रखते हुए एक राजनेता को चाहिए कि किसी समस्या का समाधान खोजने के पूर्व वह उस समस्या से जुड़े हुए सभी पहलुओं की पूरी जानकारी रखे, और उन पर अपना नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास करे। यह एक कठिन कार्य है, लेकिन हमारी कठिनाइयां ही हमारी सबसे बड़ी सहायक होती हैं। ये हमें साहस देती हैं और हमारी कार्यकुशलता को बढ़ाती हैं। फ्रान्सीसी क्रान्तिकारियों की भर्त्सना करने का बर्क के लिये एक बड़ा कारण यह भी था कि ये हमेशा कठिनाइयों से बचते हुए आसान रास्ते खोजने की तलाश में रहते थे। बर्क ने नैतिकता और व्यावहारिकता में जो समन्वय किया है वह अन्ततोगत्वा शब्दों का एक बड़ा खेल ही प्रतीत होता है। इस समन्वय को तर्क की कसौटी पर कसकर देखने से कोई लाभ नहीं है।

जगत की शाश्वत व्यवस्था में राज्य का एक निर्धारित स्थान है। राज्य, बर्क के लिये, प्राकृतिक भी है और कृत्रिम भी। (वह 'प्राकृतिक' और 'कृत्रिम' में कोई कठोर विभाजन नहीं करता है। यहाँ तक कहा जा सकता है कि वह इन दोनों के बीच कोई विभाजन नहीं करता है)। किन्तु राज्य उन अर्थों में प्राकृतिक नहीं है जिन अर्थों में वह अरस्तू के लिये था। यह उन अर्थों में कृत्रिम भी नहीं है जिन अर्थों में वह हाब्स के लिये था। राज्य न तो किसी उद्देश्यपरक विकास का परिणाम है, और न प्रसंविदा की उपज है। बर्क के लिये राज्य इतिहास में नैतिक विकास की एक अवस्था है, और चूंकि सभी वस्तुओं के अस्तित्व का कारण ईश्वर है अतः राज्य का भी कारण ईश्वर है। राज्य एक वैधानिक व्यवस्था होने के पूर्व एक ईश्वरीय व्यवस्था है। एक सार्वभौम शाश्वत विधान द्वारा मनुष्य का राज्य ईश्वर के राज्य से सम्बद्ध है। किन्तु बर्क के चिन्तन में लौकिक और पारलौकिक जगत का ईसाई भेद नहीं खोजा जाना चाहिए। ईश्वर का राज्य इतिहास के बाहर नहीं है, क्योंकि काल स्वयं ईश्वरीय है। ईश्वर की सत्ताकाल में प्रतिबिम्बित होती है। इस संदर्भ में बार्कर (Barker) ने लिखा है कि ब्रह्माण्ड की ईश्वरीय व्यवस्था का विचार, जो राज्य को अपनी योजना में रखता है, बर्क के मस्तिष्क में हमेशा बना रहता था।

बर्क के लिये राज्य का औचित्य इस बात में है कि वह कुछ नैतिक उद्देश्यों की पूर्ति करता है। इसी कारण व्यक्ति राज्य का सम्मान करते हैं। राज्य और नैतिक व्यवस्था का सम्बन्ध आकस्मिक नहीं बल्कि अनिवार्य है। ये दोनों एक दूसरे पर इस प्रकार आश्रित हैं कि इन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता है। मनुष्य एक नैतिक प्राणी होने के नाते नैतिक व्यवस्था से तो जुड़ा ही है वह उस सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था से भी जुड़ा हुआ है जिसमें वह जन्म लेता है। इस व्यवस्था को छोड़कर अलग हो जाना उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं करता है। व्यवस्था से जुड़े होने का एक अर्थ यह भी है कि मनुष्यों के कुछ कर्त्तव्य भी हैं। ये कर्त्तव्य समाज में उनके स्थान द्वारा निर्धारित होते हैं, और ये स्थान उनके जन्म से निर्धारित होते हैं। सामाजिक व्यवस्था के अंग के रूप में मनुष्य अपनी मर्जी का मालिक नहीं है। बर्क के लिये राज्य के प्रति मनुष्य का समर्पण और समाज के प्रति उसका कर्तव्य नैतिक विधान का एक हिस्सा है। स्पष्ट रूप से बर्क उन व्यक्तिवादियों के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठा रहा था जो यह मानते थे कि राज्य एक सीमित उद्देश्य की पूर्ति के लिये निर्मित किया जाता है। यह सीमित उद्देश्य है जीवन और सम्पत्ति की

सुरक्षा। बर्क से पहले रूसो ने भी लॉक के विरुद्ध यह तर्क दिया था कि राज्य को इस प्रकार की एक उपयोगितावादी संस्था मानना गलत है किन्तु बर्क ने अपनी बातों को रूसो के विचारों से प्रभावित हुए बगैर प्रस्तुत किया था। रूसो के तर्क अधिकतर काल्पनिक हैं, किन्तु बर्क ने अपने तर्कों को इतिहास का आलम्बन दिया है। राज्य के उपयोगितावादी स्वरूप को नकार कर राज्य का जो एक नैतिक स्वरूप बर्क ने दिया है उसी से यह बात वियोजित होती है कि उसके लिये राज्य का मनुष्य पर दावा प्राथमिक रूप से एक नैतिक दावा है, और ऐसे ही दावे के कारण राज्य मनुष्य से यह अपेक्षा रखता है कि उसकी प्रभुसत्ता को वह स्वीकार करेगा।

बर्क ने एक स्थान पर यह स्वीकार किया है कि यह सम्भव है कि राज्य की उत्पत्ति प्रसंविदा द्वारा हुई हो। किन्तु प्रसंविदा सिद्धान्त बर्क के चिन्तन में आश्चर्यजनक रूप से रूपांतरित हो जाता है, और प्रसंविदा की परम्परागत धारणा (मुख्य रूप से लॉक की धारणा) नष्ट हो जाती है। दूसरे, प्रसंविदावादियों की भांति बर्क यह भी नहीं कहता है कि व्यक्तियों ने अपने कुछ अधिकारों की सुरक्षा के उद्देश्य से प्रसंविदा करके राज्य या सम्प्रभु का निर्माण किया है। वह समाज की इस उपयोगितावदी-व्यक्तिवादी धारणा का खण्डन करता है। उसके लिये व्यक्ति इस बात के लिये स्वतंत्रत नहीं है कि वे चाहें तो राज्य में रहें या चाहें तो न रहें। यहाँ पर बर्क के विचारों में अरस्तू का यह कथन ध्वनित होता है कि "राज्य के बाहर मनुष्य या देवता है या पशु।" राज्य कोई बन्धन नहीं है। यह किसी अनिवार्यता का प्रतीक नहीं है। राज्य में रहना दासता नहीं है। यह मानव स्वभाव के अनुकूल है। राज्य ही मनुष्य के लिये मुक्ति का द्वार खोलता है। यह राज्य कोई उपकरण या यंत्र नहीं हो सकता जिसके पुर्ज़ों को जब चाहे अलग किया जा सकता है और फिर जोड़ा जा सकता है। यह प्रकृति की देन है जो एक दिन में तैयार नहीं होता बल्कि समय के साथ क्रमशः विकसित होता है जैसे कोई पौधा अनुकूल वातावरण में धीरे-धीरे विकसित होता है। बर्क राज्य की सावयवी धारणा को प्रस्तुत नहीं करता लेकिन फिर भी वह यह मानता है कि राज्य के विभिन्न अंगों में ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है कि एक अंग में कोई बदलाव दूसरे अंगों पर भी प्रभाव डालता है।

प्रसंविदा के सम्बन्ध में बर्क का एक प्रसिद्ध कथन है जो-उसकी प्रसंविदा की धारणा को स्पष्ट करता है। उसने लिखा है कि, "समाज वास्तव में एक प्रसंविदा है ..... प्रत्येक राज्य का प्रत्येक प्रसंविदा शाश्वत समाज के महान और आदि प्रसंविदा का एक उपबन्ध मात्र है, जो निम्न स्वभाव को उच्च स्वभाव से, दृश्यजगत को अदृश्य जगत से जोड़ता है, और जो एक अपरिवर्तनशील प्रसंविदा, जो एक अनुलंघनीय वचन से निर्मित होता है, के अनुसार सभी भौतिक और सभी नैतिक स्वभावों को उनके निर्धारित स्थान में अवस्थित रखता है।" अपने इसी कथन में व्यापार, वाणिज्य अथवा अन्य किसी तात्कालिक स्वार्थ की पूर्ति के लिये समाज की रचना को अस्वीकार करते हुए बर्क यह कहता है कि प्रसंविदा व्यक्तियों का सभी विज्ञान, सभी कलाओं और सभी सद्गुणों में किया हुआ समझौता है। यह पीढ़ियों का समझौता है– उनकी जो मर चुके हैं, जो जीवित हैं, और जिनका जन्म होने वाला है। अर्थात् प्रसंविदा इतिहास अथवा काल के किसी एक निश्चित खण्ड में ही नहीं होता बल्कि यह काल के प्रवाह के साथ-साथ निर्मित होता चला जाता है। प्रसंविदा स्वयं एक प्रवाह है– केवल काल की दृष्टि से नहीं बल्कि चेतना की दृष्टि से भी क्योंकि इसके साथ चेतना भी निरन्तर व्यापक होते हुए विकसित होती जाती है। बर्क ने अपने इस कथन में न केवल उन परिस्थितियों को अस्वीकार किया है जिनमें उदारवादियों के मतानुसार प्रसंविदा किया जाता है बल्कि उन उद्देश्यों को भी अस्वीकार किया है जिन उद्देश्यों से इनके अनुसार व्यक्ति प्रसंविदा करते हैं।

सबाइन ने बर्क की उपर्युक्त पक्तियों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कहा है कि इन पक्तियों में हेगल की राज्य सम्बन्धी अवधारणा को देखा जा सकता है। बर्क का यह विश्वास कि सभी सामाजिक व्यवस्थाओं में एक दैवी सत्ता व्याप्त है हेगल के इतिहासवादा आदर्शवाद का प्रमुख तत्व है। बर्क अपने उपर्युक्त कथन में राज्य, सरकार और समाज में भेद नहीं करता है। निश्चित रूप से यह उसके चिन्तन का दोष है। किन्तु उसके कथन में यह अतार्किकता उसके

एक विशिष्ट उद्देश्य को पूरा करती है। वह फ्रान्सीसी क्रान्ति पर और शक्तिशाली प्रहार करने में सक्षम हो पाता है। उसके अनुसार फ्रांसीसी क्रान्ति ने न केवल वहाँ पर राजतंत्र को नष्ट किया है, बल्कि यह फ्रान्स के समाज, सभ्यता और संस्कृति को भी नष्ट कर रही है। राज्य के प्रति बर्क का यह दृष्टिकोण जहाँ एक ओर उसे ह्यूम और अन्य उपयोगितावादियों से अलग करता है वहीं दूसरी ओर उसे हेगल और अन्य आदर्शवादियों के साथ जोड़ता है। बर्क इस बात को कभी स्वीकार नहीं कर सका कि मनुष्य के समाज और उसकी संस्थाओं का केवल मानवीय आयाम होता है। उसके अनुसार इनका अर्थ और महत्व इनके एक परामानवीय दैवी आयाम को स्वीकार किये बिना नहीं समझा जा सकता है।

यदि इंतिहास एक ईश्वरीय नाटक है, जैसा कि बर्क ने माना था, तब इतिहास में घटने वाली सभी घटनाएं ईश्वर की इच्छा से घटित होती हुई मानी जाएंगी। सभी घटनाओं को ईश्वरीय योजना के अंग के रूप में देखा जाएगा। लेकिन फिर इस दृष्टि से तो फ्रान्स की राज्य क्रान्ति को भी एक दैवी घटना मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में बर्क इस घटना का विरोध कैसे कर सकता है? उसे इस घटना को इतिहास की दैवी अनिवार्यता के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। फ्रान्सीसी क्रान्ति को अस्वीकार करना बर्क के अपरिपक्व आदर्शवाद का दोष है। यहाँ पर हेगल से उसकी तुलना करें तो स्थिति स्पष्ट होती है। हेगल ने इस क्रान्ति को स्वीकार भी किया और अस्वीकार भी। वह ऐसा इसलिए कर सका कि वह इतिहास में एक द्वंद्ववादी गति मानता है जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु या घटना अपनी ही विरोधी वस्तु या घटना को उत्पन्न करती है। एक स्थान पर बर्क ने फ्रान्सीसी क्रान्ति को यह कह कर स्वीकार किया है कि यदि वास्तव में यह कोई महान घटना है तो फिर जो लोग इस "प्रबल वेग" का विरोध कर रहे हैं वे स्वयं ईश्वर का विरोध कर रहे हैं। उसने इस क्रान्ति को शाश्वत व्यवस्था की कड़ी भी माना है। किन्तु क्रान्ति के सम्बन्ध में उसके इन विचारों को गम्भीरता से लेने का कोई कारण नहीं है। वास्तव में, अपने इन कथनों में वह क्रान्ति को स्वीकार नहीं करता बल्कि आने वाले समय का विचार करके दुःखी होता है। ये पंक्तियां उसकी आहत इच्छा को व्यक्त करती है, और उसके इस भय को कि भविष्य में वह अलग-थलग पड़ जाएगा।

15.6 प्राकृतिक विधान पर प्रहार

बर्क प्राकृतिक विधान (या अधिकार) की धारणा पर प्रहार करने के लिये ह्यूम की भांति प्रसिद्ध है। ह्यूम ने प्राकृतिक विधान की आलोचना इसलिये की थी कि यह बुद्धि की दोषपूर्ण धारणा पर आधारित है। यद्यपि बर्क भी इस आधार से प्राकृतिक विधान की आलोचना करता है, उसकी आलोचना का मुख्य आधार यह नहीं है। फ्रान्स की राज्य क्रान्ति से उत्पन्न होने वाले खतरनाक परिणामों को ध्यान में रखते हुए वह प्राकृतिक विधान की प्रमुख रूप से आलोचना करता है। प्राकृतिक विधान का सिद्धान्त एक काल्पनिक सार्वभौमिकता पर आधारित है; और "कोई भी बौद्धिक मनुष्य कल्पनाओं और सार्वदेशिक धारणाओं से अपने को शासित नहीं करता।" फ्रान्स की राज्य क्रान्ति ने एक काल्पनिक मनुष्य और उसके सर्वव्यापी अधिकार का एक खतरनाक सिद्धान्त उत्पन्न किया था। इस क्रान्ति के प्रभाव में इंग्लैण्ड के कुछ चिन्तक एवं राजनीतिज्ञ भी ऐसे ही अधिकारों की मांग ब्रिटिश जनता के लिये कर रहे थे। बर्क इस सम्भावना से व्यग्र था कि जिस प्रकार क्रान्ति ने फ्रान्सीसी समाज और संस्कृति को नष्ट कर दिया है उसी प्रकार इंग्लैण्ड भी नष्ट हो जाएगा। उसने कहा कि प्राकृतिक विधान की व्यवस्था को स्वीकार करने का अर्थ होगा ब्रिटिश संविधान को त्याग देना क्योंकि ब्रिटेन का संविधान प्रसंविदा के फलस्वरूप निर्मित नहीं हुआ है, और न ही यह अपनी संवैधानिक व्यवस्था में प्राकृतिक अधिकारों को सम्मिलित करता है।

सरकार का निर्माण प्राकृतिक अधिकार के आधार पर नहीं किया जाता है। "सरकार मानवीय ज्ञान की एक प्रयुक्ति है जो मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।" बर्क प्राकृतिक

अधिकारों पर व्यंग्य करते हुए इन्हें "तात्विक अधिकार" कहता है। वह लिखता है कि जब मनुष्य प्राकृतिक अवस्था से नागरिक समाज की अवस्था में प्रवेश करते हैं तब वे अपने साथ प्राकृतिक अधिकारों को नहीं लाते हैं। ये अधिकार प्रवेश के साथ ही समाप्त हो जाते हैं, और इनके स्थान पर समयगत अधिकारों की स्थापना होती है। नागरिक अवस्था में प्राकृतिक अधिकारों का कोई अस्तित्व नहीं होता है। बर्क प्राकृतिक अधिकारों की तुलना एक सीधी रेखा से करते हुए कहता है कि प्राकृतिक अधिकारों की सीधी रेखा जब नागरिक समाज में प्रवेश करती है तब ये विभिन्न दिशाओं में "प्रक्षेपित" हो जाती हैं। यह मनुष्य के अनेक स्वार्थों और वासनाओं के जटिल भूल भुलैये में फंसकर धूमिल पड़ जाती है, और अपने "मौलिक निर्देश" को खो देती है। ऐसी स्थिति में प्राकृतिक विधान के प्राकृतिक अवस्था वाले सरल रूप को खोज पाना असम्भव है। यह खोज अपने आप में गलत भी है क्योंकि नागरिक अवस्था में प्राकृतिक विधान क्रियाशील नहीं किया जा सकता है। इसको क्रियाशील करने का प्रयास स्थापित सामाजिक व्यवस्था को ध्वस्त कर देगा।

बार्कर ने कहा है कि बर्क के चिन्तन में "प्राकृतिक अधिकारों जैसी कोई चीज नहीं है।" किन्तु इसके विपरीत अल्फ्रेड कॉबन का यह कहना है कि बर्क प्राकृतिक अधिकारों का गुप्त रूप से समर्थन करता है। कॉबन ने लिखा है, "..... बर्क, रूसो की भांति, न चाहते हुए भी, प्राकृतिक अधिकारों और प्रागनुभवाद को अन्त में स्वीकार कर लेता है। वह निरन्तर व्यक्तियों के अधिकारों के प्रति चिन्तित है, और इसीलिए मनुष्य के अधिकारों के प्रति भी।" कॉबन की भाँति कैनवान भी, यही मानता है कि बर्क ने प्राकृतिक अधिकार की धारणा को अस्वीकार नहीं किया है। कैनवान के अनुसार बर्क ने जिन समयगत अधिकारों की चर्चा की है वे वास्तव में प्राकृतिक अधिकारों के "विशेषीकृत" रूप हैं। वास्तविक स्थिति यह है कि बर्क प्राकृतिक अधिकारों का इतना बड़ा विरोधी नहीं था जितना कि वह इन अधिकारों के उन निष्कर्षों का विरोधी था जिन्हें फ्रान्स में क्रान्तिकारियों ने, और इस क्रान्ति के प्रभाव में इंग्लैण्ड के कुछ राजनीतिक चिन्तकों ने वियोजित किया था। उसके अनुसार ये निष्कर्ष न केवल फ्रान्स के लिये घातक सिद्ध हो रहे हैं बल्कि ये ब्रिटिश संविधान की आत्मा को भी खण्डित कर डालेंगे। फ्रान्स की भांति इंग्लैण्ड में भी राजनीतिक आराजकता व्याप्त हो जाएगी।

प्राकृतिक अधिकार एवं समयगत अधिकार के आपसी सम्बन्ध के बारे में बर्क ने अपनी स्थिति को 'रीपोर्ट आन लार्ड्स जरनल' (`Reports on the Lord's Journal)– जो उसने अपनी मृत्यु के केवल तीन वर्ष पूर्व लिखा था– स्पष्ट किया है। इस रिपोर्ट में उसने सम्पत्ति की संस्था की चर्चा करते हुए लिखा है कि, "यद्यपि सम्पत्ति नहीं, किन्तु इससे सम्बन्धित सभी बातें अभिसमय का परिणाम हैं।" अर्थात्, सम्पत्ति का अधिकार एक प्राकृतिक अधिकार हो सकता है, किन्तु इसकी सुरक्षा, इसके हस्तांतरण आदि के नियम प्राकृतिक अधिकार के अन्तर्गत नहीं आते। इसी कारण कैनवान ने कहा है कि, बर्क ने "प्राकृतिक अधिकारों को अस्वीकार करने के बजाय उन्हें पूर्व स्वीकृति प्रदान कर दी है।" यह तो नहीं कहा जा सकता है कि वह लॉक की भांति प्राकृतिक अधिकारों को स्वीकार करता है, लेकिन यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस सम्बन्ध में, रूसो की भांति, उसकी स्थिति दुविधापूर्ण थी। बर्क प्राकृतिक अधिकारों की संहिता निर्मित करने के पक्ष में नहीं है क्योंकि संहित कर देने का मतलब होगा कि ये अधिकार पूर्ण और अपरिवर्तनशील हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि बर्क के लिये प्राकृतिक विधान प्राकृतिक भी हैं और कृत्रिम भी। ऐसा इसलिए कि विधान उसके लिए ईश्वरीय भी हैं और मानवीय भी। विधान, ईश्वरीय विधान के रूप में, मनुष्य को ब्रह्माण्ड से जोड़ता है "जिसके बाहर हमारी कोई गति नहीं हो सकती है।" मानवीय विधान समाज में सर्वत्र व्याप्त है। वैरेन हेस्टिंग्स की आलोचना करते हुए जब बर्क ने यह कहा था कि वह जहां भी जाएगा कानून को पाएगा तब उसका संकेत मानवीय समाज में व्याप्त अनेक विधियों और नियमों की ओर था जिनके जटिल ताने-बाने मनुष्य के पूरे जीवन को आच्छादित किये रहते हैं।

प्राकृतिक अधिकारों के स्थान पर बर्क सभी व्यक्तियों को समयगत अधिकार तो प्रदान करता है

किन्तु वह यह नहीं मानता है कि सबको समान मात्रा में अधिकार प्राप्त है। कोई समाज सभी को समान अधिकार नहीं देता है। समाज में श्रेणीबद्धता होती है, और व्यक्तियों के सामाजिक स्तर में भिन्नता होती है। अतः किसी भी समाज में कई प्रकार की असमानताएं होती हैं। बर्क यह मानता है कि ऐसी असमानताएं अधिकतर उस स्थिति में स्वीकृत कर ली जाती हैं जब ये योग्यता पर नहीं बल्कि जन्म पर आधारित होती हैं। वह यह भी मानता है कि व्यक्ति जिस सामाजिक वर्ग में जन्म लेते हैं उसी वर्ग में वे मृत्युपर्यन्त रहना चाहते हैं, और जो कुछ उन्हें प्राप्त हुआ है उससे वे संतुष्ट रहते हैं। प्रतियोगिता पर आधारित समाज में जहां व्यक्तियों को अपने वर्ग से निकल दूसरे वर्ग में (विशेषकर ऊपर के वर्ग में) जाने के पर्याप्त अवसर होते हैं। राजनीतिक दृष्टि से अस्थिर होता है। व्यक्ति स्वभावतः ऐसे समाज में रहना पसंद करते हैं जो समाज अपेक्षाकृत स्थायी होता है। बर्क सामाजिक गतिशीलता को प्रतिबन्धित तो नहीं करता किन्तु वह ऊपर की ओर जाने वाली गति को कठिन बनाने के पक्ष में अवश्य है।

राजनीति के प्रति एक कुलीनतंत्रीय दृष्टिकोण अपनाते हुए बर्क यह मानता है कि समाज के उच्च वर्ग के पास ही मुख्य रूप से वह सामूहिक चेतना होती है जिस पर किसी समाज की भलाई निर्भर करती है। यह उच्च वर्ग ही सभ्यता का वाहक होता है और शासन करने की योग्यता रखता है। वह समाज का दिशा-निर्देशन करता है, और ऐसे कानूनों का निर्माण करता है जो समाज को जोड़े रखते हैं। ये कुलीन लोग सामाजिक आचरण के मानक निर्धारित करते हैं। इनके पास वह क्षमता और आत्मविश्वास होता है जो अच्छे शासन के लिये आवश्यक है। शासन करने के अपने अनुभवों से ये अच्छा शासन करने की कला धीरे-धीरे सीख लेते हैं। समाज के निम्न वर्ग की अपनी सोच, अपनी पसंद और अपने रिवाज होते हैं, और ये सभी चीजों में उच्च वर्ग की नकल नहीं करते हैं। उच्च वर्ग समाज में अपनी स्थिति को तभी तक सुरक्षित रख सकता है जब तक वह निम्न वर्ग के लोगों के अधिकारों का सम्मान करे। बर्क के लिये उच्च वर्ग की श्रेष्ठता का आधार सामाजिक है न कि जैविक। अर्थात् कोई व्यक्ति इसलिए श्रेष्ठ नहीं है कि वह उच्च वर्ग में जन्म लेता है बल्कि इसलिए है कि वह श्रेष्ठ क्षमताओं से युक्त होता है और उसे ऊपर उठने के सामाजिक अवसर प्राप्त होते हैं। लेकिन यदि ऐसा है तो फिर सामाजिक गतिशीलता को स्वीकार करना पड़ेगा। वास्तव में, बर्क के तर्क चक्रीय प्रतीत होते हैं। उच्च वर्ग की श्रेष्ठ सामाजिक स्थिति उनके विशेषाधिकारों के नाते होती है लेकिन यह भी सच है कि उच्च वर्ग में होने के कारण ही उन्हें विशेषाधिकार भी प्राप्त होते हैं। वास्तव में, जन्म पर आधारित विशेषाधिकार का विचार आज के समाज की मान्यताओं के सर्वथा प्रतिकूल है। बर्क की यह भूल थी कि वह ऐसे विशेषाधिकारों को राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्था के स्थायित्व के लिये महत्वपूर्ण मानता था।

बर्क ने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का खण्डन इस सिद्धान्त के काल्पनिक और सार्वभौमिक होने के नाते किया है क्योंकि इसकी काल्पनिकता और सार्वभौमिकता खतरनाक परिणामों को उत्पन्न करती है। लेकिन वास्तव में इसमें क्या खतरा है ? किसी परिस्थितियों में सामाजिक और वैधानिक मान्यता प्राप्त अधिकार भी तो खतरनाक हो सकते हैं। उदाहरण के लिए सम्पत्ति का अधिकार तब सामाजिक विप्लव की स्थिति पैदा कर सकता है जब समाज का एक बड़ा तबका सम्पत्ति अर्जित करने की होड़ में बहुत पीछे छूट जाए। बर्क इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं है कि ज्यों-ज्यों समाज प्रगति करता है त्यों-त्यों सामाजिक चेतना नये अधिकारों को उत्पन्न करती है। नये अधिकारों की मांग में कोई बुराई तो नहीं है। वह यह भी मानने को तैयार नहीं है कि पुराने अधिकारों को नये तरीके से परिभाषित कर उन्हें विस्तृत अर्थ दिया जा सकता है। जैसे जीवन का अधिकार एक पुराना अधिकार है लेकिन आज इसे एक व्यापक अर्थ में ग्रहण किया जा रहा है। फ्रान्सीसी क्रान्तिकारियों द्वारा प्रस्तुत अधिकारों की धारणा बर्क के लिए सम्भवतः इसलिए खतरनाक थी कि वे केवल इस बात से संतुष्ट नहीं थे कि सैद्धान्तिक दृष्टि से फ्रान्सीसी जनता को वे अधिकार प्राप्त हो जाएं जो उन्हें अब तक प्राप्त नहीं थे बल्कि वे यह चाहते थे कि इन अधिकारों को सावधानी से परिभाषित कर वास्तव में जनता को प्रदान कर दिया जाए। कुलीन वर्ग के विशेषाधिकारों को समाप्त कर साधारण जनता को अधिकार दिया

जाना बर्क को खतरनाक दीखता था। कुलीनतांत्रिक शासन व्यवस्था के इस महान प्रशंसक को फ्रांसीसी क्रान्तिकारियों और इंग्लैण्ड में रीचर्ड प्राइस (Richard Price) जैसे उनके समर्थकों से कुछ ज्यादा ही बड़ा खतरा महसूस हो रहा था।

15.7 सरकार की वैधता

प्राकृतिक विधान शास्त्रियों के अनुसार सरकार की वैधता का आधार प्रसंविदा है। व्यक्ति अपनी स्वतंत्र सहमति से एक प्रसंविदा करते हैं जिसके फलस्वरूप एक सत्ता की स्थापना होती है। व्यक्ति इसी सत्ता को शासन करने का अधिकार प्रदान करते हैं। यह सत्ता वैध है क्योंकि यह व्यक्तियों की स्वतंत्र सहमति से जन्म लेती है। बर्क वैधता के इस प्रसंविदावादी सिद्धान्त को अस्वीकार करता है। वह, ह्यूम की भांति, यह कहता है कि समय का अन्तराल किसी सरकार को वैध बना देता है। यह प्रसंविदा के विरुद्ध चिरभोग का सिद्धान्त है। चिरभोग के कारण कोई शक्ति वैधता प्राप्त कर लेती है; और फिर व्यक्ति उसकी वैधता या अवैधता के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं उठाते हैं। एक स्थान पर बर्क ने ब्रिटिश संविधान के सम्बन्ध में लिखा है कि, "हमारा संविधान एक चिरभोगी संविधान है; यह एक ऐसा संविधान है जिसकी सत्ता का कारण यह है कि इसका अस्तित्व इतने प्राचीन समय से है कि यह मस्तिष्क की परिधि के बाहर है ..... तुम्हारे राजा, तुम्हारे लार्ड्स, तुम्हारे न्यायाधीश ..... सभी चिर भोगी हैं।" बर्क ने दूसरे स्थान पर यह भी कहा है कि चिरभोग का सिद्धान्त प्राकृतिक विधान का एक भाग है। वह सम्पत्ति और सरकार दोनों पर यह सिद्धान्त लागू करते हुए यह कहता है कि जिस प्रकार सम्पत्ति का अधिकार प्राचीन होने के कारण वैध है उसी प्रकार सरकार की शक्ति एक लम्बी अवधि के बीतने के बाद वैध हो जाती है।

चिरभोग का सिद्धान्त जहां एक ओर सरकार को वैधता प्रदान करता है वहीं दूसरी ओर बगैर सोचे विचारे और जल्दीबाजी में किये जाने वाले सुधारों को प्रतिबन्धित भी करता है। बर्क के लिये समाज यांत्रिक इकाईयों का समुच्चय नहीं है जिसे जब चाहे नये सिरे से और मनमाने ढंग से दूसरा रूप दिया जा सकता है। सामूहिक जीवन के विभिन्न पक्ष मिल कर सामाजिक व्यवस्था का रूप निर्धारित करते हैं। एक लम्बे समय में निर्धारित होने वाले समाज का वर्तमान स्वरूप बहुत गहराई से अपने अतीत से जुड़ा होता है। यह भविष्य में अपना रूप परिवर्तित भी करता है लेकिन परिवर्तन के कारण इसके भीतर से ही उत्पन्न होते हैं। बाहर से कोई परिवर्तन इस पर थोपा नहीं जा सकता है। परिवर्तन के अनावश्यक प्रयोगों से व्यक्तियों में आदतों के बनने में, मूल्यों में उनकी आस्था के स्थिर होने में, और यहां तक कि सभ्यता के विकास में बाधा उत्पन्न होती है। सामाजिक शांति और राजनीतिक निरंतरता को जब हिंसक तरीके से भंग किया जाता है तब मनुष्य का सामाजिक अस्तित्व ही बिखर जाता है। इस बिखराव का परिणाम यह होता है कि मनुष्य न तो विरासत में कुछ पाता है, और न आने वाली पीढ़ी को कुछ दे पाता है। वह न तो कोई सृजन कर सकता है, और न दूसरों के साथ कुछ बांट सकता है। ऐसी स्थिति में पूरा समाज शीघ्र ही "व्यक्तिवाद के धूल और बुरादे" में विघटित हो जाता है।

बर्क के बारे में यह नहीं समझना चाहिए कि वह सभी सुधारों का विरोधी था। वह स्वतंत्र आविष्कार और प्रयोग की मंशा से किये जाने वाले सुधारों का विरोधी था। वह तेज गति और अनावश्यक कारणों से किये जाने वाले सुधारों का विरोधी था। वह सन् 1688 की रक्त हीन क्रान्ति को स्वीकार करता है क्योंकि यह क्रान्ति निरन्तरता में परिवर्तन का प्रतीक थी। लेकिन फ्रान्सीसी क्रान्ति सुधार और परिवर्तन का सबसे खराब उदाहरण प्रस्तुत करती है, और इसीलिए सन् 1688 की अंग्रेजी क्रान्ति से इसकी कोई तुलना नहीं की जा सकती है। समाज में कभी-कभी उत्पन्न होने वाले तनाव, बुराइयां और अन्तर्विरोधों को दूर करने के लिये सुधार आवश्यक हो जाते हैं। ऐसे सुधार लाने के लिये कानून की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे कानून बनाने का अधिकार ब्रिटेन की संसद को प्राप्त था, और बर्क ने कभी संसद के इस अधिकार को चुनौती नहीं दी थी। लेकिन जब भी इस बात को स्वीकार किया जाएगा कि संसद कानून बना सकती

है तब यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि संसद प्राचीनकाल से चली आ रही किसी व्यवस्था या किसी संस्था को समाप्त करने के लिये भी कानून बना सकती है। बर्क द्वारा संसद की सम्प्रभुता को स्वीकार करना और साथ में यह मानना कि जो चिरभोगी है वही वैध है उसके चिन्तन में एक अर्न्तविरोध की स्थिति उत्पन्न कर देता है। बर्क ने धीमी गति से किये जाने वाले छोटे सुधारों को स्वीकार किया है किन्तु वह भूल जाता है कि ऐसे सुधारों के भी बड़े और दूरगामी परिणाम हो सकते हैं।

चिरभोग के सिद्धान्त के साथ प्रकल्पना का सिद्धान्त जुड़ा हुआ है। प्रकल्पना भी सत्ता का आधार है, और सरकार को वैधता प्रदान करता है। बर्क कहता है कि प्रकल्पना "मानवीय मस्तिष्क के संविधान" में निहित है। प्रकल्पना का सिद्धान्त सहमति के सिद्धान्त के विरोध में स्थापित किया गया था। परन्तु सहमति प्रकल्पना में गुप्त रूप से निहित है। बर्क ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि प्रकल्पना "एक लम्बे समय में कई पीढ़ियों द्वारा किया हुआ समझौता है।" अतः बर्क ने सहमति के सिद्धान्त को स्वीकार भी किया है और अस्वीकार भी। मैकन (Maccunn) ने इस संदर्भ में लिखा है कि, "यदि कोई समझौता हुआ है तो यह अव्यक्त रूप से न कि व्यक्त रूप से हुआ है, क्रमशः हुआ है न कि एकबारगी। इसका निर्माण पीढ़ी दर पीढ़ी विकसित होने वाले सामूहिक जीवन के साथ-साथ हुआ है।" अर्थात् राजनीतिक समाज का जन्म अचानक नहीं होता है। बर्क फ्रान्सीसी क्रान्ति का विरोधी इसलिए भी था कि क्रान्तिकारी इतिहास की निरंतरता को भंग करके क्रान्ति द्वारा अचानक एक नये प्रकार की सरकार का निर्माण कर लेना चाहते थे। प्रसंविदा किसी समाज का शिलान्यास नहीं करता है। समाज का जन्म मनुष्य की जन्मजात भावना से होता है। वह भावना जो उसके पास इस कारण से है कि वह एक सामाजिक प्राणी है। वह अकेला रह नहीं सकता। समाज में रहना उसकी नियति है।

बर्क ने एक स्थान पर लिखा है कि सरकार के प्रारम्भ बिन्दु पर चर्चा करने के बजाय हमें उस बिन्दु पर पर्दा डाल देना चाहिए। इसका एक अर्थ यह भी निकाला जा सकता है कि सरकार की वैधता के प्रश्न को वह एक प्रकार के धार्मिक रहस्य से ढँक देना चाहता था जिससे कि यह प्रश्न ही न उठाया जा सके, और जब सरकार की उत्पत्ति एक धार्मिक रहस्य है तो उसे धर्म के समान सम्मान पाने का भी अधिकार है। इसमें परिवर्तन करना ऐतिहासिक निरन्तरता को भंग करने के साथ-साथ ईश्वरीय व्यवस्था का विरोध करना भी है। फ्रान्सीसी क्रान्तिकारी सत्ता की वैधता के जो नये पैमाने प्रस्तुत कर रहे थे वे सभी सत्ता को अवैध बना देंगे। प्राचीनकाल से स्थापित सत्ताएं अचानक खण्डित होकर अवैध हो जाएंगी। बर्क यह नहीं मानता कि सभी को सरकार बनाने का अधिकार प्राप्त है, या कि सभी को शासन में भागीदारी करने का अधिकार प्राप्त है। शासन करने वालों को शासन करने का अधिकार चिरभोग और प्रकल्पना से प्राप्त होता है; और इन दोनों धारणाओं का अर्थ ऐतिहासिक निरन्तरता का संदर्भ ग्रहण किये बिना भली-भाँति नहीं समझा जा सकता है।

बर्क जब सम्पत्ति के अधिकार की चर्चा करता है तब भी वह निरन्तरता को ही इसका आधार बताता है। वह कहता है कि सम्पत्ति का सार इस बात में निहित है कि यह लोगों के पास हमेशा असमान मात्रा में होती है, और इसे अर्जित करने वाली एक पीढ़ी अपनी दूसरी पीढ़ी को इसे हस्तान्तरित कर सकती है। सम्पत्ति का यह गुण है कि यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के बीच निरन्तरता बनाये रखती है। अपने इसी गुण के कारण यह सामाजिक व्यवस्था में भी निरन्तरता बनाये रखने में सहायक होती है। निजी सम्पत्ति सामाजिक व्यवस्था का एक अनिवार्य अंग है और, बर्क के अनुसार, इस व्यवस्था की निरन्तरता बनाये रखने का एक बड़ा आधार है। बर्क सम्पत्ति की असमानता को बनाये रखने और सम्पतिवानों को शासन में एक बड़ी भूमिका देने का समर्थन करता है। सम्पत्तिवानों को अपनी सम्पत्ति सुरक्षित रखने का अधिकार निजी और पारिवारिक कारणों से तो है ही, यह अधिकार सार्वजनिक और राजनीतिक कारणों से भी है। जहाँ निजी सम्पत्ति की संस्था सुरक्षित होगी वहीं सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था में स्थायित्व भी होगा। कामन सभा और लार्ड सभा दोनों में सम्पत्तिवानों के प्रभुत्व से, बर्क की दृष्टि में, ब्रिटेन

की जनता के संसद में प्रतिनिधित्व पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है, बल्कि इससे लाभ होता है। वह यह कि विभिन्न दिशाओं से आने वाली धाराओं के दबाव में राज्य रूपी जहाज स्थिर बना रहता है। लेकिन बर्क के पास इस बात का कोई सही उत्तर नहीं था कि वे जिनके पास सम्पत्ति नहीं है सम्पत्तिवानों को अपना प्रतिनिधि क्यों मानें ? वे इस बात को क्यों स्वीकार करें कि सम्पत्तिवान उनके हितों की सही देख-भाल करेंगे ?

लियोस्ट्रास (Leo Strauss) ने उन्नीसवीं शताब्दी में विकसित होने वाली इतिहासवाद की विचारधारा की खोज बर्क के चिरभोग और उत्तराधिकार के सिद्धान्तों में की है। स्ट्रास कहता है कि बर्क चूँकि ब्रिटिश संविधान की श्रेष्ठता बताने के लिये किसी अनुभवातीत मानक का प्रयोग नहीं करता है, अतः इस संविधान की श्रेष्ठता का आधार सिर्फ़ चिरभोग है। मतलब यह कि इस संविधान की श्रेष्ठता किसी प्राकृतिक अथवा ईश्वरीय विधान पर आधारित न होकर उस प्रक्रिया पर ही आधारित है जिससे संविधान निर्मित हुआ है। इस प्रकार बर्क के चिरभोग और उत्तराधिकार के सिद्धान्त हेगल के लिये मार्ग निर्मित करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि बर्क के राजनीतिक चिन्तन में इतिहासवाद के लक्षण यहां-वहां बिखरे मिलते हैं। हेगल से उसकी निकटता भी बहुत से स्थलों पर स्पष्ट है। यद्यपि हेगल बर्क की भांति इस बात की आशा नहीं करता कि कोई राज्य अपनी सभी समस्याओं का समाधान अपनी राजनीतिक परम्पराओं में पा सकता है, वह बर्क की इस बात से अवश्य सहमत है कि कोई स्थायी राज्य अनुभवातीत सिद्धान्तों के आधार पर निर्मित नहीं किया जा सकता है। राज्य में स्थायित्व लाने के लिये जनता के ऐतिहासिक अनुभवों और पारम्परिक मूल्यों को ध्यान में रखना आवश्यक है। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता है कि बर्क ने इतिहासवाद के लिये मार्ग प्रशस्त किया है। वह ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग करता तो है, और यह भी मानता है कि इतिहास पीढ़ी दर पीढ़ी एकत्रित होने वाले व्यावहारिक ज्ञान को संचित रखता है। उसकी वैचारिक स्थिति हेगल से नितांत भिन्न है। बर्क ने इतिहास में किसी द्वंद्ववादी गति की कल्पना नहीं की है। उसके लिये न तो इतिहास में कोई गुप्त चेतना है, न इतिहास का कोई निर्धारित मार्ग है, और न इसका कोई निश्चित गन्तव्य।

15.8 राजनीति की प्रवर्ती शक्तियां

बर्क के लिये व्यावहारिक राजनीति काल्पनिक सिद्धान्तों– जैसे, प्राकृतिक विधान का सिद्धान्त– द्वारा प्रवृत नहीं होती है। लोकमत, पूर्वाग्रह, रीति-रिवाज, धर्म आदि व्यावहारिक राजनीति की प्रवर्ती शक्तियां हैं। लोकमत– चाहे वह सही हो या गलत – अत्यधिक प्रभावशाली होता है। 'हेस्टिंग्स ट्रायल' के दौरान अपने भाषण में भारत वर्ष के जाति-संगठन की चर्चा करते हुए बर्क ने यहाँ तक कहा था कि मनुष्य के सोचने की सारी पद्धति लोकमत के "शक्तिशाली नियम" पर आधारित होती है। वह भारतवर्ष में 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' के शासन का विरोधी था, क्योंकि वह यह मानता था कि यह कम्पनी भारतीय परम्पराओं को नष्ट कर एक विदेशी सभ्यता को भारतवासियों पर लाद रही थी। बर्क ने आठ वर्षों तक हेस्टिंग्स के विरुद्ध ब्रिटिश संसद में महाभियोग की कार्रवाई का नेतृत्व किया था, और उसका यह निश्चित मत था कि बंगाल के गवर्नर जनरल के रूप में हेस्टिंग्स का शासन एक बाह्य, स्वेच्छाचारी और भ्रष्ट शासन के उदाहरण के अलावा और कुछ नहीं है। बर्क ने दूसरे स्थान पर यह भी कहा है कि सभी सरकारें लोकमत पर आधारित होती हैं। जो सरकार लोक मत का आदर नहीं करती है वही राजनीतिक शक्ति का दुरुपयोग करती है। राजनीतिक शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध चाहे वह आयरलैण्ड में कैथोलिक समप्रदाय के लोगों को प्रताड़ित करने के लिये किया जा रहा हो, चाहे वह अमेरिका में प्रतिनिधित्व के बिना कर लगाने के लिये किया जा रहा हो, और चाहे वह भारतवर्ष में पारम्परिक व्यवस्था पर आघात करने के लिये किया जा रहा हो, बर्क ने हमेशा अपनी आवाज उठाई थी। लोकमत के सम्बन्ध में अपने विचार को फ्रान्सीसी क्रान्ति पर अपने प्रहार के साथ समन्वित करने के लिए बर्क इस बात को अस्वीकार करता है कि यह क्रान्ति लोकमत पर आधारित थी। यह लोकप्रिय संघर्ष नहीं था बल्कि फ्रान्सीसी समाज के कुछ असंतुष्ट

तत्वों द्वारा फैलाई हुई उत्तेजना थी। बर्क ने केवल उन्हीं लोगों की आलोचना नहीं की है जो क्रान्ति में प्रत्यक्ष रूप से हिस्सेदारी कर रहे थे बल्कि समाज के उन महत्वपूर्ण और प्रतिष्ठित लोगों की भी आलोचना की है जिन्होंने अपने निहित स्वार्थों के लिये फ्रान्सीसी जनता को अपराध करने के लिये भड़काया और गलत साधनों का प्रयोग किया।

पूर्वाग्रह मनुष्य का "दूसरा स्वभाव" है। बर्क ने बुद्धि के विरुद्ध पूर्वाग्रह की सराहना की है। पूर्वाग्रह लोकमत का ही एक रूप है। यह सामान्य अथवा सामाजिक मत है। यह एक सामाजिक शक्ति है जो तार्किक या बौद्धिक शक्ति की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है। पूर्वाग्रह न तो पूर्ण रूप से तार्किक है और न पूर्ण रूप से अतार्किक। कर्क (Kirk) और बार्कर दोनों इस बात को अस्वीकार करते हैं कि पूर्वाग्रह अबौद्धिक मत है। दोनों के लिये यह मनुष्य की "सामूहिक बुद्धि" है। कैनवान के लिये भी यह "सामाजिक बुद्धि" है। पूर्वाग्रह राजनीतिक जीवन की निरन्तरता को सुरक्षित रखता है, और आपात् स्थिति में यह एक पूर्वनिर्मित सूत्र के रूप में लाभदायक होता है। नयी स्थितियों में जब कोई निर्णय लेना कठिन हो जाता है तब पूर्वाग्रह हमारी सहायता करते हैं। यह एक "सद्गुण" है जो मनुष्यों को कर्तव्यनिष्ठ बनाता है। पूर्वाग्रह के बिना व्यक्ति केवल अपनी बुद्धि का लाभ ले सकता है। निश्चित ही प्रत्येक मनुष्य में यह बुद्धि सीमित ही होगी। पूर्वाग्रह पीढ़ियों और राष्ट्रों की संचित निधि है, और इस "बैंक व पूंजी" का लाभ लेना अधिक लाभदायक है। हम पूर्वाग्रहों का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास नहीं करते, बल्कि हम इन्हें विश्वास पर स्वीकार करते हैं, और तद्नुसार कार्य करते हैं। यदि हम इनका औचित्य खोजने लग जाएंगे तो फिर हम कार्य ही नहीं कर सकेंगे। पूर्वाग्रहों को छोड़ना बुद्धिमानी का परिचय नहीं है बल्कि उन्हें अपने जीवन में अपनाये रखने, उनका सम्मान करने में बुद्धिमानी है।

पूर्वाग्रह रूपी पूंजी का निर्माण आकस्मिक रूप से एकत्रित होती चली गयी घटनाओं से नहीं होता है। बर्क यह मानता है कि पूर्व में अपनी समस्याओं के निदान के लिये व्यक्तियों ने जो कड़ा विचार विमर्श किया उसी से पूर्वाग्रहों का जन्म होता है। यदि सभी मनुष्य अपनी-अपनी समस्याओं का अपने-अपने तरीके से अलग-अलग निदान खोजने लगें तो मानव जाति की प्रगति की सम्भावना ही समाप्त हो जाएगी। प्रगति की तमाम शर्तों में एक शर्त यह है कि अपनी कुछ समस्याओं के लिये हम पहले प्राप्त किये जा चुके हल को उसी रूप में स्वीकार कर लेते हैं। समाज में रहते हुए मनुष्य पूर्वाग्रहों का प्रयोग करना सीख लेते हैं, और उनसे लाभान्वित होते हैं बिना इस बात पर माथापच्ची किये हुए कि ये पूर्वाग्रह कहाँ से आये। बर्क ने कहा है कि बहुत से अंग्रेज दार्शनिकों ने पूर्वाग्रहों में निहित ज्ञान को खोजने का प्रयास किया है न कि उनको उखाड़ फेंकने का, क्योंकि वे पूर्वाग्रहों की सामाजिक उपयोगिता से परिचित थे। पूर्वाग्रहों की उपयोगिता यह है कि ये सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखते हुए व्यक्तियों को सुरक्षा व प्रसन्नता देते हैं। यही इनका औचित्य है।

बर्क के लिये पूर्वाग्रह दो उद्देश्यों को पूरा करता है। एक तो यह व्यक्ति के जीवन को आसान और सुखी बनाता है, और दूसरा यह समाज को धारित करता है। सभ्य, नागरिक समाज में रहने वाले व्यक्ति का जीवन आदिम मनुष्य के जीवन की अपेक्षा अधिक सुखमय होता है. क्योंकि समाज में रहते हुए व्यक्ति एक व्यापक सामुदायिक ज्ञान का लाभ लेता है, और सभ्यता द्वारा उपलब्ध कराये गये अनेक अवसरों को अपने हित में इस्तेमाल करता है। यदि व्यक्ति को अपने समाज से बाहर निकाल लिया जाए तो वह उसी तरह परेशान हाल हो जाएगा जिस तरह वह आदिम मनुष्य जिसे अपने पर्यावरण से निकाल कर किसी ऐसे अलग पर्यावरण में रख दिया गया हो जिससे वह परिचित न हो। सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने में पूर्वाग्रहों का महत्व इस बात में प्रगट होता है कि पूर्वाग्रहों के ही कारण व्यक्ति अपनी सामाजिक भूमिका को समझता है और उन्हें निभाता है। किसी समाज में प्रचलित पूर्वाग्रह उसकी संस्थाओं के अनुकूल ही होते हैं, और मनुष्य जब अपने निर्धारित कर्तव्यों को करता है तब इन संस्थाओं को मजबूती प्राप्त होती है। कुछ पूर्वाग्रह पूरे समाज के लिये होते हैं, और कुछ केवल कुछ वर्गों या समूहों के लिये।

इसी से अलग-अलग व्यक्ति समूहों के लिये अलग-अलग कर्तव्य निर्धारित होते हैं। किसी समाज के विशिष्ट स्वरूप या चरित्र का निर्माण उस समाज में प्रचलित पूर्वाग्रहों, रीति-रिवाजों, कानूनों और मूल्यों से होता है। इन्हें नष्ट करने का प्रयास समाज के स्वरूप को बिगाड़ देगा।

बर्क स्वभाव से एक धार्मिक व्यक्ति था। वह धर्म को एक शक्तिशाली रूढ़ि के रूप में स्वीकार करता है; और इसी कारण, जैसा कि ऐक्टन (Acton) ने कहा है, वह ह्यूम से अलग हो गया है। धर्म की चर्चा करते हुए बर्क लिखता है कि मनुष्य एक "धार्मिक पशु" है। धर्म की सत्यता को हम आभ्यान्तरिक रूप से अनुभव करते हैं। धर्म में हमारी आस्था संवेगसम्मत भी है और बुद्धिसंगत भी। बर्क के धार्मिक विचारों के सम्बन्ध में कुछ लेखकों की टिप्पणी यह है कि उसके विचार ईसाई धर्म के कैथोलिक सम्प्रदाय के निकट हैं। रीमांसा (Remnsat) ने उसे एक कैथोलिक माना है। किन्तु कॉवन इस मत का विरोध करते हुए कहता है कि, "कैथोलिक चर्च, ईश्वर का नगर, इस धरती के नगरों का प्रत्यक्ष विरोधी है; यह उनके साथ केवल स्वामिनी और दास का सम्बन्ध रख सकता है। दूसरी ओर बर्क के लिये, राज्य को स्वयं धार्मिक शक्ति प्राप्त है। चर्च एक राष्ट्रीय चर्च है– किसी आकस्मिकता के कारण नहीं, बल्कि अपने यथार्थ स्वभाव के कारण ..... यह कहा जा सकता है कि चर्च और राज्य के सम्बन्ध में उसका विचार ग्रीक लोगों के सदृश है जिनके लिये चर्च ही राज्य था, और राज्य ही चर्च।" परन्तु कॉबन के निर्णय को केवल आंशिक रूप से ही स्वीकार किया जा सकता है। बर्क के लिये धर्म एक "सर्वश्रेष्ठ रूढ़ि" है, न कि परासत्य की कोई व्यवस्था।

बर्क के लिये धर्म का महत्व उतना आध्यात्मिक नहीं था जितना कि वह सामाजिक था। वह किसी आध्यात्मिक परम्परा से जुड़ा हुआ नहीं है। आध्यात्मिक परम्परा में परम्परा का अर्थ, जैसा कि जोज़फ़ पाइपर (Josef Peiper) ने कहा है, "काल में ईश्वर के जीवित शब्दों" से लगाया जाता है, और परम्परा का स्रोत स्वयम् ईश्वर को माना जाता है। बर्क को इस बात पर विचार करने में कोई रुचि नहीं थी कि ईसाई धार्मिक मूल्यों की सत्यता का आधार क्या है, बल्कि इस बात को बताने में थी कि ये मूल्य क्यों महत्वपूर्ण हैं। उसने लिखा है कि धर्म नागरिक समाज का आधार है, और हमारी सभी सुख व सुविधाओं का स्रोत है। नास्तिकता या निरीश्वरवाद न केवल हमारी बुद्धि के विरुद्ध है बल्कि हमारी भावनाओं के भी प्रतिकूल है। फ्रान्सीसी क्रान्ति की आलोचना बर्क ने इस कारण से भी की है कि यह क्रान्ति नास्तिकों द्वारा की जा रही थी जो बोल्टेयर जैसे गैर-ज़िम्मेदार लेखकों की बातों से प्रभावित थे और जो चर्च का नाश कर उसकी सम्पत्ति लूट लेना चाहते थे। यदि धार्मिक मूल्य विघटित हो जाएंगे तो जो रिक्तता उत्पन्न होगी उसे पूरित करने के लिये कुछ घृणित अंधविश्वास जन्म ले लेंगे। धार्मिक आस्था सामाजिक एकता को बनाये रखती है। एक संगठित चर्च आवश्यक इसलिए है कि यह व्यक्तियों का नैतिक निर्देशन करता है, और जो शासन करते हैं उन्हें निरन्तर इस बात का स्मरण कराता है कि उनकी शक्तियां सीमित या प्रतिबन्धित है। एक संगठित चर्च के अभाव में केवल नग्न स्वेच्छाचारिता ही चारों ओर दिखाई पड़ेगी। चर्च के अधिकारों का समर्थक होते हुए भी बर्क धर्मान्धता एवं धार्मिक असहिष्णुता का विरोधी था।

15.9 संसदीय प्रतिनिधित्व एवम् राजनीतिक दल

बर्क के समय में इंग्लैण्ड की संसद जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली सभा नहीं थी। बड़े भूपति जिनका लार्ड सभा में तो वर्चस्व था ही कामन सभा की अनेक सीटों पर भी अपना नियंत्रण रखते थे। अठारहवीं शताब्दी के इंग्लैण्ड में वोटो और सीटों को खरीदने और बेचने का स्थापित और मान्य प्रचलन था। न तो बर्क और न किसी सम्भ्रांत अंग्रेज राजनीतिज्ञ को उस समय इस प्रचलन में कोई बुराई दिखती थी। इसी के साथ संरक्षण की प्रथा का भी प्रचलन था, और इस प्रथा को भी मान्यता प्राप्त थी। संरक्षण का विशेषाधिकार वह शक्ति है जिसका प्रयोग संरक्षक किसी को कोई पद या लाभ देने के लिये करता है। बर्क संरक्षण के अधिकार को चुनौती नहीं

देता है, क्योंकि यह सरकारी तंत्र का चलना आसान बनाता है। वह जार्ज तृतीय द्वारा इसके अनुचित प्रयोग की आलोचना करता है। वह कहता है कि राजा अपने इस अधिकार का प्रयोग कर एक संवैधानिक संकट की स्थिति उत्पन्न कर रहा है। वह राजा और संसद के बीच का वह संतुलन बिगाड़ रहा है जो सन् 1688 की रक्तहीन क्रान्ति ने स्थापित किया था।

बर्क का प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त सत्रहवीं शताब्दी के व्हिग राजनीतिक चिन्तन की परम्परा के साथ जुड़ा हुआ है। प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में व्हिग और टॉरी का मतभेद यह था कि व्हिग यह मानते थे कि संसद पूरे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती है, और टॉरी संसद को क्षेत्रीय स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करने वाली सभा मानते थे। अलगेर्नान सिडनी (Algernon Sidney) की पुस्तक 'डिस्कोंसेज कन्सर्निंग गर्वन्मेन्ट' (`Discourses Concerning Government'), जो सन् 1681 में प्रकाशित हुई थी, में व्हिग दृष्टिकोण की प्रारम्भिक अभिव्यक्ति हुई थी। इस पुस्तक में यह कहा गया था कि संसद सदस्यों के लिये यह बिल्कुल अनिवार्य नहीं है कि वे अपने चुनाव क्षेत्र की जनता से निर्देश प्राप्त करें। इसी दृष्टिकोण के कारण व्हिग लोगों ने सन् 1716 में सेपटेनीयल एक्ट (Septennial Act) का समर्थन किया था जिसके द्वारा कामन सभा की अवधि को बढ़ाकर सात वर्ष कर दिया गया था। सन् 1734 में जब इस कानून को निरस्त करने के लिये प्रस्ताव लाया गया तब व्हिग नेता जान विलिस (John Willis) ने इस कानून का समर्थन करते हुए कहा था कि निर्वाचित होने के पश्चात् संसद का सदस्य अपने क्षेत्र की जनता के ऊपर आश्रित नहीं रहता है।

रक्तहीन क्रान्ति के पश्चात् स्थापित व्हिग सर्वोच्चता बर्क के समय में अपनी प्रतिष्ठा खो चुकी थी, क्योंकि इसका राजनीतिक नेतृत्व अब विभाजित और शक्तिहीन हो चुका था। अतः सन् 1770 में व्हिग आदर्शों को पुनर्जीवित करने का बर्क का प्रयास प्रतिक्रियावादी था। राष्ट्र, बर्क के लिये, एक निरन्तरता का प्रत्यय है जो स्थान और काल में प्रलम्बित होता है। चुनाव क्षेत्र की परिभाषा संख्या या भूगोल के आधार पर नहीं की जा सकती है। जनता राष्ट्रीय लोकमत को निर्मित करने में सक्षम भी नहीं है। संसद सदस्यों के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वे संसद में जनता की इच्छा को व्यक्त करें। बर्क ने यह कहा कि सदस्यों को जनता से घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखना चाहिए, और अपने स्वार्थों की अपेक्षा उनके स्वार्थों पर ध्यान देना चाहिए। लेकिन उन्हें अपने मत, निर्णय और अन्तरात्मा को जन इच्छा के अनुकूल बनाने का प्रयास नहीं करना चाहिए। सन् 1774 में अपने चुनाव क्षेत्र ब्रिस्टल की जनता से बर्क ने अपने एक प्रसिद्ध भाषण में कहा था कि, ".....संसद एक राष्ट्र की विचारक सभा है, जिसका एक स्वार्थ है, और वह है समष्टि का; वहां क्षेत्रीय उद्देश्यों या क्षेत्रीय पूर्वाग्रहों द्वारा निर्देशन नहीं होना चाहिए, बल्कि सम्पूर्ण की सामान्य बुद्धि से उत्पन्न होने वाले लोक शुभ की धारणा द्वारा निर्देशन होना चाहिए।" अर्थात् संसद में पूरे राष्ट्र की इच्छा व्यक्त होती है, और यह राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने की एक सभा है। संसद सदस्य पूरे राष्ट्र की इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं, न कि अपने क्षेत्र की समस्याओं का। किन्तु बर्क का यह विचार कि निर्वाचित होने के पश्चात् प्रतिनिधि अपने क्षेत्र का नहीं बल्कि पूरे देश का व्यक्ति हो जाता है ब्रिस्टल की जनता को पसंद नहीं आया और इसी कारण बर्क दुबारा निर्वाचित नहीं हो सका।

इंग्लैण्ड में संसदीय प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में सुधार आवश्यक था, और इसके लिये एक आन्दोलन भी प्रारम्भ हो चुका था। किन्तु फ्रान्सीसी क्रान्ति ने इस आंदोलन को गतिहीन कर दिया था, और वास्तव में, सन् 1832 तक इंग्लैण्ड की प्रतिनिधित्व प्रणाली अपरिवर्तित रही। बर्क के लिये इसमें सुधार की कोई आवश्यकता नहीं थी, और उसने सुधार के सभी प्रयासों का विरोध किया। किन्तु उसका यह विरोध नितान्त दोषपूर्ण था। यह उसकी गलत धारणाओं और निर्णयों का परिणाम था। वह सुधार का विरोध अपने इस भ्रम के कारण कर रहा था कि सुधार की मांग प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त पर आधारित है, और यह संवैधानिक नियमों में परिवर्तन करने की मांग है। ब्रिटिश संविधान उसके लिये धर्म के समान पवित्र था जिसे सुधार द्वारा दूषित नहीं किया जा सकता था। यह संविधान "एक सुंदर संतुलन पर आधारित है जिसमें ऊंची

पहाड़ियों के चारों ओर गहरा जल है।'' इसे किसी एक स्थान पर परिवर्तित करने का मतलब दूसरे स्थानों पर खतरा उत्पन्न करना होगा। ब्रिटिश संविधान के प्रति इसी रूमानी लगाव के कारण उसने इसमें परिवर्तन का विरोध किया है। बर्क ने सुधार का विरोध करने के लिये वास्तविक प्रतिनिधित्व और यथार्थ प्रतिनिधित्व का भ्रामक अन्तर उपस्थित किया था। उसके लिये वास्तविक प्रतिनिधित्व महत्वपूर्ण नहीं था बल्कि यथार्थ प्रतिनिधित्व। यथार्थ प्रतिनिधित्व को परिभाषित करते हुए उसने लिखा है कि, ''यह एक सामूहिक हित है, और यह उन लोगों के मध्य जो जनता के नाम पर कार्य करते हैं भावनाओं और इच्छाओं की सह अनुभूति है।'' बर्क ब्रिटेन में तो प्रतिनिधित्व सम्बन्धी सुधार का विरोध करता है, लेकिन आयरलैण्ड में वह इसका समर्थन करता है। यह समर्थन वास्तव में इस बात की ही पुष्टि करता है कि वास्तविक एवं यथार्थ प्रतिनिधित्व का उसका भेद भ्रामक और दोषपूर्ण था। यद्यपि सुधार के प्रति बर्क का दृष्टिकोण गलत था, लेकिन उसकी आलोचना ने प्रतिनिधि सरकार की कुछ समस्याओं की ओर ठोस संकेत किया है।

बर्क के समय तक इंग्लैण्ड में दलीय व्यवस्था की स्थापना नहीं हुई थी। राजनीतिक दलों को अच्छी दृष्टि से देखा भी नहीं जाता था। हैलिफेक्स ने तो राजनीतिक दलों को ''राष्ट्र के विरुद्ध षड्यंत्र'' माना था। राजा और राजनीतिज्ञ अपने को दलों से ऊपर मानते थे। वे अपने को देशभक्त कहते थे। राजा के मंत्री बगैर संसद के समर्थन के शासन नहीं कर सकते थे, अतः संसद उनका समर्थन और उनका विरोध करने वालों में विभाजित रहती थी। किन्तु यह विभाजन दलीय आधार पर नहीं होता था। स्वार्थों के आधार पर गुटों में विभाजित सांसद सही मायने में न तो शासक दल की भूमिका निभाते थे, और न विरोध पक्ष की। दलीय सरकार की कोई धारणा नहीं थी– न चिन्तन के स्तर पर और न ही शासन के स्तर पर। संसद में अपने मित्रों की संख्या बढ़ाने और अपनी स्थिति मजबूत करने के लिये जार्ज तृतीय के प्रयास से व्हिग राजनीतिज्ञ भयभीत थे, और दलीय व्यवस्था के विरुद्ध जोर-शोर से आवाज उठा रहे थे। बर्क उनके भय को समझता था किन्तु वह, उनके विपरीत, यह मानता था कि केवल दलीय व्यवस्था ही जार्ज तृतीय के प्रयासों पर अंकुश लगा सकती है। जब तक सरकारें बिना किसी सिद्धान्त और नीति के कुछ कुलीनों द्वारा जोड़-तोड़ के आधार पर बनायी जाती रहेंगी तब तक कोई भी राजा अपने संरक्षण के विशेषाधिकारों का प्रयोग करते हुए इस स्थिति का लाभ उठाता रहेगा।

व्हिगवाद को नया जीवन प्रदान करने के प्रयास में बर्क ने, सभी अंग्रेज राजनेताओं के पहले, इस बात पर विचार किया कि एक संसदीय शासन में राजनीतिक दलों की क्या स्थिति होती है। वह संसदीय प्रणाली में राजनीतिक दलों को आवश्यक मानता है। यह विचार इस व्हिग धारणा में निहित था कि मंत्रिमण्डल कामन सभा का नेतृत्व करता है। बर्क के तर्क इस विचार के विरुद्ध निर्देशित थे कि राजनीतिक उद्देश्य से किया गया कोई संगठन देश में पृथकतावादी भावनाएं उत्पन्न करता है, और राष्ट्रीय एकता को खण्डित करते हुए संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति करता है। उसके लिये सामान्य सिद्धान्तों और नीतियों के आधार पर गठित एक अनुशासित दल द्वारा सरकार बनाया जाना ही श्रेयस्कर है। इंग्लैण्ड में जार्ज तृतीय की नीतियां दलीय सरकार की व्यवस्था को समाप्त करने का प्रयास कर रही थीं। वालपोल के समय में दलीय व्यवस्था बदनाम हो चुकी थी, और व्हिग लोग विभाजित और असंतुष्ट थे। टॉरी लोग चालीस वर्षों से शासन में स्थान न मिल पाने के कारण जार्ज तृतीय के समर्थक हो गये थे। राजनीतिक शक्ति पर एकाधिकार स्थापित करने के जार्ज तृतीय के प्रयासों के विरुद्ध प्रतिक्रिया तो प्रारम्भ हो चुकी थी, किन्तु अन्त में, जैसा कि लास्की ने कहा है, बर्क के विचारों ने ही ''राजनीतिक विवादों को दर्शन में उसका उचित स्थान देकर जार्ज तृतीय को पराजित किया।'' बर्क ने दो दलीय व्यवस्था– जिसमें एक शासक दल और दूसरा विरोध पक्ष होता है– के बारे में तो नहीं सोचा होगा लेकिन उसे विश्वास था कि राजनीतिक दल एक ऐसा उपकरण हो सकता है जो संविधान पर खतरे की स्थित में बचाव के लिये प्रयोग किया जा सकता है।

बर्क राजनीतिक दल की परिभाषा करते हुए लिखता है कि, ''दल व्यक्तियों का एक संगठन है

जो एक निश्चित सिद्धान्त पर सहमत होकर राष्ट्रीय हित की सुरक्षा के लिये प्रयत्न करता है।" किसी भी गम्भीर राजनेता को सुदृढ़ लोकनीतियों की जानकारी होनी चाहिए और यदि वह अपने को उत्तरदायी व्यक्ति समझता है तो उसे अपनी इस इच्छा को घोषित करना चाहिए कि वह अपनी नीतियों को व्यवहार में लागू करना चाहता है। इसके लिये उसे उन साधनों का प्रयोग करना चाहिए जिनसे नीतियां लागू की जा सकती हैं। उसे अपने विचारों के अनुकूल व्यक्तियों के साथ मिलकर कार्य करना चाहिए तथा किसी भी निजी कारण से उनके प्रति अपने उत्तरदायित्व को भंग नहीं करना चाहिए। इन सभी व्यक्तियों को एक इकाई के रूप में संगठित होना चाहिए, और ऐसे किसी समझौते को अस्वीकार करना चाहिए जो उनके दल के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। शासक दल को ससंदीय समर्थन प्राप्त होना आवश्यक है। जब तक उसे विश्वास प्राप्त है तभी तक वह सत्ता में रह सकता है। बर्क की दृष्टि में दलीय आधार पर गठित सरकार ही उत्तरदायी सरकार होती है। यही सरकार सार्वजनिक हितों की बेहतर देख-भाल कर सकती है, और यही राजनीतिक स्वतंत्रता का संरक्षण कर सकती है। लेकिन यह एक प्रजातांत्रिक नहीं बल्कि एक कुलीनतंत्रीय सरकार ही होगी। बर्क के लिये सरकार समूची जनता के प्रति नहीं बल्कि राष्ट्र के एक छोटे हिस्से के प्रति ही उत्तरदायी होती है। वह हिस्सा जो धनी है, उच्च कुल का है, और शिक्षित है। ये ही लोग राजनीतिक दृष्टि से परिपक्व होते हैं, और जिस सरकार को इनका समर्थन प्राप्त होता है वह स्थायी और मजबूत होती है। लेकिन यदि कोई सरकार इनका समर्थन खो दे तो उसे हट जाना चाहिए, और विरोध पक्ष को सत्ता सम्भालने का अवसर मिलना चाहिए। दलीय व्यवस्था के सम्बन्ध में बर्क के विचार संसदीय सरकार की कार्य प्रणाली को समझने के लिये बहुत महत्वपूर्ण है।

15.10 सारांश

बर्क एक रूढ़िवादी चिन्तक के रूप में प्रसिद्ध है। ब्रिटेन की कंज़रवेटिव पार्टी बर्क को अपना दार्शनिक मानती है। बर्क ने रूढ़िवाद को एक दर्शन दिया है। बर्क से पहले, जैसा कि सबाइन ने कहा है, रूढ़िवाद था किन्तु रूढ़िवाद का दर्शन नहीं था। उसका रूढ़िवाद सुधार के मार्गों में अवरोध उत्पन्न करने में दिखाई देता है। वह सुधार और नवीनता का भेद नहीं कर पाता, और नवीन प्रयोगों से उत्पन्न होने वाले अदृश्य खतरों के भय से वह सुधारों का भी विरोध करता है। उसने एक स्थान पर यह कहा है कि, "हम सब को परिवर्तन के महान नियम का पालन करना चाहिए।" किन्तु परिवर्तन की उसकी धारंणा दोषपूर्ण है। उसने अधिकतर यथास्थिति का ही समर्थन किया है। वह इतनी धीमी गति का परिवर्तन स्वीकार करता है कि, वास्तव में, एक गतिहीनता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। टामस आई कुक (Thomas I. Cook) ने इस संदर्भ में लिखा है कि बर्क वैचारिक रूप से धीमी गति के परिवर्तन को स्वीकार करते हुए भी व्यवहार में "अपरिवर्तनशील व्यवस्था का सुरक्षक है।" केवल अन्तिम समय में ही वह किसी परिवर्तन को स्वीकार करता है।

बर्क के रूढ़िवाद का आधार दार्शनिक संशयवाद है। यह इस बात की खोज करने का प्रयास करता है कि वे कौन सी ऐतिहासिक प्रक्रियाएं हैं जिनका अनुसरण करते हुए समाज विकसित होते हैं। यह अतीत या भविष्य में किसी आदर्श की खोज नहीं करता है। बर्क यह मानता है कि हमें सुधार करना चाहिए किन्तु, वह कहता है कि, सुधार हमें संरक्षित करने के लिये करना चाहिए। जिस समाज के पास सुधार के साधन नहीं होते उसके पास अपने को संरक्षित करने के उपाय भी नहीं होते। बर्क अपने समय में एक सुधारक के रूप में जाना जाता था, लेकिन बाद में उसको एक रूढ़िवादी के रूप में ही प्रसिद्धि प्राप्त हुई। किन्तु इसके बावजूद आर0एच0 क्रासमैन (R. H. Crossman) का कहना है कि, बर्क ब्रिटिश रूढ़िवाद का दार्शनिक नहीं था। वह दक्षिणपंथ से वामपंथ तक के ब्रिटिश राजनीतिक जीवन का दार्शनिक था, उसकी भावनाएं जितना प्रगतिशील आन्दोलनों को प्रेरित करती हैं उतना ही कंजरवेटिव पार्टी को।

रूढ़िवाद सीमित राजनीति का पक्षधर है। यह मानता है कि राजनीतिक स्वतंत्रता इसी स्थिति में

सुरक्षित रहती है; और इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये आवश्यक है– (i) विधि का शासन; (ii) स्वतंत्र न्यायपालिका; (iii) एक प्रतिनिधि सरकार; (iv) नीति सम्पत्ति की संस्था और (v) एक ऐसी विदेश नीति जो शक्ति संतुलन के आधार पर राष्ट्रों की राजनीतिक स्वतंत्रता सुरक्षित रखे। लेकिन सीमित राजनीति का समर्थन तो उदारवाद भी करता है। वास्तव में, सीमित शासन के उपर्युक्त पांच लक्षणों को उदारवादी चिन्तन में भी स्वीकार किया गया है। तब रूढ़िवाद और उदारवाद का भेद कैसे किया जा सकता है? दोनों विचारधारायें लॉक के उदारवाद से अपने आधारों को प्राप्त करती हैं; और इंग्लैण्ड में व्हिग सुधारवाद की परम्परा, जिससे बर्क जुड़ा हुआ था, दोनों की समानताएं प्रगट करती हैं। किन्तु फिर भी दोनों में अन्तर है। बर्क का रूढ़िवाद उन प्रत्ययों और संकल्पनाओं को स्वीकार नहीं करता जिन्हें उदारवाद स्वीकार करता है। यह प्राकृतिक विधान, प्रसंविदा, मनुष्य के अधिकार आदि को स्वीकार किये बिना सीमित शासन का पक्ष लेता है। बर्क के लिये यह सम्भव था कि बिना उदारवादी मिथकों को स्वीकार किये वह सत्ता के निरंकुश प्रयोग की भर्त्सना कर सकता था। उसने अमेरिका के सम्बन्ध में जार्ज तृतीय की स्वेक्षाचारिता और भारतवर्ष के सम्बन्ध में वैरेन हेस्टिंग्स के मनमानेपन को इसी कारण अपने प्रहार का निशाना बनाया था। यद्यपि बर्क ने फ्रान्सीसी क्रान्ति पर जो पुस्तक लिखा वह वहां पर क्रान्तिकारी आतंक फैलने के दो वर्ष पूर्व पूरी हो चुकी थी, उसने अपनी अर्न्तदृष्टि से यह समझ लिया था कि "मुक्ति का निरंकुश तंत्र" अपने साथ असीमित हिंसा और रक्तपात ही लाएगा, और सीमित सरकार की धारणा को सदा के लिये नष्ट कर देगा।

बर्क के राजनीतिक चिन्तन में रूढ़िवाद और उदारवाद के साथ-साथ रूमानीवाद और आदर्शवाद भी सम्मिलित है। उसका रूमानीवाद उसे रूसो से जोड़ता है, और आदर्शवाद हेगल से। इसी कारण ह्यूम से वैचारिक निकटता होते हुये भी वह ह्यूम से अलग हो जाता है। नगर राज्य के प्रति रूसो का अनुराग और बर्क द्वारा की गयी राष्ट्रीय परम्परा की सराहना एक ही चिन्तन परम्परा के दो अंग या आयाम हैं। यह एक नवीन आदर्शवादी चिन्तन की भूमिका निर्मित करते हैं जिसमें व्यष्टि के स्थान पर समष्टि का आदर किया गया है। यह आदर्शवादी चिन्तन हेगल के दर्शन में प्रमुख रूप से अभिव्यक्त होता है। यद्यपि हेगल के ऊपर बर्क का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा है– उसने बर्क का कहीं उल्लेख भी नहीं किया है – लेकिन बर्क ने जिन बातों को ऐतिहासिक आधारों पर स्वीकार किया है उन्हीं बातों को हेगल सनातन आधार पर स्थापित करता है।

उन्नीसवीं शताब्दी में बर्क की प्रसिद्धि अपनी चरम सीमा पर थी, लेकिन वह बीसवीं शताब्दी के अर्ध भाग तक भी रूढ़िवाद को प्रेरणा प्रदान करता रहा। उसके विचारों की व्याख्या करने वाले विभिन्न साहित्य उसे कई प्रकार की वैचारिक श्रेणियों में रखने का प्रयास करते हैं। कुछ व्याख्याकारों के लिये वह एक प्रज्ञावादी-रूढ़िवादी है तो कुछ के लिये उपयोगितावादी-रूढ़िवादी, कुछ के लिये उसके विचार आदिम रूमानीवाद को अभिव्यक्त करते हैं तो कुछ उसे एक वैचारिक चिन्तक मानते हैं। वर्तमान समय की वैश्विक राजनीति में पारम्परिक रूढ़िवाद की प्रासंगिकता बहुत धूमिल है, अतः यह कहा जा सकता है कि आज बर्क के विचारों की महत्ता भी बहुत सीमित है।

15.11 उपयोगी पुस्तकें

(1) Canavan, F. P.; `The Political Reason of Edmund Burke'.

(2) Cobban, Alfred; `Edmund Burke and the Revolt against the Eighteenth Century'

(3) Maccunn, John, `The Political Philosophy of Burke'

(4) Macpherson, C. B., `Burke'

(5) Morley, John; `Edmund Burke'

(6) O' Gorman, Frank; `Edmmnd Bruke : His Political Philosophy'
(7) Parkin, Charles; `The Moral Basis of Burke's Political thought'
(8) Plamenatz, John; `Man and Society' (Vol. I)
(9) Sabine, G. H; `A History of Political Theory'
(10) Vaughan, C. E.; `Studies in the History of Political Philosophy' (Vol II)

15.12 संबंधित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) सुधार के सम्बन्ध में बर्क के दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए।
(2) बर्क ने बुद्धिवाद की आलोचना किन आधारों पर किया है?
(3) धर्म पर बर्क के विचारों को बताइए।
(4) क्यों बर्क एक कुलीनतांत्रिक व्यवस्था का समर्थक था?
(5) दलीय व्यवस्था के सम्बन्ध में विचारों को लिखिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) फ्रान्सीसी क्रान्ति के सम्बन्ध में बर्क के विचारों को बताइए।
(2) प्रसंविदा के सम्बन्ध में बर्क का दृष्टिकोण स्पष्ट कीजिए।
(3) बर्क के लिये सरकार की वैधता के क्या आधार हैं ?
(4) बर्क के पूर्वाग्रह का सिद्धान्त क्या है ?
(5) बर्क के चिन्तन में रूढ़िवाद एवं उदारवाद के तत्वों को रेखांकित कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के सही उत्तर पर निशान (✓) लगाइए।

(1) बर्क का जन्म किस नगर में हुआ था ? (डबलिन, लन्दन, लंकाशायर)
(2) किसने बर्क को अपना निजी सचिव नियुक्त किया था ? (हैलिफ़ेक्स, राकिंगघम, जार्ज तृतीय)
(3) किस गर्वनर जनरल की बर्क ने आलोचना किया था ? (विलियम बेन्टिक, लार्ड कार्नवालिस, वैरेन हेस्टिंग्स)
(4) किस लेखक ने बर्क को एक "राजनीतिक बुद्धिवादी" कहा है ? (कैनवान, काबन, कुक)
(5) बर्क के चुनाव क्षेत्र का क्या नाम था ? (ब्रिस्टल, ब्रिमिधम, मैनचेस्टर)

15.13 प्रश्नोत्तर

1. डबलिन 2. राकिंघम 3. वैरेन 4. कैनवान 5. ब्रिस्टल

Notes